कुकणवाली
वि. सं. २०३६



प्रथम संस्करण
१०००

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय ज्ञानमूर्त्ति श्री १०८ आचार्य
ज्ञानसागरजी महाराज के द्वितीय शिष्य तपोनिधि
चारित्र–विभूषण श्री १०८ श्री मुनिराज
विवेकसागरजी महाराज के संघ
सहित कुकणवाली में ग्यारहवें
चातुर्मास सम्पन्न होने के
उपलक्ष में स्मृतिस्वरूप
दि० जैन समाज
कुकणवाली द्वारा
प्रदत्त द्रव्य से
प्रकाशित



मुद्रक—श्री वाकलीवाल प्रिंटिंग प्रेस, मदनगंज–किशनगढ़
एवं
श्री वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर–३

आचार्य कल्प मुनि श्री १०८ विवेकसागरजी महाराज



कुकणवाली चतुर्मास सं० २०३६

चारित्र विभूषण श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज

का

शुभाशीर्वाद

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तार कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥१॥

जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले हैं और जीवाजीवादि समस्त तत्त्वों को जानने वाले हैं ऐसे समस्त तीर्थङ्करों को तथा इस युग के अंतिम शासक श्री देवाधिदेव महावीर भगवान् को उन्हीं के गुणों की प्राप्ति के लिये सिद्ध-भक्ति पूर्वक त्रिधा नमोऽस्तु करके उन्हीं के शासन को गणधर रूप से धारण करने वाले ४ ज्ञान के धारी श्रुतकेवली श्री गौतम स्वामी को तथा इस युग में अध्यात्म धारा के आद्य प्रवर्त्तक श्री कुन्दकुन्द महान् आचार्य को नमस्कार करके, इस भव के उद्धार करनेवाले तथा सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले ज्ञानमूर्त्ति श्री ज्ञानसागरजी महाराज को नमस्कार करता हुआ धर्म-प्रेमी बन्धुओं को आशीर्वाद दिये बिना नहीं रह सकता; जिनके सहयोग से मेरा धर्म-ध्यान निर्विघ्न हो रहा है।

मैं यथाशक्ति अध्यात्म धारा का आनन्द अविकल रूप से लेता हूँ फिर भी इस मन को अंकुशयुक्त करने के लिये जिनवाणी सेवा सम्बन्धी कार्य में लगाता ही रहता हूँ। कई बार स्वाध्याय करते हुये मुझे श्री योगीन्दुदेव विरचित परमात्म प्रकाश ग्रंथ बहुत ही सुन्दर लगा, उसके गम्भीर भाव हृदयतलस्पर्शी हैं, उसकी मूल टीका संस्कृत में कितनी सुन्दर है यह उसके स्वर्गीय पं० दौलतरामजी के भाषानुवाद से ज्ञात ही है; किन्तु जैसे मैं संस्कृत को नहीं समझता वैसे और भी कई भाई ऐसे होंगे जिनको मूल गाथा और सरस भाषानुवाद के बीच में संस्कृत की गुत्थी मालूम देती होगी, खास करके उन भाइयों को लक्ष्य में रखकर तथा उस प्रति के बड़े खर्च को जो सहन नहीं कर सकते उनका भी लक्ष्य रखकर इसी आनन्द को सर्वजन प्राप्त कर सकें इसे 'लघु परमात्म प्रकाश' नाम देकर प्रकाशित करने में प्रेरक बन रहा हूँ। साथ ही पं० विद्याकुमारजी सेठी के इस आग्रह से

कि बृहत्स्वयंभू स्तोत्र की प्रभाचन्द्राचार्य विरचित संस्कृत टीका के हिन्दी अनुवाद ग्रन्थ की दुर्लभता हो रही है और मैंने स्वयं भी देखा कि यह भक्तिरस पूर्ण न्याय का एक अनुपम आचार्य प्रणीत आर्षग्रन्थ है। यह ग्रन्थ भी इसी के साथ प्रकाशित हो जाय तो संस्कृत के भावों के आनन्द लेने वाले छात्र तथा अन्य जिज्ञासु महानुभाव आचार्य समन्तभद्र की कृति से लाभ उठा सकें। एतदर्थ इधर की ओर रुचि प्रकट की। बहुत हर्ष है कि कुकणवाली के धर्मनिष्ठ, उत्साही महानुभावों ने खूब द्रव्य देकर मेरी अभिलाषा को मूर्त्तरूप प्रदान किया। अतः इन सभी द्रव्य प्रदाताओं को मेरा सर्व प्रथम शुभाशीर्वाद है।

पं० विद्याकुमारजी तथा डा० यतीन्द्रकुमारजी ने इन ग्रन्थों के संशोधनादि में बहुत परिश्रम किया वे भी शुभाशीर्वाद के पात्र हैं। स्थानीय श्री उम्मेदमलजी काला सुपुत्र श्री आसूलालजी काला ने इस प्रकाशन में पूर्ण सहयोग दिया है अतः इन्हें भी विशेष शुभाशीर्वाद दिये बिना नहीं रह सकता। अधिक क्या कहूं, जिन जिन ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बाधाओं को दूर किया है, मैं सभी को शुभाशीर्वाद देता हूं। जो भक्तिपूर्वक इस ग्रन्थ को केवल आलमारी की शोभा नहीं बढ़ाकर स्वाध्याय, मनन, चिन्तन करेंगे उन सज्जनों को भी मेरा आशीर्वाद है कि वे भी अपनी चंचला लक्ष्मी का इसी प्रकार सदुपयोग करें तथा इस ग्रंथ को सर्व जनों के स्वाध्याय निमित्त श्री मंदिरजी या पुस्तकालय में ही विराजमान करें ताकि सबके लिये यह उपयोगी हो सके।

कुकनवाली
ता० २०-१०-७६

मुनि विवेकसागर

चारित्र विभूषण पूज्य मुनिश्री १०८ विवेकसागरजी महाराज का कुकणवाली में वर्षायोग

परम हर्ष है कि हमारे ग्राम कुकणवाली में महान् पुण्योदय से परमतपस्वी चारित्र विभूषण श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज का ससंघ इस वर्ष सं० २०३६ में ११वां वर्षायोग सानंद सम्पन्न हुआ। यहां महाराज श्री के विराजने से महती अपूर्व धर्म-प्रभावना हुई। अब तक हमारे नगर में किसी भी मुनिराज का चातुर्मास हुआ नहीं; अब हमारे पुण्योदय से हमें यह अवसर पूज्य महाराज के अनुग्रह से प्राप्त हुआ।

महाराज श्री एक बहुत ही सरल प्रकृति, शान्त स्वभाव महापुरुष हैं; हर समय धर्म-साधन में संलग्न रहते हैं। आपकी घोर तपश्चर्या को देखकर इस युग में आश्चर्य हुये बिना नहीं रहता। प्रतिदिन ६ घंटे लगातार एक आसन से ध्यान लगाना, एक आदर्श महापुरुष व उच्चकोटि के साधु व महासंतों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता।

यह सरल स्वभाव का ही परिणाम है कि कुचामन जैसे बडे शहर को छोडकर आपने एक छोटे ग्राम में चातुर्मास करने का निश्चय किया। आपकी त्याग की महिमा को देखकर जैन समाज ही नहीं; अपितु समस्त ग्राम के अजैनी भी आपकी प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते। आपका प्रवचन त्याग और मोक्षमार्ग का सही रास्ता प्रदर्शित करता है। आपके रोज के प्रवचन से प्रभावित होकर गांव के कई भाईयों ने बहुत से त्याग किये।

यह एक आदर्श उच्चकोटिका संघ है। इस संघ की विशेष बात यह है कि सिवाय धर्मचर्चा के कभी भी कोई बात नहीं होती।

(१) पूज्य श्री १०५ श्री विपुलमति माताजी का सरल व शान्त स्वभाव जैन धर्म के गौरव को प्रकट करता है। उनका नित्य प्रति दोपहर में होने वाला प्रवचन काफी सरल तथा त्याग की भावना से भरपूर होता है।

(२) श्री कुसुमबाई ब्रह्मचारिणी का त्याग आज यह बतलाता है कि ये आगे जाकर कितनी उच्च विचारों वाली महातपस्विनी होंगी। निश्चय ही आप सहनशील हैं कि कर्मोदय से आये दिन आहार में अंतराय आना और फिर भी प्रसन्न चित्त रहना। यदि

गंभीर दृष्टि से विचार किया जाय तो यही कर्मों की निर्जरा है। आसोज के माह में तो उनका निरन्तराय आहार सिर्फ ४ बार ही हुआ। मूल बात यह है कि चाहे कितने ही अंतराय आवें, उनको शारीरिक कमजोरी, मनकी मलीनता, धर्म-साधन में आलस्य व उदासी कभी नहीं आई; यही है त्याग और तपस्याकी सही महिमा। आपका प्रवचन इतना प्रभावशाली है कि सुनने वाला कभी भी थकान महसूस नहीं करता।

(३) श्री सरलाबाई का इतनी छोटी उम्र में, इतना भारी त्याग यह प्रमाणित करता है कि ऐसे उत्तमोत्तम संस्कार, जीव को पूर्व पुण्योदय से ही मिलते हैं। इन्होंने इस वर्षायोग में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया कि दश भक्त्यादि संस्कृत पाठ स्थानीय बालिकाओं को पढ़ाकर सबकी धर्म--भावना की वृद्धि की। इन छात्राओं ने अंजना सुन्दरी, व जयावती का आदर्श नाटक भी इस मंगलमय अवसर पर खेलने का सत्साहस किया। सायंकाल इन बालिकाओं द्वारा की गई उच्च स्वर से आरती एक बहुत ही भव्य एवं रोमांचकारी दृश्य को प्रकट करती है।

(४) श्री कंचनबाई (भीलवाडा) भी बहुत सरल स्वभावी व शांत भावों वाली है। प्रसन्नता की बात है कि इन्होंने भी यहीं पर महाराज के समक्ष तृतीय प्रतिमा के व्रत लिये है। हमें आशा है कि ये संघ की शोभा बढानेवाली सिद्ध होंगी।

(५) श्री ज्ञानानन्दजी ब्रह्मचारी ने भी सत्संग में रहकर काफी ज्ञान तथा त्याग के भाव प्राप्त किये हैं। आप हमेशा संघ की सेवा में संलग्न रहते हैं। आप बहुत ही सरल स्वभावी हैं।

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि महाराज श्री के द्वारा प्रथम दीक्षित पूज्य १०८ श्री विजयसागरजी महाराज तथा कुली जैन समाज के द्वारा समाधिमरण में सहायक होने के लिये आग्रहसूचक असाध्यरोग के समाचार ज्यों ही आये त्योंही महाराज श्री वहां पहुंचे और उन्होंने समाधि के लिये तत्पर महाराज श्री को संबोधन करके उनको आवश्यक नियम व्रत दिये, उन्होंने भी बड़ी प्रसन्नता से विधि पूर्वक व्रत ग्रहण किये। व्रत के सातिशय प्रभाव से, महाराज के शुभाशीर्वाद से तथा उनके पुण्य प्रभाव से असाता का तीव्र उदय साता रूप में परिणत होगया और उनकी बीमारी जड़मूल से चली गई। आयु के लंबी होने के कारण वे शांतिपूर्वक अपना व्रत पाल रहे हैं और आगे का जन्म सुधार रहे हैं। ऐसे महाराज की व्रत-साधना को धन्य है

तथा कुली समाज भी प्रशंसा के योग्य है जो उत्साह पूर्वक इस कार्य में भाग ले रही है। श्री विवेकसागरजी महाराज भी १५-२० दिन वहां रहकर पुनः वर्षायोग स्थान पर वापिस आगये और इसका प्रायश्चित्त भी आपने आगमानुसार लिया। प्रसन्नता की बात है कि स्थानीय सज्जनों ने भी दिनरात किसी बात की चिन्ता नहीं करके इस कार्य में तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग देकर एक आदर्श कार्य किया।

बहुत दिनों से यहां की धार्मिक पाठशाला बन्द पड़ी थी उसमें भी पूज्य महाराज श्री ने नवचेतना जागृत करके अपने सामने ही प० यतीन्द्रकुमारजी शास्त्री, आगरावालों की व्यवस्था करके स्थाई फंड कायम करवा दिया। आशा है कि यह कार्य भी आगे निर्विघ्न संपन्न होता रहेगा।

कई भाई चाय आदि के त्याग से डरते थे, उन्होंने बहुत अधिक संख्या में अपनी शक्ति के अनुसार नियम लेकर अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध की और आहारदान का लाभ लिया।

वेदी-प्रतिष्ठा का कार्य भी कुछ आगे के लिये छोड़ा जाना था किन्तु सभी भाइयों ने एक मत होकर, इस अवसर को स्वर्ण अवसर समझकर बड़े उत्साह से वर्षायोग के समापन समारोह के उत्सव में चार चांद लगाने का कार्य किया।

हम महाराज श्री के बड़े कृतज्ञ हैं कि उनकी कृपा से सारे संघ में शांति का व्यवहार रहा। हमारी ओर से खास व्यवस्था न होने पर भी कोई विपरीत वातावरण नहीं हुआ। यहां की समाजको आपके प्रवचनों के आनन्द व शांतिपूर्ण वातावरण से चातुर्मास का कुछ पता भी नहीं चला कि चातुर्मास कब खतम होगया। यह सुअवसर कुकनवाली के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायगा।

वेदी प्रतिष्ठा तथा मंडल आदि की रचना में सभी भाइयों ने तन, मन, धन से सहयोग देकर महान् पुण्य संचय किया। इस अवसर पर हमारे परम सहयोगी कुचामन के पंडित श्री विद्याकुमारजी सेठी, श्री माणकचन्द्रजी पाटोदी तथा समाज के विद्वान् प्रतिष्ठाचार्य श्री यतींद्रकुमारजी आदि के भी हम विशेष आभारी हैं जिन्होंने समय २ पर पूर्ण भाग लेकर हमें मार्ग-दर्शन किया है।

विनीत—

दि० जैन वर्षायोग समिति की ओर से

उम्मेदमल काला

कुकनवाली के धार्मिक आयतनों का संक्षिप्त परिचय

(लेखक—श्री कुन्दनमलजी अजमेरा-मंत्री श्री दि० जैन शांतिनाथ पाठशाला)

हमारे बडे सौभाग्य हैं; बडे पुण्योदय हैं जो श्री १०८ चारित्र विभूषण श्री विवेकसागरजी महाराज का ससंघ चातुर्मास इस छोटी सी नगरी कुकनवाली में हुआ। यहां से शास्त्र श्री परमात्मप्रकाश व वृहत्स्वयंभू स्तोत्र के प्रकाशन का कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ, यह सब महाराजश्री के चरणों का ही प्रताप है जो यहां के श्रावक-समूह में धर्मोत्साह की उत्पत्ति व धार्मिक भावना की ज्योति जगमगा रही है। यहां का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है:—यहां तीन दि० जैन मन्दिर हैं। एक जैन भवन (धर्मशाला) है, एक विशाल पाठशाला भवन है जिसमें कई बीघा जमीन बाउंड्री सहित है। यहां हाईस्कूल, प्राइमरी स्कूल, प्राइमरी हेल्थ सेंटर एवं सब-पोस्ट ऑफिस भी हैं। जैन समाज की तरफ से गांव में ४ प्याऊ भी हैं। इस ग्राम में कभी १०० से १५० तक घर दि० जैन श्रावकों के थे; पर अब वर्तमान में ७९ घर हैं जिनमें ३८ परिवार आसाम आदि भिन्न २ प्रांतों में रहने चले गये हैं जिनकी जन संख्या ३६९ है; शेष यहां रहते हुये ४१ परिवारों की (घरों की) जनसंख्या ३३३ है। इस प्रकार यहां दि० जैन संख्या कुल ७०२ है। सभी खंडेलवाल दि० जैन हैं। यह ग्राम जिला नागौर, तहसील नावां के अंतर्गत है। इस ग्राम के कुल घरों की संख्या ५०० है जिनकी आबादी लगभग साढे तीन हजार है। जिन मन्दिरों की अपूर्व शोभा व पंच कल्याणक समारोह के कारण से भी यह लघु नगरी सोभाग्यशाली सिद्ध हुई है; उनका संक्षिप्त विवरण भी यहां देना आवश्यक समझता हूँ।

(१) श्री नेमिनाथ जिनमन्दिर—यह ३०० साल करीब का पुराना भव्य मन्दिर है। इसका जीर्णोद्धार सं० १९९५ में श्री लालचंदजी काला एवं श्रीगंगाबकसजी सेठी एवं श्री कन्हैयालालजी बडजात्या के तत्त्वावधान में पंचायत द्वारा हुआ था। इस मन्दिर में तीन वेदियां हैं, बीच की वेदी श्री गुलाबबाई पुत्री श्री जोधराजजी कासलीवाल ने सोने के काम व किवाड सहित बनवायी। पूर्व की तरफ श्री महावीर स्वामी की वेदी श्री भंवरलालजी सेठी ने मय सोने के काम के व किवाडों सहित बनवाई। पश्चिम की तरफ की वेदी श्री पतासीबाई पुत्री श्री कस्तूरमलजी कासलीवाल ने मय सोने के काम व किवाडों सहित बनवाई। इसके अतिरिक्त इस मन्दिर में रंग व काच का कार्य अति मनोहारी सुन्दर देखने लायक बना हुआ है। इस मन्दिर का दुबारा जीर्णोद्धार एवं प्रतिष्ठा समाज की तरफ से सं० २००७ में हुई। उसके बाद महावीर स्वामी की

दुबारा वेदी प्रतिष्ठा सं० २०२८ में भंवरलालजी सेठी की तरफ से हुई। अब वहां वर्त्तमान में हर समय मंडल विधान, जाप्यादि हुआ ही करते हैं।

(२) श्री शांतिनाथ जिन मन्दिर—इस मन्दिर की नींव सं० १९६७ में श्री जोधराजजी गंगाबकसजी श्री लालचन्दजी व कन्हैयालालजी के हाथों से पंचायत की तरफ से लगी और इन्हीं के तत्त्वावधान में मन्दिरजी का कार्य सम्पन्न हुआ। लिखते हुये परम हर्ष होता है कि इस छोटी सी पुण्य नगरी में सं० १९८० में बिम्ब प्रतिष्ठा (पंच कल्याणक महोत्सव) भी सर्व समाज की ओर से इन्हीं के तत्त्वावधान में श्री आदिनाथजी के नाम से होकर मूलनायक श्री १००८ पार्श्वनाथ भगवान् शुभ मिती चैत्र सुदी १३ सं० १९८१ को विराजमान किये गये; पश्चात् इस वेदी का सोने का कार्य एवं काच के किवाड सं० २०२९ में श्री पूसालालजी सेठी की ओर से बने एवं वेदी प्रतिष्ठा इन्होंने करवाई।

(३) श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय—इस चैत्यालय की जमीन श्री जोधराजजी अजमेरा से लेकर स० १९९४ में श्री लालचन्द्रजी गंगाबक्सजी व कन्हैयालालजी के तत्त्वावधान में नींव लगाई गई। सं० २००७ में वेदी प्रतिष्ठा होकर श्रीजी को विराजमान किया गया। यह वेदी श्री दाखीबाई पुत्री श्री लालचन्दजी काला व श्री मूलीबाई पुत्री श्री भंवरलालजी काला ने बनवाई। सं० २०२८ में इस चँवरी में सोनेका काम एवं किवाड बनाकर श्री मिश्रीलालजी काला ने वेदी प्रतिष्ठा कराई और श्रीजी को विराजमान किया।

(४) जैन भवन—श्री जैन भवन की नींव सं० १९९७ में श्री जोधराजजी कन्हैयालालजी, लालचन्दजी, गंगाबक्सजी ने लगाकर स० १९९७ में बनाकर सम्पन्न किया। यह भवन बस स्टैण्ड के मुख्य स्थान पर है। प्रायः हमेशा ही इस जैन भवन में जैन समाज हर प्रकार के मंडल-पूजा विधान एवं अन्य २ धार्मिक क्रिया करता रहता हैं और साधुजन, त्यागीजन भी ठहरा करते हैं। हर्ष है कि वर्त्तमान में श्री १०८ चारित्र विभूषण विवेकसागरजी महाराज का ससंघ चातुर्मास भी इसी भवन में हो रहा है। इसके अतिरिक्त यहां दि० जैन कन्या पाठशाला सं० २०१५ में स्थापित हुई। श्री १०५ श्री क्षु० चन्द्रसागर विद्यालय २०३२ तक चलता रहा। पश्चात् श्री विवेकसागरजी म० के उपदेश से सं० २०३३ से श्री शांतिनाथ दि० जैन पाठशाला स्थापित हुई जो वर्त्तमान में भी चालू है। और बालक बालिका में सभी विद्या ग्रहण कर रहे हैं।

* दो शब्द *

निर्ग्रंथ वीतरागी गुरुओं के संपर्क से हमारा जितना उपकार हो सकता है उतना कभी भी सरागी धर्मोपदेशकों से नहीं हो सकता; कारण कि जिसका उपकार किया जाता है वह पहले अपने प्रति उपकार करने वाले की ओर दृष्टि डालता है और उसमें यदि वह जैसा कहता है वैसे ही गुण देखता है तो श्रद्धा करके फिर उपकारकर्त्ता के कथन का भक्तिपूर्वक पालन करता है। स्वर्गीय परम पूज्य १०८ श्री ज्ञान-मूर्त्ति आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने भी इस ओर अपना सक्रिय सहयोग दिया। मुझे परम सौभाग्य से उनका संपर्क प्राप्त हुआ; उन्होंने अपना कल्याण तो किया ही साथ ही अपने स्वर्गवास के पश्चात् भी जैन संस्कृति का उद्धार और जन कल्याण होता रहे; इसके लिये श्री १०८ श्री आचार्य प्रवर विद्यासागरजी महाराज को तथा श्री विवेकसागरजी महाराज को तैयार किया। इन दोनों ही निर्ग्रंथ स्नातकों के द्वारा भिन्न २ क्षेत्र में भिन्न २ प्रकार के स्वपरोपकार के कार्य होते ही रहते हैं। इनकी जितनी भी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा है वह अभी तक अपना कार्य निर्बाध रूपसे कर रही है। मैंने श्री चारित्रविभूषण मुनिराज विवेकसागरजी को बहुत निकट से देखा। ये नारियल के समान ही सिद्ध हुये अर्थात् बाहर से चाय आदि के कठोर नियम दिलाने वाले किन्तु भीतर से जीवों के प्रमाद को दूर कर, सच्चा हित करने वाले साधु परमेष्ठी हैं। आप स्वयं रात्रि को १॥-२ बजे से ७॥-८ बजे प्रातःकाल तक एकासन से बैठकर आत्मचिन्तन, बारह भावना, षोडशकारण-भावनादि के शुभ ध्यान में सदा नियमपूर्वक निमग्न रहते हैं। प्रातःकाल आपकी प्रसन्नमुद्रा देखने ही योग्य होती है; मैं तो उस समय के अनुभव पूर्ण वाक्यों को दत्तचित्त सुनता ही रहता हूँ। आपकी निष्ठा एवं प्रमाद रहित वृत्ति को देखकर पूर्ण प्रभावित हू। हमने बहुत प्रयत्न किया कि पूज्य श्री के संघ का वर्षायोग इस वर्ष भी कुचामन में हो और संघस्थ श्री कुसुमबाई, सरलाबाई व कंचनबाई को संस्कृत भाषा का अभ्यास कराकर पुण्य संचय करें; किन्तु कुकणवाली के धर्मानुरागी सज्जनों के पुण्योदय से, भारी प्रयास व लगन से यह वर्षायोग का लाभ कुकणवाली ग्राम को ही मिला। यद्यपि यहां ३०-४० घर ही हैं; छोटी समाज ही है, फिर भी यहां के सज्जन बड़े २ काम कर दिखाने वाले हैं। इन महानुभावों ने बड़ी भक्तिपूर्वक संघकी सेवा करके कुली (खाचरियावास) पहुंचकर गुरु-भक्तिका परिचय दिया। कई भाई यह सोचते होंगे

कि चारित्र-विभूषण पूज्य विवेकसागरजी महाराज चातुर्मास के समय में कुली कैसे गये ? इसके विषय में स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:—सबसे पहले तो महाराज ने चातुर्मास की स्थापना करते समय सबके समक्ष चारों तरफ बीस २ मील एरिया तक जाने के लिये खुला रक्खा था; इसके अतिरिक्त समाधिमरण के समय में आचार्यों की "ऐसी विशेष परिस्थिति में स्थान छोडकर भी साधु जा सकते हैं" इस आज्ञा के अनुसार महाराज श्री ने कुली पहुंचकर एक आदर्श गुरु व आदर्श शिष्य की परम्परा को चरितार्थ किया।

संक्षेप में पूज्य महाराज के चातुर्मास स्थापना के हर्षोपलक्ष्य में श्री सेठ सर्वसुखजी भागचन्दजी सेठी ने अपनी ओर से सिद्धचक्र विधान बड़े समारोह से कराया। अढाई द्वीप मंडल विधान श्री ब्रह्मचारिणी कुसुमबाई के पिताजी श्री बापूलालजी चोरडिया (ओसवाल) ने कराया। भाद्रपद मास में समाज की ओर से कई मंडल विधान किये गये। वर्षायोग की समाप्ति पर तीन लोक मंडल विधान, रथयात्रा व वेदी प्रतिष्ठादि महान् कार्य भी किये गये। मैं यहां के सभी कार्यकर्त्ताओं की भूरि २ प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने छोटे से स्थल में भी महाराज के आशीर्वाद से बहुत बड़ा कार्य कर लिया। निस्संदेह इसमें स्थानीय महिलाओं का तथा बालिकाओं का भी बड़ा हाथ है जिन्होंने माताजी व संघस्थ ब्रह्मचारिणियों की अनुपम सेवा की है। श्री उम्मेदमलजी काला का नाम मैं नहीं भूल सकता जिन्होंने ६ मास से अपना खुदका धंधा छोडकर हर प्रकार से संघ की सेवा में ही भाग नहीं बटाया बल्कि हम लोगों की तथा बाहर से पधारे हुये समस्त यात्री महानुभावों की तन, मन, धन से संभाल करके एक आदर्श कार्य-तत्पर सज्जन सिद्ध हुये। कार्य में तुरन्त निर्णय करने की शक्ति तथा उसको तत्काल पूर्ण करने की भावना आप में अद्भुत है, इस वर्षायोग की सफलता में इनका पूरा हाथ रहा है।

यहां की समाज द्वारा अन्य खर्च तो किये ही गये साथ ही परमात्म प्रकाश व स्वयंभूस्तोत्र की भाषा टीका स्व० श्री ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा कृत ग्रंथ का प्रकाशन करके अखिल भारतवर्षीय जैन समाज की संस्कृति के अभिवर्धन के कार्य में सहयोग दिया गया।

हमने अपनी ओर से कुछ नहीं लिखकर इन दोनों ग्रंथों के भावों को ज्यों का त्यों केवल शब्द—शुद्धि करके प्रकाशित कराया है। अतः इस कार्य का श्रेय हमें केवल गुरु–आज्ञा पालन मात्र ही है।

ये दोनों ही ग्रंथ महान् जैन संस्कृति के रक्षण करने वाले आर्षप्रणीत हैं। केवल अध्यात्मरस से ही श्रावकों को लाभ नहीं पहुंच सकता; समंतभद्राचार्य विरचित यह अनुपम स्तोत्र उनकी मस्तिष्क शक्ति को भी जागृत रक्खेगा। इनका स्वाध्याय करके आप अन्य बालकों को भी मौखिक कण्ठस्थ करादेंगे तो यह जैन धर्मकी बडी सेवा होगी। महाराज की असीम कृपा से इस महंगाई के युग में भी इस विशाल ग्रंथ के निःशुल्क वितरण के उपलक्ष्य में यहां की समाज धन्यवाद के योग्य है। आज के युग में भौतिक वांछाओं की पूर्ति के लिये तो लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं किन्तु ऐसे शुभ कार्य में खर्च करना फिजूलखर्च समझते हैं, यह मिथ्याधारणा है। सो इस ओर ध्यान देकर पाठशाला व शास्त्र दान में उपयोगी खर्च करने का सभी भाई प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा है। इस युग में अन्य नये मन्दिरादि के निर्माण की अपेक्षा भी उनके संरक्षण सम्बन्धी कार्यों में जीवन डालने की अधिक आवश्यकता है। आचार्यों की कृति के अमृत का आस्वादन कर हम भौतिक चाकचिक्य से दूर रह सकें, यही हमारी मंगल कामना है। अधिक क्या कहें, हमने परमात्म प्रकाश मूल ग्रंथ के तथा संस्कृत टीका के आशय में कहीं कम ज्यादा नहीं किया है, केवल जो प्रस्तावना अंग्रेजी में थी वह हम लोगों के किसी विशेष उपयोग में नहीं आती थी तथा संस्कृत भी हर एक के समझ में नहीं आती थी उसकी सबकी छपाई में खर्चा भी विशेष लगता था, यह सारी बातें सोचकर इस महान् ग्रंथ का 'लघु परमात्म प्रकाश' नाम दिया है। इस विषय में आलोचनात्मक दृष्टिकोण नहीं रख कर इस ग्रंथ का स्वाध्याय करके महान् पुण्य संचय करें, ज्ञान व वैराग्य को बढावें, इसी में कल्याण है। आलोचना करने में हानि ही हानि है, लाभ कुछ भी नहीं है।

विज्ञेष्वलम्

विनीत :

पं० विद्याकुमार सेठी
न्याय-काव्य-तीर्थ
प्रधानाध्यापक
राजमान्य दि० जैन विद्यालय कुचामन सिटी

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदाता

श्री मिश्रीलालजी काला, कुकनवाली श्री मदनलालजी सेठी, कुकनवाली



आपने ४०००) रु. प्रदान किया है।



आपने १००१) रु० प्रदान किया



स्व. श्री भँवरलालजी काला



आपके सुपुत्र श्री प्रकाशचन्दजी ने ४०००) रु० प्रदान किया है।





स्व. श्री सुरजमलजी बड़जात्या





श्री आसूलालजी एवं श्री उम्मेदमलजी काला, कुकनवाली
(आपने १००१) रु० प्रदान किया)



आपकी स्मृति में आपके सुपुत्र श्री गंभीरमलजी ने १००१) रु० प्रदान किया है।

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रंथ परमात्म प्रकाश (परमप्पयासु) सागार एवं अनागारों में अति प्रसिद्धि को प्राप्त है। ग्रंथ कर्त्ता जोइन्दुदेव (योगीन्द्र देव) महान् अध्यात्मवेत्ता, स्व-ख्याति पूजा से अति निस्पृह साधु थे। इनकी पांच और रचनाओं की चर्चा एवं नाम अन्यान्य ग्रंथों में पाये जाते हैं। इनका समय ईसा की छटी शताब्दी है। ग्रंथ कर्त्ता का मुख्य उद्देश्य जन्म मरण के दुःखों से दुखी भट्ट प्रभाकर, जो इनका ही शिष्य था—के लिये—वैराग्य एवं अध्यात्म में रुचि उत्पन्न करने का है। प्रायः सभी प्राणी भव-भोगों, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोगज दुःखों से दुखी एवं विकल पाये जाते हैं। उन सभी कल्याणेच्छु भव्य जीवों के लिये यह ग्रंथराज उनके आत्म—कल्याण में सर्वोपयोगी है। वैसे सभी जीव जो आस्तिक हैं उन सब को यह ग्रंथ प्रिय होगा। कारण यह साम्प्रदायिकता से रहित रचना है।

विवरण—अध्यात्म वेत्ता श्री योगीन्दु देव ने प्रथम ही मंगलाचरण सात (७) दोहों में किया है। फिर तीन दोहों में शिष्य प्रभाकर भट्ट की विनती का वर्णन है कि "चतुर्गति-दुःखैः तप्तानां चतुर्गति-दुःख-विनाशकरः यः कश्चित् परमात्मा तमपि प्रसादेन कथय"। हे स्वामी चारों गतियों के दुःखों से तप्त हम जीवों को चारों गतियों के दुःखों के नाश करने वाला जो चिदानंद परमात्मा है उसका स्वरूप कृपा कर कहें। इस प्रश्न पर परमात्म प्रकाश की अपभ्रंश भाषा जो इस समय बोलचाल में थी, रचना प्रगट हुयी। इस प्रकार ११ से १५ तक दोहों में त्रिविध आत्मा का वर्णन है। और १० दोहों में विकल परमात्मा का वर्णन है। पश्चात् २४ दोहों में सकल परमात्मा का वर्णन है। फिर ६ दोहों में जीव स्व शरीर प्रमाण एवं अन्यवादियों के एकान्त का निराकरण है। आगे मिथ्यात्व से जीव की हानि एवं सम्यक् दृष्टि (निश्चय) कर्म, गुण, पर्याय, द्रव्य तथा शुद्धात्मा, शुद्ध परिणाम आदि का सूक्ष्म विवेचन है। इस प्रकार इस प्रथम अधिकार में १२६ दोहे हैं।

द्वितीय महाधिकार में १० दोहों में मुक्ति का स्वरूप फल एवं निर्विकल्प दशा का वर्णन किया है। पश्चात् १९ दोहों में निश्चय मोक्षमार्ग, व्यवहार मोक्षमार्ग का

हृदयग्राही कथन किया है। फिर ८ दोहों में भेद रहित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का वर्णन है; और १४ दोहों में जीवों के समभावों का हृदयांकित भाषा में वर्णन है। पश्चात् १४ ही दोहों में पाप-पुण्यकी समानता, कर्म-बंधन एवं दशा का वर्णन है। ४१ दोहों में उपयोग पर प्रकाश डाला है। शुद्धोपयोग की दशा, स्वरूप, स्थिति, फल का वर्णन है। और अंत में परम समाधि का प्रभावोत्पादक कथन पाया जाता है। इस प्रकार द्वितीय अधिकार में ११६ दोहे और तीसरे महाधिकार में १०७ दोहे हैं।

प्रिय पाठकों! अब आपको परमात्म प्रकाश की ज्ञानगंगा में २-४ डुबकी लगाने का अवसर देते हैं। यथा—

एक स्थल पर योगीन्दु देव कहते हैं— संसार-शरीर-भोग-निर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसार—बल्ली नश्यतीति।' अर्थ—जो संसार-शरीर-भोगों से विरक्त मन होकर आत्मा शुद्धात्मा का ध्यान करता है वह संसार रूपी बेल का नाश कर देता है, अर्थात् कर्म बंधन से छूट जाता है।

कितने मर्म की भीतरी तह खोली है। जबकि ध्यान तो अनेक जीव करते हैं पर अंतरंग संयम, अंतरंग विरक्तता कषाय प्रभाव से मुक्त हो जो शुद्ध निरजन आत्मा का चिंतवन करता है वह शुद्ध निरंजन ही हो जाता है। वास्तव में इस जीव ने बाह्य-संयम (दिगम्बर मुद्रा तक) को अनंत बार धारण किया है। पर अंतरंग विरक्त न हो सका, अभ्यंतर में परिग्रह से, मोह से नाता लगा रहा। फलतः कर्म बेल न कट सकी, यह भेद की बात है जिसका गुरुमंत्र है कि "संसार-शरीर-भोग-निर्विण्णो भूत्वा" अगर जीव एक बार भी इस मंत्र द्वारा आगे बढ़े, तो बढ़ते २ प्राप्त विशुद्ध परिणाम मोक्ष-प्राप्त कराने में पूर्णतया सहायक होंगे। एक स्थल पर श्री योगीन्दु देव कहते हैं।

सागार विरणागार, कुवि जो अप्पाणिवसेहि।
सोलह पावहि सिद्धि सुह जिरणवर एम भणेई॥

अर्थ—गृहस्थ हो या मुनि जो निज आत्मा में निवास करता है वह शीघ्र ही सिद्धि सुख को पाता है। देखिये कितना स्पष्ट सुलभ तत्त्व-दर्शन है।

यह ग्रंथ अपभ्रंश भाषा का सबसे अधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है। मुमुक्षु गणों के लिये यह रचना उनके हृदय का हार ही है। ऐसा भाव स्वाध्याय के बाद प्रगट

होता है। प्रभाकर भट्ट के प्रश्नों के उत्तर स्वरूप ग्रंथ तीन विभाग में पूर्ण किया गया है। द्वितीय महाधिकार में प्रभाकर भट्ट के प्रश्न पर योगीन्दुदेव ने मोक्ष, मोक्ष का कारण मोक्षफल इन तीन प्रश्नों पर व्याख्यान रचना बद्ध की है। यथा–

तिहुयणि जीवहँ अत्थ णवि सोक्खहँ कारणु कोई।
मुक्खु मुए विणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोई ॥ ९ ॥

अर्थ—तीनों लोकों में जीवों को मोक्ष के सिवाय कोई भी वस्तु सुख का कारण नहीं है। एक मोक्ष ही सुख का कारण है। इसलिये तू नियम से एक मोक्ष का ही चिंतवन कर। जिसे महामुनि भी चिंतवन करते हैं।

पाठकों! देखिये कर्माष्ट नाशकर मोक्षप्राप्त करने का कितना सुलभ सरल हृदयग्राही चंद शब्दों में फार्मूला बतलाया गया है—

"कि कर्मबद्ध जीव कर्म मुक्त अवस्था के चिंतवन से मुक्त हो सकता है।" इस सरल और सुलभ फार्मूले को जो भी स्वाध्यायी भव्य जीव, मुमुक्षु प्राणी, ग्रहण करेगा आनंद से प्लावित हो उठेगा। इस प्रकार के सरल हृदयस्पर्शी कथन से ग्रंथ भरा पड़ा है। ऐसा यह ग्रंथ कुल ३४५ दोहों में "परमात्म प्रकाश" का व्याख्यान पूर्ण हुवा है। संसार की प्रत्येक वस्तु को स्व से भिन्न देखने एवं पृथकत्व अनुभवन करने का उपदेश दिया है। आप रसास्वादन कर आनंद वर्द्धन करें। वास्तव में जैन धर्म एक तपस्या प्रधान धर्म है जहां आत्मध्यान, आत्ममनन को विशेष महत्व दिया गया है। शुद्धभाव न बन पाने पर जीव शुभभाव पर आता है तब नाना प्रकार के शुभ भावों से जीव आलोड़ित होता है। तब भक्ति मार्ग में आता हुवा तीर्थ वंदना, पूजा, जाप्य विधान, महोत्सव आदि में सम्मिलित होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ परमात्मप्रकाश, एवं श्री स्वयंभूस्तोत्र ब्र. शीतलप्रसादजी कृत भाषाटीका सहित एकही जिल्दमें पठन पाठन मनन धारण हेतु आपके हाथों में प्रस्तुत है। इसके प्रकाशन में कुकनवाली दि० जैन समाज ने उदारता से सहयोग दिया है। अतएव वे धन्यवाद के पात्र हैं। इत्यलम्, शुभं भूयात्।

भवदीय—
परमेष्ठी चरण चंचरीक
(डा० यतीन्द्रकुमार जैन शास्त्री)
२५/२ गांधी नगर, आगरा (उ.प्र.)

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन—धर्मोस्तु मंगलं ॥१॥

भव्य जीवो ! आपने परमात्म प्रकाश में श्री योगीन्दु देव की वाणी जो अध्यात्म रूप रचना है—उसे पढ़ी और निश्चय ही उसका मनन किया होगा। यह आत्मा इस शरीर के माध्यम से ही तपश्चरण करता है; इसी के माध्यम से अभीक्ष्ण—ज्ञानोपयोग—रत रहता है। त्याग और व्रत का माध्यम भी यह औदरिक शरीर ही है। भव्य जीवों की चेतनवृत्ति विषय से विषयान्तर होकर भी धर्म स्वरूप एवं चतुः अनुयोगों में भ्रमण करती है। इतस्ततः भटकता मन एक विषयपर उत्तम संहननधारियों के भी अंतमुहूर्त्त ही ठहर पाता है फिर उसे अन्य विषय पर लगाना पड़ता है। परमात्म—प्रकाश भव्य जीवों को प्राण से भी अधिक प्रिय है। इस शास्त्र के मनन, पठन, श्रवण करते रहने से वैराग्य, त्याग, स्वपर—विवेक, परिणामों की विशुद्धि, एवं संवेग का वर्द्धन होता है आत्म-शक्ति का जागरण होता है। अपनी आत्मा की स्थिति, शक्ति सम्पन्नता देख समझकर यह प्राणी स्वयं चकित होता है, सम्यक्त्व भी प्रगाढ़ता को प्राप्त होता है। परमात्म—प्रकाश की शैली भव्य जीव की शुभ परिणति को उठाकर शुद्ध परिणति में लाने का अथक प्रयास है। इस अध्यात्म गंगा में निमज्जन उन्मज्जन करने के बाद स्वभावतः मानव मन भक्ति एवं अन्यान्य विषयों की जानकारी की ओर झुकता है, उन्हें चाहता है।

अतः अब अध्यात्म—प्रेमी, स्वाध्यायी, भव्यजीव, कलिकाल-सर्वज्ञ, महावादी श्री १०८ आचार्य समंतभद्र स्वामी रचित स्वयंभू स्तोत्र जो निश्चय, व्यवहार, अनेकान्त, निमित्त—नैमित्तिक एवं उनके निराकरणरूप मुक्ति प्राप्ति का वर्णन, एकान्त मत का निराकरण करता है। चतुर्विंशति भगवान् की भक्ति गुणगान रूप स्तुति के सहारे भव्य जीवों के मन पर ऐसे उतरती है जैसे शरद पूर्णिमा के चन्द्र की चाँदनी संसार को अपने अमृत किरणों से जन-मन एवं समस्त वनस्पति औषधियों पर उतर कर उनका अमृतीकरण

कर देती है। उसी प्रकार भव्य हृदयों में उपयोग को कषायों से हटा कर शीतल कर निर्मलीकरण करते हुए ज्ञानोपयोग का अमृतीकरण कर देती है। देखिये, आइये, आचार्य समंतभद्र की वाणी गंगा में अमृत कणों का स्पर्श करिये—यथा—

शतह्रदोन्मेष-चलं हि सौख्यं, तृष्णाऽऽमयाऽप्यायन-मात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदा यासयतीत्यवादीः ॥१३॥

संसार का सुख इन्द्रिय जनित है जो बिजली की झलक के समान चंचल है; और संसार सुख मृग तृष्णावत् है। इस तृष्णा रोग के बढाने में अर्थात् संतापित करने में संसार संलग्न है, सो तू—संसार को ही छोड़ अर्थात् स्व के अतिरिक्त सब को त्याग; ऐसा आपका उपदेश है।

देखिये यहां मात्र सूक्ष्म वस्तु तृष्णा भाव को पकड़ा है जिसके उदर में तीन लोक समाया हुवा है। मात्र तृष्णा त्याग से तीनलोक का परिग्रह स्वतः ही छूट जायेगा। क्या शैली है? सरलता से स्तुति के माध्यम से ही भाव मन को दृढ किया जारहा है इस प्रकार यह स्तुति शास्त्र रूप जिनेन्द्र मत का सरलता से दिग्दर्शन कराने वाला है।

हे भव्य जनों! इस स्वयम्भू शास्त्र को स्तुति ही नहीं अपनी आत्मा की सिद्धि में महानिमित्त मान कर कंठ में धारण करो। अर्थात् मुखाग्र सार्थ (अर्थ सहित) याद कर लो। नित्य प्रातः उषा काल में पाठ करो आपको शीघ्र ही मोक्षमार्ग मिल जायेगा। अनंत भ्रमण से आत्मा मुक्त होकर अचल, अविनाशी महापद को प्राप्त करेगी। इसमें संदेह नहीं। आप सबके '—कर्म क्षय' हों। इत्यलम्।

मुनि विवेक सागर



श्री नेमिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर कुकनवाली



श्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर कुकनवाली

卐 श्री परमात्मने नमः 卐



श्रीमद्योगीन्दुदेव विरचित

-: लघुपरमात्मप्रकाश :-

टीकाकार का मंगलाचरण

चिदानन्दैकरूपाय, जिनाय परमात्मने ।
परमात्मप्रकाशाय, नित्यं सिद्धात्मने नमः ।।

दोहा—

चिदानंद चिद्रूपजो, निजपरमातम देव ।
सिद्धरूप सुविसुद्धजो, नमों ताहि करि सेव ।।१।।

परमातम निजवस्तु जो, गुण अनंतमय शुद्ध ।
ताहि प्रकाशनके निमित्त, बंदू देव प्रबुद्ध ।।२।।

अवतरणिका "चिदानंद" इत्यादि श्लोकका अर्थ—

श्री जिनेश्वरदेव शुद्ध परमात्मा, आनंदरूप चिदानन्द चिद्रूप है, उनके लि मेरा सदा काल नमस्कार होवे, किसलिये ? परमात्माके स्वरूपके प्रकाशनके लिये कैसे हैं वे भगवान् ? शुद्ध परमात्म स्वरूपके प्रकाशक हैं, अर्थात् निज और पर सब स्वरूपको प्रकाशते हैं । फिर कैसे हैं "सिद्धात्मने" जिनका आत्मा कृतकृत्य है । सारां यह है कि नमस्कार करने योग्य परमात्मा ही है, इसलिये परमात्माको नमस्कार क परमात्म प्रकाश नामा ग्रंथका व्याख्यान करता हूं ।

मंगलाचरण (मुनि विवेकसागरजी महाराजकी तरफ से)

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं ॥१॥

मैं (विवेकसागर ने) ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीकाके पं० दौलतरामजी कृत हिन्दी अर्थका २-३ बार ध्यानपूर्वक स्वाध्याय किया, मुझे यह अनुवाद बहुत ही अच्छा लगा और मैंने सोचा कि यदि यह संस्कृत टीका रहित केवल अविकल भाषानुवाद सहित प्रकाशित कर निःशुल्क वितरण किया जा सके तो भव्य जीवोंका बड़ा कल्याण हो। निश्चयव्यवहार की जटिल समस्या सरल भाषामें सबके हृदयंगत हो और मोक्ष-मार्गमें हम सब उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करें, अतः सर्व प्रथम देवाधिदेव श्री १००८ श्री वीर भगवान्को व चार ज्ञानके धारी श्रुत केवली गणधर श्री गौतमस्वामी को एवं इस युगके अध्यातमवादियोंके सर्वशिरोमणि आचार्य श्री १०८ श्री कुन्दकुन्द स्वामी आदि महर्षिको सिद्धभक्ति पूर्वक, त्रिधा नमोस्तु पूर्वक महा मंगल रूपमें स्मरण कर उन्हींके वचनरूप जिन धर्मको इस लोकमें तथा परलोकमें ही महान् हितकर समझ कर इस सत्कार्य में प्रेरित हो रहा हूं। इस समीचीन कृतिको लघु परमात्मप्रकाशके नामसे, प्रकाशित करने की प्रेरणा दे रहा हूं। यह मंगलरूप वचनोंसे स्थायी परमानंद देनेवाली आचार्योंकी देन हम सबका कल्याण करे। यदि संभव हो सका तो इन्हीं की दूसरी कृति योगसार व अन्य आर्षमार्गानुयायी आचार्यों की मूल कृति भी हिन्दी अनुवाद सहित इसी ग्रंथके साथ प्रकाशित करवा कर जिनवाणी का लाभ सर्व साधारण को हो सके ऐसी भावना करता हूं।

-: लघुपरमात्मप्रकाश :-

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि ।
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥१॥

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कान् दग्ध्वा ।
नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा ॥१॥

(ये) जो भगवान् (ध्यानाग्निना) ध्यानरूपी अग्निसे (कर्मकलङ्कान्) पहले कर्मरूपी मैलों को (दग्ध्वा) भस्म करके (नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः जाताः) नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं, (तान्) उन (परमात्मनः) सिद्धोंको (नत्वा) नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूं । यह संक्षेप व्याख्यान किया । इसके बाद **विशेष व्याख्यान** करते हैं—जैसे मेघ-पटलसे बाहर निकली हुई सूर्यकी किरणोंकी प्रभा प्रबल होती है, उसी तरह कर्मरूप मेघसमूहके विलय होनेपर अत्यंत निर्मल केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयकी प्रगटतास्वरूप परमात्मा परिणत हुए हैं । अनन्तचतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनंतवीर्य, ये अनन्तचतुष्टय सब प्रकार अंगीकार करने योग्य हैं, तथा लोकालोकके प्रकाशनको समर्थ हैं । जब सिद्धपरमेष्ठी अनंतचतुष्टयरूप परिणमे, तब कार्य-समयसार हुए । अन्तरात्म अवस्थामें कारण-समयसार थे । जब कार्यसमयसार हुए तब सिद्धपर्याय परिणतिकी प्रगटता रूपकर शुद्ध परमात्मा हुए । जैसे सोना अन्य धातुके मिलापसे रहित हुआ, अपने सोलहबानरूप प्रगट होता है, उसी तरह कर्म-कलंक रहित सिद्धपर्यायरूप परिणमे । तथा **पंचास्तिकाय** ग्रन्थमें भी कहा है—जो पर्यायार्थिकनयकर 'अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो' अर्थात् जो पहले सिद्धपर्याय कभी नहीं पाई थी, वह कर्म-कलंकके विनाशसे पाई । यह पर्यायार्थिकनयकी मुख्यतासे कथन है, और द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिकी अपेक्षा यह जीव सदा ही शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव तिष्ठता है । जैसे धातु पाषाणके मेलमें भी शक्तिरूप सुवर्ण मौजूद ही है, क्योंकि सुवर्ण-शक्ति सुवर्णमें सदा ही रहती है, जब परवस्तुका संयोग दूर हो जाता है, तब वह व्यक्तिरूप होता है । सारांश यह है कि

शक्तिरूप तो पहले ही था, लेकिन व्यक्तिरूप सिद्धपर्याय पाने से हुआ। शुद्ध द्रव्यार्थिक-नयकर सभी जीव सदा शुद्ध ही हैं। ऐसा ही द्रव्यसंग्रह में कहा है, "सव्वे सुद्धाहु सुद्धणया" अर्थात् शुद्ध नयकर सभी जीव शक्तिरूप शुद्ध हैं और पर्यायार्थिकनयसे व्यक्तिकर शुद्ध हुए। किस कारणसे ? ध्यानाग्निना अर्थात् ध्यानरूपी अग्निकर कर्म-रूपी कलंकोंको भस्म किया, तब सिद्ध परमात्मा हुए। वह ध्यान कौनसा है ? आगमकी अपेक्षा तो वीतराग निर्विकल्प शुक्लध्यान है और अध्यात्मकी अपेक्षा वीत-राग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है। तथा दूसरी जगह भी कहा है—"पदस्थं" इत्यादि, उसका अर्थ यह है, कि णमोकारमंत्र आदिका जो ध्यान है, वह पदस्थ कहलाता है, पिंड (शरीर) में ठहरा हुआ जो निज आत्मा है, उसका चिंतवन वह पिंडस्थ है, सर्व चिद्रूप (सकल परमात्मा) जो अरहन्तदेव उनका ध्यान वह रूपस्थ है, और निरंजन (सिद्धभगवान्) का ध्यान रूपातीत कहा जाता है। वस्तुके स्वभावसे विचारा जावे, तो शुद्ध आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमई जो निर्विकल्प समाधि है, उससे उत्पन्न हुआ वीतराग परमानंद समरसी भाव सुखरसका आस्वाद वही जिसका स्वरूप है, ऐसा ध्यानका लक्षण जानना चाहिए। इसी ध्यानके प्रभावसे कर्मरूपी मैल वही हुआ कलंक, उनको भस्मकर सिद्ध हुए। कर्म-कलंक अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म इनमेंसे जो पुद्गलपिंडरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्म वे द्रव्यकर्म हैं, और रागादिक संकल्प-विकल्प परिणाम भावकर्म कहे जाते हैं। यहां भावकर्मका दहन अशुद्ध निश्चयनयकर हुआ, तथा द्रव्यकर्मका दहन असद्भूत अनुपचरितव्यवहारनयकर हुआ और शुद्ध निश्चयकर तो जीवके बंध मोक्ष दोनों ही नहीं है। इसप्रकार कर्म-रूपमलोंको भस्मकर जो भगवान् हुए, वे कैसे हैं ? वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी नित्य निरंजन ज्ञानमई हैं। यहांपर नित्य जो विशेषण किया है, वह एकान्तवादी बौद्ध जो कि आत्माको नित्य नहीं मानता क्षणिक मानता है, उसके समझानेके लिये है। द्रव्या-र्थिकनयकर आत्माको नित्य कहा है, टंकोत्कीर्ण अर्थात् टाँकीकासा घड्या सुघट ज्ञायक एकस्वभाव परम द्रव्य है। ऐसा निश्चय करानेके लिये नित्यपनेका निरूपण किया है। इसके बाद निरंजनपनेका कथन करते हैं। जो नैयायिकमती हैं वे ऐसा कहते हैं "सौ कल्पकाल चले जानेपर जगत् शून्य हो जाता है और सब जीव उस समय मुक्त हो जाते हैं तब सदाशिवको जगत्के करनेकी चिंता होती है। उसके बाद जो मुक्त हुए थे, उन सबके कर्मरूप अंजनका संयोग करके संसारमें पुनः डाल देता है",

ऐसी नैयायिकोंके श्रद्धा है । उनके सम्बोधनेके लिये निरंजनपनेका वर्णन किया कि भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप अंजनका संसर्ग सिद्धोंके कभी नहीं होता । इसीलिये सिद्धोंको निरंजन ऐसा विशेषण कहा है । अब सांख्यमती कहते हैं—"जैसे सोनेकी अवस्थामें सोते हुए पुरुषको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मुक्तिजीवोंको बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है ।" ऐसे जो सिद्धदशामें ज्ञानका अभाव मानते हैं, उनके प्रतिबोध करनेके लिये तीन जगत् तीनकालवर्ती सब पदार्थोंका एक समयमें ही जानना है, अर्थात् जिसमें समस्त लोकालोकके जाननेकी शक्ति है, ऐसे ज्ञायकतारूप केवलज्ञानके स्थापन करनेके लिये सिद्धोंका ज्ञानमय विशेषण किया । वे भगवान् नित्य हैं, निरंजन हैं, और ज्ञानमय हैं, ऐसे सिद्धपरमात्माओंको नमस्कार करके ग्रन्थका व्याख्यान करता हूँ । यह नमस्कार शब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है और केवलज्ञानादि अनंत गुणस्मरणरूप भावनमस्कार कहा जाता है । यह द्रव्य-भावरूप नमस्कार व्यवहारनयकर साधक-दशामें कहा है, शुद्धनिश्चयनयकर वंद्य-वंदक भाव नहीं है । ऐसे पदखंडनारूप शब्दार्थ कहा और नयविभागरूप कथनकर नयार्थ भी कहा, तथा बौद्ध, नैयायिक, सांख्यादि मतके कथन करनेसे मतार्थ कहा, इस प्रकार अनंतगुणात्मक सिद्ध-परमेष्ठी संसारसे मुक्त हुए हैं, यह सिद्धान्तका अर्थ प्रसिद्ध ही है, और निरंजन ज्ञान-मई परमात्माद्रव्य आदरने योग्य है, उपादेय है, यह भावार्थ है, इसी तरह शब्द नय, मत, आगम, भावार्थ व्याख्यानके अवसरपर सब जगह जान लेना ॥१॥

अथ संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपोतं समारुह्य ये शिवमय-निरुपमज्ञानमया भविष्यन्त्यग्रे तानहं नमस्करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा ग्रन्थकारः सूत्रमाह, इत्यनेन क्रमेण पातनिकास्वरूपं सर्वत्र ज्ञातव्यम्—

ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिं जे वि अणंत ।
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥२॥

तान् वन्दे श्रीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येऽपि अनन्ताः ।
शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः परमसमाधिं भजन्तः ॥२॥

अब संसार-समुद्रके तरनेका उपाय जो वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप जहाज है, उसपर चढ़के जो आगामी कालमें कल्याणमय अनुपम ज्ञानमई होंगे,

उनको मैं नमस्कार करता हूँ—('अहं') मैं (तान्) उन (सिद्धगणान्) सिद्धसमूहोंको (वन्दे) नमस्कार करता हूँ, (येऽपि) जो (अनन्ताः) आगामीकालमें अनंत (भविष्यन्ति) होंगे। कैसे होंगे ? (शिवमयनिरुपमज्ञानमया) परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे। क्या करते हुए ? (परमसमाधिं) रागादि विकल्प रहित जो परम-समाधि उसको (भजन्तः) सेवते हुए। अब विशेष कहते हैं—जो सिद्ध होवेंगे, उनकी मैं वन्दता हूँ। कैसे होंगे, आगामी कालमें सिद्ध, केवलज्ञानादि मोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों सहित अनंत होंगे। क्या करके सिद्ध होंगे ? वीतराग सर्वज्ञ-देवकर प्ररूपित मार्गकर दुर्लभ ज्ञानको पाके राजा श्रेणिक आदिकके जीव सिद्ध होंगे। पुनः कैसे होंगे ? शिव अर्थात् निज शुद्धात्माकी भावना, उसकर उपजा जो वीतराग परमानन्द सुख, उस स्वरूप होंगे, समस्त उपमा रहित अनुपम होंगे, और केवलज्ञानमई होंगे। क्या करते हुए ऐसे होंगे ? निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मा है, उसके यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अमोलिक रत्नत्रयकर पूर्ण और मिथ्यात्व विषय कषायादिरूप समस्त विभावरूप जलके प्रवेशसे रहित शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो सहजानंदरूप सुखामृत, उससे विपरीत जो नारकादि दुःख वे ही हुए क्षारजल, उनकर पूर्ण इस संसाररूपी समुद्रके तरनेका उपाय जो परमसमाधिरूप जहाज उसको सेवते हुए, उसके आधारसे चलते हुए, अनंत सिद्ध होंगे। इस व्याख्यानका यह भावार्थ हुआ, कि जो शिवमय अनुपम ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप है वही उपादेय है ॥२॥

अथानन्तरं परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धानहं नमस्करोमि—

ते हउँ वंदउँ सिद्ध-गण अच्छहिं जे वि हवंत।
परम-समाहि-महग्गिएँ कम्मिंधणइँ हुणंत ॥३॥

तान् अहं वन्दे सिद्धगणान् तिष्ठन्ति येऽपि भवन्तः।
परमसमाधिमहाग्निना कर्मेन्धनानि जुह्वन्तः ॥३॥

आगे परमसमाधिरूप अग्निसे कर्मरूप ईंधनका होम करते हुए वर्तमान-कालमें महाविदेहक्षेत्रमें सीमंधरस्वामी आदि तिष्ठते हैं, उनको नमस्कार करता हूँ—(अहं) मैं (तान्) उन (सिद्धगणान्) सिद्ध समूहोंको (वन्दे) नमस्कार करता

हैं (येऽपि) जो (भवन्तः तिष्ठन्ति) वर्तमान समयमें विराज रहे हैं। क्या करते हुए? (परमसमाधिमहाग्निना) परमसमाधिरूप महा अग्निकर (कर्मेन्धनानि) कर्मरूप ईंधनको (जुह्वन्तः) भस्म करते हुए। अब विशेष व्याख्यान है—उन सिद्धोंको मैं वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्धभक्तिकर नमस्कार करता हूं। कैसे हैं वे? अब वर्तमान समयमें पंच महाविदेहक्षेत्रोंमें श्रीसीमंधरस्वामी आदि विराजमान हैं। क्या करते हुए? वीतराग परमसामायिकचारित्रकी भावनाकर संयुक्त जो निर्दोष परमात्माका यथार्थ श्रद्धान–ज्ञान–आचरणरूप अभेद रत्नत्रय उस मई निर्विकल्प-समाधिरूपी अग्निमें कर्मरूप ईंधनको होम करते हुए तिष्ठ रहे हैं। इस कथनमें शुद्धात्मद्रव्यकी प्राप्तिका उपायभूत निर्विकल्प समाधि उपादेय (आदरने योग्य) है, यह भावार्थ हुआ ॥३॥

अथ स्वरूपं प्राप्यापि तेन सम्बन्धादनुज्ञानबलेन ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति तानहं वन्दे—

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिव्वाणि वसंति।
णाणिं तिहुयणि गरुया वि भव-सायरि ण पडंति ॥४॥

तान् पुनः वन्दे सिद्धगणान् ये निर्वाणे वसन्ति।
ज्ञानेन त्रिभुवने गुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति ॥४॥

आगे जो महामुनि होकर शुद्धात्मस्वरूपको पाके सम्यग्ज्ञानके बलसे कर्मोंका क्षयकर सिद्ध हुए निर्वाण में बस रहे हैं, उनको मैं वन्दता हूँ—(पुनः) फिर ('अहं') मैं (तान्) उन (सिद्धगणान्) सिद्धोंको (वन्दे) वंदता हूँ, (ये) जो (निर्वाणे) मोक्षमें (वसन्ति) तिष्ठ रहे हैं। कैसे हैं, वे (ज्ञानेन) ज्ञानसे (त्रिभुवने गुरुका अपि) तीनलोकमें गुरु हैं, तो भी (भवसागरे) संसार-समुद्रमें (न पतन्ति) नहीं पड़ते हैं॥ भावार्थ—जो भारी होता है, वह गुरुतर होता है, और जलमें डूब जाता है, वे भगवान् त्रैलोक्यमें गुरु हैं, परन्तु भव-सागरमें नहीं पड़ते हैं। उन सिद्धोंको मैं वंदता हूँ, जो तीर्थङ्कर परमदेव, तथा भरत, सगर, राघव, पांडवादिक पूर्वकालमें वीतरागनिर्विकल्प स्व-संवेदनज्ञानके बलसे निजशुद्धात्मस्वरूप पाके, कर्मोंका क्षयकर, परमसमाधानरूप निर्वाण-पदमें विराज रहे हैं उनको मेरा नमस्कार होवे यह सारांश हुआ ॥४॥

अत ऊर्ध्वं व्यवहारनिश्चयशुद्धात्मनो हि सिद्धास्तथापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपे तिष्ठन्तीति कथयति—

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत ।
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिं विमलु णियंत ॥५॥

तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।
लोकालोकमपि सकलं इह तिष्ठन्ति विमलं पश्यन्तः ॥५॥

आगे यद्यपि वे सिद्ध परमात्मा व्यवहारनयकर लोकालोकको देखते हुए मोक्षमें तिष्ठ रहे हैं, लोकके शिखर ऊपर विराजते हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।—(अहं) मैं (पुनः) फिर (तान्) उन (सिद्धगणान्) सिद्धोंके समूहको (वन्दे) वंदता हूं (ये) जो (आत्मनि वसन्तः) निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें तिष्ठते हुए व्यवहारनयकर (सकलं) समस्त (लोकालोकं) लोक अलोकको (विमलं) संशय रहित (पश्यन्तः) प्रत्यक्ष देखते हुए (तिष्ठन्ति) ठहर रहे हैं।

विशेष—मैं कर्मोंके क्षयके निमित्त फिर उन सिद्धोंको नमस्कार करता हूं, जो निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें स्थित हैं, और व्यवहारनयकर सब लोकालोकको निःसंदेहपनेसे प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु पदार्थोंमें तन्मयी नहीं हैं, अपने स्वरूपमें तन्मयी हैं। जो परपदार्थोंमें तन्मयी हो, तो परके सुख दुःखसे आप सुखी दुःखी होवे, ऐसा उनमें कदाचित् नहीं है। व्यवहारनयकर स्थूलसूक्ष्म सबको केवलज्ञानकर प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते हैं, किसी पदार्थसे राग द्वेष नहीं है। यदि रागके हेतुसे किसीको जानें, तो वे राग द्वेषमयी होवें, यह बड़ा दूषण है, इसलिये यह निश्चय हुआ कि निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें निवास करते हैं परमें नहीं और अपनी ज्ञायकशक्तिकर सबको प्रत्यक्ष देखते हैं, जानते हैं। जो निश्चयकर अपने स्वरूपमें निवास कहा, इसलिये वह अपना स्वरूप ही आराधने योग्य है, यह भावार्थ हुआ ॥५॥

अथ निष्कलात्मानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वेदानीं तस्य सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च प्रतिपादकं सकलात्मानं नमस्करोमि—

केवल-दंसण-णाणमय केवल-सुक्ख सहाय ।
जिणवर वंदउँ भत्तियए जेहिं पयासिय भाव ॥६॥

केवलदर्शनज्ञानमयान् केवलसुखस्वभावान् ।
जिनवरान् वन्दे भक्त्या यैः प्रकाशिता भावाः ॥६॥

आगे निरंजन, निराकार, निःशरीर सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार करता हूँ—(केवलदर्शनज्ञानमयाः) जो केवलदर्शन और केवलज्ञानमयी हैं, (केवलसुखस्वभावाः) तथा जिनका केवलसुख ही स्वभाव है और (यैः) जिन्होंने (भावाः) जीवादिक सकल पदार्थ (प्रकाशिताः) प्रकाशित किये, उनको मैं (भक्त्या) भक्तिसे (वंदे) नमस्कार करता हूँ।

विशेष—केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयस्वरूप जो परमात्मतत्त्व है, उसके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव, इन स्वरूप अभेदरत्नत्रय वह जिनका स्वभाव है, और सुख-दुःख, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, सबमें समान भाव होनेसे उत्पन्न हुई वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि उसके कहनेवाले जिनराजके उपदेशको पाकर अनन्तचतुष्टयरूप हुए, तथा जिन्होंने यथार्थ जीवादि पदार्थोंका स्वरूप प्रकाशित किया तथा जो कर्मका अभाव है वह वही केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप मोक्ष और जो शुद्धात्माका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रय वही हुआ मोक्षमार्ग ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्गको भी प्रगट किया, उनको मैं नमस्कार करता हूं। इस व्याख्यानमें अरहन्तदेवके केवलज्ञानादि गुणस्वरूप जो शुद्धात्मस्वरूप है, वही आराधने योग्य है, यह भावार्थ जानना ॥६॥

अथानन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्नमस्करोमि—

जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि ।
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवेवि ॥७॥

ये परमात्मानं पश्यन्ति मुनयः परमसमाधिं धृत्वा ।
परमानन्दस्य कारणेन त्रीनपि तानपि नत्वा ॥७॥

आगे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ—(ये मुनयः) जो मुनि (परमसमाधिं) परमसमाधिको (धृत्वा) धारण करके सम्यग्ज्ञानकर (परमात्मानं) परमात्माको (पश्यन्ति) देखते हैं। किसलिए (परमानंदस्य कारणेन) रागादि विकल्प रहित परमसमाधिसे उत्पन्न हुए परम सुखके

रसका अनुभव करनेके लिये (**तान् अपि**) उन (**त्रीन् अपि**) तीनों आचार्य, उपाध्याय, साधुओंको भी (**नत्वा**) मैं नमस्कार करके परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता हूं।

विशेष—अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नहीं है, इसीसे अनादि सम्बन्ध है, परन्तु असद्भूत (मिथ्या) है, ऐसा व्यवहारनयकर द्रव्यकर्म, नोकर्म का संबंध होता है, उससे रहित और अशुद्ध निश्चयनयकर रागादिका सम्बन्ध है, उससे तथा मति-ज्ञानादि विभावगुणके सम्बन्धसे रहित और नर-नारकादि चतुर्गतिरूप विभावपर्यायोंसे रहित ऐसा जो चिदानन्दचिद्रूप एक अखण्डस्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है वही सत्य है। उसीको परमार्थरूप समयसार कहना चाहिये। वही सब प्रकार आराधने योग्य है। उससे जुदी जो परवस्तु है वह सब त्याज्य है। ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह **दर्शनाचार** कहा जाता है और उसी निजस्वरूपमें संशय-विमोह-विभ्रम-रहित जो स्वसंवेदनज्ञानरूप ग्राहकबुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उसरूप परिणमन वह **ज्ञानाचार** है, उसी शुद्ध स्वरूपमें शुभ-अशुभ समस्त संकल्प विकल्प रहित जो नित्यानन्दमय निजरसका आस्वाद, निश्चल अनुभव, वह सम्यक्चारित्र है, उसका जो आचरण, उसरूप परिणमन, वह **चारित्राचार** है, उसी परमानन्द स्वरूपमें परद्रव्यकी इच्छाका निरोधकर सहज आनन्दरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन वह **तपश्चरणाचार** है और उसी शुद्धात्मस्वरूपमें अपनी शक्ति को प्रकटकर आचरण परिणमन वह **वीर्याचार** है। यह निश्चय पंचाचारका लक्षण कहा। अब व्यवहारका लक्षण कहते हैं—निःशंकितको आदि लेकर अष्ट अंगरूप बाह्यदर्शनाचार, शब्द शुद्ध, अर्थ शुद्ध आदि अष्ट प्रकार बाह्य ज्ञानाचार, पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्राचार, अनशनादि बारह तपरूप तपाचार और अपनी शक्ति प्रगटकर मुनिव्रतका आचरण यह व्यवहार वीर्याचार है। यह व्यवहार पंचाचार परम्पराय मोक्षका कारण है, और निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मतत्त्व उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्यकी इच्छाका निरोध और निजशक्तिका प्रगट करना ऐसा यह निश्चय पंचाचार साक्षात् मुक्तिका कारण है। ऐसे निश्चय व्यवहाररूप पंचाचारोंको आप आचरें और दूसरेको आचरवावें ऐसे आचार्योंको मैं वन्दता हूँ। पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नवपदार्थ हैं, उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निजशुद्ध जीवद्रव्य, निजशुद्ध जीवतत्त्व, निजशुद्ध जीवपदार्थ, जो आप

शुद्धात्मा है, वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं, तथा शुद्धात्मस्वभाव का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है, वही निश्चयमोक्षमार्ग है, ऐसा उपदेश शिष्योंको देते हैं, ऐसे उपाध्यायोंको मैं नमस्कार करता हूं, और शुद्धज्ञान स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वकी आराधनारूप वीतराग[1] निर्विकल्प समाधिको जो साधते हैं, उन साधुओंको मैं वन्दता हूं। वीतराग[1] निर्विकल्प समाधिको जो आचरते हैं, कहते हैं, साधते हैं वे ही साधु हैं। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ये ही पंचपरमेष्ठी वन्दने योग्य हैं, ऐसा भावार्थ है ॥७॥ ऐसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करनेकी मुख्यतासे श्रीयोगीन्द्राचार्यने परमात्मप्रकाशके प्रथम महाधिकारमें प्रथमस्थलमें सात दोहोंसे प्रभाकरभट्ट नामक अपने शिष्यको पंचपरमेष्ठीकी भक्तिका उपदेश दिया।

इति पीठिका।

अथ प्रभाकरभट्टः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं श्रीयोगीन्द्रदेवान् विज्ञापयति—

भावि पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥८॥

भावेन प्रणम्य पञ्चगुरून् श्रीयोगीन्दुजिनः।
भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम् ॥८॥

अब प्रभाकरभट्ट पूर्वरीतिसे पंचपरमेष्ठीको नमस्कारकर और श्रीयोगीन्द्रदेव गुरूको नमस्कारकर श्रीगुरूसे विनती करता है—(**भावेन**) भावोंकी शुद्धताकर (**पञ्चगुरून्**) पंचपरमेष्ठियोंको (**प्रणम्य**) नमस्कारकर (**भट्टप्रभाकरेण**) प्रभाकरभट्ट (**भावं विमलं कृत्वा**) अपने परिणामोंको निर्मल करके (**श्रीयोगीन्द्रजिनः**) श्रीयोगीन्द्रदेवसे (**विज्ञापितः**) शुद्धात्मतत्त्वके जाननेके लिये महाभक्तिकर विनती करते हैं ॥८॥

---

१. वे पांचों परमेष्ठी भी जिस वीतरागनिर्विकल्पसमाधिको आचरते हैं, कहते हैं और साधते हैं; तथा जो उपादेयरूप निजशुद्धात्मतत्त्वकी साधनेवाली है, ऐसी निर्विकल्प समाधिको ही उपादेय जानो। (यह अर्थ संस्कृतके अनुसार किया गया है।)

तद्यथा—

गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु।
पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥९॥

गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनन्तः ।
परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ॥९॥

वह विनती इस तरह है—(**हे स्वामिन्**) हे स्वामी, (**संसारे वसतां**) इस संसारमें रहते हुए हमारा (**अनंतः कालः गतः**) अनन्तकाल बीत गया, (**परं**) लेकिन (**मया**) मैंने (**किमपि सुखं**) कुछ भी सुख (**न प्राप्तं**) नहीं पाया, उल्टा (**महत् दुःखं एव प्राप्तं**) महान् दुःख ही पाया है ।

विशेष—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनन्द समरसीभाव है, उस रूप जो आनन्दामृत उससे विपरीत नरकादि दुःखरूप क्षार (खारी) जलसे पूर्ण (भरा हुआ), अजर-अमर पदसे उलटा जन्म जरा (बुढ़ापा) मरण-रूपी जलचरोंके समूहसे भरा हुआ, अनाकुलता स्वरूप निश्चय सुखसे विपरीत, अनेक प्रकार आधि व्याधि दुःखरूपी बड़वानलकी शिखाकर प्रज्वलित, वीतराग निर्विकल्प समाधि-कर रहित, महान संकल्प विकल्पोंके जालरूपी कल्लोलोंकी मालाओंकर विराजमान, ऐसे संसाररूपी समुद्रमें रहते हुए मुझे हे स्वामी, अनन्तकाल बीत गया । इस संसारमें एकेन्द्रीयसे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रीय स्वरूप विकलत्रय पर्याय पाना दुर्लभ (कठिन) है, विकलत्रयसे पंचेन्द्री, सैनी, छह पर्याप्तियोंकी संपूर्णता होना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अत्यन्त दुर्लभ, उसमें आर्यक्षेत्र दुर्लभ, उसमेंसे उत्तम कुल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण पाना कठिन है, उसमें भी सुन्दर रूप, समस्त पांचों इन्द्रियोंकी प्रवीणता, दीर्घ आयु, बल, शरीर निरोग, जैनधर्म इनका उत्तरोत्तर मिलना कठिन है । कभी इतनी वस्तुओंकी भी प्राप्ति हो जावे, तो भी श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ धर्म-श्रवण, धर्मका ग्रहण, धारण, श्रद्धान, संयम, विषय-सुखोंसे निवृत्ति, क्रोधादि कषायोंका अभाव होना अत्यन्त दुर्लभ है और इन सबोंसे उत्कृष्ट शुद्धात्मभावनारूप वीतराग-निर्विकल्प समाधिका होना बहुत मुश्किल है, क्योंकि उस समाधिके शत्रु जो मिथ्यात्व, विषय, कषाय, आदिका विभाव परिणाम हैं, उनकी प्रबलता है ।

इसीलिये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती और इनका पाना ही बोधि है, उस बोधिका जो निर्विषयपनेसे धारण वही समाधि है। इस तरह बोधि समाधिका लक्षण सब जगह जानना चाहिये। इस बोधि समाधिका मुझमें अभाव है, इसीलिये संसार समुद्रमें भटकते हुए मैंने वीतराग परमानन्द सुख नहीं पाया, किन्तु उस सुखसे विपरीत (उल्टा) आकुलताके उत्पन्न करनेवाला नाना प्रकारका शरीरका तथा मनका दुःखही चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए पाया। इस संसार-सागरमें भ्रमण करते मनुष्य-देह आदिका पाना बहुत दुर्लभ है, परन्तु उसको पाकर कभी प्रमादी (आलसी) नहीं होना चाहिये। जो प्रमादी हो जाते हैं, वे संसाररूपी वनमें अनन्त-काल भटकते हैं। ऐसा ही दूसरे ग्रन्थोंमें भी कहा है—"इत्यतिदुर्लभरूपां" इत्यादि। इसका अभिप्राय ऐसा है, कि यह महान् दुर्लभ जो जैनशास्त्रका ज्ञान है, उसको पाके जो जीव प्रमादी हो जाता है, वह रंक पुरुष बहुत कालतक संसाररूपी भयानक वनमें भटकता है। सारांश यह हुआ, कि वीतराग परमानन्द सुखके न मिलनेसे यह जीव ... वीतराग परमानन्दसुख ही आदर करने

...नादिकाले भ्रमितो जीवस्तमेव पृच्छति—

... परमप्पउ कोइ।
... कहहु पसाएँ सो वि ॥१०॥

...ः परमात्मा कश्चित्।
...थय प्रसादेन तमपि ॥१०॥

...लाभमें यह जीव अनादि कालसे भटक रहा ...रभट्ट सुनना चाहता है— (चतुर्गति- ... तिर्यंचगतियोंके दुःखोंसे (तप्तानां) ...तुर्गतिदुःखविनाशकरः) चार गतियोंके ...) जो कोई (परमात्मा) चिदानन्द ...) कृपा करके (कथय) हे श्रीगुरु,

भावार्थ—वह चिदानन्द शुद्ध स्वभाव परमात्मा, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहके भेदरूप संज्ञाओंको आदि लेके समस्त विभावोंसे रहित, तथा वीतराग निर्विकल्प समाधिके बलसे निज स्वभावकर उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृतकर सन्तुष्ट हुआ है, हृदय जिनका, ऐसे निकट संसारी-जीवोंके चतुर्गतिका भ्रमण दूर करनेवाला है, जन्म जरा मरणरूप दुःखका नाशक है, तथा वह परमात्मा निजस्वरूप परमसमाधिमें लीन महामुनियोंको निर्वाणका देनेवाला है, वही सब तरह ध्यान करने योग्य है, सो ऐसे परमात्माका स्वरूप तुम्हारे प्रसादसे मैं सुनना चाहता हूं। इसलिये कृपाकर आप कहो। इस प्रकार प्रभाकरभट्टने श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनतीकी ॥१०॥ इस कथनकी मुख्यतासे तीन दोहे हुए।

अथ प्रभाकरभट्टविज्ञापनानन्तरं श्रीयोगीन्द्रदेवास्त्रिविधात्मानं कथयन्ति—

पुणु पुणु पणविवि पंच-गुरु भावें चित्ति धरेवि।
भट्टपहायर णिसुणि तुहुं अप्पा तिविहु कहेवि (विं?) ॥११॥

पुनः पुनः प्रणम्य पञ्चगुरून् भावेन चित्ते धृत्वा।
भट्टप्रभाकर निश्रृणु त्वम् आत्मानं त्रिविधं कथयामि ॥११॥

आगे प्रभाकरभट्टकी विनती सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेव तीन प्रकारकी आत्माका स्वरूप कहते हैं—(**पुनः पुनः**) बारम्बार (**पञ्चगुरून्**) पंचपरमेष्ठियोंको (**प्रणम्य**) नमस्कारकर और (**भावेन**) निर्मल भावोंकर (**चित्ते**) मनमें (**धृत्वा**) धारण करके ('**अहं**') मैं (**त्रिविधं**) तीन प्रकारके (**आत्मानं**) आत्माको (**कथयामि**) कहता हूं, सो (**हे प्रभाकर भट्ट**) हे प्रभाकरभट्ट, (**त्वं**) तू (**निश्रृणु**) निश्चयसे सुन।

भावार्थ—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माके भेदकर आत्मा तीन तरहका है, सो हे प्रभाकरभट्ट; जैसे तूने मुझसे पूछा है, उसी तरहसे भव्योंमें महाश्रेष्ठ भरत-चक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचन्द्र, बलभद्र, पांडव तथा श्रेणिक वगैरः बड़े-बड़े राजा, जिनके भक्ति-भारकर नम्रीभूत मस्तक होगये हैं, महा विनयवाले परिवारसहित समोसरणमें आके, वीतराग सर्वज्ञ परमदेवसे सर्व आगमका प्रश्नकर, उसके बाद सब तरहसे ध्यान करने योग्य शुद्धात्माका ही स्वरूप पूछते थे। उसके उत्तरमें भगवानने यही कहा, कि आत्म-ज्ञानके समान दूसरा कोई सार नहीं है।

भरतादि बड़े-बड़े श्रोताओंमेंसे भरतचक्रवर्तीने श्रीऋषभदेव भगवानसे पूछा, सगरचक्रवर्तीने श्रीअजितनाथसे, रामचन्द्र बलभद्रने देशभूषण कुलभूषण केवलीसे तथा सकलभूषण केवलीसे, पांडवोंने श्रीनेमिनाथभगवान्से और राजा श्रेणिकने श्रीमहावीर स्वामीसे पूछा। कैसे हैं ये श्रोता जिनको निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रयकी भावना प्रिय है, परमात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानन्दरूप अमृतरसके प्यासे हैं, और वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर उत्पन्न हुआ जो सुखरूपी अमृत उससे विपरीत जो नारकादि चारों गतियोंके दुःख, उनसे भयभीत हैं। जिस तरह इन भव्य जीवोंने भगवन्तसे पूछा, और भगवन्तने तीन प्रकार आत्माका स्वरूप कहा, वैसे ही मैं जिनवाणीके अनुसार तुझे कहता हूं। सारांश यह हुआ, कि तीन प्रकार आत्माके स्वरूपोंसे शुद्धातम स्वरूप जो निज परमात्मा वही ग्रहण करने योग्य है। जो मोक्षका मूलकारण रत्नत्रय कहा है, वह मैंने निश्चयव्यवहार दोनों तरहसे कहा है, उसमें अपने स्वरूपका श्रद्धान, स्वरूपका ज्ञान, और स्वरूपका ही आचरण यह तो निश्चय-रत्नत्रय है, इसीका दूसरा नाम अभेद भी है, और देव गुरू धर्मकी श्रद्धा, नवतत्त्वोंकी श्रद्धा, आगमका ज्ञान तथा संयम भाव ये व्यवहार रत्नत्रय हैं, इसीका नाम भेदरत्नत्रय है। इनमेंसे भेद रत्नत्रय तो साधन हैं और अभेदरत्नत्रय साध्य हैं ॥११॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा बहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भावय त्वमिति प्रतिपादयति—

अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥१२॥

आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु मूढं मुञ्च भावम्।
मन्यस्व स्वज्ञानेन ज्ञानमयं यः परमात्मस्वभावः ॥१२॥

आगे तीन प्रकार आत्माको जानकर बहिरात्मपना छोड़ स्वसंवेदन ज्ञानकर तू परमात्माका ध्यानकर, इसे कहते हैं—(**आत्मानं त्रिविधं मत्वा**) हे प्रभाकरभट्ट, तू आत्माको तीन प्रकारका जानकर (**मूढं भावं**) बहिरात्म स्वरूप भावको (**लघु**) शीघ्र ही (**मुञ्च**) छोड़, और (**यः**) जो (**परमात्मस्वभावः**) परमात्माका स्वभाव है, उसे (**स्वज्ञानेन**) स्वसंवेदनज्ञानसे अन्तरात्मा होता हुआ (**मन्यस्व**) जान। वह स्वभाव (**ज्ञानमयः**) केवलज्ञानकर परिपूर्ण है।

भावार्थ—जो वीतराग स्वसंवेदनकर परमात्मा जाना था, वही ध्यान करने योग्य है। यहां शिष्यने प्रश्न किया था, जो स्वसंवेदन अर्थात् अपनेकर अपनेको अनुभवना इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा ? क्योंकि जो स्वसंवेदन ज्ञान होवेगा, वह तो रागरहित होवेगा ही। इसका समाधान श्रीगुरूने किया—कि विषयोंके आस्वादनसे भी उन वस्तुओंके स्वरूपका जानपना होता है, परन्तु रागभावकर दूषित है, इसलिये निजरस आस्वाद नहीं है, और वीतराग दशामें स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है, आकुलता रहित होता है। तथा स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्थामें चौथे पांचवें गुणस्थानवाले गृहस्थके भी होता है, वहां पर सराग देखनेमें आता है, इसलिये रागसहित अवस्थाके निषेधके लिये वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान ऐसा कहा है।

रागभाव है, वह कषायरूप है, इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टिके अनन्तानुबन्धीकषाय है, तबतक तो बहिरात्मा है, उसके तो स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है, व्रत और चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टीके मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीके अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषायको तीन चौकड़ी बाकी रहनेसे द्वितीयाके चन्द्रमाके समान विशेष प्रकाश नहीं होता, और श्रावकके पांचवें गुणस्थानमें दो चौकड़ीका अभाव है, इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ, वीतरागभाव बढ़ गया, इस कारण स्वसंवेदवज्ञान भी प्रबल हुआ, परंतु दो चौकड़ीके रहनेसे मुनिके समान प्रकाश नहीं हुआ। मुनिके तीन चौकड़ीका अभाव है, इसलिये रागभाव तो निर्बल होगया, तथा वीतरागभाव प्रबल हुआ, वहांपर स्वसंवेदनज्ञानका अधिक प्रकाश हुआ, परन्तु चौथी चौकड़ी बाकी है, इसलिये छट्ठे गुणस्थानवाले मुनि सरागसंयमी हैं। वीतरागसंयमीके जैसा प्रकाश नहीं है। सातवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी मन्द हो जाती है, वहां पर आहार-विहार क्रिया नहीं होती, ध्यानमें आरूढ़ रहते हैं, सातवेंसे छट्ठे गुणस्थानमें आवें, तब वहां पर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छट्ठा सातवां करते रहते हैं, वहां पर अन्तर्मुहूर्तकाल है। आठवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ अत्यन्त मन्द हो जाती है, वहां रागभावकी अत्यन्त क्षीणता होती है, वीतरागभाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदनज्ञानका विशेष प्रकाश होता है, श्रेणी मांडनेसे शुक्लध्यान उत्पन्न होता है।

श्रेणीके दो भेद हैं, एक क्षपक, दूसरी उपशम। क्षपक श्रेणीवाले तो उसी भवसे केवलज्ञान पाकर मुक्त होजाते हैं, और उपशमवाले आठवें नवमें दशवेंसे ग्यारहवां

स्पर्शकर पीछे पड़ जाते हैं, सो कुछ—एक भव भी धारण करते हैं, तथा क्षपकवाले आठवेंसे नवमें गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं, वहां कषायोंका सर्वथा नाश होता है, एक संज्वलनलोभ रह जाता है, अन्य सबका अभाव होनेसे वीतराग भाव अति प्रबल हो जाता है, इसलिये स्वसंवेदनज्ञानका बहुत ज्यादा प्रकाश होता है, परन्तु एक संज्वलन लोभ बाकी रहनेसे वहां सरागचरित्र ही कहा जाता है। दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मलोभ भी नहीं रहता, तब मोहकी अट्ठाईस प्रकृतियोंके नष्ट हो जानेसे वीतरागचारित्रकी सिद्धि हो जाती है। दशवेंसे बारहवेंमें जाते हैं, ग्यारहवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं करते, वहां निर्मोह वीतरागीके शुक्लध्यानका दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है, यथाख्यात-चारित्र होजाता है। बारहवेंके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनोंका भी विनाश कर डाला, मोहका नाश पहले हो ही चुका था, तब चारों घातियाकर्मोंके नष्ट हो जानेसे तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट होता है, वहांपर ही शुद्ध परमात्मा होता है, अर्थात् उसके ज्ञानका पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है। वह चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक तो अन्तरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढ़ती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्माके है, यह सारांश समझना ॥१२॥

अथ त्रिविधात्मसंज्ञां बहिरात्मलक्षणं च कथयति—

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति-विहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥१३॥

मूढो विचक्षणो ब्रह्मा परः आत्मा त्रिविधो भवति।
देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ॥१३॥

तीन प्रकारके आत्माके भेद हैं, उनमेंसे प्रथम बहिरात्माका लक्षण कहते हैं—(मूढः) मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा, (विचक्षणः) वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अन्तरात्मा (ब्रह्मा परः) और शुद्ध-बुद्ध स्वभाव परमात्मा अर्थात् रागादि रहित अनन्त ज्ञानादि सहित, भावद्रव्य कर्म नोकर्म रहित आत्मा इस प्रकार (आत्मा) आत्मा (त्रिविधो भवति) तीन तरहका है, अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ये तीन भेद हैं। इनमेंसे (यः) जो (देहमेव) देहको ही (आत्मानं) आत्मा (मनुते) मानता है, (स जनः) वह प्राणी (मूढः) बहिरात्मा (भवति) है, अर्थात् बहिर्मुख मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थ—जो देहको आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृतको नहीं पाता हुआ मूर्ख है, अज्ञानी है। इन तीन प्रकारके आत्माओंमेंसे बहिरात्मा तो त्याज्य ही है—आदर योग्य नहीं है। इसकी अपेक्षा यद्यपि अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि वह उपादेय है, तो भी सब तरहसे उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अन्तरात्मा हेय ही है, शुद्ध परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है, ऐसा जानना ॥१३॥

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योऽसौ जानाति सोऽन्तरात्मा भवतीति निरूपयति—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥

देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं पश्यति।
परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ॥१४॥

आगें परमसमाधिमें स्थित, देहसे भिन्न ज्ञानमयी (उपयोगमयी) आत्माको जो जानता है, वह अन्तरात्मा है, ऐसा कहते हैं—(यः) जो पुरुष (**परमात्मानं**) परमात्माको (**देहविभिन्नं**) शरीरसे जुदा (**ज्ञानमयं**) केवलज्ञानकर पूर्ण (**पश्यति**) जानता है, (**स एव**) वही (**परमसमाधिपरिस्थितः**) परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ (**पंडितः**) अन्तरात्मा अर्थात् विवेकी (**भवति**) है।

भावार्थ—यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयसे अर्थात् इस जीवके परवस्तुका सम्बन्ध अनादिकालका मिथ्यारूप होनेसे व्यवहारनयकर देहमयी है, तो भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिकसे भिन्न है, और केवलज्ञानमयी है, ऐसा निजशुद्धात्माको वीतरागनिर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप परमसमाधिमें स्थित होता हुआ जानता है, वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है। वह परमात्मा ही सर्वथा आराधने योग्य है, ऐसा जानना ॥१४॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्धः स परमात्मा भवतीति कथयति—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥१५॥

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन ।
मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ॥१५॥

आगें सब परद्रव्योंको छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवलज्ञानमय पा लिया है, वही परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—(येन) जिसने (कर्मविमुक्तेन) ज्ञानावरणादि कर्मोंको नाश करके (सकलमपि परं द्रव्यं) और सब देहादिक परद्रव्योंको (मुक्त्वा) छोड़ करके (ज्ञानमयः) केवलज्ञानमयी (आत्मा) आत्मा (लब्धः) पाया है, (तं) उसको (मनसा) शुद्ध मनसे (परं) परमात्मा (मन्यस्व) जानो ।

भावार्थ—जिसने देहादिक समस्त परद्रव्यको छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनोंसे रहित केवलज्ञानमयी अपने आत्माका लाभ करलिया है, ऐसे आत्माको हे प्रभाकरभट्ट, तू माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य वगैरह समस्त विभाव (विकार) परिणामोंसे रहित निर्मल चित्तसे परमात्मा जान, तथा केवलज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादिरूप सब परवस्तु त्यागने योग्य है, ऐसा समझना चाहिये ॥१५॥ इस प्रकार जिसमें तीन तरहके आत्माका कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकारमें त्रिविध आत्माके कथनकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें पांच दोहा-सूत्र कहे । अब मुक्तिको प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर दश दोहा-सूत्र कहते हैं ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति प्रतिपादयति—

तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिं जो जि ।
लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि ॥१६॥

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव ।
लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥१६॥

इसमें पांच दोहोंमें जो हरिहरादिक बड़े पुरुष अपना मन स्थिरकर जिस परमात्माका ध्यान करते हैं, उसीका तू भी ध्यान कर, यह कहते हैं—(हरिहराः) इन्द्र, नारायण, और रुद्र वगैरेः बड़े-बड़े पुरुष (त्रिभुवनवंदितं) तीन लोककर वंदनीक (त्रैलोक्यनाथ) (सिद्धिगतं) और केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपनेको प्राप्त (यं एव) जिस परमात्माको ही (ध्यायंति) ध्यावते हैं, (लक्ष्यं) अपने मनको (अलक्ष्ये) वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभाव परमात्मामें (स्थिरं धृत्वा) स्थिर करके (तमेव) उसीको हे प्रभाकरभट्ट, तू (परमात्मानं) परमात्मा (मन्यस्व) जानकर चितवन कर।

सारांश यह है, कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्माके समान रागादि रहित अपने शुद्धात्माको पहचान, वही साक्षात् उपादेय है, अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं। अब संकल्प विकल्पका स्वरूप कहते हैं, कि जो बाह्यवस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब, बांधव वगैरह सचेतन पदार्थ, तथा चांदी, सोना, रत्न, मणिके आभूषण वगैरह अचेतन पदार्थ हैं, इन सबको अपने समझे, कि ये मेरे हैं, ऐसे ममत्व परिणामको संकल्प जानना। तथा मैं सुखी, मैं दुःखी, इत्यादि हर्ष विषादरूप परिणाम होना वह विकल्प है। इस प्रकार संकल्प विकल्पका स्वरूप जानना चाहिये ॥१६॥

अथ नित्यनिरञ्जनज्ञानमयपरमानन्दस्वभावशान्तशिवस्वरूपं दर्शयन्नाह—

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥१७॥

नित्यो निरञ्जनो ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः।
य ईदृशः स शान्तः शिवः तस्य मन्यस्व भावम् ॥१७॥

आगे नित्य निरंजन ज्ञानमयी परमानन्दस्वभाव शान्त और शिव स्वरूपका वर्णन करते हैं—(नित्यः) द्रव्यार्थिकनयकर अविनाशी (निरंजनः) रागादिक उपाधिसे रहित अथवा कर्ममलरूपी अंजनसे रहित (ज्ञानमयः) केवलज्ञानसे परिपूर्ण और (परमानंदस्वभावः) शुद्धात्म भावना कर उत्पन्न हुए वीतराग परमानन्दकर परिणत है, (यः ईदृशः) जो ऐसा है, (सः) वही (शांतः शिवः) शान्तरूप और शिवस्वरूप है, (तस्य) उसी परमात्माका (भावं) शुद्ध बुद्ध स्वभाव (जानीहि) हे प्रभाकरभट्ट, तू जान अर्थात् ध्यान कर ॥१७॥

पुनश्च किंविशिष्टो भवति—

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥१८॥

यो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लाति ।
जानाति सकलमपि नित्यं परं स शिवः शान्तो भवति ॥१८॥

आगे फिर उसी परमात्माका कथन करते हैं—(**यः**) जो (**निज भावं**) अनंत-ज्ञानादिरूप अपने भावोंको (**न परिहरति**) कभी नहीं छोड़ता (**यः**) और जो (**परभावं**) कामक्रोधादिरूप परभावोंको (**न लाति**) कभी ग्रहण नहीं करता है, (**सकलमपि**) तीन लोक तीन कालकी सब चीजोंको (**परं**) केवल (**नित्यं**) हमेशा (**जानाति**) जानता है, (**सः**) वही (**शिवः**) शिवस्वरूप तथा (**शांतः**) शान्तस्वरूप (**भवति**) है ।

भावार्थ—संसार अवस्थामें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर सभी जीव शक्तिरूपसे परमात्मा हैं, व्यक्तिरूपसे नहीं है । ऐसा कथन अन्य ग्रन्थोंमें भी कहा है—'शिवमित्यादि' अर्थात् परमकल्याणरूप, निर्वाणरूप, महाशान्त अविनश्वर ऐसे मुक्ति-पदको जिसने पा लिया है, वही शिव है, अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी सदा मुक्त शान्त शिवरूप नैयायिकोंका तथा वैशेषिक वगैरहका माना हुआ नहीं है । यह शुद्धात्मा ही शान्त है, शिव है, उपादेय है ॥१८॥

अथ पूर्वोक्तं निरञ्जनस्वरूपं सूत्रत्रयेण व्यक्तीकरोति—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥१९॥

जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥२०॥

अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥ तियलं ।

यस्य न वर्णो न गन्धो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः ।
यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निरञ्जनस्तस्य ।।१९।।

यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः ।
यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरञ्जनं जानीहि ।।२०।।

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अस्ति न हर्षो विषादः ।
अस्ति न एकोऽपि दोषो यस्य स एव निरञ्जनो भावः ।।२१।। त्रिकलम् ।

आगे पहले कहे हुए निरंजनस्वरूपको तीन दोहा-सूत्रोंसे प्रगट करते हैं— **(यस्य)** जिस भगवान्के **(वर्णः)** सफेद, काला, लाल, पीला, नीलस्वरूप पाँच प्रकार वर्ण **(न)** नहीं है **(गंधः रसः)** सुगन्ध दुर्गन्धरूप दो प्रकारकी गन्ध **(न)** नहीं है, मधुर, आम्ल (खट्टा), तिक्त, कटु, कषाय (क्षार) रूप पांच रस नहीं हैं **(यस्य)** जिसके **(शब्दः न)** भाषा अभाषारूप शब्द नहीं है, अर्थात् सचित्त अचित्त मिश्ररूप कोई शब्द नहीं है, सात स्वर नहीं हैं **(स्पर्शः न)** शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु, कठिन रूप आठ तरहका स्पर्श नहीं है, **(यस्य)** और जिसके **(जन्म न)** जन्म जरा नहीं है, **(मरणं नापि)** तथा मरण भी नहीं है **(तस्य)** उसी चिदानन्द शुद्धस्वभाव परमात्मा की **(निरंजनं नाम)** निरंजन संज्ञा है, अर्थात् ऐसे परमात्माको ही निरंजनदेव कहते हैं। फिर वह निरंजनदेव कैसा है—

(यस्य) जिस सिद्धपरमेष्ठीके **(क्रोधः न)** गुस्सा नहीं है, **(मोहः मदः न)** मोह तथा कुल जाति वगैरह आठ तरहका अभिमान नहीं है, **(यस्य माया न मानः न)** जिसके माया व मान कषाय नहीं है, और **(यस्य)** जिसके **(स्थानं न)** ध्यानके स्थान नाभि, हृदय, मस्तक वगैरह नहीं है **(ध्यानं न)** चित्तके रोकनेरूप ध्यान नहीं है, अर्थात् जब चित्त ही नहीं है, तो रोकना किसका हो **(स एव)** ऐसे निजशुद्धात्माको हे जीव, तू जान। सारांश यह हुआ कि अपनी प्रसिद्धता (बड़ाई) महिमा, अपूर्व वस्तुका मिलना, और देखे सुने भोग इनकी इच्छारूप सब विभाव परिणामोंको छोड़कर अपने शुद्धात्माकी अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्प समाधिमें ठहरकर उस शुद्धात्माका अनुभव कर। पुनः वह निरंजन कैसा है—

(यस्य) जिसके **(पुण्यं न पापं न अस्ति)** द्रव्यभावरूप पुण्य नहीं, तथा पाप नहीं है, **(हर्षः विषादः न)** राग द्वेषरूप खुशी व रंज नहीं हैं **(यस्यः)** और जिसके

(एकः अपि दोषः) क्षुधा (भूख) वगैरह दोषोंमेंसे एक भी दोष नहीं है (स एव) वही शुद्धात्मा (निरंजनः) निरंजन है, ऐसा तू (भावय) जान ।

भावार्थ—ऐसे निज शुद्धात्माके परिज्ञानरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर तू अनुभव कर । इस प्रकार तीन दोहोंमें जिसका स्वरूप कहा गया है, उसे ही निरंजन जानो. अन्य कोई भी परकल्पित निरंजन नहीं है । इन तीनों दोहोंमें जो निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाववाला **निरंजन** कहा गया है, वही उपादेय है ।।१९-२१।।

अथ धारणाध्येययन्त्रमन्त्रमण्डलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मन्त्रवादशास्त्रकथितं यत्तन्निर्दोषपरमात्माराधनाध्याने निषेधयन्ति—

जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउ अणंतु ॥२२॥

यस्य न धारणा ध्येयं नापि यस्य न यन्त्रं न मन्त्रः ।
यस्य न मण्डलं मुद्रा नापि तं मन्यस्व देवमनन्तम् ।।२२।।

आगे धारणा, ध्येय, यंत्र, मंत्र, मंडल, मुद्रा आदिक व्यवहारध्यानके विषय मंत्रवाद शास्त्रमें कहे गये हैं, उन सबका निर्दोष परमात्माकी आराधनारूप ध्यानमें निषेध किया है—(यस्य) जिस परमात्माके (धारणा न) कुंभक, पूरक, रेचक नामवाली वायुधारणादिक नहीं है, (ध्येयं नापि) प्रतिमा वगैरह ध्यान करने योग्य पदार्थ भी नहीं है, (यस्य) जिसके (यंत्रं न) अक्षरोंकी रचनारूप स्तंभन मोहनादि विषयक यंत्र नहीं है, (मंत्रः न) अनेक तरहके अक्षरोंके बोलनेरूप मंत्र नहीं है, (यस्य) और जिसके (मंडलं न) जलमंडल, वायुमंडल, अग्निमंडल, पृथ्वीमंडलादिक पवनके भेद नहीं हैं, (मुद्रा न) गारुडमुद्रा, ज्ञानमुद्रा वगैरह मुद्रा नहीं हैं; (तं) उसे (अनंतं) द्रव्यार्थिकनयसे अविनाशी तथा अनंत ज्ञानादिगुणरूप (देवं मन्यस्व) परमात्मदेव जानो ।

भावार्थ—अतीन्द्रिय आत्मीक-सुखके आस्वादसे विपरीत जिह्वाइन्द्रीके विषय (रस)को जीतके निर्मोह शुद्ध स्वभावसे विपरीत मोहभावको छोड़कर और वीतराग सहज आनन्द परम समरसीभाव सुखरूपी रसके अनुभवका शत्रु जो नौ तरहका कुशील उसको तथा निर्विकल्पसमाधिके घातक मनके संकल्प विकल्पोंको त्यागकर हे प्रभाकर-

भट्ट, तू शुद्धात्माका अनुभव कर । ऐसा ही दूसरी जगह भी कहा है—"अक्खाणेति" इसका आशय इस तरह है कि, इन्द्रियोंमें जीभ प्रबल होती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंमें मोह कर्म बलवान् होता है, पांच महाव्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रत प्रबल है, और तीन गुप्तियोंमेंसे मनोगुप्ति पालना कठिन है । ये चार बातें मुश्किलसे सिद्ध होती हैं ॥२२॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालम्बनाविषयं च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविषयं च परमात्मानं प्रतिपादयन्ति—

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल-झाणहं जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥२३॥

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मन्तुं न याति ।
निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः ॥२३॥

आगे वेद, शास्त्र, इन्द्रियादि परद्रव्योंके अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधिके गोचर (प्रत्यक्ष) ऐसे परमात्माका स्वरूप कहते हैं—(वेदैः) केवलीकी दिव्य-वाणीसे (शास्त्रैः) महामुनियोंके वचनोंसे तथा (इंद्रियैः) इन्द्रिय और मनसे भी (यः) जो शुद्धात्मा (मंतुं) जाना (न याति) नहीं जाता है, अर्थात् वेद, शास्त्र ये दोनों शब्द अर्थस्वरूप हैं, आत्मा शब्दातीत है, तथा इन्द्रिय, मन विकलपरूप हैं और मूर्तीक पदार्थको जानते हैं, वह आत्मा निर्विकल्प है, अमूर्तीक है, इसलिये इन तीनोंसे नहीं जान सकते । (यः) जो आत्मा (निर्मलध्यानस्य) निर्मल ध्यानके (विषयः) गम्य है, (सः) वही (अनादिः) आदि अन्त रहित (परमात्मा) परमात्मा है, अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, इन पांच तरह आस्रवोंसे रहित निर्मल निज शुद्धात्माके ज्ञानकर उत्पन्न हुए नित्यानन्द सुखामृतका आस्वाद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूपके ध्यानकर स्वरूपकी प्राप्ति है ।

आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है, क्योंकि जिनको शास्त्र सुननेसे ध्यानकी सिद्धि हो जावे, वे ही आत्माका अनुभव कर सकते हैं, जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यानसे ही पाया है, और शास्त्र सुनना तो ध्यानका उपाय है, ऐसा समझकर अनादि अनन्त चिद्रूपमें अपना परिणाम लगाओ । दूसरी जगह भी 'अन्यथा' इत्यादि कहा है । उसका यह भावार्थ है, कि वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही हैं, नय प्रमाणरूप हैं, तथा ज्ञानकी पंडिताई कुछ और ही है, वह आत्मा निर्विकल्प है, नय प्रमाण निक्षेपसे रहित

है, वह परमतत्त्व तो केवल आनन्दरूप है, और ये लोक अन्य ही मार्गमें लगें हुए हैं, सो वृथा क्लेश कर रहे हैं। इस जगह अर्थरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, यह सारांश समझना ॥२३॥

अथ योऽसौ वेदादिविषयो न भवति परमात्मा समाधिविषयो भवति पुनरपि तस्यैव स्वरूपं व्यक्तं करोति—

केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ ।
केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥२४॥

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलसुखस्वभावः ।
केवलवीर्यस्तं मन्यस्व य एव परापरो भावः ॥२४॥

आगें कहते हैं, कि जो परमात्मा वेदशास्त्रगम्य तथा इन्द्रियगम्य नहीं, केवल परमसमाधिरूप निर्विकल्पध्यानकर ही गम्य है, इसलिये उसीका स्वरूप फिर कहते हैं—(यः) जो (केवलदर्शनज्ञानमयः) केवलज्ञान केवलदर्शनमयी है, अर्थात् जिसके परवस्तुका आश्रय (सहायता) नहीं, आप ही सब बातोंमें परिपूर्ण ऐसे ज्ञान दर्शनवाला है, (केवलसुखस्वभावः) जिसका केवलसुख स्वभाव है, और जो (केवलवीर्यः) अनन्तवीर्य-वाला है, (स एव) वही (परापरभावः) उत्कृष्ट अर्हन्तपरमेष्ठीसे भी अधिक स्वभाव-वाला सिद्धरूप शुद्धात्मा है (मन्यस्व) ऐसा मानो।

भावार्थ—परमात्माके दो भेद हैं, पहला सकलपरमात्मा, दूसरा निष्कलपर-मात्मा। उनमेंसे कल अर्थात् शरीर सहित तो अरहन्त भगवान् हैं, वे साकार हैं, और जिनके शरीर नहीं, ऐसे निष्कलपरमात्मा निराकारस्वरूप सिद्धपरमेष्ठी हैं, वे सकल परमात्मासे भी उत्तम हैं, वही सिद्धरूप शुद्धात्मा ध्यान करने योग्य है ॥२४॥

अथ त्रिभुवनवन्दित इत्यादिलक्षणैर्युक्तो योऽसौ शुद्धात्मा भणितः स लोकाग्रे तिष्ठतीति कथयति—

एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिं णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहं झेउ ॥२५॥

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।
स तत्र निवसति परमपदे यः त्रैलोक्यस्य ध्येयः ॥२५॥

आगे तीन लोककर वन्दना करने योग्य पूर्व कहे हुए लक्षणों सहित जो शुद्धात्मा कहा गया है, वही लोकके अग्रमें रहता है, यही कहते हैं—(एतैः लक्षणैः) 'तीन भुवनकर वंदनीक' इत्यादि जो लक्षण कहे थे, उन लक्षणोंकर (युक्तः) सहित (परः) सबसे उत्कृष्ट (निष्कलः) औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पांच शरीर जिसके नहीं हैं, अर्थात् निराकार है, (देवः) तीन लोककर आराधित जगतका देव है, (यः) ऐसा जो परमात्मा सिद्ध है, (सः) वही (तत्र परमपदे) उस लोकके शिखर पर (निवसति) विराजमान है, (यः) जो कि (त्रैलोक्यस्य) तीन लोकका (ध्येयः) ध्येय (ध्यान करने योग्य) है ।

भावार्थ—यहां पर जो सिद्धपरमेष्ठीका व्याख्यान किया है, उसीके समान अपना भी स्वरूप है, वही उपादेय (ध्यान करने योग्य) है, जो सिद्धालय है, वह देहालय है, अर्थात् जैसा सिद्धलोकमें विराज रहा है, वैसा ही हंस (आत्मा) इस घट (देह) में विराजमान है ॥२५॥

अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकमन्तर्भावचतुर्विंशतिसूत्र पर्यन्तं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण तिष्ठतीति कथयन्ति । तद्यथा—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥२६॥

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः ।
तादृशो निवसति ब्रह्मा परः देहे मा कुरु भेदम् ॥२६॥

इस प्रकार जिसमें तीन तरहके आत्माका कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकारमें मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धपरमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर चौथे स्थलमें दस दोहा-सूत्र कहे । आगे पांच क्षेपक मिले हुए चौवीस दोहोंमें जैसा प्रगटरूप परमात्मा मुक्तिमें है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर देहमें भी शक्तिरूप है, ऐसा कहते हैं—(यादृशः) जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार (निर्मलः) उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप

मलसे रहित (ज्ञानमयः) केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप सिद्धपरमेष्ठी (देवः) देवाधिदेव परम आराध्य (सिद्धौ) मुक्तिमें (निवसति) रहता है, (तादृशः) वैसा ही सब लक्षणों सहित (परः ब्रह्मा) परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिरूप परमात्मा (देहे) शरीरमें (निवसति) तिष्ठता है, इसलिये हे प्रभाकरभट्ट, तू (भेदं) सिद्ध भगवानमें और अपनेमें भेद (मा कुरु) मत कर। ऐसा ही मोक्षपाहुड़में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी कहा है "णमिएहिं" इत्यादि—इसका यह अभिप्राय है, कि जो नमस्कार योग्य महापुरुषोंसे भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुति करने योग्य सत्पुरुषोंसे स्तुति किया गया है, और ध्यान करने योग्य आचार्यपरमेष्ठी वगैरहसे भी ध्यान करने योग्य ऐसा जीवनामा पदार्थ इस देहमें बसता है, उसको तू परमात्मा जान।

भावार्थ—वही परमात्मा उपादेय है ॥२६॥

अथ येन शुद्धात्मना स्वसंवेदनज्ञानचक्षुषावलोकितेन पूर्वकृतकर्माणिन पश्यन्ति तं किं न जानासि त्वं हे योगिन्निति कथयन्ति—

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइं पुव्व-कियाइं ।
सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइं ॥२७॥

येन दृष्टेन त्रुटयन्ति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि ।
तं परं जानासि योगिन् देहे वसन्तं न किम् ॥२७॥

आगे जिस शुद्धात्माको सम्यग्ज्ञान-नेत्रसे देखनेसे पहले उपार्जन किये हुए कर्म नाश हो जाते हैं, उसे हे योगिन्, तू क्यों नहीं पहचानता, ऐसा कहते हैं—(येन) जिस परमात्माको (दृष्टेन) सदा आनन्दरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निर्मल नेत्रोंकर देखनेसे (लघु) शीघ्र ही (पूर्वकृतानि) निर्वाणके रोकनेवाले पूर्व उपार्जित (कर्माणि) कर्म (त्रुटयन्ति) चूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् सम्यग्ज्ञानके अभावसे (अज्ञानसे) जो पहले शुभ अशुभ कर्म कमाये थे, वे निजस्वरूपके देखनेसे ही नाश हो जाते हैं, (तं परं) उस सदानन्दरूप परमात्माको (देहे वसंतं) देहमें बसते हुए भी (हे योगिन्) हे योगी (किं न जानासि) तू क्यों नहीं जानता ?

भावार्थ—जिसके जाननेसे कर्म-कलङ्क दूर हो जाते हैं वह आत्मा शरीरमें निवास करता हुआ भी देहरूप नहीं होता, उसको तू अच्छी तरह पहचान और दूसरे

अनेक प्रपंचों (झगड़ों) को तो जानता है; अपने स्वरूपकी तरफ क्यों नहीं देखता ? वह निज स्वरूप ही उपादेय है, अन्य कोई नहीं है ॥२७॥

अथ ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकं कथयन्ति । तद्यथा—

जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइं जित्थु ण मण-वावारु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परिं अवहारु ॥२८॥

यत्र नेन्द्रियसुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।
तं आत्मानं मन्यस्व जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥२८॥

इससे आगे पांच प्रक्षेपकों द्वारा आत्मा ही का कथन करते हैं—(यत्र) जिस शुद्ध आत्मस्वभावमें (इन्द्रियसुखदुःखानि) आकुलता रहित अतीन्द्रियसुखसे विपरीत ज आकुलताके उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियजनित सुख दुःख (न) नहीं हैं, (यत्र) जिसमें (मनोव्यापारः) संकल्प-विकल्परूप मनका व्यापार भी (न) नहीं है, अर्थात् विकल्प रहित परमात्मासे मनके व्यापार जुदे हैं, (तं) उस पूर्वोक्त लक्षणवालेको (हे जीव त्वं) हे जीव, तू (आत्मानं) आत्माराम (मन्यस्व) मान, (अन्यत्परं) अन्य सब विभावोंको (अपहर) छोड़ ।

भावार्थ—ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्धात्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर जान, अन्य परमात्मस्वभावसे विपरीत पांच इन्द्रियोंके विषय वगैरह सब विकार परिणामोंको दूरसे ही त्याग, उनका सर्वथा ही त्याग कर । यहां पर किसी शिष्यने प्रश्न किया, कि निर्विकल्पसमाधिमें सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है ? उसका उत्तर कहते हैं—जहां पर वीतरागता है, वहीं निर्विकल्पसमाधिपना है, इस रहस्यको समझाने के लिये अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि, हम निर्विकल्पसमाधिमें स्थित हैं, उनके निषेधके लिये वीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधिका कथन किया गया है, अथवा सफेद शङ्खकी तरह स्वरूप प्रगट करनेके लिए कहा गया है, अर्थात् जो शङ्ख होगा, वह श्वेत ही होगा, उसी प्रकार जो निर्विकल्पसमाधि होगी, वह वीतरागतारूप ही होगी ॥२८॥

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाह—

देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेय-णएण ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णें बहुएण ॥२९॥

देहादेहयोः यो वसति भेदाभेदनयेन ।
तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ।।२९।।

आगे यह परमात्मा व्यवहारनयसे तो इस देहमें ठहर रहा है, लेकिन निश्चय नयकर अपने स्वरूपमें ही तिष्ठता है, ऐसी आत्माको कहते हैं—(यः) जो (**भेदाभेदनयेन देहादेहयोः वसति**) अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयकर अपनेसे भिन्न जड़रूप देह में तिष्ठ रहा है, और शुद्ध निश्चयनयकर अपने आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ है, अर्थात् व्यवहारनयकर तो देहसे अभेदरूप (तन्मय) है, और निश्चयसे सदा कालसे अत्यन्त जुदा है, अपने स्वभावमें स्थित है, (**तं**) उसे (**हे जीव त्वं**) हे जीव, तू (**आत्मानं**) परमात्मा (**मन्यस्व**) जान । अर्थात् नित्यानन्द वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें ठहरके अपने आत्माका ध्यानकर । (**अन्येन**) अपनेसे भिन्न (**बहुना**) देह रागादिकोंसे (**किं**) तुझे क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ—देहमें रहता हुआ भी निश्चयसे देहस्वरूप जो नहीं होता, वही निज शुद्धात्मा उपादेय है ।।२९।।

अथ जीवाजीवयोरेकत्वं मा कार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोऽस्तीति निरूपयति—

जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण भेएं भेउ ।
जो परु सो परु भणमि मुणि अप्पा अप्पु अभेउ ।।३०।।

जीवाजीवौ मा एकौ कुरु लक्षणभेदेन भेदः ।
यत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अभेदः ।।३०।।

आगे जीव और अजीवमें लक्षणके भेदसे भेद है, तू दोनोंको एक मत जान, ऐसा कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट, तू (**जीवाजीवौ**) जीव और अजीवको (**एकौ**) एक (**मा कार्षीः**) मत कर, क्योंकि इन दोनोंमें (**लक्षणभेदेन**) लक्षणके भेदसे (**भेदः**) भेद है (**यत्परं**) जो परके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए रागादि विभाव (विकार) हैं (**तत्परं**) उनको पर (अन्य) (**मन्यस्व**) समझ (च) और (**आत्मनः**) आत्माका (**आत्मना अभेदः**) अपनेसे अभेद जान (**भणामि**) ऐसा मैं कहता हूं ।

भावार्थ—जीव अजीवके लक्षणोंमेंसे जीवका लक्षण शुद्ध चैतन्य है, वह स्पर्श, रस, गन्धरूप शब्दादिकसे रहित है । ऐसा ही श्रीसमयसारमें कहा है—"अरसं"

इत्यादि । इसका सारांश यह है, कि जो आत्मद्रव्य है, वह मिष्ठ वगैरह पांच प्रकारके रस रहित है, श्वेत आदिक पांच तरहके वर्ण रहित है, सुगन्ध दुर्गन्ध इन दो तरहके गन्ध उसमें नहीं हैं, प्रगट (दृष्टिगोचर) नहीं है, चैतन्यगुण सहित है, शब्दसे रहित है, पुल्लिंग वगैरह करके ग्रहण नहीं होता, अर्थात् लिंग रहित है, और उसका आकार नहीं दीखता, अर्थात् निराकार वस्तु है ।

आकार छह प्रकारके हैं—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सातिक, कुब्जक, वामन, हुंडक । इन छह प्रकारके आकारोंसे रहित है, ऐसा जो चिद्रूप निज वस्तु है, उसे तू पहचान । आत्मासे भिन्न जो अजीव पदार्थ है, उसके लक्षण दो तरहसे हैं, एक जीव सम्बन्धी, दूसरा अजीव सम्बन्धी । जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप है, वह तो जीवसम्बन्धी है, और पुद्गलादि पांच द्रव्यरूप अजीव जीवसबंधी नहीं हैं, अजीवसंबंधी ही हैं, इसलिये अजीव हैं, जीवसे भिन्न हैं । इस कारण जीवसे भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ हैं, उनको अपने मत समझो । यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीवमें ही उपजते हैं, इससे जीवके कहे जाते हैं, परन्तु वे कर्मजनित हैं, परपदार्थ (कर्म) के सम्बन्धसे हैं, इसलिये पर ही समझो । यहां पर जीव अजीव दो पदार्थ कहे गये हैं, उनमेंसे शुद्ध चेतना लक्षणका धारण करनेवाला शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है, यह सारांश हुआ ॥३०॥

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति—

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु ।
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥३१॥

अमनाः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।
आत्मा इन्द्रियविषयो नैव लक्षणमेतन्निरुक्तम् ॥३१॥

आगे शुद्धात्माके ज्ञानादिक लक्षणोंको विशेषपनेसे कहते हैं—(आत्मा) यह शुद्ध आत्मा (अमनाः) परमात्मासे विपरीत विकल्पजालमयी मनसे रहित है (अनिन्द्रियः) शुद्धात्मासे भिन्न इन्द्रिय-समूहसे रहित है (ज्ञानमयः) लोक और अलोकके प्रकाशनेवाले केवलज्ञान स्वरूप है, (मूर्तिविरहितः) अमूर्तीक आत्मासे विपरीत स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण-वाली मूर्तिरहित है, (चिन्मात्रः) अन्य द्रव्योंमें नहीं पाई जावे, ऐसी शुद्धचेतनास्वरूप ही

है, और (इन्द्रियविषयः नैव) इन्द्रियोंके गोचर नहीं है, वीतरागस्वसंवेदनसे ही ग्रहण किया जाता है, (एतत् लक्षणं) ये लक्षण जिसके (निरुक्तं) प्रगट कहे गये हैं उसको ही तू निःसन्देह आत्मा जान। इस जगह जिसके ये लक्षण कहे गये हैं, वही आत्मा है, वही उपादेय है, आराधने योग्य है, यह तात्पर्य निकला ॥३१॥

अथ संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारवल्ली नश्यतीति कथयति—

भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥३२॥

भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति।
तस्य गुर्वी वल्ली सांसारिकी त्रुटयति ॥३२॥

आगे जो कोई संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त होके शुद्धात्माका ध्यान करता है, उसीके संसाररूपी बेल नाशको प्राप्त हो जाती है, इसे कहते हैं—(यः) जो जीव (भवतनुभोगबिरक्तमनाः) संसार, शरीर और भोगोंमें विरक्त मन हुआ (आत्मानं) शुद्धात्माका (ध्यायति) चिंतवन करता है, (तस्य) उसकी (गुर्वी) मोटी (सांसारिकी वल्ली) संसाररूपी बेल (त्रुटयति) नाशको प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ--संसार, शरीर, भोगोंमें अत्यन्त आसक्त (लगा हुआ) चित्त है, उसको आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुए वीतरागपरमानंद सुखामृतके आस्वादसे राग-द्वेषसे हटाकर अपने शुद्धात्म-सुखमें अनुरागी कर। शरीरादिकमें वैराग्यरूप हुआ जो शुद्धात्माको विचारता है, उसका संसार छूट जाता है, इसलिये जिस परमात्माके ध्यानसे संसाररूपी बेल दूर हो जाती है, वही ध्यान करने योग्य (उपादेय) है ॥३२॥

तदनन्तरं देहदेवगृहे योऽसौ वसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा तन्निरूपयति—

देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु।
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥

देहदेवालये यः वसति देवः अनाद्यनन्तः।
केवलज्ञानस्फुरत्तनुः स परमात्मा निर्भ्रान्तः ॥३३॥

आगें जो देहरूपी देवालयमें रहता है, वही शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मा है, यह कहते हैं—(यः) जो व्यवहारनयकर (देहदेवालये) देहरूपी देवालयमें (वसति) बसता है, निश्चयनयकर देहसे भिन्न है, देहकी तरह मूर्तीक तथा अशुचिमय नहीं है, महापवित्र है, (देवः) आराधने योग्य है, पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है, (अनाद्यनंतः) जो परमात्मा आप शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनन्त है, तथा यह देह आदि अन्तकर सहित है, (केवलज्ञानस्फुरिततनुः) जो आत्मा निश्चयनयकर लोक अलोकको प्रकाशनेवाले केवलज्ञानस्वरूप है, अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है, और देह जड़ है (सः परमात्मा) वही परमात्मा (निर्भ्रान्तः) निःसन्देह है, इसमें कुछ संशय नहीं समझना। सारांश यह है, कि जो देहमें रहता है, तो भी देहसे जुदा है, सर्वाशुचिमयी देहको वह देव छूता नहीं है, वही आत्मदेव उपादेय है ॥३३॥

अथ शुद्धात्मविलक्षणे देहे वसन्नपि देहं न स्पृशति देहेन सोऽपि न स्पृश्यत इति प्रतिपादयति—

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जो जि।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥३४॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि य एव।
देहेन स्पृश्यते योऽपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३४॥

आगें शुद्धात्मासे भिन्न इस देहमें रहता हुआ भी देहको नहीं स्पर्श करता है, और देह भी उसको नहीं छूती है, यह कहते हैं—(य एव) जो (देहे वसन्नपि) देहमें रहता हुआ भी (नियमेन) निश्चयनयकर (देहमपि) शरीरको (नैव स्पृशति) नहीं स्पर्श करता, (देहेन) देहसे (यः अपि) वह भी (नैव स्पृश्यते) नहीं छुआ जाता। अर्थात् न तो जीव देहको स्पर्श करता और न देह जीवको स्पर्श करती, (तमेव) उसीको (परमात्मानं) परमात्मा (मन्यस्व) तू जान, अर्थात् अपना स्वरूप ही परमात्मा है।

भावार्थ—जो शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत क्रोध, मान, माया, लोभरूप विभाव परिणाम हैं, उनकर उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंकर बनाई हुई देहमें अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयकर बसता हुआ भी निश्चयकर देहको नहीं छूता, उसको तुम परमात्मा जानो, उसी स्वरूपको वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठकर चिंतवन

करो। यह आत्मा जड़रूप देहमें व्यवहारनयकर रहता है, सो देहात्मबुद्धिवालेको नहीं मालूम होती है, वही शुद्धात्मा देहके ममत्वसे रहित (विवेकी) पुरुषोंके आराधने योग्य है ॥३४॥

अथ यः समभावस्थितानां योगिनां परमानन्दं जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति। तमाह—

जो सम-भाव-परिट्ठियहं जोइहं कोइ फुरेइ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥३५॥

यः समभावप्रतिष्ठितानां योगिनां कश्चित् स्फुरति।
परमानन्दं जनयन् स्फुटं स परमात्मा भवति ॥३५॥

आगे जो योगी समभावमें स्थित हैं, उनको परमानन्द उत्पन्न करता हुआ कोई शुद्धात्मा स्फुरायमान है, उसका स्वरूप कहते हैं—**(समभावप्रतिष्ठितानां)** समभाव अर्थात् जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र इत्यादि इन सबमें समभावको परिणत हुए **(योगिनां)** परम योगीश्वरोंके अर्थात् जिनके शत्रु-मित्रादि सब समान हैं, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप अभेदरत्नत्रय जिसका स्वरूप है, ऐसी वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें तिष्ठे हुए हैं, उन योगीश्वरोंके हृदयमें **(परमानन्दं जनयन्)** वीतराग परम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ **(यः कश्चित्)** जो कोई **(स्फुरति)** स्फुरायमान होता है, **(स स्फुटं)** वही प्रकट **(परमात्मा)** परमात्मा **(भवति)** है, ऐसा जानो।

ऐसा ही दूसरी जगह भी "आत्मानुष्ठान" इत्यादिसे कहा है, अर्थात् जो योगी आत्माके अनुभवमें तल्लीन हैं, और व्यवहारसे रहित शुद्ध निश्चयमें तिष्ठते हैं, उन योगियोंके ध्यान करके अपूर्व परमानन्द उत्पन्न होता है। इसलिये, हे प्रभाकरभट्ट, जो आत्मस्वरूप योगीश्वरोंके हृदयमें स्फुरायमान है, वही उपादेय है। जो योगी वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें लगे हुए हैं, संसारसे पराङ्मुख हैं, उन्हींके वह आत्मा उपादेय है, और जो देहात्मबुद्धि विषयासक्त हैं, वे अपने स्वरूपको नहीं जानते हैं, उनके आत्मरुचि नहीं हो सकती यह तात्पर्य हुआ ॥३५॥

अथ शुद्धात्मप्रतिपक्षभूतकर्मदेहप्रतिबद्धोऽप्यात्मा निश्चयनयेन सकलो न भवतीति ज्ञापयति—

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥३६॥

कर्मनिबद्धोऽपि योगिन् देहे वसन्नपि य एव ।
भवति न सकलः कदापि स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३६॥

आगें शुद्धात्मासे जुदे कर्म और शरीर इन दोनोंकर अनादिकर बंधा हुआ यह आत्मा है, तो भी निश्चयनयकर शरीरस्वरूप नहीं है, यह कहते हैं—(योगिन्) हे योगी (यः) जो यह आत्मा (कर्मनिबद्धोऽपि) यद्यपि कर्मोंसे बंधा है, (देहे वसन्नपि) और देहमें रहता भी है, (कदापि) परन्तु कभी (सकलः न भवति) देहरूप नहीं होता, (तमेव) उसीको तू (परमात्मानं) परमात्मा (स्फुटं) निश्चयसे (मन्यस्व) जान ।

भावार्थ—परमात्माकी भावनासे विपरीत जो राग, द्वेष, मोह हैं, उनकर यद्यपि व्यवहारनयसे बंधा है, और देहमें तिष्ठ रहा है, तो भी निश्चयनयसे शरीररूप नहीं है, उससे जुदा ही है, किसी कालमें भी यह जीव जड़ न तो हुआ, न होगा, उसे हे प्रभाकरभट्ट, परमात्मा जान । निश्चयकर आत्मा ही परमात्मा है, उसे तू वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकर चिंतवन कर । सारांश यह है, कि यह आत्मा सदैव वीतरागनिर्विकल्प समाधिमें लीन साधुओंको तो प्रिय है किन्तु मूढ़ोंको नहीं ॥३६॥

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोऽपि मूढात्मनां सकल इति प्रतिभातीत्येवं निरूपयति—

जो परमत्थें णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि ।
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥३७॥

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि कर्मविभिन्नो य एव ।
मूढाः सकलं भणन्ति स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३७॥

आगें निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मोंसे रहित है, तो भी मूढ़ों (अज्ञानियों) को शरीरस्वरूप मालूम होता है, ऐसा कहते हैं—(यः) जो आत्मा (परमार्थेन) निश्चयनयकर (निष्कलोऽपि) शरीर रहित है, (कर्मविभिन्नोऽपि) और कर्मोंसे भी जुदा है, तो भी (मूढाः) निश्चय व्यवहार रत्नत्रयकी भावनासे विमुख मूढ़ (सकलं) शरीरस्वरूप ही (स्फुटं) प्रगटपनेसे (भणंति) मानते हैं, सो हे प्रभाकरभट्ट, (तमेव) उसीको (परमात्मानं) परमात्मा (मन्यस्व) जान, अर्थात् वीतराग सदानन्द निर्विकल्पसमाधिमें रहके अनुभव कर ।

भावार्थ—वही परमात्मा शुद्धात्माके वैरी मिथ्यात्व रागादिकोंके दूर होनेके समय ज्ञानी जीवोंको उपादेय है, और जिनके मिथ्यात्वरागादिक दूर नहीं हुए उनके उपादेय नहीं, परवस्तुका ही ग्रहण है ॥३७॥

अथानन्ताकाशैकनक्षत्रमिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भवतीति कथयति—

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुयणु विहाइ ।
मुक्कहं जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ॥३८॥

गगने अनन्तेऽपि एकमुडु यथा भुवनं विभाति ।
मुक्तस्य यस्य पदे बिम्बितं स परमात्मा अनादिः ॥३८॥

आगे अनन्त आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह जिसके केवलज्ञानमें तीनों लोक भासते हैं, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—(यथा) जैसे (अनंतेऽपि) अनन्त (गगने) आकाशमें (एकं उडु) एक नक्षत्र ("तथा") उसी तरह (भुवनं) तीन लोक (यस्य) जिसके (पदे) केवलज्ञानमें (बिंबितं) प्रतिबिंबित हुए (विभाति) दर्पणमें मुखकी तरह भासता है, (सः) वह (परमात्मा अनादिः) परमात्मा अनादि है ।

भावार्थ—जिसके केवलज्ञानमें एक नक्षत्रकी तरह समस्त लोक अलोक भासते हैं, वही परमात्मा रागादि समस्त विकल्पोंसे रहित योगीश्वरोंको उपादेय है ॥३८॥

अथ योगीन्द्रवृन्दैर्यो निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपश्चिन्त्यते तं परमात्मानमाह—

जोइय-विंदहिं णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ ।
मोक्खहं कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥३९॥

योगिवृन्दैः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः ।
मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः ॥३९॥

आगे अनन्तज्ञानमयी परमात्मा योगीश्वरोंकर निर्विकल्पसमाधि-कालमें ध्यान करने योग्य है, उसी परमात्माको कहते हैं—(यः) जो (योगींद्रवृंदैः) योगीश्वरोंकर (मोक्षस्य कारणे) मोक्षके निमित्त (अनवरतं) निरन्तर (ज्ञानमयः) ज्ञानमयी

(ध्यायते) चिंतवन किया जाता है, (सः परमात्मा देवः) वह परमात्मदेव (ध्येयः) आराधने योग्य है, दूसरा कोई नहीं ।

भावार्थ—जो परमात्मा मुनियोंको ध्यावने योग्य कहा है, वही शुद्धात्मज्ञानके वैरी आर्त रौद्र ध्यानकर रहित धर्म ज्ञानी पुरुषोंको उपादेय है, अर्थात् जब आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनों छूट जाते हैं, तभी उसका ध्यान हो सकता है ।।३९।।

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा त्रसस्थावररूपं जगज्जनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोऽपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति—

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ ।
लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ।।४०।।

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधिं जगत बहुविधं जनयति ।
लिङ्गत्रयपरिमण्डितः स परमात्मा भवति ।।४०।।

आगें जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव जीव ज्ञानावरणादिकर्मोंके कारणसे त्रस स्थावर जन्मरूप जगत्को उत्पन्न करता है, वही परमात्मा है, दूसरे कोई भी ब्रह्मादिक जगत्कर्ता नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—(यः) जो (जीवः) आत्मा (विधिं हेतुं) ज्ञानावरणादि कर्मरूप कारणोंको (लब्ध्वा) पाकर (बहुविधं जगत्) अनेक प्रकारके जगत्को (जनयति) पैदा करता है, अर्थात् कर्मके निमित्तसे त्रस स्थावररूप अनेक जन्म धरता है (लिंगत्रयपरिमंडितः) स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग इन तीन चिन्होंकर सहित हुआ (सः) वही (परमात्मा) शुद्धनिश्चयकर परमात्मा (भवति) है, अर्थात् अशुद्धपनेको परिणत हुआ जगतमें भटकता है, इसलिये जगतका कर्त्ता कहा है, और शुद्धपनेरूप परिणत हुआ विभाव (विकार) परिणामोंको हरता है, इसलिये हर्त्ता है । यह जीव ही ज्ञान अज्ञान दशाकर कर्त्ता हर्त्ता है और दूसरे कोई भी हरिहरादिक कर्त्ता हर्त्ता नहीं है ।

भावार्थ—पूर्व जो शुद्धात्मा कहा था, वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है, तो भी अनादिसे संसारमें ज्ञानावरणादि कर्म बंधकर ढका हुआ वीतराग, निर्विकल्पसहजानन्द, अद्वितीयसुखके स्वादको न पानेसे व्यवहारनयकर त्रस और स्थावररूप स्त्री पुरुष नपुंसक लिंगादि सहित होता है, इसलिये जगत्कर्त्ता कहा जाता है अन्य कोई भी दूसरोंकर कल्पित परमात्मा नहीं है । यह आत्मा ही परमात्माकी प्राप्तिके शत्रु तीन वेदों (स्त्री-

लिंगादि) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जालोंको निर्विकल्पसमाधिसे जिस समय नाश करता है, उसी समय उपादेयरूप मोक्ष-सुखका कारण होनेसे उपादेय हो जाता है ॥४०॥

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्वसति जगन्मध्ये सोऽपि वसति तथापि तद्रूपो न भवतीति कथयति—

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि।
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ॥४१॥

यस्य अभ्यन्तरे जगत् वसति जगदभ्यन्तरे य एव ।
जगति एव वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥४१॥

आगे जिस परमात्माके केवलज्ञानरूप प्रकाशमें जगत् बस रहा है, और जगत्के मध्यमें वह ठहर रहा है, तो भी वह जगत्रूप नहीं है, ऐसा कहते हैं—(**यस्य**) जिस आत्मारामके (**अभ्यंतरे**) केवल ज्ञानमें (**जगत्**) संसार (**वसति**) बस रहा है, अर्थात् प्रतिबिम्बित हो रहा है, प्रत्यक्ष भास रहा है, (**जगदभ्यंतरे**) और जगत्में वह बस रहा है, अर्थात् सबमें व्याप रहा है। वह ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है, (**जगति एव वसन्नपि**) संसारमें निवास करता हुआ भी (**जगदेव नापि**) निश्चयनयकर किसी जगत्की वस्तुसे तन्मय (उस स्वरूप) नहीं होता, अर्थात् जैसे रूपी पदार्थको नेत्र देखते हैं, तो भी उनसे जुदे ही रहते हैं, इस तरह वह भी सबसे जुदा रहता है, (**तमेव**) उसीको (**परमात्मानं**) परमात्मा (**मन्यस्व**) हे प्रभाकरभट्ट, तू जान।

भावार्थ—जो शुद्ध, बुद्ध सर्वव्यापक सबसे अलिप्त, शुद्धात्मा है, उसे वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर। जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार है, उसका कारण वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप निजभाव ही उपादेय हैं ॥४१॥

अथ देहे वसन्तमपि हरिहरादयः परमसमाधेरभावादेव यं न जानन्ति स परमात्मा भवतीति कथयन्ति—

देहि वसंत वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति।
परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥४२॥

देहे वसन्तमपि हरिहरा अपि यम् अद्यापि न जानन्ति ।
परमसमाधितपसा विना तं परमात्मानं भणन्ति ।।४२।।

आगे वह शुद्धात्मा यद्यपि देहमें रहता है, तो भी परमसमाधिके अभावसे हरिहरादिक सरीखे भी जिसे प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—(देहे) परमात्मस्वभावसे भिन्न शरीरमें (वसंतमपि) अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर बसता है, तो भी (यं) जिसको (हरिहरा अपि) हरिहर सरीखे चतुर पुरुष (अद्य अपि) अबतक भी (न जानंति) नहीं जानते हैं। किसके विना (परमसमाधितपसा विना) वीतरागनिर्विकल्प नित्यानन्द अद्वितीय सुखरूप अमृतके रसके आस्वादरूप परमसमाधिभूत महातपके विना नहीं जानते, (तं) उसको (परमात्मानं) परमात्मा (भणंति) कहते हैं। यहां किसीका प्रश्न है, कि पूर्वभवमें कोई जीव जिनदीक्षा धारणकर व्यवहार निश्चयरूप रत्नत्रयकी आराधनाकर महान् पुण्यको उपार्जन करके अज्ञानभावसे निदानबन्ध करनेके बाद स्वर्गमें उत्पन्न होता है, पीछे आकर मनुष्य होता है, वही तीन खण्डका स्वामी वासुदेव (हरि) कहलाता है, और कोई जीव इसी भवमें जिनदीक्षा लेकर समाधिके बलसे पुण्यबन्ध करता है, उसके बाद पूर्वकृत चारित्रमोहके उदयसे विषयोंमें लीन हुआ रुद्र (हर) कहलाता है। इसलिये वे हरिहरादिक परमात्माका स्वरूप कैसे नहीं जानते ?

इसका समाधान यह है, कि तुम्हारा कहना ठीक है। यद्यपि इन हरिहरादिक महान् पुरुषोंने रत्नत्रयकी आराधनाकी, तो भी जिस तरहके वीतराग-निर्विकल्प-रत्नत्रयस्वरूपसे तद्भव मोक्ष होता है, वैसा रत्नत्रय इनके नहीं प्रगट हुआ, सरागरत्नत्रय हुआ है, इसीका नाम व्यवहाररत्नत्रय है। सो यह तो हुआ, लेकिन शुद्धोपयोगरूप वीतरागरत्नत्रय नहीं हुआ, इसलिये वीतरागरत्नत्रयके धारक उसी भवसे मोक्ष जानेवाले योगी जैसा जानते हैं, वैसा ये हरिहरादिक नहीं जानते। इसीलिये परम शुद्धोपयोगियोंकी अपेक्षा इनको नहीं जाननेवाले कहा गया है, क्योंकि जैसे स्वरूपके जाननेसे साक्षात् मोक्ष होता है, वैसा स्वरूप ये नहीं जानते। यहां पर सारांश यह है, कि जिस साक्षात् उपादेय शुद्धात्माको तद्भव मोक्षके साधक महामुनि ही आराध सकते हैं, और हरिहरादिक नहीं जान सकते, वही चितवन करने योग्य है ।।४२।।

अथोत्पादव्ययपर्यायार्थिकनयेन संयुक्तोऽपि यः द्रव्यार्थिकनयेन उत्पादव्ययरहितः स एव परमात्मा निर्विकल्पसमाधिबलेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्ट इति निरूपयति—

भावाभावहिं संजुवउ भावाभावहिं जो जि ।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं मुणि परमप्पउ सो जि ॥४३॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः भावाभावाभ्यां य एव ।
देहे एव दृष्टः जिनवरैः मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥४३॥

आगे यद्यपि पर्यायार्थिकनयकर उत्पाद व्ययकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिक-नयकर उत्पादव्यय रहित है, सदा ध्रुव (अविनाशी) ही है, वही परमात्मा निर्विकल्प समाधिके बलसे तीर्थंकर देवोंने देहमें भी देख लिया है, ऐसा कहते हैं—(य एव) जो (भावाभावाभ्यां) व्यवहारनयकर यद्यपि उत्पाद और व्ययकर (संयुक्तः) सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे (भावाभावाभ्यां) उत्पाद और विनाशसे ("रहितः") रहित है, तथा (जिनवरैः) वीतरागनिर्विकल्प आनन्दरूपसे समाधिकर तद्भव मोक्षके साधक जिनवरदेवने (देहे अपि) देहमें भी (दृष्टः) देख लिया है, (तमेव) उसीको तू (परमात्मानं) परमात्मा (मन्यस्व) जान, अर्थात् वीतराग परमसमाधिके बलसे अनुभवकर ।

भावार्थ—जो परमात्मा कृष्ण, नील, कापोत, लेश्यारूप विभाव परिणामोंसे रहित शुद्धात्मकी प्राप्तिरूप ध्यानकर जिनवरदेवने देहमें देखा है, वही साक्षात् उपादेय है ॥४३॥

अथ येन देहे वसता पञ्चेन्द्रियग्रामो वसति गतेनोद्वसो भवति स एव परमात्मा भवतीति कथयति—

देहि वसंतें जेण पर इंदिय-गामु वसेइ ।
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥४४॥

देहे वसता येन परं इन्द्रियग्रामः वसति ।
उद्वसो भवति गतेन स्फुटं स परमात्मा भवति ॥४४॥

आगे देहमें जिसके रहनेसे पांच इन्द्रियरूप गांव बसता है, और जिसके निकलनेसे पंचेन्द्रिय ग्राम उजड़ हो जाता है, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—(येन परं देहे वसता) जिसके केवल देहमें रहनेसे (इन्द्रियग्रामः) इन्द्रिय गांव (वसति) रहता है, (गतेन) और जिसके परभवमें चले जाने पर (उद्वसः स्फुटं भवति) ऊजड़ निश्चयसे हो जाता है (स परमात्मा) वह परमात्मा (भवति) है ।

भावार्थ—शुद्धात्मासे जुदी ऐसी देहमें बसते आत्म-ज्ञानके अभावसे ये इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंमें (रूपादिमें) प्रवर्तती हैं, और जिसके चले जानेपर अपने अपने विषय-व्यापारसे रुक जाती हैं, ऐसा चिदानन्द निज आत्मा वही परमात्मा है। अतिन्द्रियसुखके आस्वादी परमसमाधिमें लीन हुए मुनियोंको ऐसे परमात्माका ध्यान ही मुक्तिका कारण है, वही अतीन्द्रिय सुखका साधक होनेसे सब तरह उपादेय है ।।४४।।

अथ यः पञ्चेन्द्रियैः पञ्चविषयान् जानाति स च तैर्न ज्ञायते स परमात्मा भवतीति निरूपयति—

जो णिय-करणहिं-पंचहिं वि पंच वि विसय मुणेइ ।
मुणिउ ण पंचहिं पंचहिं वि सो परमप्पु हवेइ ॥४५॥

यः निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् जानाति ।
ज्ञातः न पञ्चभिः पञ्चभिरपि स परमात्मा भवति ।।४५।।

आगें जो पांच इन्द्रियोंसे पांच विषयोंको जानता है, और आप इन्द्रियोंके गोचर नहीं होता है, वही परमात्मा है, यह कहते हैं—(यः) जो आत्माराम शुद्धनिश्चय-नयकर अतीन्द्रिय ज्ञानमयहै, तो भी अनादि बन्धके कारण व्यवहारनयसे इन्द्रियमय शरीरको ग्रहणकर (निजकरणैः पंचभिरपि) अपनो पांचों इन्द्रियों द्वारा (पंचापि विषयान्) रूपादि पांचों ही विषयोंको जानता है, अर्थात् इन्द्रियज्ञानरूप परिणमन करके इन्द्रियोंसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शको जानता है और आप (पंचभिः) पांच इन्द्रियों-कर तथा (पंचभिरपि) पांचों विषयोंसे सो (मतो न) नहीं जाना जाता, अगोचर है, (स परमात्मा) ऐसे लक्षण जिसके हैं, वही परमात्मा (भवति) है।

भावार्थ—पांच इन्द्रियोंके विषय-सुखके आस्वादसे विपरीत, वीतराग निर्वि-कल्प परमानंद समरसोभावरूप, सुखके रसका आस्वादरूप, परमसमाधि करके जो जाना जाता है, वही परमात्मा है, वह ज्ञानगम्य है, इन्द्रियोंसे अगम्य है, और उपादेयरूप अती-न्द्रिय सुखका साधन अपना स्वभावरूप वही परमात्मा आराधने योग्य है ।।४५।।

अथ यस्य परमार्थेन बन्धसंसारौ न भवतस्तमात्मानं व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि इति कथयति—

जसु परमत्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारु ।
सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लिवि ववहारु ॥४६॥

यस्य परमार्थेन बन्धो नैव योगिन् नापि संसारः ।
तं परमात्मानं जानीहि त्वं मनसि मुक्त्वा व्यवहारम् ॥४६॥

आगे जिसके निश्चयकर बन्ध नहीं हैं और संसार भी नहीं है, उस आत्माको सब लौकिक व्यवहार छोड़कर अच्छी तरह पहचानो, ऐसा कहते हैं—(**हे योगिन्**) हे योगी, (**यस्य**) जिस चिदानन्द शुद्धात्माके (**परमार्थेन**) निश्चय करके (**संसारः**) निज स्वभावसे भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पांच प्रकार परिवर्तन (भ्रमण) स्वरूप संसार (**नैव**) नहीं है, (**बन्धो नापि**) और संसारके कारण जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकारका बन्ध भी नहीं है। जो बन्ध केवलज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयकी प्रगटतारूप मोक्ष-पदार्थसे जुदा है, (**तं परमात्मानं**) उस परमात्माको (**त्वं**) तू (**मनसि व्यवहारं मुक्त्वा**) मनमें से सब लौकिक-व्यवहारको छोड़कर तथा वीतराग समाधिमें ठहरकर (**जानीहि**) जान, अर्थात् चिन्तवन कर।

भावार्थ—शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो संसार और संसारका कारण बंध इन दोनोंसे रहित और आकुलतासे रहित ऐसे लक्षणवाला मोक्षका मूलकारण जो शुद्धात्मा है, वही सर्वथा आराधने योग्य है ॥४६॥

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं वल्लीवत् ज्ञेयास्तित्वाभावेन निवर्तते न च शक्त्यभावेनेति कथयति—

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ।
मुक्कहं जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥४७॥

ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तिष्ठति ज्ञानं वलित्वा ।
मुक्तानां यस्य पदे बिम्बितं परमस्वभावं भणित्वा ॥४७॥

आगे जिस परमात्माका ज्ञान सर्वव्यापक है, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो ज्ञानसे न जाना जावे, सब ही पदार्थ ज्ञानमें भासते है, ऐसा कहते हैं—(**यथा**) जैसे मण्डपके अभावसे (**वल्ली**) बेल (लता) (**तिष्ठति**) ठहरती है, अर्थात् जहां तक मंडप है, वहां तक तो चढ़ती है और आगे मण्डपका सहारा न मिलनेसे चढ़नेसे ठहर जाती

है, उसी तरह (मुक्तानां) मुक्त-जीवोंका (ज्ञानं) ज्ञान भी जहां तक ज्ञेय (पदार्थ) हैं, वहां तक फैल जाता है, (ज्ञेयाभावे) और ज्ञेयका अवलम्बन न मिलनेसे (बलेपि ?) जाननेकी शक्ति होनेपर भी (तिष्ठति) ठहर जाता है, अर्थात् कोई पदार्थ जाननेसे बाकी नहीं रहता, सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, और सब भावोंको ज्ञान जानता है, ऐसे तीन लोक सरीखे अनन्ते लोकालोक होवें, तो भी एक समयमें ही जान लेवे, (यस्य) जिस भगवान परमात्माके (पदे) केवलज्ञानमें (परमस्वभावं) अपना उत्कृष्ट स्वभाव सबके जाननेरूप (बिंबितं) प्रतिभासित हो रहा है, अर्थात् ज्ञान सबका अन्तर्यामी है, सर्वाकार ज्ञानकी परिणति है, ऐसा (भणित्वा) जानकर ज्ञानका आराधन करो।

भावार्थ—जहां तक मण्डप वहां तक ही बेल (लता) की बढ़वारी है, और जब मण्डपका अभाव हो, तब बेल स्थिर होके आगे नहीं फैलती, लेकिन बेलमें विस्तार शक्तिका अभाव नहीं कह सकते, इसी तरह सर्वव्यापक ज्ञान केवलीका है, जिसके ज्ञानमें सब पदार्थ झलकते हैं, वही ज्ञान आत्माका परम स्वभाव है, ऐसा जिसका ज्ञान है, वही शुद्धात्मा उपादेय है। यह ज्ञानानन्दरूप आत्माराम है, वही महामुनियोंके चित्तका विश्राम (ठहरनेकी जगह) है ॥४७॥

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि सुखदुःखादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न हृत इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयति—

कम्महिं जासु जणंतहिं वि णिउ णिउ कज्जु सया वि।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥४८॥

कर्मभिः यस्य जनयद्भिरपि निजनिजकार्यं सदापि।
किमपि न जनितो हृतः नैव तं परमात्मानं भावय ॥४८॥

आगें जो शुभ अशुभ कर्म हैं, वे यद्यपि सुख-दुःखादिको उपजाते हैं, तो भी वह आत्मा किसीसे उत्पन्न नहो हुआ, किसीने बनाया नहीं, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—(कर्मभिः) ज्ञानावरणादि कर्म (सदापि) हमेशा (निजनिजकार्यं) अपने-अपने सुख-दुःखादि कार्यको (जनयद्भिरपि) प्रगट करते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर (यस्य) जिस आत्माका (किमपि) कुछ भी अर्थात् अनन्तज्ञानादिस्वरूप (न जनितः) न तो नया पैदा किया और (नैव हृतः) न विनाश किया, और न दूसरी तरहका किया, (तं) उस (परमात्मानं) परमात्माको (भावय) तू चिन्तवन कर।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे शुद्धात्मस्वरूपके रोकनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म अपने-अपने कार्यको करते हैं, अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञानको ढंकता है, दर्शनावरणकर्म दर्शनको आच्छादन करता है, वेदनीय साता असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रियसुखको घातता है, मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्रको रोकता है, आयुकर्म स्थि शरीरमें रखता है, अविनाशी भावको प्रगट नहीं होने देता, नामकर्म नाना प्रकार गति जाति शरीरादिकको उपजाता हैं, गोत्रकर्म ऊंच नीच गोत्रमें डाल देता है, और अन्तरायकर्म अनन्तवीर्य (बल) को प्रगट नहीं होने देता। इस प्रकार ये कार्यको करते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर आत्माका अनन्तज्ञानादिस्वरूपका इन कर्मोंने न तो नाश किया, और न नया उत्पन्न किया, आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। ऐसे अखंड परमात्माका तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर ध्यानकर। यहां पर यह तात्पर्य है, कि जो जीवपदार्थ कर्मोंसे न हरा गया, न उपजा, किसी दूसरी तरह नहीं किया गया, वही चिदानन्दस्वरूप उपादेय है ॥४८॥

अथ यः कर्मनिबद्धोऽपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति—

कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि।
कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ॥४९॥

कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदापि।
कर्मापि यो न कदापि स्फुटं तं परमात्मानं भावय ॥४९॥

इसके बाद जो आत्मा कर्मोंसे अनादिकालका बन्धा हुआ है, तो भी कर्मरूप नहीं होता, और कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं होते आत्मा चैतन्य है, कर्म जड़ है, ऐसा जानकर उस परमात्माका तू ध्यानकर, ऐसा कहते हैं—(यः) जो चिदानन्द आत्मा (कर्मनिबद्धोऽपि) ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बंधा हुआ होनेपर भी (कदाचिदपि) कभी भी (कर्म नैव स्फुटं) कर्मरूप निश्चयसे नहीं (भवति) होता, (कर्म अपि) और कर्म भी (यः) जिस परमात्मारूप (कदाचिदपि स्फुटं) कभी भी निश्चयकर (न) नहीं होते, (तं) उस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले (परमात्मानं) परमात्माको तू (भावय) चिन्तवन कर।

भावार्थ—जो आत्मा अपने शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभावसे उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ अशुभ कर्मोंसे व्यवहारनयकर बधा हुआ है, तो भी शुद्धनिश्चयनयसे

कर्मरूप नहीं है, अर्थात् केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप अपने स्वरूपको छोड़कर कर्मरूप नहीं परिणमता, और ये ज्ञानावरणादि द्रव्य—भावरूप कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं परिणमते, अर्थात् अपने जड़रूप पुद्गलपनेको छोड़कर चैतन्यरूप नहीं होते, यह निश्चय है कि जीव तो अजीव नहीं होता, और अजीव है, वह जीव नहीं होता। ऐसी अनादि-कालकी मर्यादा है। इसलिये कर्मोंसे भिन्न ज्ञान-दर्शनमयी सब तरह उपादेयरूप (आराधने योग्य) परमात्माको तुम देह रागादि परिणतिरूप बहिरात्मपनेको छोड़कर शुद्धात्म परिणतिकी भावनारूप अन्तरात्मामें स्थिर होकर चिन्तवन करो, उसीका अनुभव करो, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥४९॥

अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानमुख्यत्वेन षट्सूत्राणि कथयन्ति। तद्यथा—

कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति।
कि वि भणंति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणंति ॥५०॥

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं जीवं जडं केऽपि भणन्ति।
केऽपि भणन्ति जीवं देहसमं शून्यमपि केऽपि भणन्ति ॥५०॥

ऐसे तीन प्रकार आत्माके कहनेवाले पहले महाधिकारके पांचवें स्थलमें जैसा निर्मल ज्ञानमयी प्रगटरूप शुद्धात्मा सिद्धलोकमें विराजमान है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनय-कर शक्तिरूपसे देहमें तिष्ठ रहा है, ऐसे कथनकी मुख्यतासे चौबीस दोहा-सूत्र कहे गये। इससे आगे छह दोहा-सूत्रोंमें आत्मा व्यवहारनयकर अपनी देहके प्रमाण है, यह कह सकते हैं—(केऽपि) कोई नैयायिक, वेदान्ती और मीमांसक-दर्शनवाले (जीवं) जीवको (सर्वगतं) सर्वव्यापक (भणंति) कहते हैं, (केऽपि) कोई सांख्य-दर्शनवाले (जीवं) जीवको (जडं) जड़ (भणंति) कहते हैं, (केऽपि) कोई बौद्ध-दर्शनवाले जीवको (शून्यं अपि) शून्य भी (भणंति) कहते हैं, (केऽपि) कोई जिनधर्मी (जीवं) जीवको (देहसमं) व्यवहारनय-कर देहप्रमाण (भणंति) कहते हैं, और निश्चयनयकर लोकप्रमाण कहते हैं। वह आत्मा कैसा है? और कैसा नहीं है? ऐसे चार प्रश्न शिष्यने किये, ऐसा तात्पर्य है ॥५०॥

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति—

अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि।
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ॥५१॥

आत्मा योगिन् सर्वगतः आत्मा जडोऽपि विजानीहि ।
आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ।।५१।।

आगे नय-विभागकर आत्मा सबरूप है, एकान्तवादकर अन्यवादी मानते हैं, सो ठीक नहीं है, इस प्रकार चारों प्रश्नोंको स्वीकार करके समाधान करते हैं—(हे योगिन्) हे प्रभाकरभट्ट, (आत्मा सर्वगतः) आगे कहे जानेवाले नयके भेदसे आत्मा सर्वगत भी है, (आत्मा) आत्मा (जडोऽपि) जड़ भी है ऐसा (विजानीहि) जानो, (आत्मानं देहप्रमाणं) आत्माको देहके बराबर भी (मन्यस्व) मानो, (आत्मानं शून्यं) आत्माको शून्य भी (विजानीहि) जानो । नय-विभागसे माननेमें कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ।।५१।।

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति—

अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवल-णाणें जेण ।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ।।५२॥

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन ।
लोकालोकमपि मनुते जीव सर्वगः उच्यते तेन ।।५२।।

आगे कर्मरहित आत्मा केवलज्ञानसे लोक और अलोक दोनोंको जानता है, इसलिये सर्वव्यापक भी हो सकता है, ऐसा कहते हैं—(आत्मा) यह आत्मा (कर्मविवर्जितः) कर्मरहित हुआ (केवलज्ञानेन) केवलज्ञानसे (येन) जिस कारण (लोकालोकमपि) लोक और अलोकको (मनुते) जानता है, (तेन) इसीलिये (हे जीव) हे जीव, (सर्वगः) सर्वगत (उच्यते) कहा जाता है ।

भावार्थ—यह आत्मा व्यवहारनयसे केवलज्ञानकर लोक अलोकको जानता है, और शरीरमें रहने पर भी निश्चयनयसे अपने स्वरूपको जानता है, इस कारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारनयसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं है । जैसे रूपवाले पदार्थको नेत्र देखते हैं, परन्तु उन पदार्थोंसे तन्मय नहीं होते, उसरूप नहीं होते हैं । यहां कोई प्रश्न करता है, कि जो व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है, और निश्चयनयसे नहीं, तो व्यवहारसे सर्वज्ञपना हुआ, निश्चयनयकर न हुआ ? उसका समाधान करते हैं—जैसे अपनी आत्माको तन्मयी होकर जानता है, उस तरह परद्रव्यको

तन्मयीपनेसे नहीं जानता, भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनयसे कहा, कुछ ज्ञानके अभावसे नहीं कहा। ज्ञानकर जानपना तो निज और परके समान है जैसे अपनेको संदेह रहित जानता है, वैसा ही परको भी जानता है, इसमें संदेह नहीं समझना, लेकिन निज स्वरूपसे तो तन्मयी है, और परसे तन्मयी नहीं। और जिस तरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है, उसी तरह यदि परको भी तन्मय होकर जाने, तो परके सुख-दुःख, राग-द्वेषके ज्ञान होने पर सुखी, दुःखी, रागी, द्वेषी होवे, यह बड़ा दूषण है। सो इसप्रकार कभी नहीं हो सकता। यहां जिस ज्ञानसे सर्वव्यापक कहा, वही ज्ञान उपादेय अतीन्द्रियसुखसे अभिन्न है, सुखरूप है, ज्ञान और आनंदमें भेद नहीं है, वही ज्ञान उपादेय है, यह अभिप्राय जानना। इस दोहामें जीवको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत कहा है ॥५२॥

अथ येन कारणेन निजबोधं लब्ध्वात्मन इन्द्रियज्ञानं नास्ति तेन कारणेन जडो भवतीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

जे णिय-बोह-परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु।
इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ॥५३॥

येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुटचति ज्ञानम्।
इन्द्रियजनितं योगिन् तेन जीवं जडमपि विजानीहि ॥५३॥

आगे आत्म-ज्ञानको पाकर इन्द्रिय-ज्ञान नाशको प्राप्त होता है, परमसमाधिमें आत्मस्वरूपमें लीन है, परवस्तुकी गम्य नहीं है, इसलिये नयप्रमाणकर जड़ भी है, परन्तु ज्ञानाभावरूप जड़ नहीं है, चैतन्यरूप ही है, अपेक्षासे जड़ कहा जाता है, यह अभिप्राय मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—(येन) जिस अपेक्षा (निजबोधप्रतिष्ठितानां) आत्म-ज्ञानमें ठहरे हुए (जीवानां) जीवोंके (इंद्रियजनितं ज्ञानं) इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान (त्रुटचति) नाशको प्राप्त होता है, (हे योगिन्) हे योगी, (तेन) उसी कारणसे (जीवं) जीवको (जडमपि) जड़ भी (विजानीहि) जानो।

भावार्थ—महामुनियोंके वीतरागनिर्विकल्प-समाधिके समयमें स्वसंवेदनज्ञान होनेपर भी इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं है, और केवलज्ञानियोंके तो किसी समय भी इन्द्रियज्ञान नहीं है, केवल अतीन्द्रियज्ञान ही है, इसलिये इन्द्रिय-ज्ञानके अभावकी अपेक्षा

आत्मा जड़ भी कहा जा सकता है। यहांपर बाह्य इन्द्रिय-ज्ञान सब तरह हेय है, और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, यह सारांश हुआ ॥५३॥

अथ शरीरनामकर्मकारणरहितो जीवो न वर्धते न च हीयते तेन कारणेन मुक्तश्चरमशरीरप्रमाणो भवतीति निरूपयति —

कारण-विरहिउ सुद्ध-जिउ वड्ढइ खिरइ ण जेण।
चरम-सरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिं तेण ॥५४॥

कारणविरहितः शुद्धजीवः वर्धते क्षरति न येन।
चरमशरीरप्रमाणं जीवं जिनवराः ब्रुवन्ति तेन ॥५४॥

आगे शरीरनामा नामकर्मरूप कारणसे रहित यह जीव न घटता है, और न बढ़ता है, इस कारण मुक्त-अवस्थामें चरम-शरीरसे कुछ कम पुरुषाकार रहता है, इसलिये शरीरप्रमाण भी कहा जाता है, ऐसा कहते हैं—**(येन)** जिस हेतु **(कारणविरहितः)** हानि-वृद्धिका कारण शरीर नामकर्मसे रहित हुआ **(शुद्धजीवः)** शुद्धजीव **(न वर्धते क्षरति)** न तो बढ़ता है, और न घटता है, **(तेन)** इसी कारण **(जिनवराः)** जिनेन्द्रदेव **(जीवं)** जीवको **(चरमशरीरप्रमाणं)** चरमशरीर प्रमाण **(ब्रुवन्ति)** कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसार अवस्थामें हानि-वृद्धिका कारण शरीरनामा नामकर्म है, उसके सम्बन्धसे जीव घटता है, और बढता है; जब महामच्छका शरीर पाता है, तब तो शरीरकी वृद्धि होती है, और जब निगोदिया शरीर धारता है, तब घट जाता है, और मुक्त अवस्थामें हानि-वृद्धिका कारण जो नामकर्म उसका अभाव होनेसे जीवके प्रदेश न तो सिकुड़ते हैं, न फैलते हैं, किन्तु चरमशरीरसे कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं, इसलिये शरीरप्रमाण हैं, यह निश्चय हुआ। यहां कोई प्रश्न करे, कि जब तक दीपकके आवरण है, तब तक तो प्रकाश नहीं हो सकता है, और जब उसके रोकनेवालेका अभाव हुआ, तब प्रकाश विस्तृत होकर फैल जाता है, उसीप्रकार मुक्तिअवस्थामें आवरणके अभाव होनेसे आत्माके प्रदेश लोक-प्रमाण फैलने चाहिये, शरीर-प्रमाण ही क्यों रह गये ?

उसका समाधान यह है, कि दीपकके प्रकाशका जो विस्तार है, वह स्वभावसे होता है, परसे नहीं उत्पन्न हुआ, पीछे भाजन वगैरहसे अथवा दूसरे आवरणसे आच्छादन किया गया, तब वह प्रकाश संकोचको प्राप्त हो जाता है, जब आवरणका अभाव

होता है, तब प्रकाश विस्ताररूप हो जाता है, इसमें संदेह नहीं और जीवका प्रकाश अनादिकालसे कर्मोंसे ढका हुआ है, पहले कभी विस्ताररूप नहीं हुआ। शरीर-प्रमाण ही संकोचरूप और विस्ताररूप हुआ, इसलिये जीवके प्रदेशोंका प्रकाश संकोच विस्तार-रूप शरीरनामकर्मसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण सूखी मिट्टीके बर्तनकी तरह कारणके अभावसे संकोच-विस्ताररूप नहीं होता, शरीर-प्रमाण ही रहता है, अर्थात् जबतक मिट्टीका बासन जलसे गीला रहता है, तबतक जलके सम्बन्धसे वह घट बढ़ जाता है, और जब जलका अभाव हुआ, तब बासन सूख जानेसे घटता बढ़तानहीं है—जैसेका तैसा रहता है। उसी तरह इस जीवके जबतक नामकर्मका सम्बन्ध है, तबतक संसार-अवस्थामें शरीरकी हानि-वृद्धि होतो है, उसकी हानि-वृद्धिसे प्रदेश सिकुड़ते हैं और फैलते हैं। तथा सिद्ध-अवस्थामें नामकर्मका अभाव हो जाता है, इस कारण शरीरके न होनेसे प्रदेशोंका संकोच विस्तार नहीं होता, सदा एकसे ही रहते हैं। जिस शरीरसे मुक्त हुआ, उसी प्रमाण कुछ कम रहता है। दीपकका प्रकाश तो स्वभावसे उत्पन्न है, इससे आवरणसे आच्छादित हो जाता है। जब आवरण दूर हो जाता है, तब प्रकाश सहज ही विस्तरता है। यहां तात्पर्य है, कि जो शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव परमात्मा मुक्तिमें तिष्ठ रहा है, वैसा ही शरीरमें भी विराज रहा है। जब रागका अभाव होता है, उस कालमें यह आतमा परमात्माके समान है, वही उपादेय है ॥५४॥

अथाष्टकर्माष्टादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणापेक्षया चेति दर्शयति—

अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण।
सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ॥५५॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन।
शुद्धानां एकोऽपि अस्ति नैव शून्योऽपि उच्यते तेन ॥५५॥

आगे आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित हुआ विभाव-भावोंकर रहित होवेसे शून्य कहा जाता है, लेकिन केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा शून्य नहीं है, सदा पूर्ण ही है, ऐसा दिखलाते हैं—(येन) जिस कारण (अष्टौ अपि) आठों ही (बहुविधानि कर्माणि) अनेक भेदोंवाले कर्म (नवनव दोषा अपि) अठारह ही दोष इनमेंसे (एकः अपि) एक भी (शुद्धानां) शुद्धात्माओंके (नैव अस्ति) नहीं है, (तेन) इसलिये (शून्योऽपि) शून्य भी (भण्यते) कहा जाता है।

भावार्थ—इस आत्माके शुद्धनिश्चयनयकर ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं है, क्षुधादि दोषोंके कारणभूत कर्मोंके नाश हो जानेसे क्षुधा तृषादि अठारह दोष कार्य-रूप नहीं हैं, और अपि शब्दसे सत्ता चैतन्य ज्ञान आनन्दादि शुद्ध प्राण होनेपर भी इन्द्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं, इसलिये संसारी-जीवोंके भी शुद्धनिश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्धपना है, लेकिन रागादि विभाव-भावोंकी शून्यता ही है। तथा सिद्ध-जीवोंके तो सब तरहसे प्रगटरूप रागादिसे रहितपना है, इसलिये विभावोंसे रहितपनेकी अपेक्षा शून्यभाव है, इसी अपेक्षासे आत्माको शून्य भी कहते हैं। ज्ञानादिक शुद्ध भावकी अपेक्षा सदा पूर्ण ही है, और जिस तरह बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं, वैसा अनन्त-ज्ञानादि गुणोंसे कभी नहीं हो सकता। ऐसा कथन श्रीपंचास्तिकायमें भी किया है— "जेसिं जीवसहावो" इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है, कि जिन सिद्धोंके जीवका स्वभाव निश्चल है, जिस स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं है, वे सिद्धभगवान् देहसे रहित हैं, और वचनके विषयसे रहित हैं, अर्थात् जिनका स्वभाव वचनोंसे नहीं कह सकते। यहां मिथ्यात्व रागादिभावकर शून्य तथा एक चिदानंदस्वभावसे पूर्ण जो परमात्मा कहा गया है, अर्थात् विभावसे शून्य स्वभावसे पूर्ण कहा गया है, वही उपादेय है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥५५॥

तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं कथयति। तद्यथा—

अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पें जणिउ ण कोइ।
दव्व-सहावें णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥५६॥

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि।
द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ॥५६॥

ऐसे जिसमें तीन प्रकारकी आत्माका कथन है, ऐसे पहले महाअधिकारमें जो ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहारनयसे लोकालोकव्यापक कहा गया, वही परमात्मा निश्चयनयसे असंख्यातप्रदेशी है, तो भी अपनी देहके प्रमाण रहता है, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहा-सूत्र कहे गये। आगे द्रव्य, गुण, पर्यायके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहे कहते हैं—(**आत्मा**) यह आत्मा (**केन अपि**) किसीसे भी (**न जनितः**) उत्पन्न नहीं हुआ, (**आत्मना**) और इस आत्मासे (**किमपि**) कोई द्रव्य (**न जनितं**) उत्पन्न नहीं हुआ, (**द्रव्यस्वभावेन**) द्रव्यस्वभावकर (**नित्यं मन्यस्व**) नित्य जानो, (**पर्यायः विनश्यति भवति**) पर्यायभावसे विनाशीक है।

भावार्थ—यह संसारी-जीव यद्यपि व्यवहारनयकर शुद्धात्मज्ञानके अभावसे उपार्जन किये ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मोंके निमित्तसे नर नारकादि पर्यायोंसे उत्पन्न होता है, और विनसता है, और आप भी शुद्धात्मज्ञानसे रहित हुआ कर्मोंको उपजाता (बाँधता) है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूप शुद्ध ही है, कर्मोंसे उत्पन्न हुई नर नारकादि पर्यायरूप नहीं होता, और आप भी कर्म नोकर्मादिकको नहीं उपजाता और व्यवहारसे भी न जन्मता है, न किसीसे विनाशको प्राप्त होता है, न किसीको उपजाता है, कारणकार्यसे रहित है, अर्थात् कारण उपजानेवालेको कहते हैं। कार्य उपजनेवालेको कहते हैं। सो ये दोनों भाव वस्तुमें नहीं हैं, इससे द्रव्यार्थिकनयकर जीव नित्य है, और पर्यायार्थिकनयकर उत्पन्न होता है, तथा विनाशको प्राप्त होता है। यहां पर शिष्य प्रश्न करता है, कि संसारी जीवोंके तो नर नारकी आदि पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दीखता है, परन्तु सिद्धोंके उत्पाद, व्यय, किस तरह हो सकता है?

क्योंकि उनके विभाव-पर्याय नहीं है, स्वभावपर्याय ही है, और वे सदा अखंड अविनश्वर ही हैं। इसका समाधान यह है–कि जैसा उत्पन्न होना, मरना, चारों गतियोंमें संसारीजीवोंके है, वैसा तो उन सिद्धोंके नहीं है, वे अविनाशी हैं, परन्तु शास्त्रोंमें प्रसिद्ध अगुरुलघु गुणकी परिणतिरूप अर्थपर्याय है, वह समय समयमें आविर्भाव-तिरोभावरूप होती है। अर्थात् समयमें पूर्वपरिणतिका व्यय होता है और आगेकी पर्यायका आविर्भाव (उत्पाद) होता है। इस अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना, अन्य संसारी-जीवोंकी तरह नहीं है। सिद्धोंके एक तो अर्थपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय कहा है। अर्थपर्यायमें षट्गुणी हानि और वृद्धि होती है।

अनन्तभागवृद्धि १, असंख्यातभागवृद्धि २, संख्यातभागवृद्धि ३, संख्यातगुण-वृद्धि ४, असंख्यातगुणवृद्धि ५, अनन्तगुणवृद्धि ६। अनन्तभागहानि १, असंख्यातभाग-हानि २, संख्यातभागहानि ३, संख्यातगुणहानि ४, असंख्यातगुणहानि ५, अनन्तगुण-हानि ६। ये षट्गुणी हानि-वृद्धिके नाम कहे हैं। इनका स्वरूप तो केवलीके गम्य है, सो इस षट्गुणी हानि-वृद्धिकी अपेक्षा सिद्धोंके उत्पाद व्यय कहा जाता है। अथवा समस्त ज्ञेयपदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमते हैं, सो सब पदार्थ सिद्धोंके ज्ञान-गोचर हैं। ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति है, सो जब ज्ञेय-पदार्थमें उत्पाद व्यय हुआ, तब ज्ञानमें सब प्रतिभासित हुआ, इसलिये ज्ञानकी परिणतिकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना। अथवा जब सिद्ध हुए, तब संसार-पर्यायका विनाश हुआ, सिद्धपर्यायका उत्पाद हुआ,

तथा द्रव्य स्वभावसे सदा ध्रुव ही हैं। सिद्धोंके जन्म, जरा, मरण नहीं हैं, सदा अविनाशी हैं। सिद्धका स्वरूप सब उपाधियोंसे रहित है, वही उपादेय है, यह भावार्थ जानना ॥५६॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति—

तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु।
सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु ॥५७॥

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं यत् गुणपर्याययुक्तम्।
सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ॥५७॥

आगे द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप कहते हैं—(यत्) जो (गुणपर्याययुक्तं) गुण और पर्यायोंकर सहित है, (तत्) उसको (त्वं) हे प्रभाकरभट्ट, तू (द्रव्यं) द्रव्य (परिजानीहि) जान, (सहभुवः) जो सदाकाल पाये जावें, नित्यरूप हों, वे तो (तेषां गुणाः) उन द्रव्योंके गुण हैं, (क्रमभुवः) और जो द्रव्यकी अनेकरूप परिणति क्रमसे हों अर्थात् अनित्यपनेरूप समय समय उपजे, विनशे, नानास्वरूप हों वह (पर्यायाः) पर्याय (उक्ताः) कही जाती हैं।

भावार्थ—जो द्रव्य होता है, वह गुणपर्यायकर सहित होता है। यही कथन तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है "गुणपर्ययवद्द्रव्यं"। अब गुणपर्यायका स्वरूप कहते हैं—"सहभुवो गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः" यह **नयचक्र** ग्रन्थका वचन है, अथवा "अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः" इनका अर्थ ऐसा है, कि गुण तो सदा द्रव्यसे सहभावी हैं, द्रव्यमें हमेशा एकरूप नित्यरूप पाये जाते हैं, और पर्याय नानारूप होती हैं, जो परिणति पहले समयमें थी, वह दूसरे समयमें नहीं होती, समय समयमें उत्पाद व्ययरूप होता है, इसलिये पर्याय क्रमवर्ती कहा जाता है। अब इसका विस्तार कहते हैं—जीव द्रव्यके ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आदि अनन्त गुण हैं, और पुद्गल-द्रव्यके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, इत्यादि अनन्तगुण हैं, सो ये गुण तो द्रव्यमें सहभावी हैं, अन्वयी हैं, सदा नित्य हैं, कभी द्रव्यसे तन्मयपना नहीं छोड़ते। तथा पर्यायके दो भेद हैं—एक तो स्वभाव और दूसरी विभाव।

जीवके सिद्धत्वादि स्वभाव-पर्याय हैं, और केवलज्ञानादि स्वभाव-गुण हैं। ये तो जीवमें ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्यमें नहीं पाये जाते। तथा अस्तित्व, वस्तुत्व,

द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, ये स्वभावगुण सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं। अगुरुलघु गुणका परिणमन षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है। यह स्वभावपर्याय सभी द्रव्योंमें है, कोई द्रव्य षट्गुणी हानि-वृद्धि बिना नहीं है, यही अर्थ-पर्याय कही जाती हैं, वह शुद्धपर्याय है। यह शुद्ध पर्याय संसारीजीवोंके सब अजीव-पदार्थोंके तथा सिद्धोंके पायी जाती है, और सिद्धपर्याय तथा केवलज्ञानादि गुण सिद्धोंके ही पाया जाता है, दूसरोंके नहीं। संसारी-जीवोंके मतिज्ञानादि विभावगुण और नर-नारकी आदि विभावपर्याय ये संसारी-जीवोंके पायी जातो हैं। ये तो जीव द्रव्यके गुण-पर्याय कहे और पुद्गलके परमाणुरूप तो द्रव्य तथा वर्ण आदि स्वभावगुण और एक वर्णसे दूसरे वर्णरूप होना, ये विभावगुण व्यंजन-पर्याय तथा एक परमाणुमें दो तीन इत्यादि अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होना, ये विभावद्रव्य व्यंजन-पर्याय हैं।

द्व्यणुकादि स्कन्धमें जो वर्ण आदि हैं, वे विभावगुण कहे जाते हैं, और वर्णसे वर्णान्तर होना, रससे रसान्तर होना, गन्धसे अन्य गन्ध होना, यह विभाव-पर्याय हैं। परमाणु शुद्ध द्रव्यमें एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और शीत उष्णमेंसे एक, तथा रूखे चिकनेमेंसे एक, ऐसे दो स्पर्श, इस तरह पांच गुण तो मुख्य हैं, इनको आदिसे अस्तित्वादि अनन्तगुण हैं, वे स्वभाव-गुण कहे जाते हैं, और परमाणुका जो आकार वह स्वभावद्रव्य व्यंजन-पर्याय है, तथा वर्णादि गुणरूप परिणमन वह स्वभावगुण व्यंजन-पर्याय है। जीव और पुद्गल इन दोनोंमें तो स्वभाव और विभाव दोनों हैं, तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन चारोंमें अस्तित्वादि स्वभाव-गुण ही हैं, और अर्थपर्याय षट्गुणी हानि वृद्धिरूप स्वभाव-पर्याय सभीके हैं। धर्मादिके चार पदार्थोंके विभावगुण-पर्याय नहीं हैं। आकाशके घटाकाश मठाकाश इत्यादिकी जो कहावत है, वह उपचार-मात्र है। ये षट् द्रव्योंके गुण-पर्याय कहे गये हैं। इन षट्द्रव्योंमें जो शुद्ध गुण, शुद्ध पर्याय सहित जो शुद्ध जीवद्रव्य है, वही उपादेय है—आराधने योग्य है ॥५७॥

अथ जीवस्य विशेषेण द्रव्यगुणपर्यायान् कथयति—

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ गुण पुणु दंसणु णाणु।
पज्जय चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ॥५८॥

आत्मानं बुध्यस्व द्रव्यं त्वं गुणौ पुनः दर्शनं ज्ञानम्।
पर्यायान् चतुर्गतिभावान् तनुं कर्मविनिर्मितान् जानीहि ॥५८॥

आगे जीवके विशेषपनेकर द्रव्य-गुणपर्याय कहते हैं—हे शिष्य, (त्वं) तू (आत्मानं) आत्माको तो (द्रव्यं) द्रव्य (बुध्यस्व) जान, (पुनः) और (दर्शनं ज्ञानं) दर्शन ज्ञानको (गुणौ) गुण जान, (चतुर्गतिभावान् तनुं) चार गतियोंके भाव तथा शरीरको (कर्मविनिर्मितान्) कर्मजनित (पर्यायान्) विभाव-पर्याय (जानीहि) समझ।

भावार्थ—इसका विशेष व्याख्यान करते हैं—शुद्धनिश्चयनयकर शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, स्वभाव, आत्माको तू द्रव्य जान, चेतनपनेके सामान्य स्वभावको दर्शन जान, और विशेषतासे जानपना उसको ज्ञान समझ। थे दर्शन ज्ञान आत्माके निज गुण हैं, उनमेंसे ज्ञानके आठ भेद हैं, उनमें केवलज्ञान तो पूर्ण है, अखण्ड है, शुद्ध है, तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान तो सम्यक्ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन मिथ्या ज्ञान, ये केवल की अपेक्षा सातों ही खण्डित हैं, अखण्ड है, और सर्वथा शुद्ध नहीं हैं, अशुद्धता सहित हैं, इसलिये परमात्मासें एक केवलज्ञान ही है। पुद्गलमें अमूर्तगुण नहीं पाये जाते, इस कारण पांचोंकी अपेक्षा साधारण, पुद्गलकी अपेक्षा असाधारण। प्रदेशत्वगुण कालके बिना पांच द्रव्योंमें पाया जाता है, इसलिये पांचकी अपेक्षा यह प्रदेशगुण साधारण है, और कालमें न पानेसे कालकी अपेक्षा असाधारण है।

पुद्गल-द्रव्यमें मूर्तीकगुण असाधारण है, इसीमें पाया जाता है, अन्यमें नहीं और अस्तित्वादि गुण इसमें भी पाये जाते हैं, तथा अन्यमें भी, इसलिये साधारणगुण हैं। चेतनपना पुद्गलमें सर्वथा नहीं पाया जाता। पुद्गल-परमाणुको द्रव्य कहते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णस्वरूप जो मूर्ति वह इस पुद्गलका विशेषगुण है। अन्य सब द्रव्योंमें जो उनका स्वरूप है, वह द्रव्य है, और अस्तित्वादि गुण, तथा स्वभाव परिणति पर्याय है। जीव और पुद्गलके बिना अन्य चार द्रव्योंमें विभाव-गुण और विभाव-पर्याय नहीं हैं, तथा जीव पुद्गलमें स्वभाव विभाव दोनों हैं। उनमेंसे सिद्धोंमें तो स्वभाव ही है, और संसारीमें विभावकी मुख्यता है। पुद्गल परमाणुमें स्वभाव ही है, और स्कन्ध विभाव ही है। इस तरह छहों द्रव्योंका संक्षेपसे व्याख्यान जानना ॥५८॥

अथानन्तसुखस्योपादेयभूतस्याभिन्नत्वात् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते। तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वेनेति। तद्यथा।

जीवकर्मणोरनादिसंबन्धं कथयति—

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण।
कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिं वि आइ ण जेण ॥५९॥

जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन।
कर्मणा जीवोऽपि जनितः नैव द्वयोरपि आदिः न येन ॥५९॥

ऐसे तीन प्रकारकी आत्माका है, कथन जिसमें, ऐसे पहले महाधिकारमें द्रव्य-गुण पर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतासे सातवें स्थलमें तीन दोहा-सूत्र कहे। आगे आदर करने योग्य अतीन्द्रिय सुखसे तन्मयी जो निर्विकल्पभाव उसकी प्राप्तिके लिए शुद्ध गुण-पर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहा कहते हैं। इनमें पहले चार दोहोंमें अनादि कर्मसंबंधका व्याख्यान और पिछले चार दोहोंमें कर्मके फलका व्याख्यान इस प्रकार आठ दोहोंका रहस्य है, उसमें प्रथम ही जीव और कर्मका अनादि कालका सम्बन्ध है, ऐसा कहते हैं—**(हे जीव)** हे आत्मा **(जीवानां)** जीवोंके **(कर्माणि)** कर्म **(अनादीनि)** अनादि कालसे हैं, अर्थात् जीव कर्मका अनादि कालका सम्बन्ध है, **(तेन)** उस जीवने **(कर्म)** कर्म **(न जनितं)** नहीं उत्पन्न किये, **(कर्मणा अपि)** ज्ञानावरणादि कर्मोंने भी **(जीवः)** यह जीव **(नैव जनितः)** नहीं उपजाया, **(येन)** क्योंकि **(द्वयोः अपि)** जीव कर्म इन दोनोंका ही **(आदिः न)** आदि नहीं है, दोनों ही अनादिके हैं।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे पर्यायोंके समूहकी अपेक्षा नये-नये कर्म समय-समय बांधता है, नये-नये उपार्जन करता है, जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है, उसी तरह पहले बीजरूप कर्मोंसे देह धारता है, देहमें नये-नये कर्मोंको विस्तारता है, यह तो बीजसे वृक्ष हुआ। इसीप्रकार जन्म-सन्तान चली जाती जाती है। परन्तु शुद्धनिश्चयनयसे विचारा जावे, तो जीव निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव ही है। जीवने ये कर्म न तो उत्पन्न किये, और यह जीव भी इन कर्मोंने नहीं पैदा किया। जीव भी अनादिका है, ये पुद्गलस्कन्धभी अनादिके हैं, जीव और कर्म नये नहीं हैं, जीव अनादिका कर्मोंसे बन्धा है। और कर्मोंके क्षयसे मुक्त होता है।

इस व्याख्यानसे जो कोई ऐसा कहते हैं कि, आत्मा सदा मुक्त है, कर्मोंसे रहित है, उनका निराकरण (खण्डन) किया। ये वृथा कहते हैं, ऐसा तात्पर्य है। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है—"मुक्तश्चेत्" इत्यादि। इसका अर्थ यह है, कि जो यह

जीव पहले बन्धा हुआ होवे, तभी 'मुक्त' ऐसा कथन संभवता है, और जो पहले बंधा ही नहीं तो फिर 'मुक्त' ऐसा कहना किस तरह ठीक हो सकता। मुक्त तो छूटे हुएका नाम है, सो जब बन्धा ही नहीं तो फिर 'छूटा' किस तरह कहा जा सकता है। जो अबन्ध है, उसको छूटा कहना ठीक नहीं। जो विभावबन्ध मुक्ति मानते हैं, उनका कथन निरर्थक है। जो यह अनादिका मुक्त ही होवे, तो पीछे बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है। बन्ध होवे तभी मोचन छुटकारा हो सके। जो बन्ध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ॥५६॥

अथ व्यवहारनयेन जीवः पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति—

एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु ।
बहुविह-भावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु ॥६०॥

एष व्यवहारेण जीवः हेतुं लब्ध्वा कर्म ।
बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्मः अधर्मः ॥६०॥

आगे व्यवहारनयसे यह जीव पुण्य-पापरूप होता है, ऐसा कहते हैं—(एष जीवः) यह जीव (व्यवहारेण) व्यवहारनयकर (कर्म हेतुं) कर्मरूप कारणको (लब्ध्वा) पाकरके (बहुविधभावेन) अनेक विकल्परूप ('परिणमति') परिणमता है। (तेन एव) इसीसे (धर्मः अधर्मः) पुण्य और पापरूप होता है।

भावार्थ—यह जीव शुद्ध निश्चयकर वीतराग चिदानन्द स्वभाव है, तो भी व्यवहारनयकर वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके अभावसे रागादिरूप परिणमनेसे उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंके कारणको पाकर पुण्यी तथा पापी होता है। यद्यपि यह व्यवहारनयकर पुण्य पापरूप है, तो भी परमात्माकी अनुभूतिसे तन्मयी जो वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और बाह्य पदार्थोंमें इच्छाके रोकनेरूप तप, ये चार निश्चयआराधना हैं, उनकी भावनाके समय साक्षात् उपादेयरूप वीतराग परमानन्द जो मोक्षका सुख उससे अभिन्न आनन्दमयी ऐसा निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ॥६०॥

अथ तानि पुनः कर्माण्यष्टौ भवन्तीति कथयति—

ते पुणु जीवहं जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति ।
जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहंति ॥६१॥

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ अपि कर्माणि भवन्ति ।
येः एव च्छादिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभन्ते ॥६१॥

आगे कहते हैं, वे कर्म आठ हैं, जिनसे संसारी जीव बन्धे हैं, कहते—श्रीगुरु अपने शिष्य मुनिसे कहते हैं, कि (योगिन्) हे योगी, (तानि पुनः कर्माणि) वे फिर कर्म (जीवानां अष्टौ अपि) जीवोंके आठ ही (भवंति) होते हैं, (यैः एव झंपिताः) जिन कर्मोंसे ही आच्छादित (ढँके हुए) (जीवाः) ये जोवकर (आत्मस्वभावं) अपने सम्यक्त्वादि आठ गुणरूप स्वभावको (नैव लभंते) नहीं पाते । अब उन्हीं आठ गुणोंका व्याख्यान करते हैं "सम्मत्त" इत्यादि—इसका अर्थ ऐसा है, कि शुद्ध आत्मादि पदार्थोंमें विपरीत श्रद्धान रहित जो परिणाम उसको क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं, तीन लोक, तीन कालके पदार्थोंको एक ही समयमें विशेषरूप सबको जानें, वह केवलज्ञान है, सब पदार्थोंको केवलदृष्टिसे एक ही समयमें देखे, वह केवलदर्शन है । उसी केवलज्ञानमें अनन्तज्ञायक (जाननेकी) शक्ति वह अनन्तवीर्य है, अतीन्द्रियज्ञानसे अमूर्तीक सूक्ष्म पदार्थोंको जानना, आप चार ज्ञानके धारियोंसे न जाना जावे वह सूक्ष्मत्व हैं, एक जीवके अवगाह क्षेत्रमें (जगहमें) अनन्ते जीव समा जावें, ऐसी अवकाश देनेकी सामर्थ्य वह अवगाहनगुण है, सर्वथा गुरुता और लघुताका अभाव अर्थात् न गुरु न लघु—उसे अगुरु-लघु कहते हैं, और वेदनीयकर्मके उदयके अभावसे उत्पन्न हुआ समस्त बाधा रहित जो निराबाधगुण उसे अव्याबाध कहते हैं ।

ये सम्यक्त्वादि आठ गुण जो सिद्धोंके हैं, वे संसारावस्थामें किस किस कर्मसे ढँके हुए हैं, इसे कहते हैं—सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वनाम दर्शनमोहनीयकर्मसे आच्छादित है, केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढका हुआ है, केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन ढका है, वीर्यान्तरायकर्मसे अनन्तवीर्य ढका है, आयुःकर्मसे सूक्ष्मत्वगुण ढका है, क्योंकि आयु-कर्म उदयसे जब जीव परभवको जाता है, वहां इन्द्रियज्ञानका धारक होता है, अती-न्द्रियज्ञानका अभाव होता है, इस कारण कुछ एक स्थूलवस्तुओंको तो जानता है, सूक्ष्म को नहीं जानता, शरीरनामकर्मके उदयसे अवगाहनगुण आच्छादित है, सिद्धावस्थाके योग्य विशेषरूप अगुरुलघुगुण नामकर्म के उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढक गया है, क्योंकि गोत्रकर्मके उदयसे जब नीचगोत्र पाया, तब उसमें तुच्छ या लघु कहलाया, और उच्च गोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कहलाया और वेदनीयकर्मके उदयसे अव्याबाधगुण ढक गया, क्योंकि उसके उदय साता असातारूप सांसारिक सुख दुःखका भोक्ता हुआ ।

इसप्रकार आठ गुण आठ कर्मोंसे ढक गये, इसलिये यह जीव संसारमें भ्रमा। जब कर्मका आवरण मिट जाता है, तब सिद्धपदमें ये आठगुण प्रकट होते हैं । यह संक्षेपसे आठ गुणोंका कथन किया। विशेषतासे अमूर्तत्व निर्नामगोत्रादिक अनन्तगुण यथासम्भव शास्त्र-प्रमाणसे जानने। तात्पर्य यह है, कि सम्यक्त्वादि निज शुद्ध गुण-स्वरूप जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है ॥६१॥

अथ विषयकषायासक्तानां जीवानां ये कर्मपरमाणवः संबद्धा भवन्ति तत्कर्मेति कथयति—

विसय-कसायहिं रंगियहँ ते अणुया लग्गंति।
जीव-पएसहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति ॥६२॥

विषयकषायैः रञ्जितानां ये अणवः लगन्ति।
जीवप्रदेशेषु मोहितानां तान् जिनाः कर्म भणन्ति ॥६२॥

आगे विषय-कषायोंमें लीन जीवोंके जो कर्मपरमाणुओंके समूह बँधते हैं, वे कर्म कहे जाते हैं, ऐसा कहते हैं—**(विषयकषायैः)** विषय-कषायोंसे **(रंजितानां)** रागी **(मोहितानां)** मोही जीवोंके **(जीवप्रदेशेषु)** जीवके प्रदेशोंमें **(ये अणवः)** जो परमाणु **(लगंति)** लगते हैं, बन्धते हैं, **(तान्)** उन परमाणुओंके स्कन्धों **(समूहों)** को **(जिनाः)** जिनेन्द्रदेव **(कर्म)** कर्म **(भणंति)** कहते हैं।

भावार्थ—शुद्ध आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो विषयकषाय उनसे रंगे हुए आत्म-ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए मोहकर्मके उदयकर परिणत हुए, ऐसे रागी द्वेषी मोही संसारी जीवोंके कर्मवर्गणा योग्य जो पुद्गलस्कन्ध हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्मरूप होकर परिणमते हैं। जैसे तेलसे शरीर चिकना होता है, और धूलि लगकर मैलरूप होके परिणमती है, वैसे ही रागी, द्वेषी, मोही जीवोंके विषय-कषाय-दशामें पुद्गलवर्गणा कर्मरूप होके परिणमती है। जो कर्मोंका उपार्जन करते हैं, वही जब वीतराग निर्विकल्पसमाधिके समय कर्मोंका क्षय करते हैं, तब आराधने योग्य हैं, यह तात्पर्य हुआ ॥६२॥

अथापीन्द्रियचित्तसमस्तविभावचतुर्गतिसंतापाः शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनिता इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयन्ति—

पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइ-ताव ॥६३॥

पञ्चापि इन्द्रियाणि अन्यत् मनः अन्यदपि सकलविभावः।
जीवानां कर्मणा जनिताः जीव अन्यदपि चतुर्गतितापाः ॥६३॥

इस प्रकार कर्मस्वरूपके कथनकी मुख्यतासे चार दोहे कहे। आगे पांच इन्द्रिय, मन, समस्त विभाव और चार गतिके दुःख ये सब शुद्ध निश्चयनयकर कर्मसे उपजे हैं, जीवके नहीं हैं, यह अभिप्राय मनमें रखकर दोहा-सूत्र कहते हैं—(**पंचापि**) पांचों ही (**इंद्रियाणि**) इन्द्रियां (**अन्यत्**) भिन्न हैं, (**मनः**) मन (**अपि**) और (**सकलविभावः**) रागादि सब विभाव परिणाम (**अन्यत्**) अन्य हैं, (**चतुर्गतितापाः अपि**) तथा चारों गतियोंके दुःख भी (**अन्यत्**) अन्य हैं, (**जीव**) हे जीव, ये सब (**जीवानां**) जीवोंके (**कर्मणा**) कर्मकर (**जनिताः**) उपजे हैं, जीवसे भिन्न हैं, ऐसा जान।

भावार्थ—इन्द्रिय रहित शुद्धात्मासे विपरीत जो स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पसे रहित आत्मासे विपरीत अनेक संकल्प-विकल्पसमूहरूप जो मन और शुद्धात्मतत्त्वका अनुभूतिसे भिन्न जो राग, द्वेष, मोहादिरूप सब विभाव ये सब आत्मासे जुदे हैं, तथा वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृतसे पराङ्मुख जो समस्त चतुर्गतिके महान् दुःखदायी दुःख वे सब जीवपदार्थसे भिन्न हैं। ये सभी अशुद्धनिश्चयनयकर आत्म-ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये हुए कर्मोंसे जीवके उत्पन्न हुए हैं। इसलिये ये सब अपने नहीं हैं, कर्मजनित हैं। यहांपर परमात्म-द्रव्यसे विपरीत जो पांचों इन्द्रियोंको आदि लेकर सब विकल्प-जाल हैं, वे तो त्यागने योग्य हैं, उससे विपरीत पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको आदि लेकर सब विकल्प-जालोंसे रहित अपना शुद्धात्मतत्त्व वही परमसमाधिके समय साक्षात् उपादेय है। यह तात्पर्य जानना ॥६३॥

अथ सांसारिकसमस्तसुखदुःखानि शुद्धनिश्चयनयेन जीवानां कर्म जनयतीति निरूपयति—

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहं कम्मु जणेइ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउं भणेइ ॥६४॥

दुःखमपि सुखमपि बहुविधं जीवानां कर्म जनयति।
आत्मा पश्यति मनुते परं निश्चयः एवं भणति ॥६४॥

आगे संसारके सब सुख दुःख शुद्ध निश्चयनयसे शुभ अशुभ कर्मोंकर उत्पन्न होते हैं, और कर्मोंको ही उपजाते हैं, जीवके नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—(**जीवानां**) जीवोंके (**बहुविधं**) अनेक तरहके (**दुःखमपि सुखं अपि**) दुःख और सुख दोनों ही (**कर्म**) कर्म ही (**जनयति**) उपजाता है। (**आत्मा**) और आत्मा (**पश्यति**) उपयोग-मयी होनेसे देखता है, (**परं मनुते**) और केवल जानता है, (**एवं**) इसप्रकार (**निश्चयः**) निश्चयनय (**भणति**) कहता है, अर्थात् निश्चयनयसे भगवान्‌ने ऐसा कहा है।

भावार्थ—आकुलता रहित पारमार्थिक वीतराग सुखसे पराङ्मुख (उलटा) जो संसारके सुख दुःख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयकर जीवसम्बन्धी हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनयकर जीवने उपजाये नहीं हैं, इसलिये जीवके नहीं हैं, कर्म-संयोगकर उत्पन्न हुए हैं और आत्मा तो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थिर हुआ वस्तुको वस्तुके स्वरूप देखता है, जानता है, रागादिकरूप नहीं होता, उपयोगरूप है, ज्ञाता द्रष्टा है, परम आनन्दरूप है। यहां पारमार्थिक सुखसे उलटा जो इन्द्रियजनित संसारका सुख दुःख आदि विकल्प समूह है वह त्यागने योग्य है, ऐसा भगवान्‌ने कहा है, यह तात्पर्य है।

अथ निश्चयेन बंधमोक्षौ कर्म करोतीति प्रतिपादयति—

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउ भणेइ ॥६५॥

बन्धमपि मोक्षमपि सकलं जीव जीवनां कर्म जनयति।
आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ॥६५॥

आगे निश्चयनयकर बन्ध और मोक्ष कर्मजनित ही है, कर्मके योगसे बन्ध और कर्मके वियोगसे मोक्ष है, ऐसा कहते हैं—(**जीव**) हे जीव (**बंधमपि**) बन्धको (**मोक्षमपि**) और मोक्षको (**सकलं**) सबको (**जीवानां**) जीवोंके (**कर्म**) कर्म ही (**जनयति**) करता है, (**आत्मा**) आत्मा (**किमपि**) कुछ भी (**नैव करोति**) नहीं करता, (**निश्चयः**) निश्चयनय (**एवं**) ऐसा (**भणति**) कहता है, अर्थात् निश्चयनयसे भगवान्‌ने ऐसा कहा है।

भावार्थ—अनादि कालकी सम्बन्धवाली अयथार्थस्वरूप अनुपचरितासद्भूत-व्यवहारनयसे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मबन्ध और अशुद्धनिश्चयनयसे रागादि भावकर्मके बन्धका तथा दोनों नयोंसे द्रव्यकर्म भावकर्मकी मुक्तिको यद्यपि जीव करता है, तो भी

शुद्धपारिणामिक परमभावके ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनयसे नहीं करता है, बन्ध और मोक्षसे रहित है, ऐसा भगवान्‌ने कहा है। यहां जो शुद्धनिश्चयनयकर बन्ध और मोक्षका कर्ता नहीं, वही शुद्धात्मा आराधने योग्य है ॥६५॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।
जिण-वयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो ॥६५※१॥

स नास्ति इति प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।
जिनवचनं न लभमानः यत्र न भ्रमितः जीवः जावः ॥६५※१॥

आगे दोहा-सूत्रोंकी स्थल-संख्यासे बाहर उक्तं च स्वरूप प्रक्षेपकको कहते हैं—(अत्र ?) इस जगत्‌में (स [कः अपि]) ऐसा कोई भी (प्रदेशः नास्ति) प्रदेश (स्थान) नहीं है, कि (यत्र) जिस जगह (चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये) चौरासी लाख योनियोंमें होकर (जिनवचनं न लभमानः) जिन-वचनको नहीं प्राप्त करता हुआ (जीवः) यह जीव (न भ्रमितः) नहीं भटका।

भावार्थ—इस जगत्‌में कोई ऐसा स्थान नहीं रहा, जहांपर यह जीव निश्चय व्यवहार रत्नत्रयको कहनेवाले जिन-वचनको नहीं पाता हुआ अनादि कालसे चौरासी लाख योनियोंमें होकर न घूमा हो, अर्थात् जिन-वचनकी प्रतीति न करनेसे सब जगह और सब योनियोंमें भ्रमण किया, जन्म-मरण किये। यहां यह तात्पर्य है, कि जिन-वचनके न पानेसे यह जीव जगत्‌में भ्रमा, इसलिये जिन-वचन ही आराधने योग्य है ॥६५※१॥

अथात्मा पंगुवत् स्वयं न याति न चैति कर्मैव नयत्यानयति चेति कथयति—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥६६॥

आत्मा पङ्गोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति ।
भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ॥६६॥

आगे आत्मा पंगु (लंगड़े) की तरह आप न तो कहीं जाता है, और न आता है, कर्म ही इसको ले जाते हैं, और ले आते हैं, ऐसा कहते हैं—(जीव) हे जीव, (आत्मा)

यह आत्मा (पङ्गोः अनुहरति) पंगुके समान है, (आत्मा) आप (न याति) न कहीं जाता है, (न आयाति) न आता है (भुवनत्रयस्य अपि मध्ये) तीनों लोकमें इस जीवको (विधिः) कर्म ही (नयति) ले जाता है, (विधिः) कर्म ही (आनयति) ले आता ।

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयसे अनन्तवीर्य (बल) का धारण करने वाला होनेसे शुभ अशुभ कर्मरूप बन्धनसे रहित है, तो भी व्यवहारनयसे इस अनादि संसारमें निज शुद्धात्माकी भावनासे विमुख जो मन, वचन, काय इन तीनोंसे उपार्जे कर्मोंकर उत्पन्न हुए पुण्य-पापरूप बंधनोंकर अच्छी तरह बंधा हुआ पंगुके समान आप न कहीं जाता है न कहीं आता है। जैसे बन्दीवान आपसे न कहीं जाता है और न कहीं आता है, चौकीदारोंकर ले जाया जाता है, और आता है, आप तो पंगुके समान है। वही आत्मा परमात्माकी प्राप्तिके रोकनेवाले चतुर्गतिरूप संसारके कारणस्वरूप कर्मोंकर तीन जगत्में गमन-आगमन करता है, एक गतिसे दूसरी गतिमें जाता है। यहां सारांश यह है, कि वीतराग परम आनंदरूप तथा सब तरह उपादेयरूप परमात्मासे (अपने स्वरूपसे) भिन्न जो शुभ अशुभ कर्म हैं, वे त्यागने योग्य हैं ।।६६।।

अथ ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक् पृथक् स्वतन्त्रसूत्रनवकं कथयति—

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोइ ।।६७।।

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।
पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रभणन्ति योगिनः ।।६७।।

इस प्रकार कर्मकी शक्तिके स्वरूपके कहनेकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें आठ दोहे कहे। इससे आगे भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाकी मुख्यतासे जुदे-जुदे स्वतन्त्र नौ सूत्र कहते हैं—(आत्मा) निजवस्तु (आत्मा एव) आत्मा ही है, (परः) देहादि पदार्थ (पर एव) पर ही हैं, (आत्मा) आत्मा तो (परः न एव) परद्रव्य नहीं (भवति) होता, (पर एव) और परद्रव्य भी (कदाचिदपि) कभी (आत्मा नैव) आत्मा नहीं होता, ऐसा (नियमेन) निश्चयकर (योगिनः) योगीश्वर (प्रभणंति) कहते हैं।

भावार्थ—शुद्धात्मा तो केवलज्ञानादि स्वभाव है, जड़रूप नहीं है, उपाधिरूप नहीं है, शुद्धात्मस्वरूप ही है। पर जो काम-क्रोधादि परवस्तु भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म हैं, वे पर ही हैं, अपने नहीं हैं, जो यह आत्मा संसार अवस्थामें यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयकर

काम क्रोधादिरूप हो गया है, तो भी परमभावके ग्राहक शुद्धनिश्चयनयकर अपने ज्ञानादि निजभावको छोड़कर काम क्रोधादिरूप नहीं होता, अर्थात्, निजभावरूप ही है। ये रागादि विभावपरिणाम उपाधिक हैं, परके सम्बन्धसे हैं, निजभाव नहीं हैं, इसलिये आत्मा कभी इन रागादिरूप नहीं होता, ऐसा योगीश्वर कहते हैं। यहां उपादेयरूप मोक्ष-सुख (अतीन्द्रिय सुख) से तन्मय और काम-क्रोधादिकसे भिन्न जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है ।।६७।।

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिं मरणं बन्धमोक्षौ न करोत्यात्मेति प्रतिपादयति—

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउं भणेइ ।।६८।।

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बन्धं न मोक्षं करोति ।
जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एव भणति ।।६८।।

आगे शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा जन्म, मरण, बन्ध और मोक्षको नहीं करता है, जैसा है वैसा ही है, ऐसा निरूपण करते हैं—**(योगिन्)** हे योगीश्वर, **(परमार्थेन)** निश्चयनयकर विचारा जावे, तो **(जीवः)** यह जीव **(नापि उत्पद्यते)** न तो उत्पन्न होता है, **(नापि म्रियते)** न मरता है **(च)** और **(न बंधं मोक्षं)** न बन्ध मोक्षको **(करोति)** करता है, अर्थात् शुद्धनिश्चयनयसे बन्ध-मोक्षसे रहित है, **(एवं)** ऐसा **(जिनवरः)** जिनेन्द्रदेव **(भणति)** कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूतिके अभावके होनेपर शुभ अशुभ उपयोगोंसे परिणमन करके जीवन, मरण, शुभ, अशुभ, कर्मबन्धको करता है, और शुद्धात्मानुभूतिके प्रगट होनेपर शुद्धोपयोगसे परिणत होकर मोक्षको करता है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बन्धका कर्ता है, और न मोक्षका कर्ता है। ऐसा कथन सुनकर शिष्यने प्रश्न किया, कि हे प्रभो, शुद्ध द्रव्यार्थिक स्वरूप शुद्धनिश्चयनयकर मोक्षका भी कर्ता नहीं है, तो ऐसा समझना चाहिये, कि शुद्धनयकर मोक्ष ही नहीं है, जब मोक्ष नहीं, तब मोक्षके लिये यत्न करना वृथा है। उसका उत्तर कहते हैं—मोक्ष है, वह बन्धपूर्वक है, और बन्ध है, वह शुद्धनिश्चयनयकर होता ही नहीं, इस कारण बन्धके अभावरूप मोक्ष है, वह भी शुद्धनिश्चयनयकर नहीं है। जो शुद्धनिश्चयनयसे बन्ध होता, तो हमेशा बन्धा ही रहता, कभी बन्धका अभाव न होता।

इसके बारेमें दृष्टान्त कहते हैं—कोई एक पुरुष सांकलसे बन्ध रहा है, और कोई एक पुरुष बंध रहित है, उनमेंसे जो पहले बंधा था, उसको तो 'मुक्त' (छूटा) ऐसा कहना, ठीक मालूम पड़ता है, और दूसरा जो बंधा ही नहीं, उसको जो 'आप छूट गये' ऐसा कहा जाय, तो वह क्रोध करे, कि मैं कब बंधा था, सो यह मुझे 'छूटा' कहता है, बंधा होवे, वह छूटे, इसलिये बंधेको तो मोक्ष कहना ठीक है, और बंधा ही न हो, उसे छूटे कैसे कह सकते हैं ? उसी प्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनयकर बंधा हूआ नहीं है, इस कारण मुक्त कहना ठीक नहीं है । बंध भी व्यवहारनयकर है, बंध भी व्यवहारनयकर और मुक्ति भी व्यवहारनयकर है, शुद्धनिश्चयनयकर न बंध है, न मोक्ष है और अशुद्धनयकर बंध है, इसलिये बंधके नाशका यत्न भी अवश्य करना चाहिये । यहां यह अभिप्राय है, कि सिद्ध समान यह अपना शुद्धात्मा वीतराग निर्विकल्प समाधिमें लीन पुरुषोंको उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ॥६८॥

अथ निश्चयनयेन जीवस्योद्भवजरामरणरोगलिङ्गवर्णसंज्ञा नास्तीति कथयन्ति—

अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण ।
णियमिं अप्पु वियाणि तुहुं जीवहं एक्क वि सण्ण ॥६९॥

अस्ति न उद्भवः जरामरणं रोगाः अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः ।
नियमेन आत्मन् विजानीहि त्वं जीवस्य एकापि संज्ञा ॥६९॥

आगे निश्चयनयकर जीवके जन्म, जरा, मरण, रोग, लिंग, वर्ण, और संज्ञा नहीं है, आत्मा इन सब विकारोंसे रहित है, ऐसा कहते हैं—(आत्मन्) हे जीव आत्माराम, (जीवस्य) जीवके (उद्भवः न) जन्म नहीं (अस्ति) है, (जरामरणः) जरा (बुढ़ापा) मरण (रोगी अपि) रोग (लिंगान्यपि) चिन्ह (वर्णाः) वर्ण (एका संज्ञा अपि) आहारादिक एक भी संज्ञा वा नाम नहीं है, ऐसा (त्वं) तू (नियमेन) निश्चय-कर (विजानीहि) जान ।

भावार्थ—वीतराग निर्विकल्पसमाधिसे विपरीत जो क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विभावपरिणाम उनकर उपार्जन किये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए जन्म मरण आदि अनेक विकार हैं, वे शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, क्योंकि निश्चयनयकर आत्मा केवलज्ञानादि अनंत गुणाकर पूर्ण है, और अनादि-सतानसे प्राप्त जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्त्री, पुरुष, नपुंसकलिंग, सफेद काला वर्ण, वगैर आहार,

भय, मैथुन, परिग्रहरूप संज्ञा इन सबोंसे भिन्न है। यहां उपादेयरूप अनन्तसुखका धाम जो शुद्ध जीव उससे भिन्न जन्मादिक हैं, वे सब त्याज्य हैं, एक आत्मा ही उपादेय है, यह तात्पर्य जानना ॥६९॥

यद्युद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न सन्ति तर्हि कस्य सन्तीति प्रश्ने देहस्य भवन्तीति प्रतिपादयति—

देहहं उब्भउ जर-मरणु देहहं वण्णु विचित्तु।
देहहं रोय वियाणि तुहुं देहहं लिंगु विचित्तु ॥७०॥

देहस्य उद्भवः जरामरणं देहस्य वर्णः विचित्रः।
देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिङ्गं विचित्रम् ॥७०॥

आगे जो शुद्धनिश्चयनयकर जन्म-मरणादि जीवके नहीं हैं, तो किसके हैं? ऐसा शिष्यके प्रश्न करनेपर समाधान यह है, कि ये सब देहके हैं ऐसा कथन करते हैं—श्रीगुरु कहते हैं, कि हे शिष्य, **(त्वं)** तू **(देहस्य)** देहके **(उद्भवः)** जन्म **(जरामरणं)** जरा मरण होते हैं, अर्थात् नया शरीर धरना, विद्यमान शरीर छोड़ना, वृद्ध अवस्था होना, ये सब देहके जानो, **(देहस्य)** देहके **(विचित्रः वर्णः)** अनेक तरहके सफेद, श्याम, हरे, पीले, लालरूप पांच वर्ण, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण, **(देहस्य)** देहके **(रोगान्)** वात, पित्त, कफ, आदि अनेक रोग **(देहस्य)** देहके **(विचित्रं लिंगं)** अनेक प्रकारके स्त्रीलिंग, पुंल्लिग, नपुंसकलिंगरूप चिन्हको अथवा यतिके लिंग का और द्रव्यमनको **(विजानीहि)** जान।

भावार्थ--शुद्धात्माका सच्चा श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रयकी भावनासे विमुख जो राग, द्वेष, मोह उनकर उपार्जे जो कर्म उनसे उपजे जन्म मरणादि विकार हैं, वे सब यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके हैं, तो भी निश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, देहसंबन्धी हैं ऐसा जानना चाहिए। यहां पर देहादिकमें ममतारूप विकल्पजालको छोड़कर जिस समय यह जीव वीतराग सदा आनन्दरूप सब तरह उपादेयरूप निज भावों-कर परिणमता है, तब अपना यह शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय जानो ॥७०॥

अथ देहस्य जरामरणं दृष्ट्वा मा भयं जीव कार्षीरिति निरूपयति—

देहहं पेक्खिवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥७१॥

देहस्य दृष्ट्वा जरामरणं मा भयं जीव कार्षीः ।
यः अजरामरः ब्रह्मा परः तं आत्मानं मन्यस्य ॥७१॥

आगे ऐसा कहते हैं कि हे जीव, तू जरा मरण देहके जानकर डर मत कर—(जीव) हे आत्माराम, तू (देहस्य) देहके (जरामरणं) बुढ़ापा मरनेको (दृष्ट्वा) देखकर (भयं) डर (मा कार्षीः) मतकर (यः) जो (अजरामरः) अजर अमर (परः ब्रह्मा) परब्रह्म शुद्ध स्वभाव हैं, (तं) उसको तू (आत्मानं) आत्मा (मन्यस्व) जान ।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे जीवके जरा मरण हैं, तो भी शुद्ध निश्चय-नयकर जीवके नहीं हैं, देहके हैं, ऐसा जानकर भय मत कर, तू अपने चित्तमें ऐसा समझ, कि जो कोई जरा मरण रहित अखण्ड परब्रह्म है, वैसा ही मेरा स्वरूप है, शुद्धात्मा सबसे उत्कृष्ट है, ऐसा तू अपना स्वभाव जान । पांच इन्द्रियोंके विषयको और समस्त विकल्पजालोंको छोड़कर परमसमाधिमें स्थिर होकर निज आत्माका ही ध्यानकर, यह तात्पर्य हुआ ॥७१॥

अथ देहे छिद्यमानेऽपि भिद्यमानेऽपि शुद्धात्मानं भावयेत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं प्रतिपादयति—

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु ॥७२॥

छिद्यतां भिद्यतां यातु क्षयं योगिन् इदं शरीरम् ।
आत्मानं भावय निर्मलं येन प्राप्नोषि भवतीरम् ॥७२॥

आगे जो देह छिद जावे, भिद जावे, क्षय हो जावे, तो भी तू भय मत कर, केवल शुद्ध आत्माका ध्यानकर, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर सूत्र कहते हैं—(योगिन्) हे योगी, (इदं शरीरं) यह शरीर (छिद्यतां) छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे, (भिद्यतां) अथवा भिद जावे; छेदसहित हो जावे, (क्षयं यातु) नाशको प्राप्त होवे, तो भी तू भय मत कर, मनमें खेद मत ला, (निर्मलं आत्मानं) अपने निर्मल आत्माका ही (भावय) ध्यानकर, अर्थात् वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म रहित अपने आत्माका चिन्तवन कर, (येन) जिस परमात्माके ध्यावसे तू (भवतीरं) भवसागरका पार (प्राप्नोषि) पायगा ।

भावार्थ—जो देहके छेदनादि कार्य होते भी राग द्वेषादि विकल्प नहीं करता, निर्विकल्पभावको प्राप्त हुआ शुद्ध आत्माको ध्याता है, वह थोड़े ही समयमें मोक्षको पाता है ॥७२॥

अथ कर्मकृतभावानचेतनं द्रव्यं च निश्चयनयेन जीवाद्भिन्नं जानीहीति कथयति—

कम्महं केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीव-सहावहं भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सव्वु ॥७३॥

कर्मणः संबन्धिनः भावाः अन्यत् अचेतनं द्रव्यम् ।
जीवस्वभावात् भिन्नं जीव नियमेन बुध्यस्व सर्वम् ॥७३॥

आगे ऐसा कहते हैं, जो कर्मजनित रागादिभाव और शरीरादि परवस्तु हैं, वे चेतन द्रव्य न होनेसे निश्चयनयकर जीवसे भिन्न हैं, ऐसा जानो—(**जीव**) हे जीव, (**कर्मणः सम्बन्धिनः भावाः**) कर्मोंकर जन्य रागादिक भाव और (**अन्यत्**) दूसरा (**अचेतनं द्रव्यं**) शरीरादिक अचेतन पदार्थ (**सर्वं**) इन सबको (**नियमेन**) निश्चयसे (**जीवस्वभावात्**) जीवके स्वभावसे (**भिन्नं**) जुदे (**बुध्यस्व**) जानो, अर्थात् ये सब कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं, आत्माका स्वभाव निर्मल ज्ञान दर्शनमयी है ।

भावार्थ—यह है, कि जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगोंकी निवृत्तिरूप परिणाम हैं, उस समय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥७३॥

अथ ज्ञानमयपरमात्मनः सकाशादन्यत्परद्रव्यं मुक्त्वा शुद्धात्मानं भावयेति निरूपयति—

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ॥७४॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यः परः भावः ।
तं त्यक्त्वा जीव त्वं भावय आत्मस्वभावम् ॥७४॥

आगे ज्ञानमयी परमात्मासे भिन्न परद्रव्यको छोड़कर तू शुद्धात्माका ध्यान कर, ऐसा कहते हैं—(**जीव**) हे जीव (**त्वं**) तू (**ज्ञानमयं**) ज्ञानमयी (**आत्मानं**) आत्माको (**मुक्त्वा**) छोड़कर (**अन्यः परः भावः**) अन्य जो दूसरे भाव हैं, (**तं**) उनको (**छंडयित्वा**) छोड़कर (**आत्मस्वभावं**) अपने शुद्धात्म स्वभावको (**भावय**) चिन्तवन कर ।

भावार्थ—केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंकी राशि आत्मासे जुदे जो मिथ्यात्व रागादि अन्दरके भाव तथा देहादि बाहिरके परभाव ऐसे जो शुद्धात्मासे विलक्षण परभाव हैं, उनको छोड़कर केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप कार्यसमयसारका साधक जो अभेदरत्नत्रयरूप कारणसमयसार है, उस रूप परिणत हुए अपने शुद्धात्म स्वभावको चिन्तवन कर और उसीको उपादेय समझ ॥७४॥

अथ निश्चयेनाष्टकर्मसर्वदोषरहितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितमात्मानं जानीहीति कथयति—

अट्ठहं कम्महं बाहिरउ सयलहं दोसहं चत्तु ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ॥७५॥

अष्टभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं सकलैः दोषैः त्यक्तम् ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयं आत्मानं भावय निश्चितम् ॥७५॥

आगें निश्चयनयकर आठ कर्म और सब दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी आत्माको तू जान, ऐसा कहते हैं—(अष्टभ्यः कर्मभ्यः) शुद्धनिश्चयनयकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे (बाह्यं) रहित (सकलैः दोषैः) मिथ्यात्व रागादि सब विकारोंसे (त्यक्तं) रहित (दर्शनज्ञानचारित्रमयं) शुद्धोपयोगके साथ रहनेवाले अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप (आत्मानं) आत्माको (निश्चितं) निश्चयकर (भावय) चिन्तवन कर ।

भावार्थ—देखे सुनें अनुभवे भोगोंकी अभिलाषारूप सब विभाव-परिणामोंको छोड़कर निजस्वरूपका ध्यान कर । यहां उपादेयरूप अतीन्द्रियसुखसे तन्मयी और सब भावकर्म, द्रव्यकर्म नोकर्मसे जुदा जो शुद्धात्मा है, वही अभेद रत्नत्रयको धारण करने वाले निकटभव्योंको उपादेय है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥७५॥

त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये पृथक् पृथक् स्वतन्त्रं भेदभावनास्थलसूत्रनवकं गतम् । तदनन्तरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतन्त्रसूत्रमेकं कथयति—

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइं मुच्चेइ ॥७६॥

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति ।
सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ॥७६॥

ऐसे तीन प्रकार आत्माके कहनेवाले प्रथम महाधिकारमें जुदे जुदे स्वतंत्र भेद भावनाके स्थलमें नौ दोहा-सूत्र कहे । आगे निश्चयकर सम्यग्दृष्टिकी मुख्यतासे स्वतन्त्र एक दोहासूत्र कहते हैं—(आत्मानं) अपनेको (आत्मना) अपनेसे (जानन्) जानता हुआ यह (जीवः) जीव (सम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि (भवति) होता है, (सम्यग्दृष्टिः जीवः) और सम्यग्दृष्टि हुआ संता (लघु) जल्दी (कर्मणा) कर्मोंसे (मुच्यते) छूट जाता है ।

भावार्थ—यह आत्मा वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमें परिणत हुआ अन्तरात्मा होकर अपनेको अनुभवता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है, तब सम्यग्दृष्टि होनेके कारणसे ज्ञानावरणादि कर्मोंसे शीघ्र ही छूट जाता है—रहित हो जाता है । यहां जिस हेतु वीतराग सम्यग्दृष्टि होनेसे यह जीव कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाता है, इसी कारण वीतराग चारित्रके अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग सम्यक्त्व है, वही ध्यावने योग्य है, ऐसा अभिप्राय हुआ । ऐसा ही कथन श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने मोक्षपाहुड़ ग्रन्थमें निश्चयसम्यक्त्वके लक्षणमें किया है "सद्दव्वरओ" इत्यादि—उसका अर्थ यह है कि, आत्मस्वरूपमें मगन हुआ जो यति वह निश्चयकर सम्यग्दृष्टि होता है, फिर वह सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट आठ कर्मोंको क्षय करता है ।।७६।।

अथ ऊर्ध्वं मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तद्यथा—

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहु-विह-कम्मडा जें संसारु भमेइ ॥७७॥

पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति ।
बध्नाति बहुविधकर्माणि येन संसारं भ्रमति ।।७७।।

इसके बाद मिथ्यादृष्टिके लक्षणके कथनकी मुख्यतासे आठ दोहा कहते हैं—(पर्यायरक्तः जीवः) शरीर आदि पर्यायमें लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है, वह (मिथ्यादृष्टिः) मिथ्यादृष्टि (भवति) होता है, और फिर वह (बहुविधकर्माणि) अनेक प्रकारके कर्मोंको (बध्नाति) बांधता है, (येन) जिनसे कि (संसारं) संसारमें (भ्रमति) भ्रमण करता है ।

भावार्थ—परमात्माकी अनुभूतिरूप श्रद्धासे विमुख जो आठ मद, आठ मल, छह अनायतन, तीन मूढ़ता, इन पच्चीस दोषोंकर सहित अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व

परिणाम जिसके हैं, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। वह मिथ्यादृष्टि नर-नारकादि विभाव-पर्यायोंमें लीन रहता है। उस मिथ्यात्व परिणामसे शुद्धात्माके अनुभवसे पराङ्-मुख अनेक तरहके कर्मोंको बांधता है, जिनसे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूपी पांच प्रकारके संसारमें भटकता है। ऐसा कोई शरीर नहीं, जो इसने न धारण किया हो, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, कि जहां न उपजा हो, और मरण किया हो, ऐसा कोई काल नहीं है, कि जिसमें इसने जन्म-मरण न किये हों, ऐसा कोई भव नहीं, जो इसने पाया न हो, और ऐसे अशुद्ध भाव नहीं हैं, जो इसके न हुए हों। इस तरह अनन्त परावर्तन इसने किये हैं।

ऐसा ही कथन मोक्षपाहुड़में निश्चय मिथ्यादृष्टिके लक्षणमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—"जो पुण" इत्यादि। इसका अर्थ यह है, कि जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप परद्रव्यमें लीन हो रहे हैं, वे साधुके व्रत धारण करनेपर भी मिथ्यादृष्टि ही हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं और मिथ्यात्वकर परिणमते दुःख देनेवाले आठ कर्मोंको बांधते हैं। फिर भी आचार्यने ही मोक्षपाहुड़में कहा है—"जे पज्जयेसु" इत्यादि। उसका अर्थ यह है, कि जो नर-नारकादि पर्यायोंमें मग्न हो रहे हैं, वे जीव परपर्यायमें रत मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा भगवानने कहा है, और जो उपयोग लक्षणरूप निजभावमें तिष्ठ रहे हैं, वे स्वसमयरूप सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा जानो। सारांश यह है, कि जो परपर्यायमें रत हैं, वे तो परसमय (मिथ्यादृष्टि) हैं, और जो आत्म-स्वभावमें लगे हुए हैं, वे स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं हैं। यहांपर आत्मज्ञान-रूपी वीतराग सम्यक्त्वसे पराङ्मुख जो मिथ्यात्व है, वह त्यागने योग्य है ॥७७॥

अथ मिथ्यात्वोपार्जितकर्मशक्तिं कथयति—

कम्मइं दिढ-घण-चिक्कणइं गरुवइं वज्ज-समाइं।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं ॥७८॥

कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानि।
ज्ञानविचक्षणं जीवं उत्पथे पातयन्ति तानि ॥७८॥

आगे मिथ्यात्वकर अनेक प्रकार उपार्जन किये कर्मोंसे यह जीव संसार-वनमें भ्रमता है, उस कर्मशक्तिको कहते हैं—(तानि कर्माणि) वे ज्ञानावरणादि कर्म (ज्ञान-विचक्षणं) ज्ञानादि गुणसे चतुर (जीवं) इस जीवको (उत्पथे) खोटे मार्गमें (पातयंति)

पटकते (डालते) हैं। कैसे हैं, वे कर्म (दृढघनचिक्कणानि) बलवान हैं, बहुत हैं, विनाश करनेको अशक्य हैं, इसलिये चिकने हैं, (गुरुकाणि) भारी हैं, (वज्रसमानि) और वज्रके समान अभेद्य हैं।

भावार्थ—यह जीव एक समयमें लोकालोकके प्रकाशनेवाले केवलज्ञान आदिक अनन्त गुणोंसे बुद्धिमान चतुर है, तो भी इस जीवको वे संसारके कारण कर्म ज्ञानादि गुणोंका आच्छादन करके अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्गसे विपरीत खोटे मार्गमें डालते हैं, अर्थात् मोक्ष-मार्गसे भुलाकर भव-वनमें भटकाते हैं। यहां यह अभिप्राय है, कि संसारके कारण जो कर्म और उनके कारण मिथ्यात्व रागादि परिणाम हैं, वे सब हेय हैं, तथा अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग है, वह उपादेय है ॥७८॥

अथ मिथ्यापरिणत्या जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयति—

जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ।
कम्म-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥७९॥

जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते।
कर्मविनिर्मितान् भावान् तान् आत्मानं भणति ॥७९॥

आगे मिथ्यात्व परिणतिसे यह जीव तत्त्वको यथार्थ नहीं जानता, विपरीत जानता है, ऐसा कहते हैं—(जीवः) यह जीव (मिथ्यात्वेन परिणतः) अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणत हुआ, (तत्त्वं) आत्माको आदि लेकर तत्वोंके स्वरूपको (विपरीतं) अन्यका अन्य (मनुते) श्रद्धान करता है, यथार्थ नहीं जानता। वस्तुका स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है, तो भी वह मिथ्यात्वी जीव वस्तुके स्वरूपको विपरीत जानता है, अपना जो शुद्ध ज्ञानादि सहित स्वरूप है, उसको मिथ्यात्व रागादिरूप जानता है। उससे क्या करता है? (कर्मविनिर्मितान् भावान्) कर्मोंकर रचे गये जो शरीरादि परभाव हैं (तान्) उनको (आत्मानं) अपने (भणति) कहता है, अर्थात् भेदविज्ञानके अभावसे गोरा, श्याम, स्थूल, कृश, इत्यादि कर्मजनित देहके स्वरूपको अपना जानता है, इसीसे संसारमें भ्रमण करता है।

भावार्थ—यहाँ पर कर्मोंसे उपार्जन किये भावोंसे भिन्न जो शुद्ध आत्मा है, उसमें जिस समय रागादि दूर होते हैं, उस समय उपादेय है, क्योंकि तभी शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है ॥७९॥

अथानन्तरं तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा बहिरात्मा आत्मनि योजयति तं परिणामं सूत्रपञ्चकेन विवृणोति—

हउं गोरउ हउं सामलउ हउं जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउं तणु-अंगउं थूलु हउं एहउं मूढउ मण्णु ॥८०॥

अहं गौरः अहं श्यामः अहमेव विभिन्नः वर्णः ।
अहं तन्वङ्गः स्थूलः अहं एतं मूढं मन्यस्व ॥८०॥

इसके बाद उन पूर्व कथित कर्मजनित भावोंको जिस मिथ्यात्व परिणामसे बहिरात्मा अपनेको मानता है, और वे अपने हैं नहीं, ऐसे परिणामोंको पांच दोहा-सूत्रोंमें कहते हैं—(अहं) मैं (गौरः) गोरा हूँ, (अहं) मैं (श्यामः) काला हूँ, (अहमेव) मैं ही (विभिन्नः वर्णः) अनेक वर्णवाला हूँ, (अहं) मैं (तन्वंगः) कृश (पतले) शरीर-वाला हूँ, (अहं) मैं (स्थूलः) मोटा हूँ. (एतं) इसप्रकार मिथ्यात्व परिणामकर परिणत मिथ्यादृष्टि जीवको तू (मूढं) मूढ (मन्यस्व) मान ।

भावार्थ—यह है, कि निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न जो कर्मजनित गौर स्थूलादि भाव हैं, वे सर्वथा त्याज्य हैं, और सर्वप्रकार आराधने योग्य वीतराग नित्यानंद स्वभाव जो शुद्ध जीव है, वह इनसे भिन्न है, तो भी पुरुष विषय कषायोंके आधीन होकर शरीरके भावोंको अपने जानता है, वह अपनी शुद्धात्मानुभूतिसे रहित हुआ मूढात्मा है ॥८०॥

अथ—

हउं वरु बंभणु वइसु हउं हउं खत्तिउ हउं सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु ॥८१॥

अहं वरः ब्राह्मणः वैश्यः अहं अहं क्षत्रियः अहं शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं मन्यते मूढः विशेषम् ॥८१॥

आगे फिर भी मिथ्यादृष्टिके लक्षण कहते हैं—(मूढः) मिथ्यादृष्टि अपनेको (विशेषं मनुते) ऐसा विशेष मानता है, कि (अहं) मैं (वरः ब्राह्मणः) सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, (अहं) मैं (वैश्यः) वणिक् हूँ, (अहं) मैं (क्षत्रियः) क्षत्री हूँ, (अहं) मैं (शेषः) इनके सिवाय शूद्र हूँ, (अहं) मैं (पुरुषः नपुंसकः स्त्री) पुरुष हूँ, और स्त्री हूँ ।

इस प्रकार शरीरके भावोंको मूर्ख अपने मानता है। सो ये सब शरीर के हैं, आत्माके नहीं हैं।

भावार्थ—यहां पर ऐसा है कि निश्चयनय ये ब्राह्मणादि भेद कर्मजनित हैं, परमात्माके नहीं हैं, इसलिये सब तरह आत्मज्ञानीके त्याज्यरूप हैं तो भी जो निश्चयनयकर आराधने योग्य वीतराग सदा आनन्दस्वभाव निज शुद्धात्मामें इन भेदोंको लगाता है, अर्थात् अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मानता है, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मानता है, वह कर्मोंका बन्ध करता है, वही अज्ञानसे परिणत हुआ निज शुद्धात्म तत्वकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा है, ज्ञानवान् नहीं है ॥८१॥

अथ—

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥८२॥

तरुणः वृद्धः रूपवान् शूरः पण्डितः दिव्यः।
क्षपणकः वन्दकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥८२॥

आगे फिर मूढके लक्षण कहते हैं—(तरुणः) मैं जवान हूं, (वृद्धः) बुड्ढा हूं, (रूपस्वी) रूपवान हूं, (शूरः) शूरवीर हूं (पंडितः) पण्डित हूं, (दिव्यः) सबमें श्रेष्ठ हूं, (क्षपणकः) दिगम्बर हूं, (वंदकः) बौद्धमतका आचार्य हूं, (श्वेतपटः) और मैं श्वेताम्बर हूं, इत्यादि (सर्वं) सब शरीरके भेदोंको (मूढः) मूर्ख (मन्यते) अपने मानता है। ये भेद जीवके नहीं हैं।

भावार्थ—यहांपर यह है, कि यद्यपि व्यवहारनयकर ये सब तरुण वृद्धादि शरीरके भेद आत्माके कहे जाते हैं, तो निश्चयनयकर वीतराग सहजानंद एक स्वभाव जो परमात्मा उससे भिन्न हैं। ये तरुणादि विभावपर्याय कर्मके उदयकर उत्पन्न हुए हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं, तो भी उनको साक्षात् उपादेयरूप निज शुद्धात्म तत्वमें जो-जो लगाता है, अर्थात् आत्माके मानता है, वह अज्ञानी जीव बड़ाई प्रतिष्ठा धनका लाभ इत्यादि विभाव परिणामोंके आधीन होकर परमात्माकी भावनासे रहित हुआ मूढात्मा है, वह जीवके ही भाव मानता है ॥८२॥

अथ—

जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु।
माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥८३॥

जननी जननः अपि कान्ता गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यम् ।
मायाजालमपि आत्मीयं मूढः मन्यते सर्वम् ॥८३॥

आगें फिर भी मूढके लक्षण कहते हैं—(जननी) माता (जननः) पिता (अपि) और (कांता) स्त्री (गृहं) घर (पुत्रः अपि) और बेटा बेटी (मित्रमपि) मित्र वगैरह सब कुटुम्बीजन बहिन भानजी नाना मामा भाई बन्धु और (द्रव्यं) रत्न माणिक मोती सुवर्ण चांदी धन धान्य, द्विपदवांदी धाय नौकर चौपाये—गाय बैल घोड़ी ऊंट हाथी रथ पालकी वहली, ये (सर्व) सर्व (मायाजालमपि) असत्य हैं, कर्मजनित हैं, तो भी (मूढः) अज्ञानी जीव (आत्मीयं) अपने (मन्यते) मानता है ।

भावार्थ—ये माता पिता आदि सब कुटुम्बीजन परस्वरूप भी हैं, सब स्वारथके हैं, शुद्धात्मासे भिन्न भी हैं शरीर सम्बन्धी हैं, हेयरूप सांसारिक नारकादि दुःखोंके कारण होनेसे त्याज्य भी हैं, उनको जो जीव साक्षात् उपादेयरूप अनाकुलता स्वरूप परमार्थिक सुखसे अभिन्न वीतराग परमानन्दरूप एकस्वभाववाले शुद्धात्मद्रव्यमें लगाता है, अर्थात् अपने मानता है, वह मन वचन कायरूप परिणत हुआ शुद्ध अपने आत्मद्रव्यकी भावनासे शून्य (रहित) मूढात्मा है, ऐसा जानो, अर्थात् अतीन्द्रियसुखरूप आत्मामें परवस्तुका क्या प्रयोजन है । जो परवस्तुको अपना मानता है, वही मूर्ख है ॥८३॥

अथ—

दुक्खहं कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइं करेइ ॥८४॥

दुःखस्य कारणं ये विषयाः तान् सुखहेतून् रमते ।
मिथ्यादृष्टिः जीवः अत्र न किं करोति ॥८४॥

अब और भी मूढका लक्षण कहते हैं—(दुःखस्य) दुःखके (कारणं) कारण (ये) जो (विषयाः) पांच इन्द्रियोंके विषय हैं, (तान्) उनको (सुखहेतून्) सुखके कारण जानकर (रमते) रमण करता है, वह (मिथ्यादृष्टिः जीवः) मिथ्यादृष्टि जीव (अत्र) इस संसारमें (किं न करोति) क्या पाप नहीं करता ? सभी पाप करता है, अर्थात् जीवोंकी हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरेका धन हरता है, दूसरेकी स्त्री सेवन करता है, अति तृष्णा करता है, बहुत आरम्भ करता है, खेती करता है, खोटे खोटे व्यसन सेवता है, जो न करनेके काम हैं, उनको भी करता है ।

भावार्थ —मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिसे उत्पन्न परमानन्द परमसमरसीभावरूप सुखसे पराङ्मुख हुआ निश्चयकर महा दुःखरूप विषयोंको सुखके कारण समझकर सेवन करता है, सो इनमें सुख नहीं हैं ॥८४॥

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये 'जिउ मिच्छत्तें' इत्यादि सूत्राष्टकेन मिथ्यादृष्टिपरिणतिव्याख्यानस्थलं समाप्तम् ॥

तदनन्तरं सम्यग्दृष्टिभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन 'कालु लहेविणु' इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते । अथ—

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ ।
तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमें अप्पु मुणेइ ॥८५॥

कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोहः गलति ।
तथा तथा दर्शनं लभते जीवः नियमेन आत्मानं मनुते ॥८५॥

इस प्रकार तीन तरहकी आत्माको कहनेवाले पहले महा अधिकारमें "जिउ मिच्छत्तें इत्यादि आठ दोहोंमेंसे मिथ्यादृष्टिकी परिणतिका व्याख्यान समाप्त किया। इसके आगे सम्यग्दृष्टिकी भावनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे "काल लहेविणु" इत्यादि आठ दोहा-सूत्र कहते हैं—(योगिन्) हे योगी, (कालं लब्ध्वा) काल पाकर (यथा यथा) जैसा जैसा (मोहः) मोह (गलति) गलता है–कम होता जाता है, (तथा तथा) तैसा तैसा (जीवः) यह जीव (दर्शनं) सम्यग्दर्शनको (लभते) पाता है, फिर (नियमेन) निश्चयसे (आत्मानं) अपने स्वरूपको (मनुते) जानता है।

भावार्थ—एकेन्द्रीसे विकलत्रय (दोइन्द्री, तेइन्द्री, चोइन्द्री) होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे पचेंद्री, पंचेंद्रीसे सैनी पर्याप्त, उससे मनुष्य होना कठिन है। मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, शुद्धात्माका उपदेश आदि मिलना उत्तरोत्तर बहुत कठिन हैं, और किसी तरह 'काकतालीय न्यायसे' काललब्धिको पाकर सब दुर्लभ सामग्री मिलनेपर भी जैन शास्त्रोक्त मार्गसे मिथ्यात्वादिके दूर हो जानेसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होते हुए, जैसा जैसा मोह क्षीण होता जाता है, वैसा वैसा शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप सम्यक्त्व होता है। शुद्ध आत्मा और कर्मको जुदे जुदे जानता है। जिस शुद्धात्माकी रुचिरूप परिणामसे यह जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि होता है, वही उपादेय है, यह तात्पर्य हुआ ॥८५॥

अथ ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिभावनायाः प्रतिपक्षभूतां यादृशीं भेदभावनां करोति तादृशीं क्रमेण सूत्रसप्तकेन विवृणोति—

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणें जोइ ॥८६॥

आत्मा गौरः कृष्णः नापि आत्मा रक्तः न भवति ।
आत्मा सूक्ष्मोऽपि स्थूलः नापि ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति ॥८६॥

इसके बाद पूर्वकथित रीतिसे सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्वकी भावनासे विपरीत जैसी भेदविज्ञानकी भावनाको करता है, वैसी भेदविज्ञान-भावनाका स्वरूप क्रमसे सात दोहा-सूत्रोंमें कहते हैं—(आत्मा) आत्मा (गौरः कृष्णः नापि) सफेद नहीं है, काला नहीं है, (आत्मा) आत्मा (रक्तः) लाल (न भवति) नहीं है, (आत्मा) आत्मा (सूक्ष्मः अपि स्थूलः नैव) सूक्ष्म भी नहीं है, और स्थूल भी नहीं है, (ज्ञानी) ज्ञानस्वरूप है, (ज्ञानेन) ज्ञानदृष्टिसे (पश्यति) देखा जाता है, अथवा ज्ञानी पुरुष योगी ही ज्ञानकर आत्माको जानता है ।

भावार्थ—ये श्वेत काले आदि धर्म व्यवहारनयकर शरीरके सम्बन्धसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मासे जुदे हैं, कर्मजनित हैं, त्यागने योग्य हैं । जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी है, वह निज शुद्धात्मतत्त्वमें इन धर्मोंको नहीं लगाता, अर्थात् इनको अपने नहीं समझता है ॥८६॥

अथ—

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥८७॥

आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुते अशेषम् ॥८७॥

आगे ब्राह्मणादि वर्ण आत्माके नहीं हैं, ऐसा वर्णन करते हैं—(आत्मा) आत्मा (ब्राह्मणः वैश्यः नापि) ब्राह्मण नहीं है, वैश्य भी नहीं है, (क्षत्रियः नापि) क्षत्री भी नहीं है, (शेषः) बाकी शूद्र भी (नापि) नहीं है, (पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि) पुरुष नपुंसक स्त्रीलिंगरूप भी नहीं है, (ज्ञानी) ज्ञानस्वरूप हुआ (अशेषं) समस्त वस्तुओंको ज्ञानसे (मनुते) जानता है ।

भावार्थ—जो ब्राह्मणादि वर्ण-भेद हैं, और पुरुष लिंगादि तीन लिंग हैं, वे यद्यपि व्यवहारनयकर देहके सम्बन्धसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर आत्मासे भिन्न हैं, और साक्षात् त्यागने योग्य हैं, उनको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और उन्हींको मिथ्यात्वसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपने नहीं समझता। आपको तो वह ज्ञानस्वभावरूप जानता है ॥८७॥

अथ—

अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥८८॥

आत्मा वन्दकः क्षपणः नापि आत्मा गुरवः न भवति।
आत्मा लिङ्गी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥८८॥

आगें वन्दक क्षपणकादि भेद भी जीवके नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—(आत्मा) आत्मा (**वंदकः क्षपणः नापि**) बौद्धका आचार्य नहीं है, दिगम्बर भी नहीं है, (आत्मा) आत्मा (**गुरवः न भवति**) श्वेताम्बर भी नहीं है, (**आत्मा**) आत्मा (**एकः अपि**) कोई भी (**लिंगी**) वेशका धारी (**न**) नहीं है, अर्थात् एकदण्डो, त्रिदण्डी, हंस, परमहंस, सन्यासी, जटाधारी, मुँडित, रुद्राक्षकी माला तिलक कुलक घोष वगैरः भेषोंमें कोई भी भेषधारी नहीं है, एक (**ज्ञानी**) ज्ञानस्वरूप है, उस आत्माको (**योगी**) ध्यानी मुनि ध्यानारूढ़ होकर (**जानाति**) जानता है, ध्यान करता है।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयकर यह आत्मा वंदाकादि अनेक भेषोंको धरता है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर कोई भी भेष जीवके नहीं है, देहके हैं। यहां देहके आश्रयसे जो द्रव्यलिंग है, वह उपचरितासद्भूतव्यवहारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है, तो भी निश्चयनयकर जीवका स्वरूप नहीं है। क्योंकि जब देह ही जीवकी नहीं, तो भेष कैसे हो सकता है? इसलिये द्रव्यलिंग तो सर्वथा ही नहीं है, और वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप भावलिंग यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपका साधक है, इसलिये उपचारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाता है, तो भी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयकर भावलिंग भी जीवका नहीं है। भावलिंग साधनरूप है, वह भी परम अवस्थाका साधक नहीं है ॥८८॥

अथ—

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥८९॥

आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नैव नैव स्वामी नैव भृत्यः ।
शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ॥८९॥

आगे यह गुरु शिष्यादिक भी नहीं है—(आत्मा) आत्मा (गुरुः नैव) गुरु नहीं है, (शिष्य नैव) शिष्य भी नहीं है, (स्वामी नैव) स्वामी भी नहीं है, (भृत्यः नैव) नौकर नहीं है, (शूरः कातरः नैव) शूरवीर नहीं है, कायर नहीं है, (उत्तमः नैव) उच्चकुली नहीं है, (नीचः नैव भवति) और नीचकुली भी नहीं है ।

भावार्थ—ये सब गुरु, शिष्य, स्वामी, सेवकादि संबन्ध यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके स्वरूप हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयसे शुद्ध आत्मासे जुदे हैं, आत्माके नहीं हैं, त्यागने योग्य हैं, इन भेदोंको वीतरागपरमानन्द निज शुद्धात्माकी प्राप्तिसे रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपने समझता है, और इन्हीं भेदोंको वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें रहता हुआ अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिजीव पर रूप (दूसरे) जानता है ॥८९॥

अथ—

अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णारउ कहिं वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥९०॥

आत्मा मनुष्यः देवः नापि आत्मा तिर्यग् न भवति ।
आत्मा नारकः क्वापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥९०॥

आगे आत्माका स्वरूप कहते हैं—(**आत्मा**) जीव पदार्थ (**मनुष्यः देवः नापि**) न तो मनुष्य है, न तो देव है, (आत्मा) आत्मा (तिर्यक् न भवति) तिर्यंच पशु भी नहीं है, (आत्मा) आत्मा (नारकः) नारकी भी (क्वापि नैव) कभी नहीं, अर्थात् किसी प्रकार भी पररूप नहीं है, परन्तु (ज्ञानी) ज्ञानस्वरूप है, उसको (योगी) मुनिराज तीन गुप्तिके धारक और निर्विकल्पसमाधिमें लीन हुए (जानाति) जानते हैं ।

भावार्थ—निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव जो परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे उलटे राग-द्वेषादि विभाव-परिणामोंसे उपार्जन किये जो शुभाशुभ कर्म हैं, उनके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्यादि विभाव-पर्यायोंको भेदाभेदस्वरूप रत्नत्रयकी भावनासे रहित हुआ

मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और इस अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव उन मनुष्यादि पर्यायोंको अपनेसे जुदा जानता है ॥९०॥

अथ—

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।

तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥९१॥

आत्मा पण्डितः मूर्खः नैव नैव ईश्वरः नैव निःस्वः ।

तरुणः वृद्धः बालः नैव अन्यः अपि कर्मविशेषः ॥९१॥

आगे फिर आत्माका स्वरूप कहते हैं—(आत्मा) चिद्रूप आत्मा (पण्डितः) विद्यावान् व (मूर्खः) मूर्ख (नैव) नहीं है, (ईश्वरः) धनवान् सब बातोंमें समर्थ भी (नैव) नहीं है (निःस्वः) दरिद्री भी (नैव) नहीं हैं, (तरुणः वृद्धः बालः नैव) जवान, वूढ़ा, और बालक भी नहीं है, (अन्यः अपि कर्मविशेषः) ये सब पर्यायें आत्मासे जुदे कर्मके विशेष हैं, अर्थात् कर्ममें उत्पन्न हुए विभाव-पर्याय हैं ।

भावार्थ—यद्यपि शरीरके सम्बन्धसे पंडित वगैरह भेद व्यवहारनयसे जीवके कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न हैं, और सर्वथा त्यागने योग्य हैं । इन भेदोंको वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और इन्हींको पण्डितादि विभावपर्यायोंको अज्ञानसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपनेसे जुदे कर्म जनित जानता है ॥९१॥

अथ—

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।

एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ॥९२॥

पुण्यमपि पापमपि कालः नभः धर्माधर्ममपि कायः ।

एकमपि आत्मा भवति नैव मुक्त्वा चेतनभावम् ॥९२॥

आगे आत्माका चेतनभाव वर्णन करते हैं—(**पुण्यमपि**) पुण्यरूप शुभकर्म (**पापमपि**) पापरूप अशुभकर्म (**कालः**) अतीत अनागत वर्तमान काल (**नभः**) आकाश (**धर्माधर्ममपि**) धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य (**कायः**) शरीर, इनमेंसे (**एक अपि**) एक भी (**आत्मा**) आत्मा (**नैव भवति**) नहीं है, (**चेतनभावं मुक्त्वा**) चेतनभावको छोड़कर अर्थात् एक चेतनभाव ही अपना है ।

भावार्थ—व्यवहारनयकर यद्यपि पुण्य पापादि आत्मासे अभिन्न हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर भिन्न हैं, और त्यागने योग्य हैं, उन परभावोंको मिथ्यात्व रागादि-रूप परिणत हुआ बहिरात्मा अपने जानता है, और उन्हींको पुण्य पापादि समस्त संकल्प विकल्परहित निज शुद्धात्म द्रव्यमें सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेदरत्नत्रय-स्वरूप परमसमाधिमें तिष्ठता सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मासे जुदे जानता है ॥९२॥

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये मिथ्यादृष्टिभावनाविपरीतेन सम्यग्दृष्टि-भावना स्थितेन सूत्राष्टकं समाप्तम् ।

अथानन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन 'अप्पा संजमु' इत्यादि प्रक्षेपकान् विहा-येकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्तमुपसंहाररूपा चूलिका कथ्यते । तद्यथा—

यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तर-माह—

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥९३॥

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानम् ।
आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानम् ॥९३॥

ऐसे बहिरात्मा अन्तरात्मा परमात्मारूप तीन प्रकारके आत्माका जिसमें कथन है, ऐसे पहले अधिकारमें मिथ्यादृष्टिकी भावनासे रहित जो सम्यग्दृष्टिकी भावना उसकी मुख्यतासे आठ दोहा-सूत्र कहे । आगे भेदविज्ञानकी मुख्यतासे "अप्पा संजमु" इत्यादि इकतीस दोहापर्यन्त क्षेपक-सूत्रोंको छोड़कर पहला अधिकार पूर्ण करते हुए व्याख्यान करते हैं, उसमें भी जो शिष्यने प्रश्न किया, कि यदि पुण्य पापादिरूप आत्मा नहीं है, तो कैसा है ? ऐसे प्रश्नका श्रीगुरु समाधान करते हैं—(आत्मा) निज गुण-पर्यायका धारक ज्ञानस्वरूप चिदानन्द ही (संयमः) संयम है, (शीलं तप.) शील है, तप है, (आत्मा) आत्मा (दर्शनं ज्ञानं) दर्शनज्ञान है, और (आत्मानं जानन्) अपनेको जानता अनुभवता हुआ (आत्मा) आत्मा (शाश्वतमोक्षपदं) अविनाशी सुखका स्थान मोक्षका मार्ग है । इसी कथनको विशेषताकर कहते हैं ।

भावार्थ—पांच इन्द्रियां और मनका रोकना व छह कायके जीवोंकी दया-स्वरूप ऐसे इन्द्रियसंयम तथा प्राणसंयम इन दोनोंके बलसे साध्य-साधक भावकर

निश्चयसे अपनें शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिर होनेसे आत्माको संयम कहा गया है, बहिरंग सहकारी निश्चय शीलका कारणरूप जो काल क्रोधादिके त्यागरूप व्रतकी रक्षा वह व्यवहार शील है, और निश्चयनयकर अन्तरङ्गमें अपने शुद्धात्मद्रव्यका निर्मल अनुभव वह शील कहा जाता है, सो शीलरूप आत्मा ही कहा गया है, बाह्य सहकारी कारण-भूत जो अनशनादि बारह प्रकारका तप है, उससे तथा निश्चयकर अन्तरङ्गमें सब पर-द्रव्यकी इच्छाके रोकनेसे परमात्मस्वभाव (निजस्वभाव) में प्रतापरूप तिष्ठ रहा है, इस कारण और समस्त विभावपरिणामोंके जीतनेसे आत्मा ही 'तपश्चरण' है, और आत्मा ही निजस्वरूपकी रुचिरूप सम्यक्त्व है, वह सर्वथा उपादेयरूप है, इससे सम्यग्दर्शन आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है, वीतराग स्वसंवेदनज्ञानके अनुभवसे आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है, वीतरागसंवेदनज्ञानके अनुभवसे आत्मा ही निश्चयज्ञानरूप है, और मिथ्यात्व रागादि समस्त विकल्पजालको त्यागकर परमात्मतत्वमें परमसमरसीभावके परिणमनसे आत्मा ही मोक्षमार्ग है। तात्पर्य यह है, कि बहिरंग द्रव्येन्द्रिय-संयमादिके पालनेसे अन्तरङ्गमें शुद्धात्माके अनुभवरूप भावसंयमादिकके परिणमनसे उपादेयसुख जो अती-न्द्रियसुख उसके साधकपनेसे आत्मा ही उपादेय है ॥९३॥

अथ स्वशुद्धात्मसंवित्तिं विहाय निश्चयनयेनान्यद्दर्शनज्ञानचारित्रं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रं कथयति—

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु।
अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥९४॥

अन्यद् एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदेव अस्ति न ज्ञानं।
अन्यद् चरणं न अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥९४॥

आगे निज शुद्धात्मस्वरूपको छोड़कर निश्चयनयसे दूसरा कोई दर्शन ज्ञान चारित्र नहीं है, इस अभिप्रायको मनमें रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—(जीव) हे जीव (आत्मानं) आत्माको (मुक्त्वा) छोड़कर (अन्यदपि) दूसरा कोई भी (दर्शनं) दर्शन (न एव) नहीं है, (अन्यदपि) अन्य कोई (ज्ञानं न अस्ति) ज्ञान नहीं है, (अन्यद् एव चरणं नास्ति) अन्य कोई चरित्र नहीं है, ऐसा (जानीहि) तू जान, अर्थात् आत्मा ही दर्शन-ज्ञान चारित्र है, ऐसा सन्देह रहित जानो।

भावार्थ—यद्यपि छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थका श्रद्धान कार्य-कारणभावसे निश्चयसम्यक्त्वका कारण होनेसे व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है,

अर्थात् व्यवहार साधक है, निश्चय साध्य है, तो भी निश्चयनयकर एक वीतराग परमानन्दस्वभाववाला शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप परिणामसे परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है, यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानका साधक होनेसे व्यवहारनयकर शास्त्रका ज्ञान भी ज्ञान है, तो भी निश्चयनयकर वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है। यद्यपि निश्चयचारित्रके साधक होनेसे अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण, व्यवहारनयकर चारित्र कहे जाते हैं, तो भी शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग चारित्रको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयनयकर चारित्र है। तात्पर्य यह है, कि अभेदरूप परिणत हुआ परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है ॥९४॥

अथ निश्चयेन वीतरागभावपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयतीर्थः निश्चयगुरुर्निश्चयदेव इति कथयति—

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा विमलु मुएवि ॥९५॥

अन्यद् एव तीर्थं मा याहि जीव अन्यद् एव गुरुं मा सेवस्व ।
अन्यद् एव देवं मा चिन्तय त्वं आत्मानं विमलं मुक्त्वा ॥९५॥

आगे निश्चयनयकर वीतरागभावरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयतीर्थ, निश्चयगुरु, निश्चयदेव है, ऐसा कहते हैं—(जीव) हे जीव (त्वं) तू (अन्यद् एव) दूसरे (तीर्थं) तीर्थको (मा याहि) मत जावे, (अन्यद् एव) दूसरे (गुरुं) गुरुको (मा सेवस्व) मत सेवे, (अन्यद् एव) अन्य (देवं) देवको (मा चिंतय) मत ध्यावे, (आत्मानं विमलं) रागादि मल रहित आत्माको (मुक्त्वा) छोड़कर अर्थात् अपना आत्मा ही तीर्थ है, वहां रमण कर, आत्मा ही गुरु है, उसकी सेवा कर, और आत्मा ही देव है, उसीकी आराधना कर। अपने सिवाय दूसरेका सेवन मत करे, इसी कथनको विस्तारसे कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे मोक्षके स्थानक सम्मेदशिखर आदि व जिनप्रतिमा जिनमन्दिर आदि तीर्थ हैं, क्योंकि वहांसे गये महान् पुरुषोंके गुणोंकी याद होती है, तो भी वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप छेद रहित जहाजकर संसाररूपी समुद्रके तरनेको समर्थ जो निज आत्मतत्त्व है, वही निश्चयकर तीर्थ है, उसके उपदेश-परम्परा

से परमात्मतत्त्वका लाभ होता है । यद्यपि व्यवहारनयकर दीक्षा शिक्षाका देने वाला दिगम्बर गुरु होता है, तो भी निश्चयनयकर विषय कषाय आदिक समस्त विभावपरिणामोंके त्यागनेके समय निजशुद्धात्मा ही गुरु है, उसीसे संसारकी निवृत्ति होती है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें चित्तकी स्थिरताके लिये व्यवहारनयकर जिनप्रतिमादिक देव कहे जाते हैं, और वे परम्परासे निर्वाणके कारण हैं, तो भी निश्चयनयकर परम आराधने योग्य वीतराग निर्विकल्पपरमसमाधिके समय निज शुद्धात्मभाव ही देव हैं, अन्य नहीं ।

इस प्रकार निश्चय व्यवहारनयकर साध्य-साधक-भावसे तीर्थ गुरु देवका स्वरूप जानना चाहिये । निश्चयदेव निश्चयगुरु निश्चयतीर्थ निज आत्मा ही है, वही साधने योग्य है, और व्यवहारदेव जिनेन्द्र तथा उनकी प्रतिमा, व्यवहारगुरु महामुनिराज, व्यवहारतीर्थ सिद्धक्षेत्रादिक ये सब निश्चयके साधक हैं, इसलिये प्रथम अवस्थामें आराधने योग्य हैं । तथा निश्चयनयकर ये सब पदार्थ हैं, इनसे साक्षात् सिद्धि नहीं है, परम्परासे है । यहां श्री परमात्मप्रकाश अध्यात्म-ग्रन्थमें निश्चयदेव गुरु तीर्थ अपना आत्मा ही है, उसे आराधनकर अनन्त सिद्ध हुए और होवेंगे, ऐसा सारांश हुआ ।

अथ निश्चयेनात्मसंवित्तिरेव दर्शनमिति प्रतिपादयति—

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।
एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहं सारु ॥९६॥

आत्मा दर्शनं केवलोऽपि अन्यः सर्वः व्यवहारः ।
एक एव योगिन् ध्यायते यः त्रैलोक्यस्य सारः ॥९६॥

आगे निश्चयनयकर आत्मस्वरूप ही सम्यग्दर्शन है—(केवलः आत्मा अपि) केवल (एक) आत्मा ही (दर्शनं) सम्यग्दर्शन है, (अन्यः सर्वः व्यवहारः) दूसरा सब व्यवहार है, इसलिये (योगिन्) हे योगी (एक एव ध्यायते) एक आत्माही ध्यान करने योग्य है, (यः त्रैलोक्यस्य सारः) जो कि तीन लोकमें सार है ।

भावार्थ—वीतराग चिदानन्द अखण्ड स्वभाव, आत्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान अनुभवरूप जो अभेदरत्नत्रय वही जिसका लक्षण है, तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तिरूप समाधिमें लीन निश्चयनयसे निज आत्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है, अन्य सब व्यवहार है । इस कारण आत्मा ही ध्यावने योग्य है । जैसे दाख, कपूर, चन्दन वगैरह

बहुत द्रव्योंसे बनाया गया जो पीनेका रस वह यद्यपि अनेक रसरूप है, तो भी अभेद-नयकर एक पानवस्तु कही जाती है, उसी तरह शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि अनेक भावोंसे परिणत हुआ आत्मा अनेकरूप है, तो भी अभेदनयकी विवक्षासे आत्मा एक ही वस्तु है। यही अभेदरत्नत्रयका स्वरूप जैनसिद्धान्तोंमें हरएक जगह कहा है—"दर्शनमित्यादि" इसका अर्थ ऐसा है, कि आत्माका निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्माका जानना वह सम्यग्ज्ञान है, और आत्मामें निश्चल होना वह सम्यक्चारित्र है, यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षका कारण है, इनसे बन्ध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता ॥९६॥

अथ निर्मलमात्मानं ध्यायस्व येन ध्यातेनान्तर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति—

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएं अण्णेण ।
जो झायंतहं परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥९७॥

आत्मानं ध्यायस्व निर्मलं किं बहुना अन्येन ।
यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥९७॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जो निर्मल आत्माको ही ध्यावो, जिसके ध्यान करनेसे अन्तर्मुहूर्तमें (तात्काल) मोक्षपदकी प्राप्ति हो—हे योगी तू (**निर्मलं आत्मानं**) निर्मल आत्माका ही (**ध्यायस्व**) ध्यानकर, (**अन्येन बहुना किं**) और बहुत पदार्थोंसे क्या। देश काल पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं, उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, रागादि-विकल्प-जालके समूहोंके प्रपंचसे क्या फायदा, एक निज स्वरूपको ध्यावो, (**यं**) जिस पर-मात्माके (**ध्यायमानानां**) ध्यान करनेवालोंको (**एकक्षणेन**) क्षणमात्रमें (**परमपदं**) मोक्षपद (**लभ्यते**) मिलता है।

भावार्थ—सब शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहित निजशुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यान करनेसे शीघ्र ही मोक्ष मिलता है, इसलिये वही हमेशा ध्यान करने योग्य है। ऐसा ही बृहदाराधना-शास्त्रमें कहा है। सोलह तीर्थङ्करोंके एक ही समय तीर्थङ्करोंके उत्पत्तिके दिन पहले चारित्र ज्ञानकी सिद्धि हुई, फिर अन्तर्मुहूर्तमें मोक्ष हो गया। यहांपर शिष्य प्रश्न करता है, कि यदि परमात्माके ध्यानसे अन्तर्मुहूर्तमें मोक्ष होता है, तो इस समय ध्यान करनेवाले हम लोगोंको क्यों नहीं होता ?

उसका समाधान इस तरह है—कि जैसा निर्विकल्पशुक्लध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननवालोंको चौथे कालमें होता है, वैसा अब नहीं हो सकता। ऐसा ही दूसरे ग्रन्थोंमें कहा है—"अत्रेत्यादि" इसका अर्थ यह है, कि श्रीसर्वज्ञवीतरागदेव इस भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमें शुक्लध्यानका निषेध करते हैं, इस समय धर्मध्यान हो सकता है, शुक्लध्यान नहीं हो सकता। उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों ही इस समय नहीं हैं, सातवां गुणस्थानतक गुणस्थान है, ऊपरके गुणस्थान नहीं है। इस जगह तात्पर्य यह है, कि जिस कारण परमात्माके ध्यानसे अन्तर्मुहूर्तमें मोक्ष होता है, इसलिये संसारकी स्थिति घटानेके वास्ते अब भी धर्मध्यानका आराधन करना चाहिये, जिससे परम्परया मोक्ष भी मिल सकता है ॥९७॥

अथ यस्य वीतरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वन्तीति कथयति—

अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु।
सत्थ-पुराणइं तव-चरणु मुक्खु वि करहिं कि तासु ॥९८॥

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य।
शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्षं अपि कुर्वन्ति किं तस्य ॥९८॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जिसके राग रहित मनमें शुद्धात्माकी भावना नहीं है, उसके शास्त्र पुराण तपश्चरण क्या कर सकते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते—(**यस्य**) जिसके (**निजमनसि**) निज मनमें (**निर्मलः आत्मा**) निर्मल आत्मा (**नियमेन**) निश्चयसे (**न वसति**) नहीं रहता, (**तस्य**) उस जीवके (**शास्त्रपुराणानि**) शास्त्र पुराण (**तपश्चरणमपि**) तपस्या भी (**किं**) क्या (**मोक्षं**) मोक्षको (**कुर्वन्ति**) कर सकते हैं? कभी नहीं कर सकते।

भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप शुद्धभावना जिसके नहीं है, उसके शास्त्र पुराण तपश्चरणादि सब व्यर्थ हैं। यहां शिष्य प्रश्न करता है, कि क्या बिलकुल ही निरर्थक हैं। उसका समाधान ऐसा है, कि बिलकुल तो नहीं है, लेकिन वीतराग सम्यक्त्वरूप निज शुद्धात्माकी भावना सहित हो, तब तो मोक्षके ही बाह्य सहकारी कारण हैं, यदि वे वीतरागसम्यक्त्वके अभावरूप हों, तो पुण्यबन्धके कारण हैं, और जो मिथ्यात्वरागादि सहित हों, तो पापबन्धके कारण हैं, जैसे कि रुद्र वगैरह विद्यानुवादनामा दशवें पूर्वतक शास्त्र पढ़कर भ्रष्ट हो जाते हैं ॥९८॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति—

जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहं केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥९९॥

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।
आत्मनः सम्बन्धिनिर्भावे बिम्बितं येन वसति ॥९९॥

आगे जिन भव्यजीवोंने आत्मा जान लिया, उन्होंने सब जाना ऐसा दिखलाते हैं—**(योगिन्)** हे योगी **(आत्मना ज्ञातेन)** एक अपने आत्माके जाननेसे **(जगत् ज्ञातं भवति)** यह तीन लोक जाना जाता है **(येन)** क्योंकि **(आत्मनः संबंधिनि भावे)** आत्माके भावरूप केवलज्ञानमें **(बिम्बितं)** यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ **(वसति)** बस रहा है ।

भावार्थ—वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्मतत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचन्द्र पाण्डव भरत सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर फिर द्वादशांगको पढ़कर द्वादशांग पढ़नेका फल निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धपरमात्मा उसके ध्यानमें लीन हुए तिष्ठे थे । इसलिये वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकर अपने आत्माका जानना ही सार है, आत्माके जाननेसे सबका जानपना सफल होता है, इस कारण जिन्होंने अपनी आत्मा जानी उन्होंने सबको जाना । अथवा निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुखरस उसके आस्वाद होनेपर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है, कि मेरा स्वरूप जुदा है, और देह रागादिक मेरेसे दूसरे हैं, मेरे नहीं हैं, इसीलिये आत्माके (अपने) जाननेसे सब भेद जाने जाते हैं, जिसने अपनेको जान लिया, उसने अपनेसे भिन्न सब पदार्थ जाने । अथवा आत्मा श्रुतज्ञानरूप व्याप्तिज्ञानसे सब लोकालोकको जानता है, इसलिये आत्माके जाननेसे सब जाना गया । अथवा वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिके बलसे केवलज्ञानको उत्पन्न (प्रगट) करके जैसे दर्पणमें घटपटादि पदार्थ झलकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पणमें सब लोक अलोक भासते हैं । इससे यह बात निश्चय हुई, कि आत्माके जाननेसे सब जाना जाता है ।

यहां पर सारांश यह हुआ, कि इन चारों व्याख्यानोंका रहस्य जानकर बाह्य अभ्यन्तर सब परिग्रह छोड़कर सब तरहसे अपने शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये ।

ऐसा ही कथन समयसारमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने किया है। "जो पस्सई" इत्यादि—इसका अर्थ यह है, कि जो निकट-संसारी जीव स्वसंवेदनज्ञानकर अपने आत्माको अनुभवता, सम्यग्दृष्टिपनेसे अपनेको देखता है, वह सब जैनशासनको देखता है, ऐसा जिनसूत्रमें कहा है। कैसा वह आत्मा है? रागादिक ज्ञानावरणादिकसे रहित है, अन्यभाव जो नर नारकादि पर्याय उनसे रहित है, विशेष अर्थात् गुणस्थान मार्गणा जीवसमास इत्यादि सब भेदोंसे रहित है। ऐसे आत्माके स्वरूपको जो देखता है, जानता है, अनुभवता है, वह सब जिनशासनका मर्म जानने वाला है ॥९९॥

अथैतदेव समर्थयति—

अप्प-सहावि परिट्ठियह एहउ होइ विसेसु।
दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ॥१००॥

आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां एष भवति विशेषः।
दृश्यते आत्मस्वभावे लघु लोकालोकः अशेषः ॥१००॥

अब इसी बातका समर्थन (दृढ़) करते हैं—(**आत्मस्वभावे**) आत्माके स्वभावमें (**प्रतिष्ठितानां**) लीन हुए पुरुषोंके (**एष विशेषः भवति**) प्रत्यक्षमें तो यह विशेषता होती है, कि (**आत्मस्वभावे**) आत्मस्वभावमें उनको (**अशेषः लोकालोकः**) समस्त लोकालोक (लघु) शीघ्र ही (दृश्यते) दीख जाता है। अथवा इस जगह ऐसा भी पाठांतर है, "अप्पसहाव लहु" इसका अर्थ यह है, कि अपना स्वभाव शीघ्र दीख जाता है, और स्वभावके देखनेसे समस्त लोक भी दीखता है। यहांपर भी विशेष करके पूर्व सूत्रकथित चारों तरहका व्याख्यान जानना चाहिये, क्योंकि यही व्याख्यान बड़े-बड़े आचार्योंने माना है ॥१००॥

अतोऽमुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥१०१॥

आत्मा प्रकाशयति आत्मानं परं यथा अम्बरे रविरागः।
योगिन् अत्र मा भ्रान्तिं कुरु एष वस्तुस्वभावः ॥१०१॥

आगे इसी अर्थ को दृष्टांतदार्ष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—(यथा) जैसे (अंबरे) आकाशमें (रविरागः) सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशित करता है, उसीतरह

(आत्मा) आत्मा (आत्मानं) अपनेको (परं) पर पदार्थोंको (प्रकाशयति) प्रकाशता है, सो (योगिन्) हे योगी (अत्र) इसमें (भ्रांति मा कुरु) भ्रम मत कर। (एव वस्तुस्वभावः) ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है।

भावार्थ—जैसे मेघ रहित आकाशमें सूर्यका प्रकाश अपनेको और परको प्रकाशता है, उसी प्रकार वीतरागनिर्विकल्प समाधिरूप कारणसमयसारमें लीन होकर मोहरूप मेघ-समूहका नाश करके यह आत्मा मुनि अवस्थामें वीतराग स्वसंवेदनज्ञान. कर अपनेको और परको कुछ प्रकाशित करता है, पीछे अरहन्त अवस्थारूप कार्यसमयसार स्वरूप परिणमन करके केवलज्ञानसे निज और परको सब द्रव्य क्षेत्र काल भावसे प्रकाशता है। यह आत्म-वस्तुका स्वभाव है, इसमें संदेह नहीं समझना। इस जगह ऐसा सारांश है, कि जो केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्तसुख अनन्तवीर्यरूप कार्यसमयसार है, वही आराधने योग्य है ॥१०१॥

अथास्मिन्नेवार्थे पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तमाह—

तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ॥१०२॥

तारागणः जले बिम्बितः निर्मले दृश्यते यथा।
आत्मनि निर्मले बिम्बितं लोकालोकमपि तथा ॥१०२॥

आगे इसी अर्थको फिर भी खुलासा करनेके लिये दृष्टान्त देकर कहते हैं—
(यथा) जैसे (तारागणः) ताराओंका समूह (निर्मले जले) निर्मल जलमें (बिम्बितः) प्रतिबिम्बत हुआ (दृश्यते) प्रत्यक्ष दीखता है, (तथा) उसी तरह (निर्मले आत्मनि) मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंसे रहित स्वच्छ आत्मामें (लोकालोकं अपि) समस्त लोक अलोक भासते हैं।

भावार्थ—इसका विशेष व्याख्यान जो पहले कहा था, वही यहां पर जानना अर्थात् जो सबका ज्ञाता दृष्टा आत्मा है, वही उपादेय है। यह सूत्र भी पहले कथनको दृढ़ करनेवाला है ॥१०२॥

अथात्मा परश्च येनात्मना ज्ञानेन ज्ञायते तमात्मानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन जानीहीति कथयति—

अप्पु वि परु वि वियाणइ जें अप्पें मुणिएण ।
सो णिय-अप्पा जाणि तुहुं जोइय णाण-बलेण ॥१०३॥

आत्मापि परः अपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन ।
तं निजात्मानं जानीहि त्वं योगिन् ज्ञानबलेन ॥१०३॥

आगे जिस आत्माके जाननेसे निज और पर सब पदार्थ जान जाते हैं, उसी आत्माको तू स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे जान, ऐसा कहते हैं—(**येन आत्मना विज्ञातेन**) जिस आत्माको जाननेसे (**आत्मा अपि**) आप और (**परः अपि**) पर सब पदार्थ (**विज्ञायते**) जाने जाते हैं, (**तं निजात्मानं**) उस अपने आत्माको (**योगिन्**) हे योगी (**त्वं**) तू (**ज्ञान-बलेन**) आत्मज्ञानके बलसे (**जानीहि**) जान ।

भावार्थ—यहांपर यह है, कि रागादि विकल्प-जालसे रहित सदा आनन्द स्वभाव जो निज आत्मा उसके जाननेसे निज और पर सब जाने जाते हैं, इसलिये हे योगी, हे ध्यानी, तू उस आत्माको वीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानकी भावनासे उत्पन्न परमानन्द सुखरसके आस्वादसे जान, अर्थात् तन्मयी होकर अनुभव कर । स्वसंवेदन ज्ञान (आपकर अपनेको अनुभव करना) ही सार है । ऐसा उपदेश श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टको दिया ॥१०३॥

अतः कारणात् ज्ञानं पृच्छति—

णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णें बहुएण ।
जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक्क-खणेण ॥१०४॥

ज्ञानं प्रकाशय परमं मम किं अन्येन बहुना ।
येन निजात्मा ज्ञायते स्वामिन् एकक्षणेन ॥१०४॥

अब प्रभाकरभट्ट महान् विनयसे ज्ञानका स्वरूप पूछता है—(**स्वामिन्**) हे भगवान्, (**येन ज्ञानेन**) जिस ज्ञानसे (**एक क्षणेन**) क्षणभरमें (**निजात्मा**) अपनी आत्मा (**ज्ञायते**) जानी जाती है, वह (**परमं ज्ञानं**) परम ज्ञान (**मम**) मेरे (**प्रकाशय**) प्रकाशित करो, (**अन्येन बहुना**) और बहुत विकल्प-जालोंसे (**किम्**) क्या फायदा ? कुछ भी नहीं ।

भावार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्द्रदेवसे पूछता है, कि हे स्वामी, जिस वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकर क्षणमात्रमें शुद्ध बुद्ध स्वभाव अपनी आत्मा जानी जाती है, वह ज्ञान मुझको प्रकाशित करो, दूसरे विकल्प-जालोंसे कुछ फायदा नहीं है, क्योंकि ये रागादिक विभावोंके बढ़ानेवाले हैं। सारांश यह है, कि मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंसे रहित तथा निज शुद्ध आत्मानुभवरूप जिस ज्ञानसे अन्तर्मुहूर्तमें ही परमात्माका स्वरूप जाना जाता है, वही ज्ञान उपादेय है। ऐसी प्रार्थना शिष्यने श्रीगुरूसे की ॥१०४॥

अथ ऊर्ध्वं ज्ञानचतुष्टयेन ज्ञानस्वरूपं प्रकाशयति—

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु।
जीव-पएसहिं तित्तिडउ णाणें गयण-पवाणु ॥१०५॥

आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वं यः जानाति आत्मानम्।
जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं ज्ञानेन गगनप्रमाणम् ॥१०५॥

आगे श्रीगुरु चार दोहा-सूत्रोंसे ज्ञानका स्वरूप प्रकाशते हैं—श्रीगुरु कहते हैं, कि हे प्रभाकरभट्ट, **(त्वं)** तू **(आत्मानं)** आत्माको ही **(ज्ञानं)** ज्ञान **(मन्यस्व)** जान, **(यः)** जो ज्ञानरूप आत्मा **(आत्मानं)** अपनेको **(जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं)** अपने प्रदेशोंसे लोक-प्रमाण **(ज्ञानेन गगनप्रमाणं)** ज्ञानसे व्यवहारनयकर आकाश-प्रमाण **(जानाति)** जानता है। अथवा यहां "देहसमु" ऐसा भी पाठ है, तब ऐसा समझना, कि निश्चयनयसे लोकप्रमाण है, तो भी व्यवहारनयसे संकोच विस्तार स्वभाव होनेसे शरीरप्रमाण है।

भावार्थ—निश्चयनयकर मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल इन पांच ज्ञानोंसे अभिन्न तथा व्यवहारनयसे ज्ञानकी अपेक्षारूप देखनेमें नेत्रोंकी तरह लोक अलोकमें व्यापक है। अर्थात् जैसे आंखें रूपी पदार्थोंको देखती है, परन्तु उन स्वरूप नहीं होतीं, वैसे ही आत्मा यद्यपि लोक अलोकको जानता है, देखता है, तो भी उन स्वरूप नहीं होता, अपने स्वरूप ही रहता है, ज्ञानकर ज्ञेय प्रमाण है, यद्यपि निश्चयसे प्रदेशोंकर लोक-प्रमाण है, असंख्यात प्रदेशी है, तो भी व्यवहारनयकर अपने देह-प्रमाण है, ऐसे आत्माको जो पुरुष आहार भय मैथुन परिग्रहरूप चार वांछाओं स्वरूप आदि समस्त विकल्पकी तरंगोंको छोड़कर जानता है, वही पुरुष ज्ञानसे अभिन्न होनेसे ज्ञान कहा जाता है। आत्मा और ज्ञानमें भेद नहीं है, आत्मा ही ज्ञान है।

यहां सारांश यह है, कि निश्चयनयकरके पांच प्रकारके ज्ञानोंसे अभिन्न अपने आत्माको जो ध्यानी जानता है, उसी आत्माको तू उपादेय जान। ऐसा ही सिद्धांतोंमें हरएक जगह कहा है—"आभिणि" इत्यादि। इसका अर्थ यह है, कि मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान ये पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञान एक आत्माके ही स्वरूप हैं, आत्माके विना ये ज्ञान नहीं हो सकते, वह आत्मा ही परम अर्थ है, जिसको पाकर वह जीव निर्वाणको पाता है।

अथ—

अप्पहं जे वि विभिरगा वढ ते वि हवंति ण णाणु।
ते तुहुं तिरिगण वि परिहरिवि णियमिं अप्पु वियाणु ॥१०६॥

आत्मनः ये अपि विभिन्नाः वत्स तेऽपि भवन्ति न ज्ञानम्।
तान् त्वं त्रीण्यपि परिहृत्य नियमेन आत्मानं विजानीहि ॥१०६॥

आगे परभावका निषेध करते हैं—(**वत्स**) हे शिष्य (**आत्मनः**) आत्मासे (**ये अपि भिन्नाः**) जो जुदे भाव हैं, (**तेऽपि**) वे भी (**ज्ञानं न भवंति**) ज्ञान नहीं हैं, वे सब भाव ज्ञानसे रहित जड़रूप हैं, (**तान्**) उन (**त्रीणि अपि**) धर्म अर्थ कामरूप तीनों भावोंको (**परिहृत्य**) छोड़कर (**नियमेन**) निश्चयसे (**आत्मानं**) आत्माको (**त्वं**) तू (**विजानीहि**) जान।

भावार्थ—हे प्रभाकरभट्ट, मुनिरूप धर्म, अर्थरूप संसारके प्रयोजन, काम (विषयाभिलाष) ये तीनों ही आत्मासे भिन्न हैं, ज्ञानरूप नहीं हैं। निश्चयनयकरके सब तरफसे निर्मल केवलज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थसे भिन्न तीनों ही धर्म अर्थ काम पुरुषार्थोंको छोड़कर वीतरागस्वसंवेदनस्वरूप शुद्धात्मानुभवरूपज्ञानमें रहकर आत्माको जान ॥१०६॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण।
तिरिगण वि मिल्लिवि जाणि तुहुँ अप्पा णाणें तेण ॥१०७॥

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन।
त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ॥१०७॥

आगे आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं—(**आत्मा**) आत्मा (**परं**) नियमसे (**ज्ञानस्य**) ज्ञानके (**गम्यः**) गोचर है, (**येन**) क्योंकि (**ज्ञानं**) ज्ञान ही (**विजानाति**) आत्मा

को जानता है, (तेन) इसलिये (त्वं) हे प्रभाकरभट्ट तू (त्रीणि अपि मुक्त्वा) धर्म अर्थ काम इन तीनों ही भावोंको छोड़कर (ज्ञानेन) ज्ञानसे (आत्मानं) निज आत्माको (जानीहि) जान ।

भावार्थ—निज शुद्धात्मा ज्ञानके ही गोचर (जानने योग्य) है, क्योंकि मतिज्ञानादि पांच भेदों रहित जो परमात्म शब्दका अर्थ परमपद है, वही साक्षात् मोक्षका कारण है, उस स्वरूप परमात्माको वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानके बिना दुर्धर तपके करनेवाले भी बहुतसे प्राणी नहीं पाते । इसलिये ज्ञानसे ही अपना स्वरूप अनुभव कर । ऐसा ही कथन श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने समयसारजीमें किया है "णाणगुणेहिं" इत्यादि । इसका अर्थ यह है, कि सम्यग्ज्ञाननामा निज गुणसे रहित पुरुष इस ब्रह्मपदको बहुत कष्ट करके भी नहीं पाते, अर्थात् जो महान दुर्धर तप करो तो भी नहीं मिलता । इसलिये जो तू दुःखसे छूटना चाहता है, सिद्धपदकी इच्छा रखता है, तो आत्मज्ञानकर निजपदको प्राप्त कर ।

यहां सारांश यह है, कि जो धर्म अर्थ कामादि सब परद्रव्यकी इच्छाको छोड़ता है, वही निज शुद्धात्मसुखरूप अमृतमें तृप्त हुआ सिद्धान्तमें परिग्रहरहित कहा जाता है, और निर्ग्रन्थ कहा जाता है, और वही अपने आत्माको जानता है । ऐसा ही समयसारमें कहा है "अपरिग्गहो" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है, कि निज सिद्धान्तमें परिग्रह रहित और इच्छारहित ज्ञानी कहा गया है, जो धर्मको भी नहीं चाहता है, अर्थात् जिसके व्यवहारधर्मकी भी कामना नहीं है, उसके अर्थ तथा कामकी इच्छा कहांसे होवे ? वह आत्मज्ञानी सब अभिलाषाओंसे रहित है, जिसके धर्मका भी परिग्रह नहीं है, तो अन्य परिग्रह कहांसे हो ? इसलिये वह ज्ञानी परिग्रही नहीं है, केवल निजस्वरूपका जाननेवाला ही होता है ॥१०७॥

अथ—

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउं जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणिं णाणमउं किं पर बंभु लहेहि ॥१०८॥

ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं यावत् न जानासि ।
तावद् अज्ञानेन ज्ञानमयं किं परं ब्रह्म लभसे ॥१०८॥

आगे ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—(ज्ञानिन्) हे ज्ञानी (ज्ञानी) ज्ञानवान् अपना आत्मा (ज्ञानिना) सम्यग्ज्ञान करके (ज्ञानिनं) ज्ञान लक्षणवाले आत्माको (यावत्) जबतक (न) नहीं (जानासि) जानता, (तावत्) तबतक (अज्ञानेन) अज्ञानी होनेसे (ज्ञानमयं) ज्ञानमय (परं ब्रह्म) अपने स्वरूपको (किं लभसे) क्या पा सकता है ? कभी नहीं पा सकता। जो कोई आत्माको पाता है, तो ज्ञानसे ही पा सकता है।

भावार्थ—जबतक यह जीव अपनेको आपकर अपनी प्राप्तिके लिये आपसे अपनेमें तिष्ठता नहीं जान ले, तबतक निर्दोष शुद्ध परमात्मा सिद्धपरमेष्ठीको क्या पा सकता है ? कभी नहीं पा सकता। जो आत्माको जानता है, वही परमात्माको जानता है ॥१०८॥

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यं परमात्मानं कथयति—

जोइज्जइ ति बंभु परु जाणिज्जइ ति सोइ।
बंभु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ॥१०९॥

दृश्यते तेन ब्रह्मा परः ज्ञायते तेन स एव।
ब्रह्म मत्वा येन लघु गम्यते परलोके ॥१०९॥

इसप्रकार प्रथम महास्थलमें चार दोहोंमें अन्तरस्थलमें ज्ञानका व्याख्यान किया। आगे चार सूत्रोंमें अन्तरस्थलमें परलोक शब्दकी व्युत्पत्तिकर परलोक शब्दसे परमात्माको ही कहते हैं—(तेन) उस कारणसे उसी पुरुषसे (परः ब्रह्मा) शुद्धात्मा नियमसे (दृश्यते) देखा जाता है, (तेन) उसी पुरुषसे निश्चयसे (स एव) वही शुद्धात्मा (ज्ञायते) जाना जाता है, (येन) जो पुरुष जिस कारण (ब्रह्म मत्वा) अपना स्वरूप जानकर (परलोके लघु गम्यते) परमात्मतत्त्वमें शीघ्र ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो कोई शुद्धात्मा अपना स्वरूप शुद्ध निश्चयनयकर शक्तिरूपसे केवलज्ञान केवलदर्शन स्वभाव है, वही वास्तवमें (असलमें) परमेश्वर है। परमेश्वरमें और जीवमें जाति-भेद नहीं है, जबतक कर्मोंसे बंधा हुआ है, तब तक संसारमें भ्रमण करता है। सूक्ष्मबादर एकेन्द्रियादि जीवोंके शरीरमें जुदा जुदा तिष्ठता है, और जब कर्मोंसे रहित हो जाता है, तब सिद्ध कहलाता है। संसार-अवस्थामें शक्तिरूप

परमात्मा है, और सिद्ध-अवस्थामें व्यक्तिरूप है। यही आत्मा परब्रह्म परमविष्णु परमशिव शक्तिरूप है, और प्रगटरूपसे भगवान् अरहन्त अथवा मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्मा हो परमब्रह्मा परमविष्णु परमशिव कहे जाते हैं। यह निश्चयसे जानो।

ऐसा कहनेसे अन्य कोई भी कल्पना किया हुआ जगत्में व्यापक परमब्रह्म परमविष्णु परमशिव नहीं। सारांश यह है कि जिस लोकके शिखरपर अनन्तसिद्ध विराज रहे हैं, वही लोकका शिखर परमधाम ब्रह्मलोक वही विष्णुलोक और वही शिवलोक है, अन्य कोई भी ब्रह्मलोक विष्णुलोक शिवलोक नहीं है। ये सब निर्वाण क्षेत्रके नाम हैं, और ब्रह्मा विष्णु शिव ये सब सिद्ध परमेष्ठीके नाम हैं। भगवान तो व्यक्तिरूप परमात्मा हैं, तथा यह जीव शक्तिरूप परात्मामा है। इसमें सन्देह नहीं है। जितने भगवान्के नाम हैं, उतने सब शक्तिरूप इस जीवके नाम हैं। यह जीव ही शुद्ध नयकर भगवान् है ॥१०९॥

अथ—

मुणि-वर-विंदहं हरि-हरहं जो मणि णिवसइ देउ।
परहं जि परतरु णाणमउ सो वुच्चइ पर-लोउ ॥११०॥

मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः।
परस्माद् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥११०॥

आगे ऐसा कहते हैं कि भगवान्का ही नाम परलोक है—(यः) जो आत्मदेव (**मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां**) मुनिश्वरोंके समूहके तथा इन्द्र वा वासुदेव रुद्रोंके (**मनसि**) चित्तमें (**निवसति**) वस रहा है, (**सः**) वह (**परस्माद् अपि परतरः**) उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट (**ज्ञानमयः**) ज्ञानमयी (**परलोकः**) परलोक (**उच्यते**) कहा जाता है।

भावार्थ—परलोक शब्दका अर्थ ऐसा है कि पर अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव आत्मा उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधिमें अनुभवना वह **परलोक** है। अथवा जिसके परमात्मस्वरूपमें या केवलज्ञानमें जीवादि पदार्थ देखें जावें, इसलिये उस परमात्माका नाम परलोक है। अथवा व्यवहारनयकर स्वर्ग मोक्षको परलोक कहते हैं। स्वर्ग और मोक्षका कारण भगवान्का धर्म है, इसलिये केवली भगवान्को परलोक कहते हैं। परमात्माके समान अपना निज आत्मा है, वही परलोक है, वही उपादेय है ॥११०॥

अथ—

सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ ।
जहिं मइ तहिं गइ जीवह जि णियमें जेण हवेइ ॥१११॥

सः परः उच्यते लोकः परः यस्य मतिः तत्र वसति ।
यत्र मतिः तत्र गतिः जीवस्य एव नियमेन येन भवति ॥१११॥

आगे ऐसा कहते हैं, जिसका मन निज आत्मामें बस रहा है, वही ज्ञानी जीव परलोक है—**(यस्य मतिः)** जिस भव्यजीवकी बुद्धि **(तत्र)** उस निज आत्मस्वरूपमें **(वसति)** बस रही है, अर्थात् विषय-कषाय-विकल्प-जालके त्यागसे स्वसंवेदन-ज्ञानस्वरूपकर स्थिर हो रही है । **(सः)** वह पुरुष **(परः)** निश्चयकर **(परः लोकः)** उत्कृष्ट जन **(उच्यते)** कहा जाता है । अर्थात् जिसकी बुद्धि निजस्वरूपमें ठहर रही है, वह उत्तम जन है, **(येन)** क्योंकि **(यत्र मतिः)** जैसी बुद्धि होती है, **(तत्र)** वैसी **(एव)** ही **(जीवस्य)** जीवकी **(गतिः)** गति **(नियमेन)** निश्चयकर **(भवति)** होती है, ऐसा जिनवरदेवने कहा है । अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपमें जिस जीवकी बुद्धि होवे, उसको वैसी ही गति होती है, जिन जीवोंका मन निज-वस्तुमें है, उनको निज-पदकी प्राप्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं है ।

भावार्थ—जो आर्तध्यान रौद्रध्यानकी आधीनतासे अपने शुद्धात्मकी भावनासे रहित हुआ रागादिक परभावोंस्वरूप परिणमन करता है, तो वह दीर्घसंसारी होता है, और जो निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परमात्मतत्त्वमें भावना करता है तो वह मोक्ष पाता है । ऐसा जानकर सब रागादि विकल्पोंको त्यागकर उस परमात्मतत्त्वमें ही भावना करनी चाहिये ॥१११॥

अथ—

जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।
तें परबंभु मुएवि मइं मा पर-दव्वि करेहि ॥११२॥

यत्र मतिः तत्र गतिः जीव त्वं मरणमपि येन लभसे ।
तेन परब्रह्म मुक्त्वा मतिं मा परद्रव्ये कार्षीः ॥११२॥

आगे फिर भी इसी बातको दृढ़ करते हैं—**(जीव)** हे जीव **(यत्र मतिः)** जहां तेरी बुद्धि है, **(तत्र गतिः)** वहीं पर गति है, उसको **(येन)** जिस कारणसे **(त्वं मृत्वा)**

तू मरकर (लभसे) पावेगा (तेन) इसलिये तू (परब्रह्म) परब्रह्मको (मुक्त्वा) छोड़कर (परद्रव्ये) परद्रव्यमें (मतिं) बुद्धिको (मा कार्षीः) मत कर।

भावार्थ—शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर टांकीका-सा गढ़ा हुआ अघटितघाट, अमूर्तिक पदार्थ, ज्ञायकमात्र स्वभाव, वीतराग, सदा आनन्दरूप, अद्वितीय अतीन्द्रिय सुखरूप, अमृतके रसकर तृप्त, ऐसे निज शुद्धात्मतत्वको छोड़कर द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्ममें या देहादि परिग्रहमें मनको मत लगा ॥११२॥

एवं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यस्य परमात्मनो व्याख्यानं गतम्।

तदन्तरं किं तत् परद्रव्यमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

जं णियदव्वहं भिण्णु जडु तं पर-दव्वु वियाणि।
पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि ॥११३॥

यत् निजद्रव्याद् भिन्नं जडं तत् परद्रव्यं जानीहि।
पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पञ्चमं जानीहि ॥११३॥

इस प्रकार पहले महाधिकारमें चार दोहा-सूत्रोंकर अन्तरस्थलमें परलोक शब्दका अर्थ परमात्मा किया। आगे परलोक (परमात्मा) में ही मन लगा, परद्रव्यसे ममता छोड़ ऐसा कहा गया था, उसमें शिष्यने प्रश्न किया कि परद्रव्य क्या है ? उसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—(यत्) जो (निजद्रव्यात्) आत्म-पदार्थसे (भिन्नं) जुदा (जडं) जड़ पदार्थ है, (तत्) उसे (परद्रव्यं) परद्रव्य (जानीहि) जानो, और वह परद्रव्य (पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पंचमं) पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और पांचवां कालद्रव्य (जानीहि) ये सब परद्रव्य जानो।

भावार्थ—द्रव्य छह हैं, उनमेंसे पांच जड़ और जीवको चैतन्य जानो। पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश ये सब जड़ हैं, इनको अपनेसे जुदा जानो और जीव भी अनन्त हैं, उन सबोंको अपनेसे भिन्न जानो। अनन्तचतुष्टयस्वरूप अपना आत्मा है, उसीको निज (अपना) जानो, और जीवके भावकर्मरूप रागादिक तथा द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणादि आठ कर्म, और शरीरादिक नोकर्म, और इनका सम्बन्ध अनादिसे है, परन्तु जीवसे भिन्न है, इसलिये अपने मत मान। पुद्गलादि पांच भेद जड़ पदार्थ सब हेय जान, अपना स्वरूप ही उपादेय है, उसीको आराधन कर ॥११३॥

अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरन्तर्मुहूर्तेनापि कर्मजालं दहतीति ध्यानसामर्थ्यं दर्शयति—

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥११४॥

यदि निमिषार्धमपि कोऽपि करोति परमात्मनि अनुरागम् ।
अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति अशेषमपि पापम् ॥११४॥

आगे एक अन्तर्मुहूर्तमें कर्म-जालको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप अग्नि भस्म कर डालती है ऐसी समाधिकी सामर्थ्य है, वही दिखाते हैं—(यदि) जो (निमिषार्धमपि) आधे निमेषमात्र भी (कोऽपि) कोई (परमात्मनि) परमात्मामें (अनुरागं) प्रीतिको (करोति) करे तो (यथा) जैसे (अग्निकणिका) अग्निकी कणी (काष्ठगिरिं) काठके पहाड़को (दहति) भस्म करती है, उसी तरह (अशेषं अपि पापं) सब ही पापोंको भस्म कर डाले ।

भावार्थ—ऋद्धिका गर्व, रसायनका गर्व अर्थात् पारा वगैरह आदि धातुओंके भस्म करनेका मद, अथवा नौ रसके जाननेका गर्व, कवि-कलाका मद, बादमें जीतनेका मद, शास्त्रकी टीका बनानेका मद, शास्त्रके व्याख्यान करनेका मद, ये चार तरहका शब्द-गौरव-स्वरूप इत्यादि अनेक विकल्प-जालोंका त्यागरूप प्रचण्ड पवन उससे प्रज्वलित हुई (दहकती हुई) जो निज शुद्धात्मतत्वके ध्यानरूप अग्निकी कणी है, जैसे वह अग्नि की कणी काठके पर्वतको भस्म कर देती है, उसी तरह यह समस्त पापोंको भस्म कर डालती है, अर्थात् जन्म-जन्मके इकट्ठे किये हुए कर्मोंको आधे निमेषमें नष्ट कर देती है, ऐसी शुद्ध आत्म-ध्यानकी सामर्थ्य जानकर उसी ध्यानकी ही भावना सदा करनी चाहिये ॥११४॥

अथ हे जीव चिन्ताजालं मुक्त्वा शुद्धात्मस्वरूपं निरन्तरं पश्येति निरूपयति—

मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ॥११५॥

मुक्त्वा सकलां चिन्तां जीव निश्चिन्तः भूत्वा ।
चित्तं निवेशय परमपदे देवं निरञ्जनं पश्य ॥११५॥

आगें हे जीव, चिंताओंको छोड़कर शुद्धात्मस्वरूपको निरन्तर देख, ऐसा कहते हैं—(**हे जीव**) हे जीव (**सकलां**) समस्त (**चिंतां**) चिन्ताओंको (**मुक्त्वा**) छोड़कर (**निश्चितः भूत्वा**) निश्चिन्त होकर तू (**चित्तं**) अपने मनको (**परमपदे**) परमपदमें (**निवेशय**) धारण कर, और (**निरंजनं देवं**) निरञ्जनदेवको (**पश्य**) देख ।

भावार्थ—हे हंस, (जीव) देखे सुने और भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप खोटे ध्यान आदि सब चिन्ताओंको छोड़कर अत्यन्त निश्चिन्त होकर अपने चित्तको परमात्मस्वरूपमें स्थिर कर । उसके बाद भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप अंजनसे रहित जो निरंजनदेव परम आराधने योग्य अपना शुद्धात्मा है, उसका ध्यान कर । पहले यह कहा था कि खोटे ध्यानको छोड़, सो खोटे ध्यानका नाम शास्त्रमें अपध्यान कहा है । अपध्यानका लक्षण कहते हैं । "बंधवधेत्यादि" उसका अर्थ ऐसा है कि निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिन-शासनमें उसको अपध्यान कहते हैं, जो द्वेषसे परके मारनेका बांधनेका अथवा छेदनेका चिन्तवन करे, और रागभावसे परस्त्री आदिका चिन्तवन करे । उस अपध्यानके दो भेद हैं, एक आर्त दूसरा रौद्र । सो ये दोनों ही नरक निगोदके कारण हैं, इसलिये विवेकियोंको त्यागने योग्य हैं ॥११५॥

अथ शिवशब्दवाच्ये निजशुद्धात्मनि ध्याते यत्सुखं भवति तत्सूत्रत्रयेण प्रतिपादयति—

जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥११६॥

यत् शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि ध्यानं कुर्वन् ।
तत् सुखं भुवनेऽपि अस्ति नैव मुक्त्वा देवं अनन्तम् ॥११६॥

आगे शिव शब्दसे कहे गये निज शुद्ध आत्माके ध्यान करनेपर जो सुख होता है, उस सुखको तीन दोहा-सूत्रोंमें वर्णन करते हैं—(**यत्**) जो (**ध्यानं कुर्वन्**) ध्यान करता हुआ (**शिवदर्शने परमसुखं**) निजशुद्धात्माके अवलोकनमें अत्यन्त सुख (**प्राप्नोषि**) हे प्रभाकर, तू पा सकता है, (**तत् सुखं**) वह सुख (**भुवने अपि**) तीनलोकमें भी (**अनन्तं देवं मुक्त्वा**) परमात्म द्रव्यके सिवाय (**नैव अस्ति**) नहीं है ।

भावार्थ—शिव नाम कल्याणका है, सो कल्याणरूप ज्ञानस्वभाव निज शुद्धात्मा जानो, उसका जो दर्शन अर्थात् अनुभव उसमें सुख होता है, वह सुख परमात्माको छोड़ तीन लोकमें नहीं है । वह सुख क्या है ? जो निर्विकल्प वीतराग

परम आनन्दरूप शुद्धात्मभाव है, वही सुखी है। क्या करता हुआ यह सुख पाता है कि तीन गुप्तिरूप परमसमाधिमें आरूढ़ हुआ सता ध्यानी पुरुष ही उस सुखको पाता है। अनन्त गुणरूप आत्म-तत्त्वके बिना वह सुख तीनों लोकके स्वामी इन्द्रादिको भी नहीं है। इस कारण सारांश यह निकला कि शिव नामवाला जो निज शुद्धात्मा है, वही राग द्वेष मोहके त्यागकर ध्यान किया गया आकुलता रहित परम सुखको देता है। संसारी जीवोंके जो इन्द्रियजनित सुख है, वह आकुलतारूप है, और आत्मीक अतीन्द्रियसुख आकुलता रहित है, सो सुख ध्यानसे ही मिलता है, दूसरा कोई शिव या ब्रह्मा या विष्णु नामका पुरुष देनेवाला नहीं है। आत्माका ही नाम शिव है, विष्णु है, ब्रह्मा है ॥११६॥

अथ—

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥११७॥

यत् मुनिः लभते अनन्तसुखं निजात्मानं ध्यायन्।
तत् सुखं इन्द्रोऽपि नैव लभते देवीनां कोटिं रम्यमाणः ॥११७॥

आगे कहते हैं कि जो सुख आत्माको ध्यावनेसे महामुनि पाते हैं, वह सुख इन्द्रादि देवोंको दुर्लभ है—(**निजात्मानं ध्यायन्**) अपनी आत्माको ध्यावता (**मुनिः**) परम तपोधन (**मुनि**) (**यद् अनन्तसुखं**) जो अनन्तसुख (**लभते**) पाता है, (**तत् सुखं**) उस सुखको (**इन्द्रः अपि**) इन्द्र भी (**देवीनां कोटिं रम्यमाणः**) करोड़ देवियोंके साथ रमता हुआ (**नैव**) नहीं (**लभते**) पाता।

भावार्थ—बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रहसे रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानन्द सहित महामुनि जो सुख पाता है, उस सुखको इन्द्रादिक भी नहीं पाते। जगत्में सुखी साधु ही हैं, अन्य कोई नहीं। यही कथन अन्य शास्त्रोंमें भी कहा है—"दह्यमाने इत्यादि" इसका अर्थ ऐसा है कि महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए इस जगत्में देव मनुष्य तिर्यञ्च नारकी सभी दुःखी हैं, और जिनके तप ही धन है, तथा सब विषयोंका सम्बन्ध जिन्होंने छोड़ दिया है, ऐसे साधु मुनि ही इस जगत्में सुखी हैं ॥११७॥

अप्पा-दंसणि जिणवरहं जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ॥११८॥

आत्मदर्शने जिनवराणां यत् सुखं भवति अनन्तम् ।
तत् सुखं लभते विरागः जीवः जानन् शिवं शान्तम् ॥११८॥

आगे ऐसा कहते हैं कि वैरागी मुनि ही निज आत्माको जानते हुए निर्विकल्प सुखको पाते हैं—(आत्म दर्शने) निज शुद्धात्माके दर्शनमें (यद् अनंतं सुखं) जो अनन्त अद्भुत सुख (जिनवराणां) मुनि-अवस्थामें जिनेश्वरदेवोंके (भवति) होता है, (तत् सुखं) वह सुख (विरागः जीवः) वीतरागभावनाको परिणत हुआ मुनिराज (शिवं शांतं जानन्) निज शुद्धात्मस्वभावको तथा रागादि रहित शान्त भावको जानता हुआ (लभते) पाता है ।

भावार्थ—दीक्षाके समय तीर्थङ्करदेव निज शुद्ध आत्माको अनुभवते हुए जो निर्विकल्प सुख पाते हैं, वही सुख रागादि रहित निर्विकल्प-समाधिमें लीन विरक्त मुनि पाते हैं ॥११८॥

अथ कामक्रोधादिपरिहारेण शिवशब्दवाच्यः परमात्मा दृश्यत इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयन्ति—

जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ॥११९॥

योगिन् निजमनसि निर्मले परं दृश्यते शिवः शान्तः ।
अम्बरे निर्मले घनरहिते भानुः इव यथा स्फुरन् ॥११९॥

आगे काम क्रोधादिकके त्यागनेसे शिव शब्दसे कहा गया परमात्मा दीख जाता है, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—(योगिन्) हे योगी, (निर्मले निजमनसि) निर्मल अपने मनमें (शिवः शांतः) निज परमात्मा रागादि रहित (परं) नियमसे (दृश्यते) दीखता है, (यथा) जैसे (घनरहिते निर्मले) बादल रहित निर्मल (अंबरे) आकाशमें (भानुः इव) सूर्यके समान (स्फुरन्) भासमान (प्रकाशमान) है ।

भावार्थ—जैसे मेघमालाके आडम्बरसे सूर्य नहीं भासता—दीखता और मेघके आडम्बरके दूर होनेपर निर्मल आकाशमें सूर्य स्पष्ट दीखता है, उसी तरह शुद्ध आत्मा

की अनुभूतिके शत्रु जो काम-क्रोधादि विकल्परूप मेघ हैं, उनके नाश होनेपर निर्मल मनरूपी आकाशमें केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप किरणोंकर सहित निज शुद्धात्मारूपी सूर्य प्रकाश करता है ॥११९॥

अथ यथा मलिने दर्पणे रूपं न दृश्यते तथा रागादिमलिनचित्ते शुद्धात्मस्वरूपं न दृश्यत इति निरूपयति—

राएं रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ॥१२०॥

रागेन रञ्जिते हृदये देवः न दृश्यते शान्तः ।
दर्पणे मलिने बिम्बं यथा एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥१२०॥

आगे जैसे मैले दर्पणमें रूप नहीं दीखता, उसी तरह रागादिकर मलिन चित्तमें शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं दीखता, ऐसा कहते हैं—(**रागेन रंजिते**) रागकरके रंजित (**हृदये**) मनमें (**शांतः देवः**) रागादि रहित आत्मा देव (**न दृश्यते**) नहीं दीखता, (**यथा**) जैसे कि (**मलिने दर्पणे**) मैले दर्पणमें (**बिंबं**) मुख नहीं भासता (**एतत्**) यह बात हे प्रभाकरभट्ट, तू (**निर्भ्रांतं**) सन्देह रहित (**जानीहि**) जान ।

भावार्थ—ऐसा श्रीयोगीन्द्राचार्यने उपदेश दिया है कि जैसे सहस्त्र किरणोंसे शोभित सूर्य आकाशमें प्रत्यक्ष दीखता है, लेकिन मेघसमूहकर ढंका हुआ नहीं दीखता, उसी तरह केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप किरणोंकर लोक-अलोकका प्रकाशनेवाला भी इस देह (घट) के बीचमें शक्तिरूपसे विद्यमान निज शुद्धात्मरूप (परमज्योति चिद्रूप) सूर्य काम क्रोधादि राग द्वेष भावोंस्वरूप विकल्प-जालरूप मेघसे ढंका हुआ नहीं दीखता ॥१२०॥

अथानन्तरं विषयासक्तानां परमात्मा न दृश्यत इति दर्शयति—

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारी ।
एक्कहिं केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥१२१॥

यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।
एकस्मिन् कथं समायातौ वत्स द्वौ खड्गौ प्रत्याकारे (?) ॥१२१॥

आगे जो विषयोंमें लीन हैं, उनको परमात्माका दर्शन नहीं होता, ऐसा दिखलाते हैं—(**यस्य हृदये**) जिस पुरुषके चित्तमें (**हरिणाक्षी**) मृगके समान नेत्रवाली

स्त्री (वसति) बस रही है (तस्य) उसके (ब्रह्म) अपना शुद्धात्मा (नैव) नहीं है, अर्थात् उसके शुद्धात्माका विचार नहीं होता, ऐसा हे प्रभाकरभट्ट, तू अपने मनमें (विचारय) विचार कर। बड़े (बत) खेदकी बात है कि (एकस्मिन्) एक (प्रतिकारे) म्यानमें (द्वौ खड्गौ) दो तलवारें (कथं समायातौ) कैसे आ सकती हैं ? कभी नहीं समा सकतीं।

भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकर उत्पन्न हुआ अनाकुलतारूप परम आनन्द अतीन्द्रिय-सुखरूप अमृत है, उसके रोकनेवाले तथा आकुलताको उत्पन्न करने वाले जो स्त्रीरूपके देखनेकी अभिलाषादिसे उत्पन्न हुए हाव (मुख-विकार) भाव अर्थात् चित्तका विकार, विभ्रम अर्थात् मुंहका टेढ़ा करना, विलास अर्थात् नेत्रोंके कटाक्ष इन स्वरूप विकल्पजालोंकर, मूर्छित रंजित परिणत चित्तमें ब्रह्मका (निज शुद्धात्माका) रहना कैसे हो सकता है ? जैसे कि एक म्यानमें दो तलवारें कैसे आ सकती हैं ? नहीं आ सकतीं। उसी तरह एक चित्तमें ब्रह्म-विद्या और विषय-विनोद ये दोनों नहीं समा सकते। जहां ब्रह्म-विचार है, वहां विषय-विकार नहीं है, जहां विषय-विकार हैं, वहां ब्रह्म-विचार नहीं है। इन दोनोंमें आपसमें विरोध है। हाव भाव विभ्रम विलास इन चारोंका लक्षण दूसरी जगह भी कहा है। "हावो मुखविकारः" इत्यादि, उसका अर्थ ऊपर कर चुके हैं, इससे दूसरी बार नहीं करा ॥१२१॥

अथ रागादिरहिते निजमनसि परमात्मा निवसतीति दर्शयति—

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥१२२॥

निजमनसि निर्मले ज्ञानिनां निवसति देवः अनादिः।
हंसः सरोवरे लीनः यथा मम ईदृशः प्रतिभाति ॥१२२॥

आगे रागादि रहित निज मनमें परमात्मा निवास करता है, ऐसा दिखाते हैं—(ज्ञानिनां) ज्ञानियोंके (निर्मले) रागादि मल रहित (निजमनसि) निज मनमें (अनादिः देवः) अनादि देव आराधने योग्य शुद्धात्मा (निवसति) निवास कर रहा है, (यथा) जैसे (सरोवरे) मानस-सरोवरमें (लीनः हंसः) लीन हुआ हंस बसता है। सो हे प्रभाकरभट्ट, (मम) मुझे (एवं) ऐसा (प्रतिभाति) मालूम पड़ता है। ऐसा वचन श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टसे कहा।

भावार्थ—पहले दोहेमें जो कहा था कि चित्ताकी आकुलताके उपजानेवाले स्त्रीरूपका देखना सेवना चितादिकोंसे उत्पन्न हुए रागादितरंगोंके समूह हैं, उनकर रहित निज शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक् श्रद्धान स्वाभाविकज्ञान उससे वीतराग परमसुखरूप अमृतरस उस स्वरूप निर्मल नीरसे भरे हुए ज्ञानियोंके मानस-सरोवरमें परमात्मादेव-रूपी हंस निरन्तर रहता है। वह आत्मदेव निर्मल गुणोंकी उज्ज्वलताकर हंसके समान है। जैसे हंसोंका निवास-स्थान मानससरोवर है, वैसे ब्रह्मका निवास-स्थान ज्ञानियोंका निर्मल चित्त है। ऐसा श्रीयोगीन्द्रदेवका अभिप्राय है ॥१२२॥

उक्तं च—

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥१२३॥

देवः न देवकुले नैव शिलायां नैव लेप्ये नैव चित्रे।
अक्षयः निरञ्जनः ज्ञानमयः शिवः संस्थितः समचित्ते ॥१२३॥

आगे इसी बातको दृढ करते हैं—(**देवः**) आत्मदेव (**देवकुले**) देवालयमें (मन्दिरमें) (**न**) नहीं है, (**शिलायां नैव**) पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है, (**लेपे नैव**) लेपमें भी नहीं है, (**चित्रे नैव**) चित्रामकी मूर्तिमें भी नहीं है। लेप और चित्राम-की मूर्ति लौकिकजन बनाते हैं, पंडितजन तो धातु पाषाणकी ही प्रतिमा मानते हैं, सो लौकिक दृष्टान्तके लिये दोहामें लेप चित्रामका भी नाम आ गया। वह देव किसी जगह नहीं रहता। वह देव (**अक्षयः**) अविनाशी है, (**निरंजनः**) कर्माञ्जनसे रहित है, (**ज्ञानमयः**) केवलज्ञानकर पूर्ण है, (**शिवः**) ऐसा निज परमात्मा (**समचित्ते संस्थितः**) समभावमें तिष्ठ रहा है, अर्थात् समभावको परिणत हुए साधुओंके मनमें विराज रहा है, अन्य जगह नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयकर धर्मकी प्रवृत्तिके लिये स्थापनारूप अरहन्त-देव देवालयमें तिष्ठते हैं, धातु पाषाणकी प्रतिमाको देव कहते हैं तो भी निश्चयनयकर शत्रु मित्र सुख दुःख जीवित मरण जिसमें समान हैं, तथा वीतराग सहजानन्दरूप परमात्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमें लीन ऐसे ज्ञानियोंके सम चित्तमें परमात्मा तिष्ठता है। ऐसा ही अन्य जगह भी समचित्तको परिणत हुए मुनियोंका लक्षण कहा है। "समसत्तु" इत्यादि। इसका अर्थ ऐसा है कि जिसके गुण

दु:ख समान हैं, शत्रु मित्रोंका वर्ग समान हैं, प्रशंसा निन्दा समान हैं, पत्थर और सोना समान है, और जीवन मरण जिसके समान हैं, ऐसा समभावका धारण करने वाला मुनि होता है । अर्थात् ऐसे समभावके धारक शान्तचित्त योगीश्वरोंके चित्तमें चिदानन्द देव तिष्ठता है ॥१२३॥

इत्येकत्रिंशत्सूत्रैश्चूलिकास्थलं गतम् । अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते—

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स ।
बीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स ॥१२३*२॥

मनः मिलितं परमेश्वरस्य परमेश्वरः अपि मनसः ।
द्वयोरपि समरसीभूतयोः पूजां समारोपयामि कस्य ॥१२३*२॥

इस प्रकार इकतीस दोहा-सूत्रोंका-चूलिका स्थल कहा । चूलिका नाम अंतका है, सो पहले स्थलका अन्त यहां तक हुआ । आगे स्थलकी संख्यासे सिवाय दो प्रक्षेपक दोहा कहते हैं—(मनः) विकल्परूप मन (**परमेश्वरस्य मिलितं**) भगवान् आत्मारामसे मिल गया तन्मयी हो गया (**परमेश्वरः अपि**) और परमेश्वर भी (**मनसः**) मनसे मिल गया तो (**द्वयोः अपि**) दोनों ही को (**समरसीभूतयोः**) समरस (आपसमें एकमएक) होनेपर (**कस्य**) किसकी अब मैं (**पूजां समारोपयामि**) पूजा करूं । अर्थात् निश्चयनयकर किसीको पूजना, सामग्री चढ़ाना नहीं रहा ।

भावार्थ—जबतक मन भगवानसे नहीं मिला था, तबतक पूजा करता था, और जब मन प्रभुसे मिल गया, तब पूजाका प्रयोजन नहीं है । यद्यपि व्यवहारनयकर गृहस्थ-अवस्थामें विषय-कषायरूप खोटे ध्यानके हटानेके लिये और धर्मके बढ़ानेके लिये पूजा अभिषेक दान आदिका व्यवहार है, तो भी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें लीन हुए योगीश्वरोंको उस समयमें बाह्य व्यापारके अभाव होनेसे स्वयं ही द्रव्य-पूजाका प्रसंग नहीं आता, भाव-पूजामें ही तन्मय हैं ॥१२३*२॥

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिं जंतु ।
मोक्खहं कारणु एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥१२३*३॥

येन निरञ्जने मनः धृतं विषयकषायेषु गच्छत् ।
मोक्षस्य कारणं एतावदेव अन्यः न तन्त्रं न मन्त्रः ॥१२३*३॥

आगे इसी कथनको दृढ़ करते हैं—(येन) जिस पुरुषने (विषयकषायेषु गच्छत्) विषय कषायोंमें जाता हुआ (मनः) मन (निरंजने धृतं) कर्मरूपी अंजनसे रहित भगवान्‌में रक्खा, (एतावदेव) और ये ही (मोक्षस्य कारणं) मोक्षके कारण हैं, (अन्यः) दूसरा कोई भी (तन्त्रं न) तन्त्र नहीं है, (मन्त्रः न) और न मन्त्र है। तन्त्र नाम शास्त्र व औषधका है, मन्त्र नाम मन्त्राक्षरोंका है। विषय कषायादि पर पदार्थोंसे मनको रोककर परमात्मामें मनको लगाना, यही मोक्षका कारण है।

भावार्थ—जो कोई निकट-संसारी जीव शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उलटे विषय कषायोंमें जाते हुए मनको वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे पीछे हटाकर निज शुद्धात्मद्रव्यमें स्थापन करता है, वही मोक्षको पाता है, दूसरा कोई मन्त्र तन्त्रादिमें चतुर होनेपर भी मोक्ष नहीं पाता ॥१२३*३॥

इस तरह परमात्मप्रकाशकी टीकामें तीन क्षेपकोंके सिवाय एकसौ तेईस दोहा सूत्रोंमें बहिरात्मा अन्तरात्मा परमात्मारूप तीन प्रकारसे आत्माको कहनेवाला पहला महाधिकार पूर्ण किया ॥ १ ॥

इति प्रथम महाधिकार



द्वितीय महाधिकारः

अत ऊर्ध्वं स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयप्रमितैर्दोहकसूत्रैर्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यते। तत्रादौ सूत्रदशकपर्यन्तं मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति। तद्यथा—

सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहं कारणु तत्थु।
मोक्खहं केरउ अण्णु फलु जें जाणउं परमत्थु ॥ १ ॥

श्रीगुरो आख्याहि मोक्षं मम मोक्षस्य कारणं तथ्यम्।
मोक्षस्य संबन्धि अन्यत् फलं येन जानामि परमार्थम् ॥ १ ॥

इसके बाद प्रकरणकी संख्याके बाहर अर्थात् क्षेपकोंके सिवाय दोसौ चौदह दोहा-सूत्रोंसे मोक्ष, मोक्ष-फल और मोक्ष-मार्गके कथनकी मुख्यतासे दूसरा महा अधिकार आरंभ करते हैं। उसमें भी पहले दस दोहोंतक मोक्षको मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—(श्रीगुरो) हे श्रीगुरु, (मम) मुझे (मोक्षं) मोक्ष (तथ्यं मोक्षस्य कारणं) सत्यार्थ मोक्षका कारण, (अन्यत्) और (मोक्षस्य संबंधि) मोक्षका (फलं) फल (आख्याहि) कृपाकर कहो (येन) जिससे कि मैं (परमार्थं) परमार्थको (जानामि) जानूं।

भावार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनती करके मोक्ष, मोक्षका कारण और मोक्षका फल इन तीनोंको पूछते हैं ॥ १ ॥

अथ तदेव त्रयं क्रमेण भगवान् कथयति—

जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फलु पुच्छिउ मोक्खहं हेउ।
सो जिण-भासिउ णिसुणि तुहुं जेण वियाणहि भेउ ॥ २ ॥

योगिन् मोक्षोऽपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः।
तत् जिनभाषितं निश्रृणु त्वं येन विजानासि भेदम् ॥ २ ॥

अब श्रीगुरु उन्हीं तीनोंको क्रमसे कहते हैं—(योगिन्) हे योगी, तूने (मोक्षोऽपि) मोक्ष और (मोक्षफलं) मोक्षका फल तथा (मोक्षस्य) मोक्षका (हेतुः) कारण (पृष्टं) पूंछा, (तत्) उसको (जिनभाषितं) जिनेश्वरदेवके कहे प्रमाण (त्वं) तू (निश्रृणु) निश्चयकर सुन, (येन) जिससे कि (भेदं) भेद (विजानासि) अच्छी तरह जान जावे ।

भावार्थ—श्रीयोगीन्द्रदेव गुरु, शिष्यसे कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट; योगी शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयका प्रगटपना स्वरूप मोक्ष-फल, और निश्चय व्यवहाररत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग, इन तीनोंको क्रमसे जिनआज्ञाप्रमाण तुझको कहूँगा । उनको तू अच्छी तरह चित्तमें धारण कर, जिससे सब भेद मालूम हो जावेगा ॥ २ ॥

अथ धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये सुखकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

धम्मह अत्थहं कामहं वि एयहं सयलहं मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु ॥ ३ ॥

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षम् ।
उत्तमं प्रभणन्ति ज्ञानिनः जीव अन्येन येन न सौख्यम् ॥ ३ ॥

अब धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारोंमेंसे सुखका मूलकारण मोक्ष ही सबसे उत्तम है, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर इस गाथा-सूत्रको कहते हैं—(जीव) हे जीव, (धर्मस्य) धर्म (अर्थस्य) अर्थ (कामस्य अपि) और काम (एतेषां सकलानां) इन सब पुरुषार्थोंमेंसे (मोक्षं उत्तमं) मोक्षको उत्तम (ज्ञानिनः) ज्ञानी पुरुष (प्रभणंति) कहते हैं, (येन) क्योंकि (अन्येन) अन्य धर्म अर्थ कामादि पदार्थोंमें (सुखं) परमसुख (न) नहीं है ।

भावार्थ—धर्म शब्दसे यहां पुण्य समझना, अर्थ शब्दसे पुण्यका फल राज्य वगैरह सम्पदा जानना, और काम शब्दसे उस राज्यका मुख्यफल स्त्री कपड़े सुगन्धित-माला आदि वस्तुरूप भोग जानना । इन तीनोंसे परमसुख नहीं है, क्लेशरूप दुःख ही है, इसलिये इन सबसे उत्तम मोक्षको ही वीतरागसर्वज्ञदेव कहते हैं, क्योंकि मोक्षसे जुदा जो धर्म अर्थ काम हैं, वे आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं, तथा वीतराग परमा-

नन्दसुखरूप अमृतरसके आस्वादसे विपरीत हैं, इसलिये सुखके करनेवाले नहीं हैं, ऐसा जानना ।। ३ ।।

अथ धर्मार्थकामेभ्यो यद्युत्तमो न भवति मोक्षस्तर्हि तत्त्रयं मुक्त्वा परलोकशब्द-वाच्यं मोक्षं किमिति जिना गच्छन्तीति प्रकटयन्ति—

जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहं सयलहं सोइ ।
तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण वच्चहिं पर-लोइ ॥४॥

यदि जीव उत्तमो भवति नैव एतेभ्यः सकलेभ्यः स एव ।
ततः किं त्रीण्यपि परिहृत्य जिनाः व्रजन्ति परलोके ।।४।।

आगे धर्म अर्थ काम इन तीनोंसे जो मोक्ष उत्तम नहीं होता तो इन तीनोंको छोड़कर जिनेश्वरदेव मोक्षको क्यों जाते ? ऐसा दिखाते हैं—(जीव) हे जीव, (यदि) जो (एतेभ्यः सकलेभ्यः) इन सबोंसे (सः) मोक्ष (उत्तमः) उत्तम (एव) ही (नैव) नहीं (भवति) होता (ततः) तो (जिनाः) श्रीजिनवरदेव (त्रीण्यपि) धर्म अर्थ काम इन तीनोंको (परिहृत्य) छोड़कर (परलोके) मोक्षमें (किं) क्यों (व्रजंति) जाते ? इसलिये जाते हैं कि मोक्ष सबसे उत्कृष्ट है ।

भावार्थ—पर अर्थात् उत्कृष्ट मिथ्यात्व रागादि रहित केवलज्ञानादि अनन्त गुण सहित परमात्मा वह पर है, उस परमात्माका लोक अर्थात् अवलोकन वीतराग परमानन्द समरसीभावका अनुभव वह परलोक कहा जाता है, अथवा परमात्माको परमशिव कहते हैं, उसका जो अवलोकन वह शिवलोक है, अथवा परमात्माका ही नाम परमब्रह्म है, उसका लोक वह ब्रह्मलोक है, अथवा उसीका नाम परमविष्णु है, उसका लोक अर्थात् स्थान वह विष्णुलोक है, ये सब मोक्षके नाम हैं, यानि जितने परमात्माके नाम हैं, उनके आगे लोक लगानेसे मोक्षके नाम हो जाते हैं, दूसरा कोई कल्पना किया हुआ शिवलोक, ब्रह्मलोक या विष्णुलोक नहीं है । यहां पर सारांश यह हुआ कि परलोकके नामसे कहा गया परमात्मा ही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई नहीं ।। ४ ।।

अथ तमेव मोक्षं सुखदायकं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति—

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ ।
तो किं इच्छहिं बंधणहिं बद्धा पसुय वि सोइ ।। ५ ।।

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति ।
ततः किं इच्छन्ति बन्धनै बद्धा पशवोऽपि तमेव ।। ५ ।।

आगे मोक्ष अनंत सुखका देनेवाला है, इसको दृष्टान्तके द्वारा दृढ़ करते हैं—(यदि) जो (मोक्षः) मोक्ष (उत्तमं सुखं) उत्तम सुखको (न ददाति) न देवे तो (उत्तमः) उत्तम (न भवति) नहीं होवे और जो मोक्ष उत्तम ही न होवे (ततः) तो (बंधनैः बद्धाः) बन्धनोंसे बन्धे (पशवोऽपि) पशु भी (तमेव) उस मोक्षकी ही (किं इच्छंति) क्यों इच्छा करें ?

भावार्थ—बन्धनेके समान कोई दुःख नहीं है, और छूटनेके समान कोई सुख नहीं है, बन्धनसे बन्धे जानवर भी छूटना चाहते हैं, और जब वे छूटते हैं, तब सुखी होते हैं । इस सामान्य बंधनके अभावसे ही पशु सुखी होते हैं, तो कर्म-बंधनके अभावसे ज्ञानीजन परमसुखी होवें, इसमें अचम्भा क्या है । इसलिये केवलज्ञानादि अनन्त गुणसे तन्मयी अनन्त सुखका कारण मोक्षही आदरने योग्य है, इस कारण ज्ञानी पुरुष विशेषतासे मोक्षको ही इच्छते हैं ।। ५ ।।

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमस्तकस्योपरि तं किमर्थं धरतीति निरूपयति—

अणु जइ जगहं वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किं धरइ णिय-सिर-उप्परि सोइ ।।६।।

अन्यद् यदि जगतोऽपि अधिकतरः गुणगणः तस्य न भवति ।
ततः त्रिलोकऽपि किं धरति निजशिर उपरि तमेव ।। ६ ।।

आगे बतलाते हैं—जो मोक्षमें अधिक गुणोंका समूह नहीं होता, तो मोक्षको तीन लोक अपने मस्तकपर क्यों रखता ? (अन्यद्) फिर (यदि) जो (जगतः अपि) सब लोकसे भी (अधिकतरः) बहुत ज्यादः (गुणगणः) गुणोंका समूह (तस्य) उस मोक्षमें (न भवति) नहीं होता, (ततः) तो (त्रिलोकः अपि) तीनों ही लोक (निजशिरसि) अपने मस्तकके (उपरि) ऊपर (तमेव) उसी मोक्षको (किं धरति) क्यों रखते ?

भावार्थ—मोक्ष लोकके शिखर (अग्रभाग) पर है, सो सब लोकोंसे मोक्षमें बहुत ज्यादः गुण हैं, इसीलिये उसको लोक अपने सिरपर रखता है । कोई किसीको

अपने सिरपर रखता है, वह अपनेसे अधिक गुणवाला जानकर ही रखता है। यदि क्षायिक-सम्यक्त्व केवलदर्शनादि अनन्त गुण मोक्षमें न होते, तो मोक्ष सबके सिरपर न होता, मोक्षके ऊपर अन्य कोई स्थान नहीं हैं, सबके ऊपर मोक्ष ही है, और मोक्षके आगे अनन्त अलोक है, वह शून्य है, वहां कोई स्थान नहीं है। वह अनन्त अलोक भी सिद्धोंके ज्ञानमें भास रहा है। यहां पर मोक्षमें अनन्त गुणोंके स्थापन करनेसे मिथ्यादृष्टियोंका खण्डन किया।

कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं, कि जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन नव गुणोंके अभावरूप मोक्ष है, उनका निषेध किया, क्योंकि इन्द्रियजनित बुद्धिका तो अभाव है, परन्तु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञानका अभाव नहीं है, इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुखका अभाव है, लेकिन अतीन्द्रिय सुखकी पूर्णता है, दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभावरूप गुणोंका तो अभाव ही है, केवलरूप परिणमन है, व्यवहार-धर्मका अभाव ही है, और वस्तुका स्वभावरूप धर्म वह हो है, अधर्मका तो अभाव ठीक ही है, और परद्रव्यरूप-संस्कार सर्वथा नहीं है, स्वभाव-संस्कार हो है। जो मूढ इन गुणोंका अभाव मानते हैं, वे वृथा बकते हैं, मोक्ष तो अनन्त गुणरूप है। इस तरह निर्गुणवादियोंका निषेध किया। तथा बौद्धमती जीवके अभावको मोक्ष कहते हैं। वे मोक्ष ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपकका निर्वाण (बुझना) उसी तरह जीवका अभाव वही मोक्ष है। ऐमी बौद्धकी श्रद्धाका भी तिरस्कार किया। क्योंकि जो जीवका ही अभाव हो गया, तो मोक्ष किसको हुआ ?

जीवका शुद्ध होना वह मोक्ष है, अभाव कहना वृथा है। सांख्यदर्शनवाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोनेकी अवस्था है, वही मोक्ष है, जिस जगह न सुख है, न ज्ञान है, ऐसी प्रतीतिका निवारण किया। नैयायिक ऐसा कहते हैं कि जहांसे मुक्त हुआ वहींपर ही तिष्ठता है, ऊपरको गमन नहीं करता। ऐसे नैयायिकके कथनका लोक-शिखरपर तिष्ठता है, इस वचनसे निषेध किया। जहां बन्धनसे छूटता है, वहां वह नहीं रहता, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, जैसे कैदी कैदसे जब छूटता है, तब बंदीगृहसे छूटकर अपने घरकी तरफ गमन करता है, वह निजघर निर्वाण ही है।

जैन-मार्गमें तो इन्द्रियजनितज्ञान जो कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय हैं, उनका अभाव माना है, और अतीन्द्रियरूप जो केवलज्ञान है, वह वस्तुका स्वभाव है, उसका अभाव आत्मामें नहीं हो सकता। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द इन पांच इन्द्रिय

विषयोंकर उत्पन्न हुए सुखका तो अभाव ही है, लेकिन अतीन्द्रिय सुख जो निराकुल परमानन्द है, उसका अभाव नहीं है, कर्मजनित जो इन्द्रियादि दस प्राण अर्थात् पांच इन्द्रियां, मन, वचन, काय, आयु, श्वासोच्छ्वास इन दस प्राणोंका भी अभाव है, ज्ञानादि निज प्राणोंका अभाव नहीं है। जीवकी अशुद्धताका अभाव है, शुद्धपनेका अभाव नहीं, यह निश्चयसे जानना ॥ ६ ॥

अथोत्तमं सुखं न ददाति यदि मोक्षस्तर्हि सिद्धाः कथं निरन्तरं सेवन्ते तमिति कथयति—

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ ।
तो किं सयलु वि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिं सोइ ॥७॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमः मोक्षो न भवति ।
ततः किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवन्ते तमेव ॥७॥

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष उत्तम सुख नहीं दे, तो सिद्ध उसे निरन्तर क्यों सेवन करें ?—(**यदि**) जो (**उत्तमं सुखं**) उत्तम अविनाशी सुखको (**न ददाति**) नहीं देवे, तो (**मोक्षः उत्तमः**) मोक्ष उत्तम भी (**न भवति**) नहीं हो सकता, उत्तम सुख देता है, इसीलिये मोक्ष सबसे उत्तम है। जो मोक्षमें परमानन्द नहीं होता (**ततः**) तो (**जीव**) हे जीव, (**सिद्धा अपि**) सिद्धपरमेष्ठी भी (**सकलमपि कालं**) सदा काल (**तमेव**) उसी मोक्षको (**किं सेवंते**) क्यों सेवन करते ? कभी भी न सेवते।

भावार्थ—वह मोक्ष अखण्ड सुख देता है, इसीलिये उसे सिद्ध महाराज सेवते हैं, मोक्ष परम आह्लादरूप है, अविनश्वर है, मन और इन्द्रियोंसे रहित है, इसीलिये उसे सदाकाल सिद्ध सेवते हैं, केवलज्ञानादि गुण सहित सिद्धभगवान् निरन्तर निर्वाणमें ही निवास करते हैं, ऐसा निश्चित है। सिद्धोंका सुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा है "आत्मोपादान" इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि इस अध्यात्म-ज्ञानसे सिद्धोंके जो परमसुख हुआ है, वह कैसा है कि अपनी अपनी जो उपादान-शक्ति उसीसे उत्पन्न हुआ है, परकी सहायतासे नहीं है, स्वयं (आप ही) अतिशयरूप है, सब बाधाओंसे रहित है, निराबाध है, विस्तीर्ण है, घटती-बढ़तीसे रहित है, विषय-विकारसे रहित है, भेदभावसे रहित है, निर्द्वन्द है, जहांपर वस्तुकी अपेक्षा ही नहीं है, अनुपम है, अनन्त है, अपार है, जिसका प्रमाण नहीं सदाकाल शाश्वत है, महा उत्कृष्ट है, अनंत

सारता लिये हुए है। ऐसा परमसुख सिद्धोंके है, अन्यके नहीं है। यहां तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्षका ही सुख अभिलाषा करने योग्य है, और संसार-पर्याय सब हेय है ॥ ७ ॥

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति—

हरि-हर-बंभु वि जिणवर वि मुणि-वर-विंद वि भव्व।
परम-णिरंजणि मणु धरिवि मुक्खु जि झायहिं सव्व ॥८॥

हरिहरब्रह्माणोऽपि जिनवरा अपि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः।
परमनिरञ्जने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायन्ति सर्वे ॥ ८ ॥

आगे सभी महान पुरुषोंके मोक्ष ही ध्यावने योग्य हैं ऐसा कहते हैं—(हरिहरब्रह्माणोऽपि) नारायण वा इन्द्र रुद्र अन्य ज्ञानी पुरुष (जिनवरा अपि) श्रीतीर्थङ्कर परमदेव (मुनिवरवृंदान्यपि) मुनीश्वरोंके समूह तथा (भव्याः) अन्य भी भव्यजीव (परमनिरंजने) परम निरंजनमें (मनः धृत्वा) मन रखकर (सर्वे) सब ही (मोक्षं) मोक्षको (एव) ही (ध्यायंति) ध्यावते हैं। यह मन विषयकषायोंमें जो जाता है, उसको पीछे लौटाकर अपने स्वरूपमें स्थिर अर्थात् निर्वाणका साधनेवाला करते हैं।

भावार्थ—श्रीतीर्थङ्करदेव तथा चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव महादेव इत्यादि सब प्रसिद्ध पुरुष अपने शुद्ध ज्ञान अखण्ड स्वभाव जो निज आत्मद्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो अभेदरत्नत्रयमय समाधिकर उत्पन्न वीतराग सहजानन्द अतीन्द्रियसुखरस उसके अनुभवसे पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए निरंतर निराकार निजस्वरूप परमात्माके ध्यानमें स्थिर होकर मुक्त होते हैं। कैसा वह ध्यान है, कि ख्याति (प्रसिद्धि) पूजा (अपनी महिमा) और धनादिकका लाभ इत्यादि समस्त विकल्प-जालोंसे रहित है। यहां केवल आत्म-ध्यान हीको मोक्ष-मार्ग बतलाया है, और अपना स्वरूप हो ध्यावने योग्य है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यवहारनयकर प्रथम अवस्थामें वीतरागसर्वज्ञको स्वरूप अथवा वीतरागके नाममन्त्रके अक्षर अथवा वीतरागके सेवक महामुनि ध्यावने योग्य हैं, तो भी वीतराग निर्विकल्प तीन गुप्तिरूप परमसमाधिके समय अपना शुद्ध आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ पूर्ण अवस्थामें ध्यावने योग्य नहीं है ॥८॥

अथ भुवनत्रयेऽपि मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परमसुखकारणं नास्तीति निश्चिनोति—

तिहुयणि जीवहं अत्थि णवि सोक्खहं कारणु कोइ ।
मुक्खु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोइ ॥९॥

त्रिभुवने जीवानां अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।
मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चिन्तय तमेव ॥ ९ ॥

अब तीन लोकमें मोक्षके सिवाय अन्य कोई भी परमसुखका कारण नहीं है, ऐसा निश्चय करते हैं—(**त्रिभुवने**) तीन लोकमें (**जीवानां**) जीवोंको (**मोक्षं मुक्त्वा**) मोक्षके सिवाय (**किमपि**) कोई भी वस्तु (**सुखस्य कारणं**) सुखका कारण (**नैव**) नहीं (**अस्ति**) है, एक सुखका कारण मोक्ष ही है (**तेन**) इस कारण तू (**परं एकं तं एव**) नियमसे एक मोक्षका ही (**विचिंतय**) चिन्तवन कर जिसे कि महामुनि भी चिन्तवन करते हैं ।

भावार्थ—श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं कि वत्स; मोक्षके सिवाय अन्य सुखका कारण नहीं है, और आत्म-ध्यानके सिवाय अन्य मोक्षका कारण नहीं है, इसलिये तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर निज शुद्धात्म स्वभावको ही ध्याव । यह श्रीगुरुने आज्ञा की । तब प्रभाकरभट्टने विनती की, हे भगवन्; तुमने निरन्तर अतीन्द्री मोक्ष-सुखका वर्णन किया है, सो ये जगतके प्राणी अतीन्द्रिय सुखको जानते ही नहीं हैं, इन्द्रिय सुखको ही सुख मानते हैं । तब गुरुने कहा कि हे प्रभाकरभट्ट; कोई एक पुरुष जिसका चित्त व्याकुलता रहित है, पंचेन्द्रियके भोगोंसे रहित अकेला स्थित है, उस समय किसी पुरुषने पूछा कि तुम सुखी हो । तब उसने कहा कि सुखसे तिष्ठ रहे हैं, उस समयपर विषय-सेवनादि सुख तो है ही नहीं, उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं । इसलिये यह मालूम होता है, सुख नाम व्याकुलता रहितका है, सुखका मूल निर्व्याकुलपना है, वह निर्व्याकुल अवस्था आत्मामें ही है, विषय-सेवनमें नहीं ।

भोजनादि जिह्वा इन्द्रियका विषय भी उस समय नहीं है, स्त्रीसेवनादि स्पर्श का विषय नहीं है, और गंधमाल्यादिक नाकका विषय भी नहीं है, दिव्य स्त्रियोंका रूप अवलोकनादि नेत्रका विषय भी नहीं, और कानोंका मनोज्ञ गीत वादित्रादि शब्द विषय भी नहीं हैं, इसलिये जानते हैं कि सुख आत्मामें ही है । ऐसा तू निश्चयकर, जो एकोदेश विषय-व्यापारसे रहित हैं, उनके एकोदेश थिरताका सुख है, तो वीतराग

निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानियोंके समस्त पंच इन्द्रियोंके विषय और मनके विकल्प-जालोंकी रुकावट होनेपर विशेषतासे निर्व्याकुल सुख उपजता है। इसलिये ये दो बातें प्रत्यक्ष ही दृष्टि पड़ती हैं। जो पुरुष निरोग और चिंता रहित हैं, उनके विषय सामग्रीके विना ही सुख भासता है, और जो महामुनि शुद्धोपयोग अवस्थामें ध्यानारूढ़ हैं, उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीख रही है, वे इन्द्रादिक देवोंसे भी अधिक सुखी हैं। इस कारण जब संसार अवस्थामें ही सुखका मूल निर्व्याकुलता दीखती है, तो सिद्धोंके सुखकी बात ही क्या है? यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगोचर नहीं हैं, तो भी अनुमान कर ऐसा जाना जाता है, कि सिद्धोंके भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म नहीं तथा विषयोंकी प्रवृत्ति नहीं है, कोई भी विकल्प-जाल नहीं है, केवल अतीन्द्रिय आत्मीक-सुख ही है, वही सुख उपादेय है, अन्य सुख सब दुःस्वरूप ही हैं। जो चारों गतियोंकी पर्यायें हैं, उनमें कदापि सुख नहीं है, सुख तो सिद्धोंके है, या महामुनीश्वरोंके सुखका लेशमात्र देखा जाता है, दूसरोंके जगतकी विषय-वासनाओंमें सुख नहीं है ऐसा ही कथन श्रीप्रवचनसारमें किया है। "अइसय" इत्यादि।

सारांश यह है, कि जो शुद्धोपयोगकर प्रसिद्ध ऐसे श्रीसिद्धपरमेष्ठी हैं, उनके अतीन्द्रिय सुख है, वह सर्वोत्कृष्ट है, और आत्मजनित है, तथा विषय-वासनासे रहित है, अनुपम है, जिसके समान सुख तीन लोकमें भी नहीं है, जिसका पार नहीं ऐसा बाधारहित सुख सिद्धोंके है ॥९॥

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखमस्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति—

जीवहं सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु।
कम्म-कलंक-विमुक्काहं णाणिय बोल्लहिं साहू ॥१०॥

जीवानां तं परं मोक्षं मन्यस्व यः परमात्मलाभः।
कर्मकलङ्कविमुक्तानां ज्ञानिनः ब्रुवन्ति साधवः ॥१०॥

आगे जिस मोक्षमें ऐसा अतीन्द्रियसुख है, उस मोक्षका स्वरूप कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट; जो (कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां) कर्मरूपी कलंकसे रहित जीवोंको (यः परमात्मलाभः) जो परमात्मकी प्राप्ति है (तं परं) उसीको नियमसे तू (मोक्षं मन्यस्व) मोक्ष जान, ऐसा (ज्ञानिनः साधवः) ज्ञानवान् मुनिराज (ब्रुवंति) कहते हैं, रत्नत्रयके योगसे मोक्षका साधन करते हैं, इससे उनका नाम साधु है।

भावार्थ—केवलज्ञानादि अनन्तगुण प्रगटरूप जो कार्यसमयसार अर्थात् शुद्ध परमात्माका लाभ वह मोक्ष है, यह मोक्ष भव्यजीवोंके ही होता है। भव्य कैसे हैं कि पुत्र कलत्रादि परवस्तुओंके ममत्वको आदि लेकर सब विकल्पोंसे रहित जो आत्म-ध्यान उससे जिन्होंने भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी कलंक क्षय किये हैं, ऐसे जीवोंके निर्वाण होता है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। यहां पर अनन्तसुखका कारण होनेसे मोक्ष ही उपादेय है ॥१०॥

अथ तस्यैव मोक्षस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपं फलं दर्शयति—

दंसणु णाणु अणंत-सुहु समउ ण तुट्टइ जासु।
सो पर सासउ मोक्ख-फलु बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥११॥

दर्शनं ज्ञानं अनन्तसुखं समयं न त्रुटचति यस्य।
तत् परं शाश्वतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥११॥

इस प्रकार मोक्षका फल और मोक्ष-मार्गका जिसमें कथन है, ऐसे दूसरे महाधिकारके दस दोहोंमें मोक्षका स्वरूप दिखलाया।

आगे मोक्षका फल अनन्तचतुष्टय है, यह दिखलाते हैं—(यस्य) जिस मोक्ष-पर्यायके धारक शुद्धात्माके (दर्शनं ज्ञानं अनंतसुखं) केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टयोंको आदि देकर अनन्त गुणोंका समूह (समयं न त्रुटचति) एक समयमात्र भी नाश नहीं होता, अर्थात् हमेशा अनंत गुण पाये जाते हैं। (तस्य) उस शुद्धात्माके (तत्) वही (परं) निश्चयसे (शाश्वतं फलं) हमेशा रहनेवाला मोक्षका फल (अस्ति) है, (द्वितीयं न) इसके सिवाय दूसरा मोक्षफल नहीं है, और इससे अधिक दूसरी वस्तु कोई नहीं है।

भावार्थ—मोक्षका फल अनन्तज्ञानादि जानकर समस्तरागादिकका त्याग करके उसीके लिये निरन्तर शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये ॥११॥

अथानन्तरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते तद्यथा—

जीवहं मोक्खहं हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु।
ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छए एहउ वुत्तु ॥१२॥

जीवानां मोक्षस्य हेतुः वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मानं मन्यस्व निश्चयेन एवं उक्तम् ॥१२॥

इस प्रकार दूसरे महाधिकारमें मोक्ष-फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा-सूत्र कहा ।

आगे उन्नीस दोहापर्यन्त निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्गका व्याख्यान करते हैं—(जीवानां) जीवोंके (मोक्षस्य हेतुः) मोक्षके कारण (वरं) उत्कृष्ट (दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं (तानि पुनः) फिर वे (त्रीण्यपि) तीनों ही (निश्चयेन) निश्चयकर (आत्मानं) आत्माको ही (मन्यस्व) जाने (एवं) ऐसा (उक्तं) श्रीवीतरागदेवने कहा है, ऐसा हे प्रभाकरभट्ट; तू जान ।

भावार्थ—भेदरत्नत्रयरूप व्यवहार-मोक्ष-मार्ग साधक है, और अभेदरत्नत्रय-रूप निश्चय-मोक्ष-मार्ग साधने योग्य है । इस प्रकार निश्चय व्यवहारमोक्ष-मार्गका साध्य-साधकभाव, सुवर्ण सुवर्ण-पाषाणकी तरह जानना । ऐसा ही कथन श्रीद्रव्यसंग्रहमें कहा है । "सम्मद्दंसण" इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों ही व्यवहारनयकर मोक्षके कारण जानने; और निश्चयसे उन तीनोंमयी एक आत्मा ही मोक्षका कारण है ॥१२॥

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीति प्रतिपादयति—

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि ।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहं कारणु सो जि ॥१३॥

त जानाति अनुचरति आत्मना आत्मानं य एव ।
दर्शनं ज्ञानं चारित्रं जीवः मोक्षस्य कारणं स एव ॥१३॥

आगे निश्चयरत्नत्रयरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा कहते हैं—(य एव) जो (आत्मना) अपनेसे (आत्मानं) आपको (पश्यति) देखता है, (जानाति) जानता है, (अनुचरति) आचरण करता है, (स एव) वही विवेकी (दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणत हुआ (जीवः) जीव (मोक्षस्य कारणं) मोक्षका कारण है ।

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माको आपकर निर्विकल्परूप देखता है, अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानकी अपेक्षा चंचलता और मलीनता तथा शिथिलता इनका

त्यागकर शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार रुचिरूप निश्चय करता है, वीतराग स्वसंवेदनलक्षण ज्ञानसे जानता है, और सब रागादिक विकल्पोंके त्यागसे निजस्वरूपमें स्थिर होता है, सो निश्चयरत्नत्रयको परिणत हुआ पुरुष ही मोक्षका मार्ग है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया कि हे प्रभो; तत्त्वार्थश्रद्धान रुचिरूप सम्यग्दर्शन वह मोक्षका मार्ग है, इसमें तो दोष नहीं और तुमने कहा कि जो देखे वह दर्शन, जाने वह ज्ञान, और आचरण करे वह चारित्र है । सो यह देखनेरूप दर्शन कैसे मोक्षका मार्ग हो सकता है ? और जो कभी देखनेका नाम दर्शन कहो तो देखना अभव्यको भी होता है, उसके मोक्ष-मार्ग तो नहीं माना है ?

यदि अभव्यके मोक्ष-मार्ग होवे, तो आगमसे विरोध आवे । आगममें तो यह निश्चय है कि अभव्यको मोक्ष नहीं होता । उसका समाधान यह है कि अभव्योंके देखनेरूप जो दर्शन है, वह बाह्यपदार्थोंका है, अन्तरंग शुद्धात्मतत्त्वका दर्शन तो अभव्योंके नहीं होता, उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम क्षय नहीं है, तथा शुद्धात्मा ही उपादेय हैं, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन भी उसके नहीं है और चारित्रमोहके उदयसे वीतराग चारित्ररूप निर्विकल्प शुद्धात्मका सत्तावलोकन भी उसके कभी नहीं है । तात्पर्य यह है, निश्चयकर अभेदरत्नत्रयको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है । ऐसी ही द्रव्यसंग्रहमें साक्षीभूत गाथा कही है । "रयणत्तयं" इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि रत्नत्रय आत्माको छोड़कर अन्य (दूसरी) द्रव्योंमें नहीं रहता, इसलिये मोक्षका कारण उन तीनमयी निज आत्मा ही है ॥१३॥

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति—

जं बोल्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु ।
तं परियाणहि जीव तुहुँ जें परु होहि पवित्तु ॥१४॥

यद् ब्रूते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवसि पवित्रः ॥१४॥

आगे भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार वह परम्पराय मोक्षका मार्ग है, ऐसा दिखलाते हैं—(जीव) हे जीव, (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (यत्) जो (दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंको (ब्रूते) कहता है, (तत्) उस व्यवहाररत्नत्रयको (त्वं) तू (परिजानीहि) जान, (येन) जिससे कि (परः पवित्रः) उत्कृष्ट अर्थात् पवित्र (भवसि) होवे ।

भावार्थ—हे जीव, तू तत्त्वार्थका श्रद्धान, शास्त्रका ज्ञान, और अशुभ क्रियाओं का त्यागरूप सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र व्यवहारमोक्ष-मार्गको जान, क्योंकि ये निश्चय-रत्नत्रयरूप निश्चयमोक्ष-मार्गके साधक हैं, इनके जाननेसे किसी समय परम पवित्र परमात्मा हो जायगा। पहले व्यवहाररत्नत्रयकी प्राप्ति हो जावे, तब ही निश्चयरत्न-त्रयकी प्राप्ति हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं है। जो अनन्त सिद्ध हुए और होवेंगे वे पहले व्यवहाररत्नत्रयको पाकर निश्चयरत्नत्रयरूप हुए। व्यवहार साधन है, और निश्चय साध्य है। व्यवहार और निश्चय मोक्ष-मार्गका स्वरूप कहते हैं—वीतराग सर्वज्ञदेवके कहे हुए छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, इनका श्रद्धान, इनके स्वरूपका ज्ञान, और शुभ क्रियाका आचरण, यह व्यवहारमोक्ष-मार्ग है, और निज शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान स्वरूपका ज्ञान, और स्वरूपका आचरण यह निश्चय-मोक्ष-मार्ग है। साधनके बिना सिद्धि नहीं होती, इसलिये व्यवहारके बिना निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती।

यह कथन सुनकर शिष्यने प्रश्न किया कि हे प्रभो; निश्चयमोक्ष-मार्ग जो निश्चयरत्नत्रय वह तो निर्विकल्प है, और व्यवहाररत्नत्रय विकल्प सहित है, सो यह विकल्प-दशा निर्विकल्पपनेकी साधन कैसे हो सकती है? इस कारण उसको साधक मत कहो। अब इसका समाधान करते हैं। जो अनादिकालका यह जीव विषय कषायोंसे मलीन हो रहा है, सो व्यवहार-साधनके बिना उज्ज्वल नहीं हो सकता, जब मिथ्यात्व अव्रत कषायादिककी क्षीणतासे देव, गुरु, धर्मकी श्रद्धा करे, तत्त्वोंका जान-पना होवे, अशुभ क्रिया मिट जावे, तब गुरू वह अध्यात्मका अधिकारी हो सकता है। जैसे मलिन कपड़ा धोनेसे रंगने योग्य होता है, बिना धोये रंग नहीं लगता, इसलिये परम्पराय मोक्षका कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है। मोक्षका मार्ग दो प्रकारका है, एक व्यवहार, दूसरा निश्चय, निश्चय तो साक्षात् मोक्ष-मार्ग है, और व्यवहार पर-म्पराय है। अथवा सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे निश्चयमोक्षमार्ग भी दो प्रकारका है।

जो मैं अनंतज्ञानरूप हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, ऐसा "सोऽहं" का चिंतवन है, वह तो सविकल्प निश्चय-मोक्ष-मार्ग है, उसको साधक कहते हैं, और जहांपर कुछ चिंतवन नहीं है, कुछ बोलना नहीं है, और कुछ चेष्टा नहीं है, वह निर्विकल्पसमाधिरूप साध्य है, यह तात्पर्य हुआ। इसी कथनके बारेमें द्रव्यसंग्रहकी साक्ष देते हैं। "मा चिट्ठह" इत्यादि। सारांश यह है, कि हे जीव; तू कुछ भी कायकी चेष्टा मत कर, कुछ बोल

भी मत, मौनसे रह, और कुछ चिन्तवन मत कर। सब बातोंको छोड़, आत्मामें आपको लीन कर, यह ही परमध्यान है। श्रीतत्त्वसारमें भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चयमोक्ष-मार्गके कथनमें यह गाथा कही है कि "जं पुण सगयं" इत्यादि। इसका सारांश यह है कि जो आत्मतत्त्व है, वह भी सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका है, जो विकल्प सहित है, वह तो आस्रव सहित है, और जो निर्विकल्प है, वह आस्रव रहित है ॥१४॥

एवं पूर्वोक्तैकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रत्रयं गतम्। इदानीं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्यवहारमोक्षमार्गप्रथमावयवभूतव्यवहारसम्यक्त्वं मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयति। तद्यथा—

दव्वइं जाणइ जहठियइं तह जगि मरणइ जो जि।
अप्पहं केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि ॥१५॥

द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव।
आत्मनः सम्बन्धी भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥१५॥

इस तरह पहले महास्थलमें अनेक अन्तस्थलोंमेंसे उन्नीस दोहोंके स्थलमें तीन दोहोंसे निश्चय व्यवहार मोक्ष-मार्गका कथन किया।

आगे चौदह दोहापर्यन्त व्यवहारमोक्ष-मार्गका पहला अंग व्यवहारसम्यक्त्वको मुख्यतासे कहते हैं—(य एव) जो (द्रव्याणि) द्रव्योंको (यथास्थितानि) जैसा उनका स्वरूप है, वैसा (जानाति) जानें, (तथा) और उसी तरह (जगति) इस जगतमें (मन्यते) निर्दोष श्रद्धान करे, (स एव) वही (आत्मनः संबंधी) आत्माका (अविचलः भावः) चलमलिनावगाढ दोष रहित निश्चल भाव है, (स एव) वही आत्मभाव (दर्शनं) सम्यक्दर्शन है।

भावार्थ—यह जगत छह द्रव्यमयी है, सो इन द्रव्योंको अच्छी तरह जानकर श्रद्धान करे, जिसमें सन्देह नहीं वह सम्यग्दर्शन है, यह सम्यग्दर्शन आत्माका निज स्वभाव है। वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन निश्चयसम्यग्ज्ञान उसका परम्पराय कारण जो परमागमका ज्ञान उसे अच्छी तरह जान, और मनमें मानें, यह निश्चय करे कि इन सब द्रव्योंमें निज आत्मद्रव्य ही ध्यावने योग्य है, ऐसा रुचिरूप जो निश्चयसम्यक्त्व है, उसका परम्पराय कारण व्यवहारसम्यक्त्व देव गुरु धर्मकी श्रद्धा उसे स्वीकार करे।

व्यवहारसम्यक्त्वके पच्चीस दोष हैं, उनको छोड़े। उन पच्चीसको "मूढत्रयं" इत्यादि श्लोकमें कहा है। इसका अर्थ ऐसा है कि जहां देव कुदेवका विचार नहीं है, वह तो देवमूढ़, जहां सुगुरु कुगुरुका विचार नहीं है, वह गुरुमूढ़, जहां धर्म कुधर्मका विचार नहीं है, वह धर्ममूढ़ ये तीन मूढ़ता; और जातिमद, कुलमद, धनमद, रूपमद, तप-मद, बलमद, विद्यामद, राजमद ये आठ मद। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म इनकी और इनके आराधकोंकी जो प्रशंसा वह छह अनायतन और निःशंकितादि आठ अंगोंसे विपरीत शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ता, परदोष कथन, अथिरकरण, साधर्मियोंसे स्नेह नहीं रखना, और जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करना, ये शंकादि आठ मल, इस प्रकार सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं, इन दोषोंको छोड़कर तत्त्वोंकी श्रद्धा करे, वह व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

जहां अस्थिर बुद्धि नहीं है, और परिणामोंकी मलिनता नहीं, और शिथिलता नहीं, वह सम्यक्त्व है। यह सम्यग्दर्शन ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि है, ऐसा जान-कर भोगोंकी वांछारूप जो विकल्प उनको छोड़कर सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये। ऐसा कहा है 'हस्ते' इत्यादि जिसके हाथमें चिन्तामणि है, धनमें कामधेनु है, और जिसके घरमें कल्पवृक्ष है, उसके अन्य क्या प्रार्थनाकी आवश्यकता है? कल्पवृक्ष काम-धेनु चिन्तामणि तो कहने मात्र हैं, सम्यक्त्व ही कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि है, ऐसा जानना ॥१५॥

अथ यै षड्द्रव्यैः सम्यक्त्वविषयभूतैस्त्रिभुवनं भृतं तिष्ठति तानीदृक् जानीहीत्य-भिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

दव्वइं जाणहि ताइं छह तिहुयणु भरियउ जेहिं।
आइ-विणास-विवज्जियहिं णाणिहि पभणियएहिं ॥१६॥

द्रव्याणि जानीहि तानि षट् त्रिभुवनं भृतं यैः।
आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रभणितैः ॥१६॥

आगे सम्यक्त्वके कारण जो छह द्रव्य हैं, उनसे यह तीनलोक भरा हुआ है, उनको यथार्थ जानो, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—हे प्रभा-करभट्ट, तू (तानि षड्द्रव्याणि) उन छहों द्रव्योंको (जानीहि) जान, (यैः) जिन द्रव्योंसे (त्रिभुवनं भृतं) यह तीन लोक भर रहा है, वे छह द्रव्य (ज्ञानिभिः) ज्ञानियोंने (आदिविनाशविवर्जितैः) आदि अन्तकर रहित द्रव्यार्थिकनयसे (प्रभणितैः) कहे हैं।

भावार्थ—वह लोक छह द्रव्योंसे भरा है, अनादिनिधन है, इस लोकका आदि अन्त नहीं है, तथा इसका कर्ता, हर्ता व रक्षक कोई नहीं है। यद्यपि ये छह द्रव्य व्यवहार सम्यक्त्वके कारण हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग-सम्यक्त्वका कारण नित्य आनन्द स्वभाव निज शुद्धात्मा ही है ॥१६॥

अथ तेषामेव षड्द्रव्याणां संज्ञां चेतनाचेतनविभागं च कथयति—

जीउ सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयण अण्ण।
पोग्गलु धम्माहम्मु णहु कालें सहिया भिण्ण ॥१७॥

जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्व पञ्च अचेतनानि अन्यानि।
पुद्गलः धर्माधर्मौ नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥१७॥

आगे उन छह द्रव्योंके नाम कहते हैं—हे शिष्य, तू **(जीवः सचेतनद्रव्यं)** जीव चेतनद्रव्य है, ऐसा **(मन्यस्व)** जान, **(अन्यानि)** और बाकी **(पुद्गलः धर्माधर्मौ)** पुद्गल धर्म अधर्म **(नभः)** आकाश **(कालेन सहिता)** और काल सहित जो **(पंच)** पांच हैं, वे **(अचेतनानि)** अचेतन हैं और **(अन्यानि)** जीवसे भिन्न हैं, तथा ये सब **(भिन्नानि)** अपने-अपने लक्षणोंसे आपसमें भिन्न (जुदा जुदा) हैं, काल सहित छह द्रव्य हैं, कालके बिना पांच अस्तिकाय हैं।

भावार्थ—सम्यक्त्व दो प्रकारका है, एक सरागसम्यक्त्व, दूसरा वीतराग-सम्यक्त्व; सरागसम्यक्त्वका लक्षण कहते हैं। **प्रशम** अर्थात् शान्तिपना, **संवेग** अर्थात् जिनधर्मकी रुचि तथा जगतसे अरुचि, **अनुकंपा** परजीवोंको दुःखी देखकर दया भाव और **आस्तिक्य** अर्थात् देव गुरु धर्मकी तथा छह द्रव्योंकी श्रद्धा इन चारोंका होना वह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है, और वीतरागसम्यक्त्व जो निश्चयसम्यक्त्व वह निजशुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्रसे तन्मयी है। यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया। हे प्रभो, निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्वका कथन पहले तुमने अनेक बार किया, फिर अब वीतरागचारित्रसे तन्मयी निश्चयसम्यक्त्व है, यह व्याख्यान करते हैं, सो यह तो पूर्वापर विरोध है। क्योंकि जो निज शुद्धात्मा ही उपादेय हैं, ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो गृहस्थमें तीर्थङ्कर परमदेव भरत चक्रवर्ती और राम पांडवादि बड़े-बड़े पुरुषोंके रहता है, लेकिन उनके वीतरागचारित्र नहीं है। यही परस्पर विरोध है। यदि उनके वीतरागचारित्र माना जावे, तो गृहस्थपना क्यों कहा ? यह प्रश्न किया। उसका उत्तर श्रीगुरु देते हैं।

उन महान् (बड़े) पुरुषोंके शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी भावनारूप निश्चय-सम्यक्त्व तो है, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे स्थिरता नहीं है। जबतक महाव्रतका उदय नहीं है, तबतक असंयमी कहलाते हैं, शुद्धात्माकी अखण्ड भावनासे रहित हुए भरत सगर राघव पांडवादिक निर्दोष परमात्मा अरहन्त सिद्धोंके गुणस्तवन वस्तुस्तवन-रूप स्तोत्रादि करते हैं, और उनके चारित्र पुराणादिक सुनते हैं, तथा उनकी आज्ञाके आराधक जो महान पुरुष आचार्य उपाध्याय साधु उनको भक्तिसे आहारदानादि करते हैं, पूजा करते हैं। विषय कषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये तथा संसारकी स्थितिके नाश करनेके लिये ऐसी शुभ क्रिया करते हैं। इसलिये शुभ रागके सम्बन्धसे सम्यग्दृष्टि हैं, और इनके निश्चयसम्यक्त्व भी कहा जा सकता है क्योंकि वीतराग-चारित्रसे तन्मयी निश्चयसम्यक्त्वके परंपराय साधकपना है। अब वास्तवमें (असलमें) विचारा जावे, तो गृहस्थ अवस्थामें इनके सरागसम्यक्त्व ही है, और जो सराग-सम्यक्त्व है, वह व्यवहार ही है, ऐसा जानो ॥१७॥

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिषड्द्रव्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते—

मुत्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥१८॥

मूर्तिविहीनः ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।
नियमेन योगिन् आत्मानं मन्यस्व नित्यं निरञ्जनं भावम् ॥१८॥

आगे चार दोहोंसे छह द्रव्योंके क्रमसे हरएकके लक्षण कहते हैं—(योगिन्) हे योगी, (नियमेन) निश्चय करके (आत्मानं) तू आत्माको ऐसा (मन्यस्व) जान। कैसा है आत्मा। (मूर्तिविहीनः) मूर्तिसे रहित है, (ज्ञानमयः) ज्ञानमयी है, (परमा-नंदस्वभावः) परमानन्द स्वभाववाला है, (नित्यं) नित्य है, (निरंजनं) निरंजन है, (भावं) ऐसा जीवपदार्थ है।

भावार्थ—यह आत्मा अमूर्तीक शुद्धात्मासे भिन्न जो स्पर्श रस गंध वर्णवाली मूर्ति उससे रहित है, लोक अलोकका प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानकर पूर्ण है, जो कि केवलज्ञान सब पदार्थोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है, आगे पीछे नहीं जानता, वीत-रागभाव परमानन्दरूप अतीन्द्रिय सुखस्वरूप अमृतके रसके स्वादसे समरसी भावको परिणत हुआ है, ऐसा हे योगी; शुद्ध निश्चयसे अपनी आत्माको ऐसा समझ, शुद्ध

द्रव्यार्थिकनयसे बिना टांकीका घड्या हुआ सुघटघाट ज्ञायक स्वभाव नित्य है। तथा मिथ्यात्वरागादिरूप अंजनसे रहित निरंजन है। ऐसी आत्माको तू भली-भांति जान, जो सब पदार्थोंमें उत्कृष्ट है। इन गुणोंसे मण्डित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, और सब तजने योग्य हैं ॥१८॥

अथ—

पुग्गलु छव्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि ।
धम्माधम्मु वि गयठियहं कारणु पभणहिं णाणि ॥१९॥

पुद्गलः षड्विधः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।
धर्माधर्ममपि गतिस्थित्योः कारणं प्रभणन्ति ज्ञानिनः ॥१९॥

आगे फिर भी कहते हैं—(वत्स) हे वत्स, तू (पुद्गलः) पुद्गलद्रव्य (षड्विधः) छह प्रकार तथा (मूर्तः) मूर्तीक है, (इतराणि) अन्य सब द्रव्य (अमूर्तानि) अमूर्त हैं, ऐसा (विजानीहि) जान, (धर्माधर्ममपि) धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको (गतिस्थित्योः कारणं) गति स्थितिका सहायक-कारण (ज्ञानिनः) केवली श्रुतकेवली (प्रभणंति) कहते हैं।

भावार्थ—पुद्गल द्रव्यके छह भेद दूसरी जगह भी "पुढवी जलं" इत्यादि गाथासे कहते हैं। उसका अर्थ यह है, कि बादरबादर १, बादर २, बादरसूक्ष्म ३, सूक्ष्मबादर ४, सूक्ष्म ५, सूक्ष्मसूक्ष्म ६, ये छह भेद पुद्गलके हैं। उनमेंसे पत्थर काठ तृण आदि पृथ्वी बादरबादर हैं, टुकड़े होकर नहीं जुड़ते, जल घी तेल आदि बादर हैं, जो टूटकर मिलजाते हैं, छाया आतप चांदनी ये बादरसूक्ष्म हैं, जो कि देखनेमें तो बादर और ग्रहण करनेमें सूक्ष्म हैं, नेत्रको छोड़कर चार इन्द्रियोंके विषय रस गन्धादि सूक्ष्म बादर हैं, जो कि देखनेमें नहीं आते, और ग्रहण करनेमें आते हैं। कर्मवर्गणा सूक्ष्म हैं, जो अनन्त मिली हुई हैं, परन्तु दृष्टिमें नहीं आतीं, और सूक्ष्मसूक्ष्म परमाणु है, जिसका दूसरा भाग नहीं होता। इस तरह छह भेद हैं। इन छहों तरहके पुद्गलोंको तू अपने स्वरूपसे जुदा समझ।

यह पुद्गलद्रव्य स्पर्श रस गन्ध वर्णको धारण करता है, इसलिये मूर्तीक है, अन्य धर्म अधर्म दोनों गति तथा स्थितिके कारण हैं, ऐसा वीतरागदेवने कहा है। यहां पर एक बात देखनेकी है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूप पुद्गलद्रव्य मोक्षके

गमनका सहायक है, इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती, तो भी धर्मद्रव्य गति सहायी है, इसके बिना सिद्धलोकको जाना नहीं हो सकता, तथा अधर्मद्रव्य सिद्धलोकमें स्थिति का सहायी है । लोक-शिखरपर आकाशके प्रदेश अवकाशमें सहायी हैं । अनन्ते सिद्ध अपने स्वभावमें ही ठहरे हुए हैं, परद्रव्यका कुछ प्रयोजन नहीं है । यद्यपि मुक्तात्माओं के प्रदेश आपसमें एक जगह हैं, तो भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन भाव भगवान् सिद्धक्षेत्रमें भिन्न-भिन्न स्थित हैं, कोई सिद्ध किसी सिद्धसे प्रदेशोंकर मिला हुआ नहीं है । पुद्गलादि पांचों द्रव्य जीवको यद्यपि निमित्त कारण कहे गये हैं, तो भी उपादानकारण नहीं है, ऐसा सारांश हुआ ॥१९॥

अथ—

दव्वइं सयलइं वरि ठियइं णियमें जासु वसंति ।
तं णहु दव्वु वियाणि तुहुँ जिणवर एउ भणंति ॥२०॥

द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसन्ति ।
तत् नभः द्रव्यं विजानीहि त्वं जिनवरा एतद् भणन्ति ॥२०॥

आगे आकाश का स्वरूप कहते हैं—(यस्य) जिसके (उदरे) अन्दर (सकलानि द्रव्याणि) सब द्रव्यें (स्थितानि) स्थित हुई (नियमेन वसंति) निश्चयसे आधार आधेयरूप होकर रहती हैं, (तत्) उसको (त्वं) तू (नभः द्रव्यं) आकाशद्रव्य (विजानीहि) जान, (एतत्) ऐसा (जिनवराः) जिनेन्द्रदेव (भणंति) कहते हैं । लोकाकाश आधार है, अन्य सब द्रव्य आदेय है ।

भावार्थ—यद्यपि ये सब द्रव्य आकाशमें परस्पर एक क्षेत्रावगाहसे ठहरी हुई हैं, तो भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं, और आत्मा साक्षात् आराधने योग्य है, अनन्तसुखस्वरूप है ॥२०॥

अथ—

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुं वट्टण-लक्खणु एउ ।
रयणहं रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहं तह भेउ ॥२१॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।
रत्नानां राशिः विभिन्नः यथा तस्य अणूनां तथा भेदः ॥२१॥

आगे कालद्रव्यका व्याख्यान करते हैं—(त्वं) हे भव्य, तू (एतत्) इस प्रत्यक्षरूप (वर्तनालक्षणं) वर्तनालक्षणवालेको (कालं) कालद्रव्य (मन्यस्व) जान

अर्थात् अपने आप परिणमते हुए द्रव्योंको कुम्हारके चक्रकी नीचेकी सिलाकी तरह जो वहिरंग सहकारीकारण है, यह कालद्रव्य असंख्यात प्रदेशप्रमाण है (यथा) जैसे (रत्नानां राशिः) रत्नोंकी राशि (विभिन्नः) जुदारूप है, सब रत्न जुदा-जुदा रहते हैं—मिलते नहीं हैं, (तथा) उसी तरह (तस्य) उस कालके (अणूनां) कालकी अणुओंका (भेदः) भेद है, एक कालाणुसे दूसरा कालाणु नहीं मिलता। यहां पर शिष्यने प्रश्न किया कि समय ही निश्चयकाल है, अन्य निश्चयकाल नामवाला द्रव्य नहीं है ? इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं।

समय वह कालद्रव्यकी पर्याय है, क्योंकि विनाशको पाता है। ऐसा ही श्रीपंचास्तिकायमें कहा है "समओ उप्पण्णपद्धंसी" अर्थात् समय उत्पन्न होता है और नाश होता है। इससे जानते हैं कि समय पर्याय द्रव्यके बिना हो नहीं सकता। किस द्रव्यका पर्याय है, इस पर अब विचार करना चाहिये। यदि पुद्गलद्रव्यकी पर्याय मानी जावे, तो जैसे पुद्गल परमाणुओंसे उत्पन्न हुए घटादि मूर्तीक हैं, वैसे समय भी मूर्तीक होना चाहिये, परन्तु समय अमूर्तीक है, इसलिये पुद्गलकी पर्याय तो नहीं है। पुद्गलपरमाणु आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशको जब गमन होता है, सो समय-पर्याय कालकी है, पुद्गलपरमाणुके निमित्तसे होते हैं, नेत्रोंका मिलना तथा विघटना उससे निमेष होता है, जल-पात्र तथा हस्तादिकके व्यापारसे घटिका होती है, और सूर्य-बिम्बके उदयसे दिन होता है, इत्यादि कालकी पर्याय हैं, पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होती हैं, पुद्गल इन पर्यायोंका मूलकारण नहीं है, मूलकारण काल है। जो पुद्गल मूल-कारण होता तो समयादिक मूर्तीक होते।

जैसे मूर्तीक मिट्टीके ढेलेसे उत्पन्न घड़े वगैरः मूर्तीक होते हैं, वैसे समयादिक मूर्तीक नहीं हैं। इसलिये अमूर्तद्रव्य जो काल उसकी पर्याय हैं, द्रव्य नहीं हैं, कालद्रव्य अणुरूप अमूर्तीक अविनश्वर है, और समयादिक पर्याय अमूर्तीक हैं, परन्तु विनश्वर हैं, अविनश्वरपना द्रव्यमें ही है, पर्यायमें नहीं है, यह निश्चयसे जानना। इसलिये समया-दिकको कालद्रव्यकी पर्याय ही कहना चाहिये, पुद्गलकी पर्याय नहीं हैं, पुद्गलपर्याय मूर्तीक है। सर्वथा उपादेय शुद्ध बुद्ध केवलस्वभाव जो जीव उससे भिन्न कालद्रव्य है, इसलिये हेय है, यह सारांश हुआ ॥२१॥

अथजीवपुद्गलकालद्रव्याणि मुक्त्वा शेषधर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणीति निरूपयति—

जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेल्लेविणु दव्व ।
इयर अखंड वियाणि तुहुँ अप्प-पएसहिं सव्व ।।२२।।

जीवोऽपि पुद्गलः कालः जीव एतानि मुक्त्वा द्रव्याणि ।
इतराणि अखण्डानि विजानीहि त्वं आत्मप्रदेशैः सर्वाणि ।।२२।।

आगे जीव पुद्गल काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं, और धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक हैं, ऐसा कहते हैं—(जीव) हे जीव, (त्वं) तू (जीवः अपि) जीव और (पुद्गलः) पुद्गल (कालः) काल (एतानि द्रव्याणि) इन तीन द्रव्योंको (मुक्त्वा) छोड़कर (इतराणि) दूसरी धर्म अधर्म आकाश (सर्वाणि) ये सब तीन द्रव्य (आत्मप्रदेशैः) अपने प्रदेशोंसे (अखंडानि) अखंडित हैं ।

भावार्थ—जीवद्रव्य जुदा जुदा जीवोंकी गणनासे अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य उससे भी अनन्तगुणे हैं, कालद्रव्याणु असंख्यात हैं, धर्मद्रव्य एक है, और वह लोकव्यापी है, अधर्मद्रव्य भी एक है, और वह लोकव्यापी है, ये दोनों द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, और आकाशद्रव्य अलोक अपेक्षा अनन्तप्रदेशी है, तथा लोक अपेक्षा असंख्यातप्रदेशी हैं । ये सब द्रव्य अपने-अपने प्रदेशोंकर सहित हैं, किसीके प्रदेश किसीसे नहीं मिलते । इन छहों द्रव्योंमें जीव ही उपादेय है । यद्यपि शुद्ध निश्चयसे शक्तिकी अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं, तो भी व्यक्तिकी अपेक्षा पंचपरमेष्ठी ही उपादेय हैं, उनमें भी अरहन्त सिद्ध ही हैं, उन दोनोंमें भी सिद्ध ही हैं, और निश्चयनयकर मिथ्यात्वरागादि विभावपरिणामके अभावमें विशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा जानना ।।२२।।

अथ जीवपुद्गलौ सक्रियौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति—

दव्व चयारि वि इयर जिय गमणागमण-विहीण ।
जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि पभणहिं णाण-पवीण ।।२३।।

द्रव्याणि चत्वारि अपि इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।
जीवमपि पुद्गलं परिहृत्य प्रभणन्ति ज्ञानप्रवीणाः ।।२३।।

आगे जीव पुद्गल ये दोनों चलन-हलनादि क्रियायुक्त हैं, और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों निःक्रिय हैं, ऐसा निरूपण करते हैं—(जीव) हे हंस, (जीवं

अपि पुद्गलं) जीव और पुद्गल इन दोनोंको (परिहृत्य) छोड़कर (इतराणि) दूसरे (चत्वारि एव द्रव्याणि) धर्मादि चारों ही द्रव्य (गमनागमनविहीनानि) चलन हलनादि क्रिया रहित हैं, जीव पुद्गल क्रियावंत हैं, गमनागमन करते हैं, ऐसा (ज्ञानप्रवीणाः) ज्ञानियोंमें चतुर रत्नत्रयके धारक केवली श्रुतकेवली (प्रभणंति) कहते हैं ।

भावार्थ—जीवोंके संसार-अवस्थामें इस गतिसे अन्यगतिके जानेको कर्मनोकर्म जातिके पुद्गल सहायी हैं । और कर्म नोकर्मके अभावसे सिद्धोंके निःक्रियपना है, गमनागमन नहीं है । पुद्गलके स्कन्धोंको गमनका वहिरंग निमित्तकारण कालाणुरूप कालद्रव्य है । इससे क्या अर्थ निकला ? यह निकला कि निश्चयकालकी पर्याय जो समयरूप व्यवहारकाल उसकी उत्पत्तिमें मन्द गतिरूप परिणत हुआ अविभागी पुद्गल-परमाणु कारण होता है । समयरूप व्यवहारकालका उपादानकारण निश्चयकालद्रव्य है, उसीकी एक समयादि व्यवहारकालका मूलकारण निश्चयकालाणुरूप कालद्रव्य है, उसीकी एक समयादिक पर्याय है, पुद्गलपरमाणुकी मन्दगति बहिरङ्ग निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है, पुद्गल परमाणु आकाशके प्रदेशमें मन्दगतिसे गमन करता है, यदि शीघ्र गतिसे चले तो एक समयमें चौदह राजू जाता है, जैसे घटपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो मिट्टीका डला है, और बहिरंगकारण कुम्हार है, वैसे समय-पर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो कालाणुरूप निश्चयकाल है, और वहिरंग निमित्त-कारण पुद्गलपरमाणु है । पुद्गलपरमाणुकी मन्दगतिरूप गमन समयमें यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है, तो भी कालाणुरूप निश्चयकाल परमाणुकी मन्दगतिका सहायी जानना ।

परमाणुके निमित्तसे तो कालका समयपर्याय प्रगट होता है, और कालके सहायसे परमाणु मन्दगति करता है । कोई प्रश्न करे कि गतिका सहकारी धर्म है, कालको क्यों कहा ? उसका समाधान यह है कि सहकारीकारण वहुत होते हैं, और उपादानकारण एक ही होता है, दूसरा द्रव्य नहीं होता, निज द्रव्य ही निज (अपनी) गुण-पर्यायोंका मूलकारण है, और निमित्तकारण वहिरंगकारण तो वहुत होते हैं, इसमें कुछ दोष नहीं है । धर्मद्रव्य तो सवहीका गतिसहायी है, परन्तु मछलियोंको गतिसहायी जल है, तथा घटकी उत्पत्तिमें वहिरंगनिमित्त कुम्हार है, तो भी दंड-चक्र चीवरादिक ये भी अवश्य कारण हैं, इनके विना घट नहीं होता, और जीवोंके धर्मद्रव्य गतिका सहायी विद्यमान है, तो भी कर्म नोकर्म पुद्गल सहकारीकारण हैं, इसी तरह पुद्गलको कालद्रव्य गति सहकारीकारण जानना । यहां कोई प्रश्न करे कि धर्मद्रव्य तो गतिका

सहायी सब जगह कहा है, और कालद्रव्य वर्तनाका सहायी है, गति सहायी किस जगह कहा है ? उसका समाधान श्रीपंचास्तिकायमें कुन्दकुन्दाचार्यने क्रियावंत और अक्रियावंतके व्याख्यानमें कहा है ।

"जीवा पुग्गल" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावंत हैं, और शेष चार द्रव्य अक्रियावाले हैं, चलन-हलन क्रियासे रहित हैं । जीवको दूसरी गतिमें गमनका कारण कर्म है, वह पुद्गल है और पुद्गलको गमनका कारण काल है । जैसे धर्मद्रव्यके मौजूद होनेपर भी मच्छोंको गमनसहायी जल है, उसी तरह पुद्गलको धर्मद्रव्यके होनेपर भी द्रव्यकाल गमनका सहकारी कारण है । यहां निश्चयनयकर गमनादि क्रियासे रहित निःक्रिय सिद्धस्वरूपके समान निःक्रिय निर्द्वंद्व निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, यह शास्त्रका तात्पर्य हुआ । इसी प्रकार दूसरे ग्रन्थोंमें भी निश्चयकर हलन चलनादि क्रिया रहित जीवका लक्षण कहा है । "यावत्क्रिया" इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जबतक इस जीवके हलन चलनादि क्रिया है, गतिसे गत्यन्तरको जाना है, तबतक दूसरे द्रव्यका सम्बन्ध है, जब दूसरेका सम्बन्ध मिटा, अद्वैत हुआ, तब निकल अर्थात् शरीरसे रहित निःक्रिय है, उसके हलन चलनादि क्रिया कहांसे हो सकती हैं, अर्थात् संसारी जीवके कर्मके सम्बन्धसे गमन है, सिद्धभगवान् कर्मरहित निःक्रिय हैं, उनके गमनागमन क्रिया कभी नहीं हो सकती ।।२३।।

अथ पञ्चास्तिकायसूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति कथयति—

धम्माधम्मु वि एक्कु जिउ ए जि असंख्य-पदेस ।
गयणु अणंत-पएसु मुणि बहु-विह पुग्गल-देस ।।२४।।

धर्माधर्मौ अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि ।
गगनं अनन्तप्रदेशं मन्यस्व बहुविधाः पुद्गलदेशाः ।।२४।।

आगे पंचास्तिकायके प्रगट करने के लिये कालद्रव्य अप्रदेशीको छोड़कर अन्य पांच द्रव्योंमेंसे किसके कितने प्रदेश हैं, यह कहते हैं—(धर्माधर्मौ) धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य (अपि एकः जीवः) और एक जीव (एतानि एव) इन तीनों ही को (असंख्यप्रदेशानि) असंख्यात प्रदेशी (मन्यस्व) तू जान, (गगनं) आकाश (अनंतप्रदेशं) अनन्तप्रदेशी है, (पुद्गलप्रदेशाः) और पुद्गल के प्रदेश (बहुविधाः) बहुत प्रकारके हैं, परमाणु तो एकप्रदेशी है, और स्कन्ध संख्यातप्रदेश असंख्यातप्रदेश तथा अनन्तप्रदेशी भी होते हैं ।

भावार्थ—जगत्‌में धर्मद्रव्य तो एक ही है, वह असंख्यातप्रदेशी है, अधर्मद्रव्य भी एक है, असंख्यात प्रदेशी है, जीव अनन्त हैं, सो एक-एक जीव असंख्यात प्रदेशी है, आकाशद्रव्य एक ही है, वह अनन्तप्रदेशी है, ऐसा जानो। पुद्‌गल एक प्रदेशसे लेकर अनंतप्रदेश तक है। एक परमाणु तो एक प्रदेशी है, और जैसे-जैसे परमाणु मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे प्रदेश भी बढ़ते जाते हैं, वे संख्यात असंख्यात अनन्त प्रदेश तक जानने, अनंत परमाणु इकट्ठे होवें, तब अनंत प्रदेश कहे जाते हैं। अन्य द्रव्योंके तो विस्ताररूप प्रदेश हैं, और पुद्‌गलके स्कन्धरूप प्रदेश हैं।

पुद्‌गलके कथनमें प्रदेश शब्दसे परमाणु लेना, क्षेत्र नहीं लेना, पुद्‌गलका प्रचार लोकमें ही है, अलोकाकाशमें नहीं है, इसलिये अनंत क्षेत्र प्रदेशके अभाव होनेसे क्षेत्र प्रदेश न जानने। जैसे जैसे परमाणु मिल जाते हैं, वैसे वैसे प्रदेशोंकी बढ़वारी जाननी। इसी दोहेके कथनमें पाठान्तर "पुग्गलु तिविहु पएसु" ऐसा है उसका अर्थ यह है कि पुद्‌गलके संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेश परमाणुओंके मेलसे जानना चाहिये, अर्थात् एक परमाणु एक प्रदेश, बहुत परमाणु बहु प्रदेश, यह जानना। सूत्रमें शुद्धनिश्चयकर द्रव्यकर्मके अभावसे यह जीव अमूर्तीक है, और मिथ्यात्व रागादिरूप भावकर्म संकल्प विकल्पके अभावसे शुद्ध है, लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशवाला है, ऐसा जो निज शुद्धात्मा वही वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदशामें साक्षात् उपादेय है, यह जानना ॥२४॥

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति दर्शयति—

लोयागासु धरेवि जिय कहियइं दव्वइं जाइं।
एक्कहिं मिलियइं इत्थु जगि सगुणहिं णिवसहिं ताइं ॥२५॥

लोकाकाशं धृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि।
एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसन्ति तानि ॥२५॥

आगे लोकमें यद्यपि व्यवहारनयकर ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहसे तिष्ठ रहे हैं, तो भी निश्चयनयकर कोई द्रव्य किसीसे नहीं मिलता, और कोई भी अपने-अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है, ऐसा दिखलाते हैं—(जीव) हे जीव, (अत्र जगति) इस संसारमें (यानि द्रव्याणि कथितानि) जो द्रव्य कहे गये हैं, (तानि) वे सब (लोकाकाशं धृत्वा) लोकाकाशमें स्थित हैं, लोकाकाश तो आधार है, और ये सब आधेय हैं, (एकत्वे

मिलितानि) ये द्रव्य एक क्षेत्रमें मिले हुए रहते हैं, एक क्षेत्रावगाही हैं, तो भी (स्वगुणेषु) निश्चयनयकर अपने अपने गुणोंमें ही (निवसंति) निवास करते हैं, परद्रव्यसे मिलते नहीं हैं।

भावार्थ—यद्यपि उपचरितअसद्भूतव्यवहारनयकर आधाराधेयभावसे एक क्षेत्रावगाहकर तिष्ठ रहे हैं, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे परद्रव्यसे मिलनेरूप संकरदोषसे रहित हैं, और अपने अपने सामान्य गुण तथा विशेष गुणोंको नहीं छोड़ते हैं। यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया कि हे भगवन्, परमागममें लोकाकाश तो असंख्यात प्रदेशी कहा है, उस असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्त जीव किस तरह समा सकते हैं ? क्योंकि एक-एक जीवके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं, और एक-एक जीवमें अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु कर्म नोकर्मरूपसे लग रही है, और उसके सिवाय अनन्तगुणें अन्य पुद्गल रहते हैं, सो ये द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोकमें कैसे समा गये ? इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं।

आकाशमें अवकाशदान (जगह देनेकी) शक्ति है, उसके सम्बन्धसे समा जाते हैं। जैसे एक गूढ़ नागरस गुटिकामें शत सहस्र लक्ष सुवर्ण संख्या आ जाती है, अथवा एक दीपकके प्रकाशमें बहुत दीपकोंका प्रकाश जगह पाता है, अथवा जैसे एक राखके घड़ेमें जलका घड़ा अच्छी तरह अवकाश पाता है, भस्ममें जल शोषित हो जाता है, अथवा जैसे एक ऊंटनीके दूधके घड़ेमें शहदका घड़ा समा जाता है, अथवा एक भूमिघरमें ढोल घण्टा आदि बहुत बाजोंका शब्द अच्छी तरह समा जाता है, उसी तरह एक लोकाकाशमें विशिष्ट अवगाहनशक्तिके योगसे अनंत जीव और अनंतानन्त पुद्गल अवकाश पाते हैं, इसमें विरोध नहीं है, और जीवोंमें परस्पर अवगाहनशक्ति है। ऐसा ही कथन परमागममें कहा है—"एगणिगोद" इत्यादि।

इसका अर्थ ऐसा है कि एक निगोदिया जीवके शरीरमें जीवद्रव्यके प्रमाणसे दिखलाये गये जितने सिद्ध हैं, उन सिद्धोंसे अनन्त गुणे जीव एक निगोदियाके शरीरमें हैं, और निगोदियाका शरीर अंगुलके असंख्यातवें भाग है, सो ऐसे सूक्ष्म शरीरमें अनन्त जीव समा जाते हैं, तो लोकाकाशमें समा जानेमें क्या अचम्भा है ? अनन्तानन्त पुद्गल लोकाकाशमें समा रहे हैं, उसकी "ओगाढ" इत्यादि गाथा है। उसका अर्थ यह है कि सब प्रकार सब जगह यह लोक पुद्गल कायोंकर अवगाढ़गाढ़ भरा है, ये पुद्गल काय अनन्त हैं; अनेक प्रकारके भेदको धरते हैं, कोई सूक्ष्म हैं, कोई बादर हैं।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहकर रहते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर जीव केवल ज्ञानादि अनंतगुणरूप अपनें स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं, पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि स्वरूपको नहीं छोड़ता, और धर्मादि अन्य द्रव्य भी अपनें अपनें स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं ॥२५॥

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपञ्चद्रव्यकृतमुपकारं कथयति, तस्यैव जीवस्य निश्चयेन तान्येव दुःखकारणानि च कथयति—

एयइं दव्वइं देहियहं णिय-णिय-कज्जु जणंति ।
चउ-गइ-दुक्ख सहंत जिय तें संसारु भमंति ॥२६॥

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयन्ति ।
चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमन्ति ॥२६॥

आगे जीवका व्यवहारनयकर अन्य पांचों द्रव्य उपकार करते हैं, ऐसा कहते हैं, तथा उसी जीवके निश्चयसे वे ही दुःखके कारण हैं, ऐसा कहते हैं—(एतानि) ये (द्रव्याणि) द्रव्य (देहिनां) जीवोंके (निजनिजकार्यं) अपने अपनें कार्यको (जनयंति) उपजाते हैं, (तेन) इस कारण (चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः) नरकादि चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए जीव (संसारं) संसारमें (भ्रमंति) भटकते हैं ।

भावार्थ—ये द्रव्य जो जीवका उपकार करते हैं, उसको दिखलाते हैं । पुद्गल तो आत्मदानसे विपरीत विभाव परिणामोंमें लीन हुए अज्ञानी जीवोंके व्यवहारनयकर शरीर, वचन, मन, श्वासोश्वास, इन चारोंको उत्पत्ति करता है, अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, रागद्वेषादि विभावपरिणाम हैं, इन विभाव परिणामोंके योगसे जीवके पुद्गलका सम्बन्ध है, और पुद्गलके संबंधसे ये हैं, धर्मद्रव्य उपचरितासद्भूत व्यवहारनयकर गतिसहायी है । अधर्मद्रव्य स्थितिसहकारी है, व्यवहारनयकर आकाशद्रव्य अवकाश (जगह) देता है, और कालद्रव्य शुभ अशुभ परिणामोंका सहायी है । इस तरह ये पांच द्रव्य सहकारी हैं । इनका सहाय पाकर ये जीव निश्चय व्यवहाररत्नत्रयकी भावनासे रहित भ्रष्ट होते हुए चारों गतियोंके दुःखोंको सहते हुए संसारमें भटकते हैं, यह तात्पर्य हुआ ॥२६॥

अथैवं पञ्चद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दुःखकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धात्मोपलम्भलक्षणे मोक्षमार्गे स्थीयत इति निरूपयति—

दुक्खहं कारणु मुणिवि जिय दव्वहं एहु सहाउ ।
होयवि मोक्खहं मग्गि लहु गम्मिज्जइ पर-लोउ ॥२७॥

दुःखस्य कारणं मत्वा जीव द्रव्याणां एतत्स्वभावम् ।
भूत्वा मोक्षस्य मार्गे लघु गम्यते परलोकः ॥२७॥

आगे परद्रव्योंका सम्बन्ध निश्चयनयसे दुःखका कारण है, ऐसा जानकर हे जीव शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष-मार्गमें स्थित हो, ऐसा कहते हैं—(जीव) हे जीव, (द्रव्याणां इमं स्वभावं) परद्रव्योंके ये स्वभाव (दुःखस्य) दुःखके (कारणं मत्वा) कारण जानकर (मोक्षस्य मार्गे) मोक्षके मार्गमें (भूत्वा) लगकर (लघु) शीघ्र ही (परलोकः गम्यते) उत्कृष्ट लोकरूप मोक्षमें जाना चाहिये ।

भावार्थ—पहले कहे गये पुद्गलादि द्रव्योंके सहाय शरीर वचन मन श्वासोच्छ्वास आदिक ये सब दुःखके कारण हैं, क्योंकि वीतराग सदा आनन्दरूप स्वभावकर उत्पन्न जो अतीन्द्रिय सुख उससे विपरीत आकुलताके उपजानेवाले हैं, ऐसा जानकर हे जीव, तू भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षके मार्गमें लगकर परमात्माका अनुभव परमसमरसीभावसे परिणमनरूप मोक्ष उसमें गमन कर ॥२७॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च हे प्रभाकरभट्ट श्रृणु त्वमिति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

णियमें कहियउ एहु मइं ववहारेण वि दिट्ठि ।
एवहिं णाणु चरित्तु सुणि जें पावहि परमेट्ठि ॥२८॥

नियमेन कथिता एषा मया व्यवहारेणापि दृष्टिः ।
इदानीं ज्ञानं चारित्रं श्रृणु येन प्राप्नोषि परमेष्ठिनम् ॥२८॥

आगे व्यवहारनयसे मैंने ये जीवादि द्रव्योंके श्रद्धानरूपको सम्यग्दर्शन कहा है, अब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको हे प्रभाकरभट्ट; तू सुन, ऐसा मनमें रखकर यह दोहासूत्र कहते हैं—हे प्रभाकरभट्ट, (मया) मैंने (व्यवहारेणैव) व्यवहारनयसे तुझको (एषा दृष्टिः) ये सम्यग्दर्शनका स्वरूप (नियमेन कथिता) अच्छी तरह कहा, (इदानीं) अब तू (ज्ञानं चारित्रं) ज्ञान और चारित्रको (श्रृणु) सुन, (येन) जिसके धारण करनेसे (परमेष्ठिनं प्राप्नोषि) सिद्धपरमेष्ठीके पदको पावेगा ।

भावार्थ—व्यवहारसम्यक्त्वके कारणभूत छह द्रव्योंका सांगोपांग व्याख्यान करते हैं "परिणाम" इत्यादि गाथासे। इसका अर्थ यह है, कि इन छह द्रव्योंमें विभावपरिणामके परिणमनेवाले जीव और पुद्गल दो ही हैं, अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावरूप तो परिणमते हैं, लेकिन जीव पुद्गलकी तरह विभावव्यंजनपर्यायके अभावसे विभावपरिणमन नहीं है, इसलिये मुख्यतासे परिणामी दो द्रव्य ही कहे हैं, शुद्धनिश्चयनयकर शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्यप्राण उनसे जीवता है, जीवेगा, पहले जी आया, और व्यवहारनयकर इन्द्री, बल, आयु, स्वासोस्वासरूप द्रव्य प्राणोंकर जीता है, जीवेगा, पहले जी चुका, इसलिये जीवको ही जीव कहा गया है, अन्य पुद्गलादि पांच द्रव्य अजीव हैं, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्ति सहित मूर्तीक एक पुद्गलद्रव्य ही है, अन्य पांच अमूर्तीक हैं।

उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों तो अमूर्तीक हैं, तथा जीवद्रव्य अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनयकर मूर्तीक भी कहा जाता है क्योंकि शरीरको धारण कर रहा है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर अमूर्तीक ही है, लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी जीवद्रव्यको आदि लेकर पांच द्रव्य पंचास्तिकाय हैं, वे सप्रदेशी हैं, और कालद्रव्य बहुप्रदेश स्वभावकायपना न होनेसे अप्रदेशी है, धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं, और जीव पुद्गल काल ये तीनों अनेक हैं। जीव तो अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त हैं, काल असंख्यात हैं, सब द्रव्योंको अवकाश देनेमें समर्थ एक आकाश ही है, इसलिये आकाश क्षेत्र कहा गया है, बाकी पांच द्रव्य अक्षेत्री हैं, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करना, वह चलन हलनवती क्रिया कही गयी है, यह क्रिया जीव पुद्गल दोनोंके ही है, और धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं, जीवोंमें भी संसारी जीव हलन-चलनवाले हैं, इसलिये क्रियावन्त हैं, और सिद्धपरमेष्ठी निःक्रिय हैं, उनके हलन चलन क्रिया नहीं है, द्रव्यार्थिकनयसे विचारा जावे तो सभी द्रव्य नित्य हैं, अर्थपर्याय जो षट्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वभावपर्याय है, उसकी अपेक्षा सब ही अनित्य हैं, तो भी विभावव्यंजनपर्याय जीव और पुद्गल इन दोनोंकी है, इसलिये इन दोनोंको ही अनित्य कहा है, अन्य चार द्रव्य विभावके अभावसे नित्य ही हैं, इस कारण यह निश्चयसे जानना कि चार नित्य हैं, दो अनित्य हैं, तथा द्रव्यकर सब ही नित्य हैं, कोई भी द्रव्य विनश्वर नहीं है, जीवको पाचों ही द्रव्य कारणरूप हैं, पुद्गल तो शरीरादिकका कारण है, धर्म अधर्मद्रव्य गति स्थिति के कारण हैं, आकाशद्रव्य

अवकाश देनेका कारण है, और काल वर्तनाका सहायी है। ये पांचों द्रव्य जीवको कारण हैं, और जीव उनको कारण नहीं है।

यद्यपि जीवद्रव्य अन्य जीवोंको गुरू शिष्यादिरूप परस्पर उपकार करता है, तो भी पुद्गलादि पांच द्रव्योंको अकारण है, और ये पांचों कारण हैं, शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर यह जीव यद्यपि बन्ध मोक्ष पुण्य पापका कर्ता नहीं है, तो भी अशुद्धनिश्चयनयकर शुभ अशुभ उपयोगोंसे परिणत हुआ पुण्य पापके बन्धका कर्ता होता है, और उनके फलका भोक्ता होता है, तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप निज शुद्धात्मद्रव्यका श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप शुद्धोपयोगकर परिणत हुआ मोक्षका भी कर्ता होता है, और अनन्तसुखका भोक्ता होता है।

इसलिये जीवको कर्ता भी कहा जाता है, और भोक्ता भी कहा जाता है। शुभ अशुभ शुद्ध परिणमन ही सब जगह कर्तापना है, और पुद्गलादि पांच द्रव्योंको अपने-अपने परिणामरूप जो परिणमन वही कर्तापना है, पुण्य पापादिकका कर्तापना नहीं है, सर्वगतपना लोकालोक व्यापकताकी अपेक्षा आकाश ही में हैं, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य ये दोनों लोकाकाशव्यापी हैं, अलोकमें नहीं हैं, और जीवद्रव्यमें एक जीवकी अपेक्षा केवलसमुद्घातमें लोकपूरण अवस्थामें लोकमें सर्वगतपना है, तथा नाना जीवकी अपेक्षा सर्वगतपना नहीं है, पुद्गलद्रव्य लोकप्रमाण महास्कन्धकी अपेक्षा सर्वगत है, अन्य पुद्गलकी अपेक्षा सर्वगत नहीं है, कालद्रव्य एक कालाणुकी अपेक्षा तो एकप्रदेशगत है, सर्वगत नहीं है, और नाना कालाणुकी अपेक्षा लोकाकाशके सब प्रदेशोंमें कालाणु है, इसलिये सब कालाणुओंकी अपेक्षा सर्वगत कह सकते हैं। इस नयविवक्षासे सर्वगतपनेका व्याख्यान किया। और मुख्यवृत्तिसे विचारा जावे, तो सर्वगतपना आकाशमें ही है, अथवा ज्ञानकी अपेक्षा जीवमें भी है, जीवका केवलज्ञान लोकालोक व्यापक है, इसलिये सर्वगत कहा।

ये सब द्रव्य यद्यपि व्यवहारनयकर एक क्षेत्रावगाही रहते हैं, तो भी निश्चयनयकर अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते, दूसरे द्रव्यमें जिनका प्रवेश नहीं है, सभी द्रव्य निज-निज स्वरूपमें हैं, पररूप नहीं हैं—कोई किसीका स्वभाव नहीं लेता। ऐसा ही कथन श्रीपंचास्तिकायमें है। "अण्णोण्णं" इत्यादि। इसका अर्थ ऐसा है, कि यद्यपि ये छहों द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हुए देखे जाते हैं, तो भी कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता, यद्यपि अन्यको अन्य अवकाश देता है, तो भी अपना अपना अवकाश

आपमें ही है, परमें नहीं है, यद्यपि ये द्रव्य हमेशासे मिल रहे हैं, तो भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। यहां तात्पर्य यह है, कि व्यवहारसम्यक्त्वके कारण छह द्रव्योंमें वीतराग चिदानन्द अनन्त गुणरूप जो शुद्धात्मा है, वह शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित हुआ ध्यावने योग्य है ।।२८।।

एवमेकोनविंशतिसूत्रप्रमितस्थले निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकत्वेन पूर्वसूत्रत्रयं गतम्। इदं पुनरन्तरं स्थलं चतुर्दशसूत्रप्रमितं षड्द्रव्यध्येयभूतव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन समाप्तमिति।

अथ संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं सम्यग्ज्ञानं प्रकटयति—

जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जो जि।
अप्पहं केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि ।।२९।।

यद् यथा स्थितं द्रव्यं जीव तत् तथा जानाति य एव।
आत्मनः संबन्धी भावः ज्ञानं मन्यस्व स एव ।।२९।।

इसप्रकार उन्नीस दोहोंके स्थलमें निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहे। ऐसे चौदह दोहोंतक व्यवहारसम्यक्त्वका व्याख्यान किया, जिसमें छह द्रव्योंका श्रद्धान मुख्य है।

आगे संशय विमोह विभ्रम रहित जो सम्यग्ज्ञान है, उसका स्वरूप प्रगट करते हैं—(जीव) हे जीव; (यत्) ये सब द्रव्य (यथा स्थितं) जिस तरह अनादिकालके तिष्ठे हुए हैं, जैसा इनका स्वरूप है, (तत् तथा) उनको वैसा ही संशयादि रहित (य एव जानाति) जो जानता है, (स एव) वही (आत्मनः संबंधीभावः) आत्माका निजस्वरूप (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान है, ऐसा (मन्यस्व) तू मान।

भावार्थ—जो द्रव्य है, वह सत्ता लक्षण है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है, और सभी द्रव्य गुण पर्यायको धारण करते हैं, गुण पर्यायके बिना कोई नहीं हैं। अथवा सब ही द्रव्य सप्तभङ्गीस्वरूप हैं, ऐसा द्रव्योंका स्वरूप जो निःसन्देश जाने, आप और परको पहचाने, ऐसा जो आत्माका भाव (परिणाम) वह सम्यग्ज्ञान है। सारांश यह है, कि व्यवहारनयकर विकल्प सहित अवस्थामें तत्त्वके विचारके समय आप और परका जानपना ज्ञान कहा है, और निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प समाधिसमय पदार्थोंका

जानपना मुख्य नहीं लिया, केवल स्वसंवेदनज्ञानही निश्चयसम्यग्ज्ञान है। व्यवहार-सम्यग्ज्ञान तो परम्पराय मोक्षका कारण है, और निश्चयसम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षका कारण है ॥२९॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविषयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं ज्ञानिनां चारित्रमिति प्रतिपादयति—

जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ ॥३०॥

ज्ञात्वा मत्वा आत्मानं परं यः परभावं त्यजति ।
स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥३०॥

आगे निज और परद्रव्यको जानकर रागादिरूप जो परद्रव्यमें संकल्प विकल्प हैं, उनके त्यागसे जो निजस्वरूपमें निश्चलता होती है, वही ज्ञानी जीवोंके सम्यक्-चारित्र है, ऐसा कहते हैं—सम्यग्ज्ञानसे (आत्मानं च परं) आपको और परको (ज्ञात्वा) जानकर और सम्यग्दर्शनसे (मत्वा) आप और परकी प्रतीति करके (यः) जो (पर-भावं) परभावको (त्यजति) छोड़ता है (सः) वह (निजः शुद्धः भावः) आत्माका निज शुद्ध भाव (ज्ञानिनां) ज्ञानी पुरुषोंके (चरणं) चारित्र (भवति) होता है।

भावार्थ—वीतराग सहजानन्द अद्वितीय स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको सम्यग्ज्ञानसे पहले तो जानें, वह सम्यग्ज्ञान संशय विमोह और विभ्रम इन तीनोंसे रहित है। तथा शंकादि दोषोंसे रहित जो सम्यग्दर्शन है, उससे आप और परकी श्रद्धा करे, अच्छी तरह जानके प्रतीति करे, और माया मिथ्या निदान इन तीन शल्योंको आदि लेकर समस्त चिंता-समूहके त्यागसे निज शुद्धात्मस्वरूपमें तिष्ठे है, वह परम आनन्द अतीन्द्रिय सुखरसके आस्वादसे तृप्त हुआ पुरुष ही अभेदनयसे निश्चयचारित्र है ॥३०॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहार-मोक्षमार्गमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं षड्द्रव्यश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्यग्ज्ञानचारित्रमुख्यत्वेन सूत्रद्वयमिति समुदायेनैकोनविंशतिसूत्रस्थलं समाप्तम् ।

अथानन्तरमभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते, तत्रादौ तावत् रत्न-त्रयभक्तभव्यजीवस्य लक्षणं प्रतिपादयति—

जो भत्तउ रयण-त्तयहं तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अप्पा मिल्लिवि गुण-णिलउ तासु वि अण्णु ण झेउ ॥३१॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं एतत् ।
आत्मानं मुक्त्वा गुणनिलयं तस्यापि अन्यत् न ध्येयम् ॥३१॥

इस प्रकार मोक्ष, मोक्षका फल, मोक्षका मार्ग इनको कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें निश्चय व्यवहाररूप निर्वाणके पंथकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें व्याख्यान किया, और चौदह दोहोंमें छह द्रव्यकी श्रद्धारूप व्यवहारसम्यक्त्वका व्याख्यान किया, तथा दो दोहोंमें सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका मुख्यतासे वर्णन किया । इस प्रकार उन्नीस दोहोंका स्थल पूरा हुआ ।

आगे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहा-सूत्र कहते हैं, उनमेंसे पहले रत्नत्रयके भक्त भव्यजीवके लक्षण कहते हैं—(यः) जो जीव (रत्नत्रयस्य भक्तः) रत्नत्रयका भक्त है (तस्य) उसका (इदं लक्षणं) यह लक्षण (मन्यस्व) जानना, हे प्रभाकरभट्ट; रत्नत्रय धारकके ये लक्षण हैं । (गुणनिलयं) गुणोंके समूह (आत्मानं मुक्त्वा) आत्माको छोड़कर (तस्यापि अन्यत्) आत्मासे अन्य बाह्य द्रव्यको (न ध्येयं) न ध्यावे, निश्चयसे एक आत्मा ही ध्यावने योग्य है, अन्य नहीं ।

भावार्थ—व्यवहारनयकर वीतराग सर्वज्ञके कहे हुए शुद्धात्मतत्त्व आदि छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पदार्थ, पंच अस्तिकायका श्रद्धान जानने योग्य है, और हिंसादि पाप त्याग करने योग्य हैं, व्रत शीलादि पालने योग्य हैं, ये लक्षण व्यवहाररत्नत्रयके हैं, सो व्यवहारका नाम भेद है, वह भेदरत्नत्रय आराधने योग्य है, उसके प्रभावसे निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति है । वीतराग सदा आनन्दरूप जो निज शुद्धात्मा आत्मीक सुखरूप सुधारसके आस्वादकर परिणत हुआ उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है, उसका जो भक्त (आराधक) उसके ये लक्षण हैं, यह जानो । वे कौनसे लक्षण हैं—यद्यपि व्यवहारनयकर सविकल्प अवस्थामें चित्तके स्थिर करनेके लिये पंचपरमेष्ठीका स्तवन करता है ।

जो पंचपरमेष्ठीका स्तवन देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूतिका कारण है, और परम्पराय शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका कारण है, सो प्रथम अवस्थामें भव्यजीवोंको पंचपरमेष्ठी ध्यावने योग्य है, उनके आत्माका स्तवन, गुणोंकी स्तुति, वचनसे उनकी

अनेक तरहकी स्तुति करनी, और मनसे उनके नामके अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यावने योग्य हैं, तो भी पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिके समय केवल ज्ञानादि अनंत-गुणरूप परिणत जो निज शुद्धात्मा वही आराधने योग्य है, अन्य नहीं। तात्पर्य यह है कि ध्यान करने योग्य या तो निज आत्मा है, या पंचपरमेष्ठी हैं, अन्य नहीं, प्रथम अवस्थामें तो पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना योग्य है, और निर्विकल्पदशामें निजस्वरूप ही ध्यावने योग्य है, निजरूप ही उपादेय हैं ॥३१॥

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यन्ते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदाराधकाः सन्तो निजात्मानं ध्यायन्तीति निरूपयति—

जे रयण-त्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणंति ।
ते आराहय सिव-पयहँ णिय-अप्पा झायंति ॥३२॥

ये रत्नत्रयं निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणन्ति ।
ते आराधकाः शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायन्ति ॥३२॥

आगे जो ज्ञानी निर्मल रत्नत्रयको ही आत्मस्वरूप मानते हैं, और अपनेको ही शिव जानते हैं, वे ही मोक्षपदके धारक हुए निज आत्माको ध्यावते हैं, ऐसा निरूपण करते हैं—(ये ज्ञानिनः) जो ज्ञानी (निर्मलं रत्नत्रयं) निर्मल रागादि दोष रहित रत्नत्रयको (आत्मानं) आत्मा (भणंति) कहते हैं (ते) वे (शिवपदस्य आराधकाः) शिवपदके आराधक हैं, और वे ही (निजात्मानं) मोक्षपदके आराधक हुए अपने आत्मा को (ध्यायंति) ध्यावते हैं।

भावार्थ—जो कोई वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्ररूप आत्माको मानते हैं, वे ही मोक्षपदके आराधक हुए निश्चयनयकर केवल निजरूपको ही ध्यावते हैं ॥३२॥

अथात्मानं गुणस्वरूपं रागादि दोषरहितं ये ध्यायन्ति ते शीघ्रं नियमेन मोक्षं लभन्त इति प्रकटयति—

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ अणुदिणु जे झायंति ।
ते पर णियमें परम-मुणि लहु णिव्वाणु लहंति ॥३३॥

आत्मानं गुणमयं निर्मलं अनुदिनं ये ध्यायन्ति ।
ते परं नियमेन परममुनयः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥३३॥

सो सम्यग्दृष्टिके तो यह दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप होनेसे मोक्षका कारण है, जिसमें शुद्ध आत्म-तत्त्व ही उपादेय है, और मिथ्यादृष्टियोंके तत्त्वश्रद्धान नहीं होनेसे आत्माका दर्शन नहीं होता। मिथ्यादृष्टियोंके स्थूलरूप परद्रव्यका देखना जानना मन और इन्द्रियोंके द्वारा होता है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है, इसलिये मोक्षका कारण भी नहीं है। सारांश यह है—कि तत्त्वार्थश्रद्धानके अभावसे सम्यक्त्वका अभाव है, और सम्यक्त्वके अभावसे मोक्षका अभाव है ॥३४॥

अथ छद्मस्थानां सत्तावलोकदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति प्रतिपादयति—

दंसणपुव्वु हवेइ फुडु जं जीवहं विण्णाणु।
वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥३५॥

दर्शनपूर्वं भवति स्फुटं यत् जीवानां विज्ञानम्।
वस्तुविशेषं जानन् जीव तत् मन्यस्व अविचलं ज्ञानम् ॥३५॥

आगे केवलज्ञानके पहले छद्मस्थोंके पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है, और केवली भगवान्के दर्शन और ज्ञान एक साथ ही होते हैं—आगे पीछे नहीं होते, यह कहते हैं—(यत्) जो (जीवानां) जीवोंके (विज्ञानं) ज्ञान है, वह (स्फुटं) निश्चयकरके (दर्शनपूर्वं) दर्शनके बादमें (भवति) होता है, (तत् ज्ञानं) वह ज्ञान (वस्तुविशेषं जानन्) वस्तुकी विस्तीर्णताको जाननेवाला है, उस ज्ञानको (जीव) हे जीव (अविचलं) संशय विमोह विभ्रम से रहित (मन्यस्व) तू जान।

भावार्थ—जो सामान्यको ग्रहण करे, विशेष न जाने, वह दर्शन है, तथा जो वस्तुका विशेष वर्णन आकार जाने वह ज्ञान है। यह दर्शन ज्ञानका व्याख्यान किया। यद्यपि वह व्यवहारसम्यग्ज्ञान शुद्धात्माकी भावनाके व्याख्यानके समय प्रशंसा योग्य नहीं है, तो भी प्रथम अवस्थामें प्रशंसा योग्य है, ऐसा भगवानने कहा है। क्योंकि चक्षु अचक्षु अवधि केवलके भेदसे दर्शनोपयोग चार तरहका होता है। उन चार भेदोंमें दूसरा भेद अचक्षुदर्शन मनसम्बन्धी निर्विकल्प भव्यजीवोंके दर्शनमोह चारित्र-मोहके उपशम तथा क्षयके होनेपर शुद्धात्मानुभूति रुचिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है, और शुद्धात्मानुभूतिमें स्थिरतारूप वीतरागचारित्र होता है, उस समय पूर्वोक्त सत्ताके अवलोकनरूप मनसम्बन्धी निर्विकल्पदर्शन निश्चयचारित्रके बलसे विकल्प रहित निज शुद्धात्मानुभूतिके ध्यानकर सहकारी कारण होता है। इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन और

व्यवहारसम्यग्ज्ञान भव्यजीवके ही होता है, अभव्यके सर्वथा नहीं, क्योंकि अभव्यजीव मुक्तिका पात्र नहीं है। जो मुक्तिका पात्र होता है, उसीके व्यवहाररत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। व्यवहाररत्नत्रय परम्पराय मोक्षका कारण है, और निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मुक्तिका कारण है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥३५॥

अथ परमध्यानारूढो ज्ञानी समभावेन दुःखं सहमानः स एवाभेदन निर्जराहेतुर्भण्यते इति दर्शयति—

दुक्खु वि सुक्खु सहंतु जिय णाणिउ झाण-णिलीणु।
कम्महं णिज्जर-हेउ तउ वुच्चइ संग-विहीणु ॥३६॥

दुःखमपि सुखं सहमानः जीव ज्ञानी ध्याननिलीनः।
कर्मणः निर्जराहेतुः तपः उच्यते संगविहीनः ॥३६॥

आगे परमध्यानमें आरूढ ज्ञानी जीव समभावसे दुःख सुखको सहता हुआ अभेदनयसे निर्जरा का कारण होता है, ऐसा दिखाते हैं—(**जीव**) हे जीव, (**ज्ञानी**) वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी (**ध्याननिलीनः**) आत्मध्यानमें लीन (**दुःखं अपि सुखं**) दुःख और सुखको (**सहमानः**) समभावोंसे सहता हुआ अभेदनयसे (**कर्मणो निर्जराहेतुः**) शुभ अशुभ कर्मोंकी निर्जराका कारण है, ऐसा भगवानने (**उच्यते**) कहा है, और (**संगविहीनः तपः**) बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह रहित परद्रव्यको इच्छाके निरोधरूप बाह्य अभ्यन्तर अनशनादि बारह प्रकारके तपरूप भी वह ज्ञानी है।

भावार्थ—यहां प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे प्रभो; आपने ध्यानसे निर्जरा कही, वह ध्यान एकाग्रचित्तका निरोधरूप उत्तम संहननवाले मुनिके होता है, जहां उत्तमसंहनन ही नहीं है, वहां ध्यान किस तरहसे हो सकता है? उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं—उत्तम संहननवाले मुनिके जो ध्यान कहा है, वह आठवें गुणस्थानसे लेकर उपशम क्षपकश्रेणीवालोंके जो शुक्लध्यान होता है, उसकी अपेक्षा कहा गया है। उपशमश्रेणी वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच इन तीन संहननवालोंके होती है, उनके शुक्लध्यानका पहला पाया है, वे ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे आते हैं, और क्षपक श्रेणी एक वज्रवृषभनाराच संहननवालेके ही होती है, वे आठवें गुणस्थानमें क्षपकश्रेणी मांडते (प्रारम्भ करते) हैं, उनके आठवें गुणस्थानमें शुक्लध्यानका पहला पाया (भेद) होता है, वह आठवें नववें दशवें तथा दशवेंसे बारहवें गुणस्थानमें स्पर्श

करते हैं, ग्यारहवेंमें नहीं, तथा बारहवेंमें शुक्लध्यानका दूसरा पाया होता है, उसके प्रसादसे केवलज्ञान पाता है, और उसी भवमें मोक्षको जाता है। इसलिये उत्तम संहननका कथन शुक्लध्यानकी अपेक्षासे है।

आठवें गुणस्थानसे नीचेके चौथेसे लेकर सातवें तक शुक्लध्यान नहीं होता, धर्मध्यान छहों संहननवालोंके है, श्रेणीके नीचे धर्मध्यान ही है, उसका निषेध किसी संहननमें नहीं है। ऐसा ही कथन तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थमें कहा है "यत्पुनः" इत्यादि। उसका अर्थ ऐसा है, कि जो वज्रकायके ही ध्यान होता है, ऐसा आगमका वचन है, वह दोनों श्रेणियोंमें शुक्लध्यान होनेकी अपेक्षा है, और श्रेणीके नीचे जो धर्मध्यान है, उसका निषेध (न होना) किसी संहननमें नहीं कहा है, यह निश्चयसे जानना। रागद्वेषके अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चयचारित्र है, वह इस समय पंचमकालमें भरतक्षेत्रमें नहीं है, इसलिये साधुजन अन्य चारित्रका आचरण करो।

चारित्रके पांच भेद हैं, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात। उनमें इस समय इस क्षेत्रमें सामायिक छेदोपस्थापना ये दो ही चारित्र होते हैं, अन्य नहीं, इसलिये इनको ही आचरो। तत्त्वानुशासनमें भी कहा है "चरितारो" इत्यादि। इसका अर्थ ऐसा है, कि इस समय यथाख्यातचारित्रके आचरण करनेवाले मौजूद नहीं हैं, तो क्या हुआ अपनी शक्तिके अनुसार तपस्वीजन सामायिक छेदोपस्थापनाका आचरण करो। फिर श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी मोक्षपाहुड़में ऐसा ही कहा है "अज्ज वि"। उसका तात्पर्य यह है, कि अब भी इस पंचमकालमें मन वचन कायकी शुद्धतासे आत्माका ध्यान करके यह जीव इन्द्र पदको पाता है, अथवा लौकान्तिकदेव होता है, और वहांसे च्युत होकर मनुष्यभव धारण करके मोक्षको पाता है।

अर्थात् जो इस समय पहलेके तीन संहनन तो नहीं हैं, परन्तु अर्धनाराच, कीलक, सृपाटिका ये आगेके तीन हैं, इन तीनोंसे सामायिक छेदोपस्थापनाका आचरण करो, तथा धर्मध्यानको आचरो। धर्मध्यानका अभाव छहों संहननोंमें नहीं है, शुक्लध्यान पहलेके तीन संहननोंमें ही होता है, उनमें भी पहला पाया (भेद) उपशमश्रेणीसम्बन्धी तीनों संहननोंमें है, और दूसरा तीसरा चौथा पाया प्रथम संहननवाले ही के होता है, ऐसा नियम है। इसलिये अब शुक्लध्यानके अभावमें भी हीन संहननवाले

इस धर्मध्यानको आचरो। यह धर्मध्यान परम्पराय मुक्तिका मार्ग है, संसारकी स्थितिका छेदनेवाला है। जो कोई नास्तिक इस समय धर्मध्यानका अभाव मानते हैं, वे झूठ बोलनेवाले हैं, इस समय धर्मध्यान है, शुक्लध्यान नहीं है ॥३६॥

अथ सुखदुःखं सहमानः सन् येन कारणेन समभावं करोति मुनिस्तेन कारणेन पुण्यपापद्वयसंवरहेतुर्भवतीति दर्शयति—

विरिण वि जेण सहंतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ।
पुराणहं पावहं तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥३७॥

द्वे अपि येन सहमानः मुनिः मनसि समभावं करोति।
पुण्यस्य पापस्य तेन जीव संवरहेतुः भवति ॥३७॥

आगे जो मुनिराज सुख दुःखको सहते हुए समभाव रखते हैं, अर्थात् सुखमें तो हर्ष नहीं करते, और दुःखमें खेद नहीं करते, जिनके सुख दुःख दोनों ही समान हैं, वे ही साधु पुण्यकर्म पापकर्मके संवर (रोकने) के कारण हैं, आनेवाले कर्मोंको रोकते हैं, ऐसा दिखलाते हैं—(येन) जिस कारण (द्वे अपि सहमानः) सुख दुःख दोनोंको ही सहता हुआ (मुनिः) स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी (मनसि) निश्चित मनमें (समभावं) समभावोंको (करोति) धारण करता है, अर्थात् राग द्वेष मोह रहित स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परिणमन करता है, विभावरूप नहीं परिणमता, (तेन) इसी कारण (जीव) हे जीव, वह मुनि (पुण्यस्य पापस्य संवरहेतुः) सहजमें ही पुण्य और पाप इन दोनोंके संवरका कारण (भवति) होता है।

भावार्थ—कर्मके उदयसे सुख दुःख उत्पन्न होनेपर भी जो मुनीश्वर रागादि रहित मनमें शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप अपने निज शुद्ध स्वरूपको नहीं छोड़ता है, वही पुरुष अभेदनयकर द्रव्य भावरूप पुण्य पापके संवरका कारण है ॥३७॥

अथ यावन्तं कालं रागादिरहितपरिणामेन स्वशुद्धात्मस्वरूपे तन्मयो भूत्वा तिष्ठति तावन्तं कालं संवरनिर्जरां करोतीति प्रतिपादयति—

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु।
संवर-णिज्जर जाणि तुहुं सयल-वियप्प विहीणु ॥३८॥

तिष्ठति यावन्तं कालं मुनिः आत्मस्वरूपे निलीनः।
संवरनिर्जरां जानीहि त्वं सकलविकल्पविहीनम् ॥३८॥

आगे जिस समय जितने कालतक रागादि रहित परिणामोंकर निज शुद्धात्मस्वरूपमें तन्मय हुआ ठहरता है, तबतक संवर और निर्जराको करता है, ऐसा कहते हैं—(मुनिः) मुनिराज (यावंतं कालं) जबतक (आत्मस्वरूपे निलीनः) आत्मस्वरूपमें लीन हुआ (तिष्ठति) रहता है, अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम समरसीभावकर परिणमता हुआ अपने स्वभावमें तल्लीन होता है, उस समय हे प्रभाकरभट्ट; (त्वं) तू (सकलविकल्पविहीनं) समस्त विकल्प समूहोंसे रहित अर्थात् ख्याति (अपनी बड़ाई) पूजा (अपनी प्रतिष्ठा) लाभको आदि देकर विकल्पोंसे रहित उस मुनिको (संवरनिर्जरा) संवर निर्जरा स्वरूप (जानीहि) जान। यहांपर भावार्थरूप विशेष व्याख्यान जो कि पहले दो सूत्रोंमें कहा था, वही जानो। इसप्रकार संवर निर्जराका व्याख्यान संक्षेपरूपसे कहा गया है ॥३८॥

एवं मोक्षमोक्षमार्गमोक्षफलादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारोक्तसूत्राष्टकेनाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन स्थलं समाप्तम्। अत ऊर्ध्वं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति।

तथाहि—

कम्मु पुरक्किउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥३९॥

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति।
संगं मुक्त्वा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥३९॥

इस तरह मोक्ष, मोक्ष-मार्ग और मोक्ष-फलका निरूपण करनेवाले दूसरे महाधिकारमें आठ दोहा-सूत्रोंसे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे अंतरस्थल पूरा हुआ।

आगे चौदह दोहोंमें परम उपशमभावकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—(सः) वही वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी (पुराकृतं कर्म) पूर्व उपार्जित कर्मोंको (क्षपयति) क्षय करता है, और (अभिनवं) नये कर्मोंको (प्रवेशं) प्रवेश (न ददाति) नहीं होने देता, (यः) जो कि (सकलं) सब (संगं) बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहको (मुक्त्वा) छोड़कर (उपशमभावं) परम शान्तभावको (करोति) करता है, अर्थात् जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र, तृण, कांचन इत्यादि वस्तुओंमें एकसा परिणाम रखता है।

भावार्थ—जो मुनिराज सकल परिग्रहका छोड़कर सब शास्त्रोंका रहस्य जानके वीतराग परमानन्द सुखरसका आस्वादी हुआ समभाव करता है, वही साधु

पूर्वके कर्मोंका क्षय करता है, और नवीन कर्मोंको रोकता है। ऐसा ही कथन पद्मनन्दिपच्चीसीमें भी है। "साम्यमेव" इत्यादि। इसका तात्पर्य यह है, कि आदरसे समभावको ही धारण करना चाहिये, अन्य ग्रन्थके विस्तारोंसे क्या, समस्त पंथ तथा सकल द्वादशांग इस समभावरूप सूत्रकी ही टीका है ॥३९॥

अथ यः समभावं करोति तस्यैव निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि नान्यस्येति दर्शयति—

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ।
इयरहं एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ॥४०॥

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तस्य यः समभावं करोति।
इतरस्य एकमपि अस्ति नैव जिनवरः एवं भणति ॥४०॥

आगे जो जीव समभावको करता है, उसीके निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होता है, अन्यके नहीं, ऐसा दिखलाते हैं—(**दर्शनं ज्ञानं चारित्रं**) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र (**तस्य**) उसीके निश्चयसे होते हैं, (**यः**) जो यति (**समभावं**) समभाव (**करोति**) करता है, (**इतरस्य**) दूसरे समभाव रहित जीवके (**एकं अपि**) तीन रत्नोंमेंसे एक भी (**नैव अस्ति**) नहीं है, (**एवं**) इस प्रकार (**जिनवरः**) जिनेन्द्रदेव (**भणति**) कहते हैं।

भावार्थ—निश्चयनयसे निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन उस समभावके धारकके होता है, और निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानन्द मधुर रसका आस्वाद उस स्वरूप आत्मा है, तथा हमेशा आकुलताके उपजानेवाले काम क्रोधादिक हैं, वे महा कटुक रसरूप अत्यन्त विरस हैं, ऐसा जानना, वह सम्यग्ज्ञान और स्वरूपके आचरणरूप वीतरागचारित्र भी उसी समभावके धारण करनेवालेके ही होता है, जो मुनीश्वर वीतराग निर्विकल्प परम सामायिकभावकी भावनाके अनुकूल (सन्मुख) निर्दोष परमात्माके यथार्थ श्रद्धान यथार्थ ज्ञान और स्वरूपका यथार्थ आचरणरूप अखण्डभव धारण करता है, उसीके परमसमाधिकी सिद्धि होती है ॥४०॥

अथ यदा ज्ञानी जीव उपशाम्यति तदा संयतो भवति कामक्रोधादिकषायसंगतः पुनरसंयतो भवतीति निश्चिनोति—

जांवइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।
होइ कसायहं वसि गयउ जीउ असंजदु सो ॥४१॥

यावत् ज्ञानी उपशाम्यति तावत् संयतो भवति ।
भवति कषायाणां वशे गतः जीवः असंयतः स एव ॥४१॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिस समय ज्ञानी जीव शान्तभावको धारण करता है, उसी समय संयमी होता है, तथा जब क्रोधादि कषायके वश होता है, तब असंयमी होता है—(यदा) जिस समय (ज्ञानी जीवः) ज्ञानी जीव (उपशाम्यति) शान्तभावको प्राप्त होता है, (तदा) उस समय (संयतः भवति) संयमी होता है, और (कषायाणां) क्रोधादि कषायोंके (वशे गतः) आधीन हुआ (स एव) वही जीव (असंयतः) असंयमी (भवति) होता है ।

भावार्थ—आकुलता रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुए निर्विकल्प (असली) सुखका कारण जो परम शान्तभाव उसमें जिस समय ज्ञानी ठहरता है, उसी समय संयमी कहलाता है, और आत्मभावनामें परम आकुलताके उपजानेवाले काम क्रोधादिक अशुद्ध भावोंमें परिणमता हुआ जीव असंयमी होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है 'अकसायं' इत्यादि । अर्थात् कषायका जो अभाव है, वही चारित्र है, इसलिये कषायके आधीन हुआ जीव असंयमी होता है, और जब कषायोंको शान्त करता है, तब संयमी कहलाता है ॥४१॥

अथ येन कषाया भवन्ति मनसि तं मोहं त्यजेति प्रतिपादयति—

जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु ।
मोह-कसाय-विवज्जियउ पर पावहि सम-बोहु ॥४२॥

येन कषाया भवन्ति मनसि तं जीव मुञ्च मोहम् ।
मोह कषायविवर्जितः परं प्राप्नोषि समबोधम् ॥४२॥

आगे जिस मोहसे मनमें कषायें होती हैं, उस मोहको तू छोड़, ऐसा वर्णन करते हैं—(जीव) हे जीव; (येन) जिस मोहसे अथवा मोहके उत्पन्न करनेवाली वस्तुसे (मनसि) मनमें (कषायाः) कषाय (भवंति) होवें, (तं मोहं) उस मोहको अथवा मोह निमित्तक पदार्थको (मुंच) छोड़, (मोहकषायविवर्जितः) फिर मोहको

छोड़नेसे मोह कषाय रहित हुआ तू (परं) नियमसे (समबोधं) राग द्वेष रहित ज्ञानको (प्राप्नोषि) पावेगा।

भावार्थ—निर्मोह निज शुद्धात्माके ध्यानसे निर्मोह निज शुद्धात्मतत्त्वसे विपरीत मोहको हे जीव छोड़। जिस मोहसे अथवा मोह करनेवाले पदार्थसे कषाय रहित परमात्मतत्त्वरूप ज्ञानानन्द स्वभावके विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं, इन्हींसे संसार है, इसलिये मोह कषायके अभाव होने पर ही रागादि रहित निर्मल ज्ञानको तू पा सकेगा। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है। 'तं वत्थु'" इत्यादि। अर्थात् वह वस्तु मन वचन कायसे छोड़नी चाहिये, कि जिससे कषायरूपी अग्नि न उत्पन्न हो, तथा उस वस्तुको अंगीकार करना चाहिये, जिससे कषायें शान्त हों। तात्पर्य यह है, कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियोंका सङ्ग सब तरहसे मोह कषायको उपजाते हैं, इससे ही मनमें कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है। वह सब प्रकारसे छोड़ना चाहिये, और सत्सङ्गति तथा शुभ सामग्री (कारण) कषायोंको उपशमाती है,—कषायरूपी अग्निको बुझाती है, इसलिये उस संगति वगैरः को अङ्गीकार करना चाहिये ॥४२॥

अथ हेयोपादेयतत्त्वं ज्ञात्वा परमोपशमे स्थित्वा येषां ज्ञानिनां स्वशुद्धात्मनि रतिस्त एव सुखिन इति कथयति—

तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहं रइ अप्प-सहावि ॥४३॥

तत्त्वातत्त्वं मत्वा मनसि ये स्थिताः समभावे।
ते परं सुखिनः अत्र जगति येषां रतिः आत्मस्वभावे ॥४३॥

आगे हेयोपादेय तत्त्वको जानकर परम शांतभावमें स्थित होकर जिनके निःकषायभाव हुआ और निजशुद्धात्मामें जिनकी लीनता हुई. वे ही ज्ञानी परमसुखी हैं, ऐसा कथन करते हैं—(ये) जो कोई वीतराग स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी जीव (तत्त्वातत्त्वं) आराधने योग्य निज पदार्थ और त्यागने योग्य रागादि सकल विभावोंको (मनसि) मनमें (मत्वा) जानकर (समभावे स्थिताः) शान्तभावमें तिष्ठते हैं, और (येषां रतिः) जिनकी लगन (आत्मस्वभावे) निज शुद्धात्म स्वभावमें हुई है, (ते परं) वे ही जीव (अत्र जगति) इस संसारमें (सुखिनः) सुखी हैं।

भावार्थ—यद्यपि यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिकालसे कर्मबन्धनकर वंधा है, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर प्रकृति, स्थित अनुभाग प्रदेश—इन चार तरहके बन्धनोंसे रहित है, यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयसे अपने उपार्जन किये शुभ अशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता है, तो भी शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे निज शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृतका ही भोगनेवाला है, यद्यपि व्यवहारनयसे कर्मोंके क्षय होनेके बाद मोक्षका पात्र है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सदा मुक्त ही है, यद्यपि व्यवहारनयकर इन्द्रियजनित मति आदि क्षयोपशमिकज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शन सहित है तो भी निश्चयनयसे सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाववाला है, यद्यपि व्यवहारनयकर यह जीव नामकर्मसे प्राप्त देहप्रमाण है, तो भी निश्चयनयसे लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है, यद्यपि व्यवहारनयसे प्रदेशोंके संकोच विस्तार सहित है, तो भी सिद्ध-अवस्थामें संकोच विस्तारसे चरमशरीरप्रमाण प्रदेशवाला है, और यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यकर सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयकर टंकोत्कीर्ण ज्ञानके अखंड स्वभावसे ध्रुव ही है।

इस तरह पहिले निज शुद्धात्मद्रव्यको अच्छी तरह जानकर और आत्मस्वरूपसे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको भी अच्छी तरह निश्चय करके अर्थात् आप परका निश्चय करके बादमें समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पोंको छोड़कर वीतराग चिदानन्द स्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमें जो लीन हुए हैं, वे ही धन्य हैं। ऐसा ही कथन परमात्मतत्त्वके लक्षणमें श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा है, "नाभाव" इत्यादि। अर्थात् यह आत्मा व्यवहारनयकर अनादिका वंधा हुआ है, और अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, उन कर्मोंके क्षयसे मोक्षपदका भोक्ता है, ज्ञाता है, देखनेवाला है, अपनी देहके प्रमाण हैं, संसार-अवस्थामें प्रदेशोंके संकोच विस्तारको धारण करता है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है, और अपने गुण पर्याय सहित है। इसप्रकार आत्माके जाननेसे ही साध्यकी सिद्धि है, दूसरी तरह नहीं है ॥४३॥

अथ योऽसावेवोपशामभावं करोति तस्य निन्दाद्वारेण स्तुतिं त्रिकलेन कथयति—

विरिणा वि दोस हवंति तसु जो सम-भाउ करेइ।
वंधु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥४४॥

द्वौ अपि दोषौ भवतः तस्य यः समभावं करोति ।
बन्धं एव निहन्ति आत्मीयं अन्यत् जगद् ग्रहिलं करोति ।।४४।।

आगे जो संयमी परम शान्तभावका ही कर्ता है, उसकी निंदाद्वारा स्तुति तीन गाथाओंमें करते हैं—(यः) जो साधु (समभावं) राग द्वेषके त्यागरूप समभावको (करोति) करता है, (तस्य) उस तपोधनके (द्वौ अपि दोषौ) दो दोष (भवतः) होते हैं। (आत्मीयं बंधं एव निहंति) एक तो अपने बन्धको नष्ट करता है, (पुनः) दूसरे (जगद् ग्रहिलं करोति) जगत्के प्राणियोंको बावला-पागल बना देता है।

भावार्थ—यह निन्दाद्वारा स्तुति है। प्राकृत भाषामें बन्धु शब्दसे ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध भी लिया जाता है, तथा भाईको भी कहते हैं। यहांपर बन्धु-हत्या निंद्य है, इससे एक तो बन्धु-हत्याका दोष आया तथा दूसरा दोष यह है, कि जो कोई इनका उपदेश सुनता है, वह वस्त्र आभूषणका त्यागकर नग्न दिगम्बर हो जाता है। कपड़े उतारकर नंगा हो जाना उसे लोग गहला-पागल कहते हैं। ये दोनों लोकव्यवहारमें दोष हैं, इन शब्दोंके ऐसे अर्थ ऊपरसे निकाले हैं। परन्तु दूसरे अर्थमें कोई दोष नहीं है, स्तुति ही है। क्योंकि कर्मबन्ध नाश करने ही योग्य है, तथा जो समभावका धारक है, वह आप नग्न दिगम्बर हो जाता है, और अन्यको दिगम्बर कर देता है, सो मूढ़ लोग निन्दा करते हैं। यह दोष नहीं है, गुण ही है। मूढ़ लोगोंके जाननेमें ज्ञानीजन बावले हैं, और ज्ञानियोंके जाननेमें जगतके जन बावले हैं। क्योंकि ज्ञानी जगतसे विमुख हैं, तथा जगत् ज्ञानियोंसे विमुख है।।४४।।

अथ—

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।
सत्तु वि मिल्लिवि अप्पणउ परहं णिलीणु हवेइ ॥४५॥

अन्यः अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति ।
शत्रुमपि मुक्त्वा आत्मीयं परस्य निलीनः भवति ।।४५।।

आगे समभावके धारक मुनिकी फिर भी निन्दा-स्तुति करते हैं—(यः) जो (समभावं) समभावको (करोति) करता है, (तस्य) उस तपोधनके (अन्यः अपि दोषः) दूसरा भी दोष (भवति) है। क्योंकि (परस्य निलीनः) परके आधीन (भवति) होता है, और (आत्मीयं अपि) अपने आधीन भी (शत्रुं) शत्रुको (मुंचति) छोड़ देता है।

भावार्थ—जो तपोधन धन धान्यादिका राग त्यागकर परम शान्तभावको आदरता है, राजा रंकको समान जानता है, उसके दोष कभी नहीं हो सकता। सदा स्तुतिके योग्य है, तो भी शब्दकी योजनासे निन्दा द्वारा स्तुति की गई है वह इस तरहसे है कि शत्रु शब्दसे कहे गये जो ज्ञानावरणादि कर्म-शत्रु उनको छोड़कर पर शब्दसे कहे गये परमात्माका आश्रय करता है। इसमें निन्दा क्या हुई, बल्कि स्तुति ही हुई। परन्तु लोकव्यवहारमें अपने अधीन शत्रुको छोड़कर किसी कारणसे पर शब्दसे कहे गये शत्रुके आधीन आप होता है, इसलिये लौकिक-निन्दा हुई; यह शब्दके छलसे निन्दा-स्तुति की गई। वह शब्दके श्लेष होनेसे रूपअलंकार कहा गया है ॥४५॥

अथ—

अराणु वि दोसु हवेइ तसु जो समभाउ करेइ ।
वियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहं चडेइ ॥४६॥

अन्यः अपि दोषः भवति तस्य यः समभावं करोति ।
विकलः भूत्वा एकाकी उपरि जगतः आरोहति ॥४६॥

आगे समदृष्टिकी फिर भी निन्दा-स्तुति करते हैं—(यः) जो तपस्वी महामुनि (समभावं) समभावको (करोति) करता है, (तस्य) उसके (अन्यः अपि) दूसरा भी (दोषः) दोष (भवति) होता है, जो कि (विकलः भूत्वा) शरीर रहित होके अथवा बुद्धि धन वगैरः से भ्रष्ट होकर (एकाकी) अकेला (जगतः उपरि) लोकके शिखरपर अथवा सबके उपर (आरोहति) चढ़ता है।

भावार्थ—जो तपस्वी रागादि रहित परम उपशमभावरूप निज शुद्धात्माकी भावना करता है, उसकी शब्दके छलसे तो निन्दा है, कि विकल अर्थात् बुद्धि वगैरः से भ्रष्ट होकर लोक अर्थात् लोकोंके ऊपर चढ़ता है। यह लोक-निन्दा हुई। लेकिन असलमें ऐसा अर्थ है, कि विकल अर्थात् शरीरसे रहित होकर तीन लोकके शिखर (मोक्ष) पर विराजमान हो जाता है। यह स्तुति ही है। क्योंकि जो अनन्त सिद्ध हुए, तथा होंगे, वे शरीर रहित निराकार होके जगत्के शिखर पर विराजे हैं ॥४६॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

जा णिसि सयलहं देहियहं जोग्गिउ तहिं जग्गेइ ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥४६*१॥

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति ।
यत्र पुनः जागर्ति सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ।।४६※१।।

आगें स्थलसंख्याके सिवाय क्षेपक दोहा कहते हैं—(या) जो (सकलानां देहिनां) सब संसारी जीवोंकी (निशा) रात है, (तस्यां) उस रातमें (योगी) परम तपस्वी (जागर्ति) जागता है, (पुनः) और (यत्र) जिसमें (सकलं जगत्) सब संसारी जीव (जागर्ति) जाग रहे हैं, (तां) उस दशाको (निशां मत्वा) योगी रात मानकर (स्वपिति) योग निद्रामें सोता है ।

भावार्थ—जो जीव वीतराग परमानन्दरूप सहज शुद्धात्माकी अवस्थासे रहित हैं, मिथ्यात्व रागादि अन्धकारसे मंडित हैं, इसलिये इन सबोंको वह परमानन्द अवस्था रात्रिके समान मालूम होती है । कैसे ये जगत के जीव हैं, कि आत्मज्ञानसे रहित हैं, अज्ञानी हैं, और अपने स्वरूपसे विमुख हैं, जिनके जाग्रत-दशा नहीं है, अचेत सो रहे हैं, ऐसी रात्रिमें वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीपके प्रकाशसे मिथ्यात्व रागादि विकल्प-जालरूप अन्धकारको दूरकर अपने स्वरूपमें सावधान होनेसे सदा जागता है । तथा शुद्धात्माके ज्ञानसे रहित शुभ अशुभ मन, वचन, कायके परिणमनरूप व्यापारवाले स्थावर जंगम सकल अज्ञानी जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुख हुए विषय-कषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं, जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान (जागते) नहीं रहते । इसलिए संसारकी दशासे सोते हुए मालूम पड़ते हैं । जिनको आत्मस्वभावके सिवाय विषय-कषायरूप प्रपंच मालूम भी नहीं है, उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर उसमें याद नहीं रखते । मन, वचन, कायकी तीन गुप्तिमें अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परम समाधिरूप योग-निद्रामें मगन हो रहे हैं । सारांश यह है, कि ध्यानी मुनियोंकी आत्मस्वरूप ही गम्य है, प्रपंच गम्य नहीं है, और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीव उनकी आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है, अनेक प्रपंचोंमें (झगड़ोंमें) लगे हुए हैं । प्रपंचकी सावधानी रखनेको भूल जाना वही परमार्थ है, तथा बाह्य विषयोंमें जाग्रत होना ही भूल है ।।४६※१।।

अथ ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति—

णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ ।
जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥४७॥

ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं क्वापि याति न रागम् ।
येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥४७॥

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परद्रव्यमें राग नहीं करते, ऐसा दिखलाते हैं—(ज्ञानी) निजपरके भेदका जाननेवाला ज्ञानी मुनि (शमं भावं) समभावको (मुक्त्वा) छोड़कर (क्वापि) किसी पदार्थमें (रागं न याति) राग नहीं करता, (येन) इसी कारण (ज्ञानमयं) ज्ञानमयी निर्वाण-पद (प्राप्स्यति) पावेगा, (तेनैव) और उसी समभावसे (आत्मस्वभावं) केवलज्ञान पूर्ण आत्मस्वभावको आगे पावेगा ।

भावार्थ—जो अनंत सिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे हुए हैं, और जो होवेंगे, इसी भावसे होंगे । इसलिए ज्ञानी समभावके सिवाय अन्य भावोंमें राग नहीं करते । इस समभावके बिना अन्य उपायसे शुद्धात्माका लाभ नहीं है । एक समभाव ही भव-सागरसे पार होनेका उपाय है । समभाव उसे कहते हैं, जो पंचेन्द्रीके विषयोंकी अभि-लाषासे रहित वीतराग परमानन्द सहित निर्विकल्प निजभाव हो ॥४७॥

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दतीति प्रतिपादयति—

भणइ भणावइ णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ ।
सिद्धिहिँ कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ॥४८॥

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।
सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥४८॥

आगे कहते हैं, कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढ़ता है, न किसी को पढ़ाता है, न किसीको प्रेरणा करता है, न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निन्दा करता है—(ज्ञानी) निर्विकल्प ध्यानी पुरुष (कमपि न) न किसीका (भणति) शिष्य होकर पढ़ता है, न गुरु होकर किसीको (भाणयति) पढ़ाता है, (नैव स्तौति निंदति) न किसीकी स्तुति करता है, न किसीकी निन्दा करता है, (सिद्धेः कारणं) मोक्षका कारण (समं भावं) एक समभावको (परं)

निश्चयसे (जानन्) जानता हुआ (तमेव) केवल आत्मस्वरूपमें अचल हो रहा है, अन्य कुछ भी शुभ अशुभ कार्य नहीं करता।

भावार्थ—परमोपेक्षा संयम अर्थात् तीन गुप्तिमें स्थिर परम समाधि उसमें आरूढ जो परमसंयम उसकी भावनारूप निर्मल यथार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र वही जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका कारण जो समयसार उसे जानता हुआ, अनुभवता हुआ, अनुभवी पुरुष न किसी प्राणीको सिखाता है, न किसीसे सीखता है, न स्तुति करता है, न निन्दा करता है। जिसके शत्रु मित्र सुख दुःख सब एक समान हैं ॥४८॥

अथ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेच्छायाः पञ्चेन्द्रियविषयभोगाकांक्षादेहमूर्च्छाव्रतादिसंकल्पविकल्परहितेन निजशुद्धात्मध्यानेन योऽसौ निजशुद्धात्मानं जानाति स परिग्रहविषयदेहव्रताव्रतेषु रागद्वेषौ न करोतीति चतुःकलं प्रकटयति—

गंथहं उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ।
गंथहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥४९॥

ग्रन्थस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम्।
ग्रन्थाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥४९॥

आगे बाह्य अंतरंग परिग्रहकी इच्छासे पांच इन्द्रियोंके विषय भोगोंका वांछक हुआ देहमें ममता नहीं करता, तथा मिथ्यात्व अव्रत आदि समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित जो निज शुद्धात्मा उसे जानता है, वह परिग्रहमें तथा विषय देहसम्बन्धी व्रत अव्रतमें राग द्वेष नहीं करता, ऐसा चार-सूत्रोंसे प्रगट करते हैं—(ग्रंथस्य उपरि) अंतरङ्ग बाह्य परिग्रहके ऊपर अथवा शास्त्रके ऊपर जो (परममुनिः) परम तपस्वी (रागं द्वेषमपि न करोति) राग और द्वेष नहीं करता है (येन) जिस मुनिने (आत्मस्वभावः) आत्माकास्वभाव (ग्रंथात्) ग्रन्थसे (भिन्नः विज्ञातः) जुदा जान लिया है।

भावार्थ—मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु (घर), हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांडरूप दस बाह्य परिग्रह—इसप्रकार चौवोस तरहके बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहोंको तीन जगतमें, तीनों कालोंमें, मन वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़ और शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप वीतराग निर्वि-

कल्प समाधिमें ठहरकर परवस्तुसे अपनेको भिन्न जानता है, वो ही परिग्रहके ऊपर रागद्वेष नहीं करता है। यहांपर ऐसा व्याख्यान निर्ग्रन्थ मुनिको ही शोभा देता है, परिग्रहधारीको नहीं शोभा देता है, ऐसा तात्पर्य जानना ॥४९॥

अथ—

विसयहं उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
विसयहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥५०॥

विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥५०॥

आगे विषयोंके ऊपर वीतरागता दिखलाते हैं—(**परममुनिः**) महामुनि (**विषयाणां उपरि**) पांच इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंपर (**रागमपि द्वेषं**) राग और द्वेष (**न करोति**) नहीं करता, अर्थात् मनोज्ञ विषयोंपर राग नहीं करता और अनिष्ट विषयोंपर द्वेष नहीं करता, क्योंकि (**येन**) जिनसे (**आत्मस्वभावः**) अपना स्वभाव (**विषयेभ्यः**) विषयोंसे (**भिन्नः विज्ञातः**) जुदा समझ लिया है। इसलिये वीतराग दशा धारण कर ली है।

भावार्थ—द्रव्येन्द्री भावेन्द्री और इन दोनोंसे ग्रहण करने योग्य देखे सुने अनुभव किये जो रूपादि विषय हैं, उनको मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे छोड़कर और निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अतींद्रिय सुखके रसके आस्वादनेसे तृप्त होकर विषयोंसे भिन्न अपने आत्माको जो मुनि अनुभवता है, वो ही विषयोंमें राग द्वेष नहीं करता। यहांपर तात्पर्य यह है, कि जो पंचेन्द्रियोंके विषय-सुखसे निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्म-सुखमें तृप्त होता है, उसीको यह व्याख्यान शोभा देता है, और विषयाभिलाषीको नहीं शोभता ॥५०॥

अथ—

देहहं उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
देहहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥५१॥

देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
देहाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥५१॥

आगे साधु देहके ऊपर भी राग द्वेष नहीं करता— (परममुनिः) महामुनि (देहस्य उपरि) मनुष्यादि शरीरके ऊपर भी (रागमपि द्वेषं) राग और द्वेषको (न करोति) नहीं करता अर्थात् शुभ शरीरसे राग नहीं करता, अशुभ शरीरसे द्वेष नहीं करता, (येन) जिसने (आत्मस्वभावः) निजस्वभाव (देहात्) देहसे (भिन्नः विज्ञातः) भिन्न जान लिया है। देह तो जड़ है, आत्मा चैतन्य है, जड़ चैतन्यका क्या संबंध ?

भावार्थ—इन इन्द्रियोंसे जो सुख उत्पन्न हुआ है, वह दुःखरूप ही है। ऐसा कथन श्रीप्रवचनसारमें कहा है। 'सपरम' इत्यादि। इसका तात्पर्य ऐसा है, कि जो इन्द्रियोंसे सुख प्राप्त होता है, वह सुख दुःखरूप ही है, क्योंकि वह सुख परवस्तु है, निजवस्तु नहीं है, बाधासहित है, निराबाध नहीं है, नाशके लिये हुए हैं, जिसका नाश हो जाता है, बन्धका कारण है, और विषम है। इसलिये इन्द्रियसुख दुःखरूप ही है, ऐसा इस गाथामें जिसका लक्षण कहा गया है, ऐसे देहजनित सुखको मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदनासे छोड़े। वीतरागनिर्विकल्पसमाधिके बलसे आकुलता रहित परमसुख निज परमात्मामें स्थित होकर जो महामुनि देहसे भिन्न अपने शुद्धात्मा को जानता है, वही देहके ऊपर राग द्वेष नहीं करता। जो सब तरह देहसे निर्ममत्व होकर देहके सुखको नहीं अनुभवता, उसीके लिए यह व्याख्यान शोभा देता है, और देहबुद्धिवालोंको नहीं शोभता ऐसा अभिप्राय जानना ॥५१॥

अथ—

वित्ति-णिवित्तिहिं परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ।
बंधहं हेउ वियाणियउ एयहं जेण सहाउ ॥५२॥

वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम्।
बन्धस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येनः स्वभावः ॥५२॥

आगे प्रवृत्ति और निवृत्तिमें भी महामुनि राग द्वेष नहीं करता, ऐसा कहते हैं—(परममुनि) महामुनि (वृत्तिनिवृत्त्योः) प्रवृत्ति और निवृत्तिमें (रागं अपि द्वेषं) राग और द्वेषको (न करोति) नहीं करता, (येन) जिसने (एतयोः) इन दोनोंका (स्वभावः) स्वभाव (बंधस्य हेतुः) कर्मबन्धका कारण (विज्ञातः) जान लिया है।

भावार्थ—व्रत अव्रतमें परममुनि राग द्वेष नहीं करता जिसने इन दोनोंका स्वभाव बन्धका कारण जान लिया है। अथवा पाठांन्तर होनेसे ऐसा अर्थ होता है,

कि जिसने आत्माका स्वभाव भिन्न जान लिया है। अपना स्वभाव प्रवृत्ति निवृत्तिसे रहित है। जहां व्रत अव्रतका विकल्प नहीं है। ये व्रत अव्रत पुण्य पापरूप वन्धके कारण हैं। ऐसा जिसने जान लिया, वह आत्मामें तल्लीन हुआ व्रत अव्रतमें रागद्वेष नहीं करता। ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने पूछा, हे भगवन्, जो व्रतपर राग नहीं करे, तो व्रत क्यों धारण करे? ऐसे कथनमें व्रतका निषेध होता है। तब योगीन्द्राचार्य कहते हैं, कि व्रतका अर्थ यह है, कि सब शुभ अशुभ भावोंसे निवृत्ति परिणाम होना। ऐसा ही अन्य ग्रन्थोंमें भी "रागद्वेषौ" इत्यादिसे कहा है। अर्थ यह है कि राग और द्वेष दोनों प्रवृत्तियां हैं, तथा इनका निषेध वह निवृत्ति है। ये दोनों अपने नहीं हैं, अन्य पदार्थके सम्बन्धसे हैं। इसलिये इन दोनोंको छोड़े। अथवा "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं" ऐसा कहा गया है।

इसका अर्थ यह है, कि प्राणियोंको पीड़ा देना, झूठ वचन बोलना, परधन हरना, कुशीलका सेवन और परिग्रह इनसे जो विरक्त होना, वही व्रत है। ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, वे व्यवहारनयकर एकोदेशरूप व्रत हैं। यही दिखलाते हैं—जीवघातमें निवृत्ति, जीवदयामें प्रवृत्ति, असत्य वचनमें निवृत्ति, सत्य वचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति, अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादि स्वरूपसे एकोदेशव्रत कहा जाता है, और राग-द्वेषरूप संकल्प विकल्पोंकी कल्लोलोंसे रहित तीन गुप्तिसे गुप्त समाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है। अर्थात् अशुभकी निवृत्ति और शुभकी प्रवृत्तिरूप एकोदेशव्रत और शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होना वह पूर्ण व्रत है। इसलिये प्रथम अवस्थामें व्रतका निषेध नहीं है एकोदेश व्रत है, और पूर्ण अवस्थामें सर्वदेश व्रत है।

यहां पर कोई यदि प्रश्न करे, कि व्रतसे क्या प्रयोजन? आत्मभावनासे ही मोक्ष होता है। भरतजी महाराजने क्या व्रत धारण किया था? वे तो दो घड़ीमें ही केवलज्ञान पाकर मोक्ष गये। इसका समाधान ऐसा है, कि भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, शिरके केशलुञ्चन किये, हिंसादि पापोंकी निवृत्तिरूप पांच महाव्रत आदरे। फिर एक अन्तर्मुहूर्तमें समस्त विकल्प रहित मन, वचन, काय रोकनेरूप निज शुद्धात्मध्यान उसमें ठहरकर निर्विकल्प हुए। वे शुद्धात्माका ध्यान, देखे, सुने और भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप निदान वन्धादि विकल्पोंसे रहित ऐसे ध्यानमें तल्लीन होकर केवली हुए। जब राज छोड़ा, और मुनि हुए तभी केवली हुए, तब भरतेश्वरने

अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया। इसलिये महाव्रतकी प्रसिद्धि नहीं हुई। इसपर कोई मूर्ख ऐसा विचार लेवे, कि जैसा उनको हुआ वैसे हमको भी होवेगा। ऐसा विचार ठीक नहीं है। यदि किसी एक अन्धेको किसी तरहसे निधिका लाभ हुआ, तो क्या सभीको ऐसा हो सकता है? सबको नहीं होता। भरत सरीखे भरत ही हुए।

इसलिये अन्य भव्यजीवोंको यही योग्य है, कि तप संयमका साधन करना ही श्रेष्ठ है। ऐसा ही "पुव्वं" इत्यादि गाथासे दूसरी जगह भी कहा है। अर्थ ऐसा है, कि जिसने पहले तो योगका अभ्यास नहीं किया, और मरणके समय जो कभी आराधक हो जावे, तो यह बात ऐसी जानना, कि जैसे किसी अन्धे पुरुषको निधिका लाभ हुआ हो। ऐसी बात सब जगह प्रमाण नहीं हो सकती। कभी कहीं पर होवे तो होवे ॥५२॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम्। अथानन्तरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—योऽसौ विभावस्वभावपरिणामौ निश्चयनयेन बन्धमोक्षहेतुभूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

बंधहं मोक्खहं हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ।
सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥५३॥

बन्धस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित्।
स परं मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥५३॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षका फल, और मोक्षके मार्गके कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें परम उपशांतभावके व्याख्यानकी मुख्यतासे अन्तरस्थलमें चौदह दोहे पूर्ण हुए।

आगे निश्चयनयकर पुण्य पाप दोनों ही समान हैं, ऐसा चौदह दोहोंमें कहते हैं। जो कोई स्वभावपरिणामको मोक्षका कारण और विभावपरिणामको बन्धका कारण निश्चयसे ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य पापका कर्त्ता होता है, अन्य नहीं, ऐसा मनमें धारणकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—(यः कश्चित्) जो कोई जीव (बंधस्य मोक्षस्य हेतुः) बन्ध और मोक्षका कारण (निजः) अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद (नैव जानाति) नहीं जानता है, (स एव) वही

(पुण्यमपि पापमपि) पुण्य और पाप (द्वे अपि) दोनोंको ही (मोहेन) मोहसे (करोति) करता है ।

भावार्थ—निज शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिसे विपरीत जो मिथ्यादर्शन, निज शुद्धात्माके ज्ञानसे विपरीत मिथ्याज्ञान, और निज शुद्धात्मद्रव्यमें निश्चल स्थिरतासे उलटा जो मिथ्याचारित्र इन तीनोंको बन्धका कारण और इन तीनोंसे रहित भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षका कारण ऐसा जो नहीं जानता है, वही मोहके वशसे पुण्य पापका कर्ता होता है । पुण्यको उपादेय जानके करता है, पापको हेय समझता है ।।५३।।

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतमात्मानं योऽसौ मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपापद्वयं करोतीति दर्शयति—

दंसण-णाण-चरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ ।
मोक्खहं कारणु भणिवि जिय सो पर ताइं करेइ ॥५४॥

दर्शनज्ञानचारित्रमयं यः नैवात्मानं मनुते ।
मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स परं ते करोति ।।५४।।

आगे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप परिणमता जो आत्मा वह ही मुक्तिका कारण है, जो ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य पाप दोनोंका कर्ता है, ऐसा दिखलाते हैं—(यः) जो (दर्शनज्ञानचारित्रमयं) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी (आत्मानं) आत्माको (नैव मनुते) नहीं जानता, (स एव) वही (जीव) हे जीव; (ते) उन पुण्य पाप दोनोंको (मोक्षस्य कारणं) मोक्षके कारण (भणित्वा) जानकर (करोति) करता है ।

भावार्थ—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग सहजानन्द एकरूप सुखरसका आस्वाद उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, उसी शुद्धात्मामें वीतराग नित्यानन्द स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान और वीतराग परमानन्द परम समरसीभावकर उसीमें निश्चय स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र—इन तीनों स्वरूप परिणत हुआ जो आत्मा उसको जो जीव मोक्षका कारण नहीं जानता, वह ही पुण्यको आदरने योग्य जानता है, और पापको त्यागने योग्य जानता है । तथा जो सम्यग्दृष्टिजीव रत्नत्रयस्वरूप परिणत हुए आत्माको ही मोक्षका मार्ग जानता है, उसके यद्यपि संसारकी स्थितिके छेदनका कारण और सम्यक्त्वादि गुणसे परम्पराय मुक्तिका कारण ऐसी तीर्थङ्करनामप्रकृति आदि शुभ

(पुण्य) प्रकृतियोंको (कर्मोंको) अवांछितवृत्तिसे ग्रहण करता है, तो भी उपादेय नहीं मानता है। कर्मप्रकृतियोंको त्यागने योग्य ही समझता है ॥५४॥

अथ योऽसौ निश्चयेन पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स मोहन मोहितः सन् संसारं परिभ्रमतीति कथयति—

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥५५॥

यः नैव मन्यते जीवः समाने पुण्यमपि पापमपि द्वे।
स चिरं दुःखं सहमानः जीव मोहेन हिण्डते लोके ॥५५॥

आगे जो निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनोंको समान नहीं मानता, वह मोहसे मोहित हुआ संसारमें भटकता है, ऐसा कहते हैं—(यः) जो (जीवः) जीव (पुण्यमपि पापमपि द्वे) पुण्य और पाप दोनोंको (समाने) समान (नैव मन्यते) नहीं मानता, (सः) वह जीव (मोहेन) मोहसे मोहित हुआ (चिरं) बहुत कालतक (दुःखं सहमानः) दुःख सहता हुआ (लोके) संसारमें (हिंडते) भटकता है।

भावार्थ—यद्यपि असद्भूत (असत्य) व्यवहारनयसे द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं, और अशुद्धनिश्चयनयसे भावपुण्य और भावपाप ये दोनों भी आपसमें भिन्न हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनयकर पुण्य पाप रहित शुद्धात्मासे दोनों ही भिन्न हुए बन्धरूप होनेसे दोनों समान ही हैं। जैसे सोनेकी वेड़ी और लोहेकी वेड़ी ये दोनों ही बंधका कारण हैं—इससे समान हैं। इस तरह नयविभागसे जो पुण्य पापको समान नहीं मानता, वह निर्मोही शुद्धात्मासे विपरीत जो मोहकर्म उससे मोहित हुआ संसारमें भ्रमण करता है। ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट बोला, यदि ऐसा ही है, तो कितने ही परमतवादी पुण्य पापको समान मानकर स्वच्छन्द हुए रहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ?

तब योगीन्द्रदेवने कहा—जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीन गुप्तिसे गुप्त वीतराग-निर्विकल्पसमाधिको पाकर ध्यानमें मग्न हुए पुण्य पापको समान जानते हैं, तब तो जानना योग्य है। परन्तु जो मूढ़ परमसमाधिको न पाकर भी गृहस्थ अवस्थामें दान पूजा आदि शुभ क्रियाओंको छोड़ देते हैं, और मुनिपदमें छह आवश्यककर्मोंको छोड़ते

हैं, वे दोनों बातोंसे भ्रष्ट हैं। न तो यती हैं, न श्रावक हैं। वे निंदा योग्य ही हैं। तब उनको दोष ही है, ऐसा जानना ।।५५।।

अथ येन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवति तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति—

वर जिय पावइं सुंदरइं णाणिय ताइं भणंति ।
जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमइं जाइं कुणंति ॥५६॥

वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शिवमतिं यानि कुर्वन्ति ।।५६।।

आगे जिस पापके फलसे यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःखके दूर करनेके लिये धर्मके सम्मुख होता है, वह पापका फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है, ऐसा दिखलाते हैं—**(जीव)** हे जीव, **(यानि)** जो पापके उदय **(जीवानां)** जीवोंको **(दुःखानि जनित्वा)** दुःख देकर **(लघु)** शीघ्र ही **(शिवमतिं)** मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धि **(कुर्वन्ति)** कर देवे, तो **(तानि पापानि)** वे पाप भी **(वरं सुंदराणि)** बहुत अच्छे हैं, ऐसा **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी **(भणंति)** कहते हैं।

भावार्थ—कोई जीव पाप करके नरकमें गया, वहां पर महान दुःख भोगे, उससे कोई समय किसी जीवके सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि उस जगह सम्यक्त्वकी प्राप्तिके तीन कारण हैं। पहला तो यह है, कि तीसरे नरकतक देवता उसे सम्बोधनेको (चेतावनेको) जाते हैं, सो कभी कोई जीवके धर्म सुननेसे सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण—पूर्वभवका स्मरण और तीसरा नरककी पीड़ाकरि दुःखी हुआ नरकको महान दुःखका स्थान जान नरकके कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और आरम्भादिक हैं, उनको खराब जानके पापसे उदास होवें। तीसरे नरकतक ये तीन कारण हैं। आगेके चौथे, पांचवें, छठे, सातवें नरकमें देवोंका गमन न होनेसे धर्म-श्रवण तो है नहीं, लेकिन जातिस्मरण है, तथा वेदनाकर दुःखी होके पापसे भयभीत होना—ये दो ही कारण हैं। इन कारणोंको पाकर किसी जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इस नयसे कोई भव्य जीव पापके उदयसे खोटी गतिमें गया, और वहां जाकर यदि सुलट जावे, तथा सम्यक्त्व पावे, तो वह कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है।

यही श्रीयोगीन्द्राचार्यने मूलमें कहा है—जो पाप जीवोंको दुःख प्राप्त कराके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्गमें बुद्धिको लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं। तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तपसे देव भी हुआ और देवसे मरके एकेन्द्री हुआ तो वह देव-पर्याय पाना किस कामका। अज्ञानीके देव-पद पाना भी वृथा है। जो कभी ज्ञानके प्रसादसे उत्कृष्ट देव होके बहुत कालतक सुख भोगके देवसे मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्षको पावे, तो उसके समान दूसरा क्या होगा। जो नरकसे भी निकलकर कोई भव्यजीव मनुष्य होके महाव्रत धारण करके मुक्ति पावे, तो वह भी अच्छा है। ज्ञानी पुरुष उन पापियोंको भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पापके प्रभावसे दुःख भोगकर उस दुःखसे डरके दुःखके मूलकारण पापको जानके उस पापसे उदास होवें, वे प्रशंसा करने योग्य हैं, और पापी जीव प्रशंसाके योग्य नहीं हैं, क्योंकि पाप-क्रिया हमेशा निन्दनीय है। भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप श्रीवीतरागदेवके धर्मको जो धारण करते हैं वे श्रेष्ठ हैं। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक, और दुःखी धारण करे तब भी ठीक। क्योंकि शास्त्रका वचन है, कि कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्ममें लवलीन होते हैं ।।५६।।

अथ निदानबन्धोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राज्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादिदुःखं जनयन्तीति हेतोः समीचीनानि न भवन्तीति कथयति—

मं पुणु पुण्णइं भल्लाइं णाणिय ताइं भणंति ।
जीवहं रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति ।।५७।।

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयन्ति ।।५७।।

आगे निदानबन्धसे उपार्जन किये हुए पुण्यकर्म जीवको राज्यादि विभूति देकर नरकादि दुःख उत्पन्न कराते हैं, इसलिये अच्छे नहीं हैं—(पुनः) फिर (तानि पुण्यानि) वे पुण्य भी (मा भद्राणि) अच्छे नहीं हैं, (यानि) जो (जीवस्य) जीवको (राज्यानि दत्त्वा) राज देकर (लघु) शीघ्र ही (दुःखानि) नरकादि दुःखोंको (जनयंति) उपजाते हैं, (ज्ञानिनः) ऐसा ज्ञानीपुरुष (भणंति) कहते हैं।

भावार्थ—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द अतीन्द्रियसुखका अनुभव उससे विपरीत जो देखे सुने भोगे इन्द्रियोंके भोग उनकी वांछारूप

निदानबन्धपूर्वक दान तप आदिकसे उपार्जन किये जो पुण्यकर्म हैं, वे हेय हैं। क्योंकि वे निदानबन्धसे उपार्जन किये पुण्यकर्म जीवको दूसरे भवमें राजसम्पदा देते हैं। उस राज्यविभूतिको अज्ञानी जीव पाकर विषय भोगोंको छोड़ नहीं सकता, उससे नरकादिकके दुःख पाता है रावणकी तरह इसलिये अज्ञानियोंके पुण्य-कर्म भी होता है, और जो निदानबन्ध रहित ज्ञानी पुरुष हैं, वे दूसरे भवमें राज्यादि भोगोंको पाते हैं, तो भी भोगोंको छोड़कर जिनराजकी दीक्षा धारण करते हैं। धर्मको सेवनकर ऊर्ध्वगतिगामी बलदेव आदिककी तरह होते हैं। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि भवान्तरमें निदानबन्ध नहीं करते हुए जो महामुनि हैं, वे महान् तपकर स्वर्गलोक जाते हैं। वहांसे चयकर बलभद्र होते हैं। वे देवोंसे अधिक सुख भोगकर राज्यका त्याग करके मुनिव्रतको धारणकर या तो केवलज्ञान पाके मोक्षको ही पधारते हैं, या बड़ी ऋद्धिके धारी देव होते हैं, फिर मनुष्य होकर मोक्षको पाते हैं ॥५७॥

अथ निर्मलसम्यक्त्वाभिमुखानां मरणमपि भद्रं, तेन विना पुण्यमपि समीचीनं न भवतीति प्रतिपादयति—

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि।
मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥५८॥

वरं निजदर्शनाभिमुखः मरणमपि जीव लभस्व।
मा निजदर्शनविमुखः पुण्यमपि जीव करिष्यसि ॥५८॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीवोंको मरण भी सुखकारी है, उनका मरना अच्छा है, और सम्यक्त्वके विना पुण्यका उदय भी अच्छा नहीं है— (जीव) हे जीव, (निजदर्शनाभिमुखः) जो अपने सम्यग्दर्शनके सन्मुख होकर (मरणमपि) मरणको भी (लभस्व वरं) पावे, तो अच्छा है, परन्तु (जीव) हे जीव, (निजदर्शनविमुखः) अपने सम्यग्दर्शनसे विमुख हुआ (पुण्यमपि) पुण्य भी (करिष्यसि) करे (मा वरं) तो अच्छा नहीं।

भावार्थ—निर्दोष निजपरमात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप तीन गुप्तिमयी जो निश्चयचारित्र उससे अविनाभावी (तन्मयी) जो वीतरागनिश्चयसम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ हे जीव, जो तू मरण भी पावे, तो दोष नहीं, और उस सम्यक्त्वके बिना मिथ्यात्व अवस्थामें पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि

जीव पुण्य सहित हैं, तो भी पापी ही कहे हैं। तथा जो सम्यक्त्व सहित हैं, वे पहले भवमें उपार्जन किये हुए पापके फलसे दुःख दारिद्र भोगते हैं, तो भी पुण्याधिकारी ही कहे हैं। इसलिये जो सम्यक्त्व सहित हैं, उनका मरना भी अच्छा। मरकर ऊपरको जावेंगे और सम्यक्त्व रहित हैं, उनका पुण्य-कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है। वे पुण्यके उदयसे क्षुद्र (नीच) देव तथा क्षुद्र मनुष्य होके संसार-वनमें भटकेंगे। यदि पूर्वके पुण्यको यहां भोगते हैं, तो तुच्छ फल भोगके नरक-निगोदमें पड़ेंगे।

इसलिए मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य भी भला नहीं है। निदानबन्ध पुण्यसे भवान्तरमें भोगोंको पाकर पीछे नरकमें जावेंगे। सम्यग्दृष्टि प्रथम मिथ्यात्व अवस्थामें किये हुए पापोंके फलसे दुःख भोगते हैं, लेकिन अब सम्यक्त्व मिला है, इसलिये सदा सुखी ही होवेंगे। आयुके अन्तमें नरकसे निकलके मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगे, और मिथ्यादृष्टि जो पुण्यके उदयसे देव भी हुए हैं, तो भी देवलोकसे आकर एकेन्द्री होवेंगे। ऐसा दूसरी जगह भी "वरं" इत्यादि श्लोकसे कहा है, कि सम्यक्त्व सहित नरकमें रहना भी अच्छा, और सम्यक्त्व रहितका स्वर्गमें निवास भी नहीं शोभा देता ॥५८॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि द्रढयति—

जे णिय-दंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति।
तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥५९॥

ये निजदर्शनाभिमुखाः सौख्यमनन्तं लभन्ते।
तेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तं सहन्ते ॥५९॥

अब इसी बातको फिर भी दृढ़ करते हैं—(ये) जो (निजदर्शनाभिमुखाः) सम्यग्दर्शनके सन्मुख हैं, वे (अनन्तं सुखं) अनन्त सुखको (लभन्ते) पाते हैं, (तेन विना) और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं, वे (पुण्यं कुर्वाणा अपि) पुण्य भी करते हैं, तो भी पुण्यके फलसे अल्प सुख पाके संसारमें (अनंतं दुःखं) अनन्त दुःख (सहंते) भोगते हैं।

भावार्थ—निज शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप निश्चयसम्यक्त्वके सन्मुख हुए जो सत्पुरुष हैं वे इसी भवमें युधिष्ठिर, भीम, अर्जुनकी तरह अविनाशी सुखको पाते हैं, और कितने ही नकुल सहदेवकी तरह अहमिंद्र-पदके सुख पाते हैं। तथा जो सम्यक्त्वसे

रहित मिथ्यादृष्टिजीव पुण्य भी करते हैं, तो भी मोक्षके अधिकारी नहीं हैं, संसारी-जीव ही हैं, यह तात्पर्य जानना ॥५९॥

अथ निश्चयेन पुण्यं निराकरोति—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥६०॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मतिमोहः ।
मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु ॥६०॥

आगे निश्चयसे मिथ्यादृष्टियोंके पुण्यका निषेध करते हैं—(**पुण्येन**) पुण्यसे घरमें (**विभवः**) धन (**भवति**) होता है, और (**विभवेन**) धनसे (**मदः**) अभिमान (**मदेन**) मानसे (**मतिमोहः**) बुद्धिभ्रम होता है, (**मतिमोहेन**) बुद्धिके भ्रम होनेसे (अविवेकसे) (**पापं**) पाप होता है, (**तस्मात्**) इसलिये (**पुण्यं**) ऐसा पुण्य (**अस्माकं**) हमारे (**मा भवतु**) न होवे ।

भावार्थ—भेदाभेदरत्नत्रयकी आराधनासे रहित, देखे सुने अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप निदानबन्धके परिणामों सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव हैं, उसने पहले उपार्जन किये भोगोंकी वांछारूप पुण्य उसके फलसे प्राप्त हुई घरमें सम्पदा होनेसे अभिमान (घमंड) होता है, अभिमानसे बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट-कर पाप कमाता है, और पापसे भव-भवमें अनन्त दुःख पाता है । इसलिये मिथ्या-दृष्टियोंका पुण्य पापका ही कारण है । जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर, राम पाण्डवादिक विवेकी जीव हैं, उनको पुण्यबन्ध अभिमान नहीं उत्पन्न करता, परम्पराय मोक्षका कारण है । जैसे अज्ञानियोंके पुण्यका फल विभूति गर्वका कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है । वे सम्यग्दृष्टि पुण्यके पात्र हुए चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकारादि विकल्पोंको छोड़कर मोक्षको गये अर्थात् सम्यग्दृष्टिजीव चक्रवर्ती बलभद्र-पदमें भी निरहंकार रहे ।

ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रन्थमें श्रीगुणभद्राचार्यने किया है, कि पहले समयमें ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं, कि जिनके वचनमें सत्य, बुद्धिमें शास्त्र, मनमें दया, पराक्रमरूप भुजाओंमें शूरवीरता, याचकोंमें पूर्ण लक्ष्मीका दान, और मोक्षमार्गमें गमन है, वे निरभिमानी हुए, जिनके किसी गुणका अहंकार नहीं हुआ । उनके नाम शास्त्रोंमें

प्रसिद्ध हैं, परन्तु अब बड़ा अचम्भा है, कि इस पंचमकालमें लेशमात्र भी गुण नहीं हैं, तो भी उनके उद्धतपना है, यानी गुण तो रंचमात्र भी नहीं, और अभिमानमें वृद्धि रहती है ॥६०॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥६१॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति ।
कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः शान्तिः भणति ॥६१॥

आगे देव गुरु शास्त्रकी भक्तिसे मुख्यतासे तो पुण्यबन्ध होता है, उससे परम्पराय मोक्ष होता है, साक्षात् मोक्ष नहीं, ऐसा कहते हैं—(देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां) श्रीवीतरागदेव, द्वादशाङ्ग शास्त्र और दिगम्बर साधुओंकी (भक्त्या) भक्ति करनेसे (पुण्यं भवति) मुख्यतासे पुण्य होता है (पुनः) लेकिन (कर्मक्षयः) तत्काल कर्मोंका क्षय (नैव भवति) नहीं होता, ऐसा (आर्यः शांतिः) शान्ति नाम आर्य अथवा कपट रहित संत पुरुष (भणति) कहते हैं।

भावार्थ—सम्यक्त्वपूर्वक जो देव गुरु शास्त्रकी भक्ति करता है, उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है, और परम्पराय मोक्ष होता है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि हैं, उनके भाव-भक्ति तो नहीं है, लौकिक बाहिरी भक्ति होती है, उससे पुण्यका ही बन्ध है, कर्मका क्षय नहीं है। ऐसा कथन सुनकर श्रीयोगीन्द्रदेवसे प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया। हे प्रभो, जो पुण्य मुख्यतासे मोक्षका कारण नहीं है, तो त्यागने योग्य ही है, ग्रहण योग्य नहीं है। जो ग्रहण योग्य नहीं है, तो भरत, सगर, राम, पांडवादिक महान् पुरुषोंने निरन्तर पंचपरमेष्ठीके गुणस्मरण क्यों किये ? और दान पूजादि शुभ क्रियाओंसे पूर्ण होकर क्यों पुण्यका उपार्जन किया ?

तब श्रीगुरुने उत्तर दिया—कि जैसे परदेशमें स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्रीके पाससे आये हुए किसी मनुष्यसे बातें करता है—उसका सम्मान करता है, और दान करता है, ये सब कारण अपनी प्रियाके हैं, कुछ उसके प्रसादके कारण नहीं हैं। उसी तरह वे भरत, सगर, राम, पांडवादि महान् पुरुष वीतराग परमानन्दरूप मोक्षसे लक्ष्मीके सुख अमृत-रसके प्यासे हुए संसारकी

स्थितिके छेदनेके लिये विषय कषायकर उत्पन हुए आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंके नाशका कारण श्रीपंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करते हैं, और दान पूजादिक करते हैं, परंतु उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर है, परवस्तु पर नहीं है। पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि शुभ क्रियाको परिणत हुए जो भरत आदिक हैं, उनके विना चाहे पुण्यप्रकृतिका आस्रव होता है। जैसे किसानकी दृष्टि अन्न पर है, तृण भूसादिपर नहीं है। विना चाहा पुण्यका बन्ध सहजमें ही हो जाता है। वह उनको संसारमें नहीं भटका सकता है। वे तो शिवपुरीके ही पात्र हैं ॥६१॥

अथ देवशास्त्रमुनीनां योऽसौ निन्दा करोति तस्य पापबन्धो भवतीति कथयति—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ ।
णियमें पाउ हवेइ तसु जें संसारु भमेइ ॥६२॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारं भ्रमति ॥६२॥

आगे देव शास्त्र गुरुकी जो निंदा करता है, उसके महान् पापका बन्ध होता है, वह पापी पापके प्रभावसे नरक निगोदादि खोटी गतिमें अनन्तकाल तक भटकता है—**(देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां)** वीतरागदेव, जिनसूत्र, और निर्ग्रंथमुनियोंसे **(यः)** जो जीव **(विद्वेषं)** द्वेष **(करोति)** करता है, **(तस्य)** उसके **(नियमेन)** निश्चयसे **(पापं)** पाप **(भवति)** होता है, **(येन)** जिस पापके कारणसे वह जीव **(संसारं)** संसारमें **(भ्रमति)** भ्रमण करता है। अर्थात् परम्पराय मोक्षके कारण और साक्षात् पुण्यबन्धके कारण जो देव शास्त्र गुरू हैं, इनकी जो निंदा करता है, उसके नियमसे पाप होता है, पापसे दुर्गतिमें भटकता है।

भावार्थ—निज परमात्मद्रव्यकी प्राप्तिकी रुचि वही निश्चयसम्यक्त्व, उसका कारण तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्त्व, उसके मूल अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु, और दयामयी धर्म, इन तीनोंकी जो निन्दा करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। वह मिथ्यात्वका महान् पाप बांधता है। उस पापसे चतुर्गति संसारमें भ्रमता है ॥६२॥

अथ पूर्वसूत्र द्वयोक्तं पुण्यपापफलं दर्शयति—

पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु ।
मिस्सें माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु ॥६३॥

पापेन नारकः तिर्यग् जीवः पुण्येनामरो विजानीहि ।
मिश्रेण मनुष्यगतिं लभते द्वयोरपि क्षये निर्वाणम् ।।६३।।

आगे पहले दो सूत्रोंमें कहे गये पुण्य और पाप फल हैं, उनको दिखाते हैं—(जीवः) यह जीव (पापेन) पापके उदयसे (नारकः तिर्यग्) नरकगति और तिर्यञ्चगति पाता है, (पुण्येन) पुण्यसे (अमरः) देव होता है, (मिश्रेण) पुण्य और पाप दोनोंके मेलसे (मनुष्यगतिं) मनुष्यगतिको (लभते) पाता है, और (द्वयोरपि क्षये) पुण्य पाप दोनोंके ही नाश होनेसे (निर्वाणं) मोक्षको पाता है ऐसा (विजानीहि) जानो ।

भावार्थ—सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत जो पापकर्म उसके उदयसे नरक तिर्यञ्चगतिका पात्र होता है, आत्मस्वरूपसे विपरीत शुभ कर्मोंके उदयसे देव होता है, दोनोंके मेलसे मनुष्य होता है, और शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत इन दोनों पुण्य पापोंके क्षयसे निर्वाण (मोक्ष) मिलता है । मोक्षका कारण एक शुद्धोपयोग है, वह शुद्धोपयोग निज शुद्धात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण-रूप है । इसलिये इस शुद्धोपयोगके विना किसी तरह भी मुक्ति नहीं हो सकती, यह सारांश जानो । ऐसा ही सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें भी हरएक जगह कहा गया है । जैसे—यह जीव पापसे नरक तिर्यञ्चगतिको जाता है, और धर्म (पुण्य) से देवलोकमें जाता है, पुण्य पाप दोनोंके मेलसे मनुष्यदेहको पाता है, और दोनोंके क्षयसे मोक्ष पाता है ।

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनस्वरूपे स्थित्वा व्यवहारप्रतिक्रमण प्रत्याख्यानालोचनां त्यजन्तीति त्रिकलेन कथयति—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहं कारणु जेण ।
करइ करावइ अणमणइ एक्कु वि णाणि ण तेण ।।६४।।

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन ।
करोति कारयति अनुमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन ।।६४।।

आगे निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, और निश्चयआलोचनारूप जो शुद्धोपयोग उसमें ठहरकर व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, और व्यवहार-आलोचनारूप शुभोपयोगको छोड़े, ऐसा कहते हैं—(वंदनं) पञ्चपरमेष्ठीकी वंदना, (निंदनं) अपने अशुभ कर्मकी निंदा, और (प्रतिक्रमणं) अपराधोंकी प्राय-श्चित्तादि विधिसे निवृत्ति, ये सब (येन पुण्यस्य कारणं) जो पुण्यके कारण है,

मोक्षके कारण नहीं हैं, (तेन) इसीलिये पहली अवस्थामें पापके दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष इनको करता है, कराता है, और करते हुएको भला जानता है तो भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्थामें (ज्ञानी) ज्ञानी जीव (एकमपि) इन तीनोंमेंसे एक भी (न करोति) न तो करता, (कारयति) न कराता है, और न (अनुमन्यते) करते हुएको भला जानता है ।

भावार्थ—केवल शुद्ध स्वरूपमें जिसका चित्त लगा हुआ है, ऐसा निर्विकल्प परमात्मतत्त्वकी भावनाके बलसे देखे सुने और अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप जो भूतकालके रागादि दोष उनका दूर करना वह **निश्चयप्रतिक्रमण**; वीतराग चिदानन्द शुद्धात्माकी अनुभूतिकी भावनाके बलसे होनेवाले भोगोंकी वाँछारूप रागादिकका त्याग वह **निश्चयप्रत्याख्यान**; और निज शुद्धात्माकी प्राप्तिके बलसे वर्तमान उदयमें आये जो शुभ अशुभके कारण हर्ष विषादादि अशुद्ध परिणाम उनको निज शुद्धात्मद्रव्यसे जुदा करना वह **निश्चयआलोचन**; इस तरह निश्चयप्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचनामें ठहरकर जो कोई व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, व्यवहार आलोचना इन तीनोंके अनुकूल वन्दना निंदा आदि शुभोपयोग है, उनको छोड़ता है वही ज्ञानी कहा जाता है, अन्य नहीं । सारांश यह है कि ज्ञानी जीव तो पहले तो अशुभको त्यागकर शुभमें प्रवृत्त होता है, बाद शुभको भी छोड़के शुद्धमें लग जाता है । पहले किये हुए अशुभ कर्मोंकी निवृत्ति वह **व्यवहारप्रतिक्रमण**, अशुभपरिणाम होनेवाले हैं, उनका रोकना वह **व्यवहारप्रत्याख्यान**, और वर्तमानकालमें शुभकी प्रवृत्ति अशुभकी निवृत्ति वह **व्यवहारआलोचन** है । व्यवहारमें तो अशुभका त्याग शुभका अंगीकार होता है, और निश्चयमें शुभ अशुभ दोनोंका ही त्याग होता है ॥६४॥

अथ—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिं एहु ण जुत्तु ।
एक्कु जि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥६५॥

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तम् ।
एकमेव मुक्त्वा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रम् ॥६५॥

आगे इसी कथनको दृढ करते हैं—(वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं) वंदना, निंदा, और प्रतिक्रमण (इदं) ये तीनों (ज्ञानिनां) पूर्ण ज्ञानियोंको (युक्तं न) ठीक नहीं हैं,

(एकमेव) एक (ज्ञानमयं) ज्ञानमय (शुद्धं पवित्रं भावं) पवित्र शुद्ध भावको (मुक्त्वा) छोड़कर अर्थात् इसके सिवाय ज्ञानीको कोई कार्य करना योग्य नहीं है।

भावार्थ—पांच इन्द्रियोंके भोगोंकी वांछाको आदि लेकर सम्पूर्ण विभावोंसे रहित जो केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप परमात्मतत्त्व उसके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न जो परमानन्द परमसमरसीभाव वही हुआ अमृत-रस उसके आस्वादसे पूर्ण जो ज्ञानमयीभाव उसे छोड़कर अन्य व्यवहारप्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनाके अनुकूल वन्दन निन्दनादि शुभोपयोग विकल्प-जाल हैं, वे पूर्ण ज्ञानीको करने योग्य नहीं है। प्रथम अवस्थामें ही हैं, आगे नहीं है ॥६५॥

अथ—

वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु।
पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु ॥६६॥

वन्दतां निन्दतु प्रतिक्रामतु भावः अशुद्धो यस्य।
परं तस्य संयमोऽस्ति नैव यस्मात् मनः शुद्धिर्न तस्य ॥६६॥

आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं—(वंदतु निंदतु प्रतिक्रामतु) निःशंक वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमणादि करो लेकिन (यस्य) जिसके (अशुद्धो भावः) जब तक अशुद्ध परिणाम हैं, (तस्य) उसके (परं) नियमसे (संयमः) संयम (नैव अस्ति) नहीं हो सकता, (यस्मात्) क्योंकि (तस्य) उसके (मनःशुद्धिः न) मनकी शुद्धता नहीं है। जिसका मन शुद्ध नहीं, उसके संयम कहांसे हो सकता है?

भावार्थ—नित्यानन्द एकरूप निज शुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी (उलटे) जो विषय कषाय उनके आधीन आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंकर जिसका चित्त रङ्गा हुआ है, उसके द्रव्यरूप व्यवहार-वन्दना निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं? जो वह बाह्य-क्रिया करता है, तो भी उसके भावसंयम नहीं है। सिद्धान्तमें उसे असंयमी कहते हैं। कैसे हैं, वो आर्त रौद्र स्वरूप खोटे ध्यान अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि सैंकड़ों मनोरथोंके विकल्पोंकी मालाके (पंक्तिके) प्रपंचकर उत्पन्न हुए हैं। जबतक ये चित्तमें हैं, तबतक बाह्य-क्रिया क्या कर सकती है? कुछ नहीं कर सकती ॥६६॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयनयेन पुण्य-पापद्वयं समानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्थलं समाप्तम्। अथानन्तरं शुद्धो-

पयोगादिप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रान्तरस्थलचतुष्टयं भवति। तद्यथा। प्रथमसूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानं करोति, तदनन्तरं पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्वं सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं केवलज्ञानादिगुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति। तद्यथा।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणास्तिष्ठन्तीति प्रतिपादयति—

सुद्धहं संजमु सीलु तउ सुद्धहं दंसणु णाणु।
सुद्धहं कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥६७॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानम्।
शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥६७॥

इस तरह मोक्ष, मोक्ष-फल मोक्षमार्गादिका कथन करनेवाले दूसरे महा अधिकारमें निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनों समान हैं, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे चौदह दोहे कहे। आगे शुद्धोपयोगके कथनको मुख्यतासे इकतालीस दोहोंमें व्याख्यान करते हैं, और आठ दोहोंमें परिग्रहत्यागके व्याख्यानकी मुख्यतासे कहते हैं, तथा तेरह दोहोंमें केवलज्ञानादि गुणस्वरूपकर सब जीव समान हैं, ऐसा व्याख्यान है।

अब प्रथम ही रागादि विकल्पकी निवृत्तिरूप शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण रहते हैं, ऐसा वर्णन करते हैं—(शुद्धानां) शुद्धोपयोगियोंके ही (संयमः शील तपः) पांच इन्द्री छट्ठे मनको रोकनेरूप संयम शील और तप (भवति) होते हैं, (शुद्धानां) शुद्धोंके ही (दर्शनं ज्ञानं) सम्यग्दर्शन और वीतरागस्वसंवेदनज्ञान और (शुद्धानां) शुद्धोपयोगियोंके ही (कर्मक्षयः) कर्मोंका नाश होता है, (तेन) इसलिये (शुद्धः) शुद्धोपयोग ही (प्रधानः) जगतमें मुख्य है।

भावार्थ—शुद्धोपयोगियोंके पांच इन्द्री छट्ठे मनका रोकना, विषयाभिलाषकी निवृत्ति, और छह कायके जीवोंकी हिंसासे निवृत्ति, उसके बलसे आत्मामें निश्चल रहना, उसका नाम संयम है, वह होता है, अथवा उपेक्षासंयम अर्थात् तीन गुप्तिमें आरूढ़ और उपहृतसंयम अर्थात् पांच समितिका पालना, अथवा सरागसंयम अर्थात् शुभोपयोगरूप संयम और वीतरागसंयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परमसंयम वह उन शुद्ध

चेतनोपयोगियोंके ही होता है । शील अर्थात् अपनेसे अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना यह निश्चयशील, रागादिके त्यागनेसे शुद्ध भावकी रक्षा करना वह भी निश्चयशील है, और देवाङ्गना, मनुष्यनी तिर्यञ्चनी, तथा काठ पत्थर चित्रामादिकी अचेतन स्त्री—ऐसे चार प्रकारकी स्त्रियोंका मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करना, वह व्यवहारशील है, ये दोनों शील शुद्ध चित्तवालोंके ही होते हैं ।

तप अर्थात् बारह तरहका तप उसके बलसे भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्मरूप सब वस्तुओंमें इच्छा छोड़कर शुद्धात्मामें मग्न रहना, काम क्रोधादि शत्रुओंके वशमें न होना, प्रतापरूप विजयरूप जितेन्द्री रहना । यह तप शुद्ध चित्तवालोंके ही होता है । दर्शन अर्थात् साधक अवस्थामें तो शुद्धात्मामें रुचिरूप सम्यग्दर्शन और केवली अवस्थामें उस सम्यग्दर्शनका फलरूप संशय, विमोह, विभ्रम रहित निज परिणामरूप क्षायिक-सम्यक्त्व केवलदर्शन यह भी शुद्धोंके ही होता है । ज्ञान अर्थात् वीतराग स्वसंवेदन-ज्ञान और उसका फल केवलज्ञान वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होता है, और कर्मक्षय अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मका नाश तथा परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति वह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होती है ।

इसलिये शुद्धोपयोग-परिणाम और उन परिणामोंका धारण करनेवाला पुरुष ही जगत्‌में प्रधान है । क्योंकि संयमादि सर्व गुण शुद्धोपयोगमें ही पाये जाते हैं । इस-लिये शुद्धोपयोगके समान अन्य नहीं है, ऐसा तात्पर्य जानना । ऐसा ही अन्य ग्रन्थोंमें हरएक जगह "सुद्धस्स" इत्यादिसे कहा गया है । उसका भावार्थ यह है, कि शुद्धो-पयोगीके ही मुनिपद कहा है, और उसीके दर्शन ज्ञान कहे हैं । उसीके निर्वाण है, और वही शुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । उसीको हमारा नमस्कार है ॥६७॥

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति—

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु ।
चउ-गइ-दुक्खहं जो धरइ जीउ पडंतउ एहु ॥६८॥

भावो विशुद्धः आत्मीयः धर्मं भणित्वा लाहि ।
चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धरति जीवं पतन्तमिमम् ॥६८॥

आगे यह कहते हैं कि निश्चयसे अपना शुद्ध भाव ही धर्म है—(विशुद्धः भावः) मिथ्यात्व रागादिसे रहित शुद्ध परिणाम है, वही (आत्मीयः) अपना है, और

अशुद्ध परिणाम अपने नहीं हैं, सो शुद्ध भावको ही (धर्म भणित्वा) धर्म समझकर (गृह्णीथाः) अङ्गीकार करो। (यः) जो आत्मधर्म (चतुर्गतिदुःखेभ्यः) चारों गतियोंके दुःखोंसे (पतंतं) संसारमें पड़े हुए (इमं जीवं) इस जीवको निकालकर (धरति) आनंद-स्थानमें रखता है।

भावार्थ—धर्म शब्दका शब्दार्थ ऐसा है, कि संसारमें पड़ते हुए प्राणियोंको निकालकर मोक्ष-पदमें रखे वह धर्म है, वह मोक्ष-पद देवेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रोंकर वन्दने योग्य है। जो आत्माका निज स्वभाव है वही धर्म है, उसीमें जिनभाषित सब धर्म पाये जाते हैं। जो दयास्वरूप धर्म है, वह भी जीवके शुद्ध भावोंके बिना नहीं होता, यति श्रावकका धर्म भी शुद्ध भावोंके विना नहीं होता, उत्तम क्षमादि दशलक्षणधर्म भी शुद्ध भाव बिना नहीं हो सकता, और रत्नत्रयधर्म भी शुद्ध भावोंके बिना नहीं हो सकता। ऐसा ही कथन जगह जगह ग्रन्थोंमें है, "सद्दृष्टि" इत्यादि श्लोकसे—उसका अर्थ यह है, कि धर्मके ईश्वर भगवान्‌ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंको धर्म कहा है। जिस धर्मके ये ऊपर कहे गये लक्षण हैं, वह राग, द्वेष, मोह रहित परिणाम-धर्म है, वह जीवका स्वभाव ही है, क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही धर्म है। ऐसा दूसरी जगह भी "धम्मो" इत्यादि गाथासे कहा है, कि जो आत्म-वस्तुका स्वभाव है, वह धर्म है, उत्तम क्षमादि भावरूप दस प्रकारका धर्म है, रत्नत्रय धर्म है, और जीवोंकी रक्षा यह धर्म है। यह जिनभाषित धर्म चतुर्गतिके दुःखोंमें पड़ते हुए जीवोंको उद्धारता है। यहां शिष्यने प्रश्न किया, कि जो पहले दोहेमें तो तुमने शुद्धोपयोगमें संयमादि सब गुण कहे, और यहां आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म कहा है, उसमें धर्म पाये जाते हैं, तो पहले दोहेमें और इसमें क्या भेद है ?

उसका समाधान—पहले दोहेमें तो शुद्धोपयोग मुख्य कहा था, और इस दोहेमें धर्म मुख्य कहा है। शुद्धोपयोगका ही नाम धर्म है, तथा धर्मका नाम ही शुद्धोपयोग है। शब्दका भेद है, अर्थका भेद नहीं है। दोनोंका तात्पर्य एक है। इसलिए सब तरह शुद्ध परिणाम ही कर्तव्य हैं, वही धर्म है ॥६८॥

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति—

सिद्धिहिं केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु ।
जो तसु भावहं मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥६९॥

सिद्धेः सम्बन्धी पन्थाः भावो विशुद्ध एकः ।
यः तस्माद्भावात् मुनिश्चलति स कथं भवति विमुक्तः ॥६९॥

आगे शुद्ध भाव ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा दिखलाते हैं—(सिद्धेः संबंधी) मुक्तिका (पंथाः) मार्ग (एकः विशुद्धः भावः) एक शुद्ध भाव ही है। (यः मुनिः) जो मुनि (तस्मात् भावात्) उस शुद्ध भावसे (चलति) चलायमान हो जावे, तो (सः) वह (कथं) कैसे (विमुक्तः) मुक्त (भवति) हो सकता है ? किसी प्रकार नहीं हो सकता ।

भावार्थ—जो समस्त शुभाशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित जीवका शुद्ध भाव है, वही निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्षका मार्ग है। जो मुनि शुद्धात्म परिणामसे च्युत हो जावे, वह किस तरह मोक्षको पा सकता है ? नहीं पा सकता। मोक्षका मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, इसलिये मोक्षके इच्छुकको वही भाव हमेशा करना चाहिये ॥६९॥

अथ क्वापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नास्तीति प्रकटयति—

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि ।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहं सुद्धि ण जं जि ॥७०॥

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव ।
कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥७०॥

आगे यह प्रकट करते हैं, कि किसी देशमें जावो, चाहे जो तप करो, तो भी चित्तकी शुद्धिके बिना मोक्ष नहीं है—(जीव) हे जीव, (यत्र) जहां (भाति) तेरी इच्छा हो (तत्र) उसी देशमें (याहि) जा, और (यत्) जो (भाति) अच्छा लगे, (तदेव) वही (कुरु) कर, (परं) लेकिन (यदेव) जबतक (चित्तस्य शुद्धिः न) मनकी शुद्धि नहीं है, तबतक (कथमपि) किसी तरह (मोक्षो नास्ति) मोक्ष नहीं हो सकता ।

भावार्थ—बड़ाई, प्रतिष्ठा, परवस्तुका लाभ, और देखे सुने भोगे हुए भोगों की वांछारूप खोटे ध्यान, (जो कि शुद्धात्मज्ञानके शत्रु हैं) इनसे जब तक यह चित्त रंगा हुआ है, अर्थात् विषय-कषायोंसे तन्मयी है, तबतक हे जीव; किसी देशमें जा, तीर्थादिकोंमें भ्रमण कर, अथवा चाहे जैसा आचरण कर, किसी प्रकार मोक्ष नहीं है। सारांश यह है कि काम-क्रोधादि खोटे ध्यानसे यह जीव भोगोंके सेवनके बिना भो

शुद्धात्म-भावनासे च्युत हुआ, अशुद्ध भावोंसे कर्मोंको बांधता है। इसलिये हमेशा चित्तकी शुद्धता रखनी चाहिये। ऐसा ही कथन दूसरी जगह भी "कंखिद" इत्यादि गाथासे कहा है, इस लोक और परलोकके भोगोंका अभिलाषी और कषायोंसे कालिमारूप हुआ अवर्तमान विषयोंका वांछक और वर्तमान विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हुआ अति मोहित होनेसे भोगोंको नहीं भोगता हुआ भी अशुद्ध भावोंसे कर्मोंको बांधता है ॥७०॥

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयं कथयति—

सुह परिणामें धम्मु पर असुहें होइ अहम्मु ।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धुण बंधइ कम्मु ॥७१॥

शुभ परिणामेन धर्मः परं अशुभेन भवति अधर्मः ।
द्वाभ्यामपि एताभ्यां विवर्जितः शुद्धो न बध्नाति कर्म ॥७१॥

आगे शुभ अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगोंको कहते हैं—(शुभपरिणामेन) दान पूजादि शुभ परिणामोंसे (धर्मः) पुण्यरूप व्यवहारधर्म (परं) मुख्यतासे (भवति) होता है, (अशुभेन) विषय कषायादि अशुभ परिणामोंसे (अधर्मः) पाप होता है, (अपि) और (एताभ्यां) इन (द्वाभ्यां) दोनोंसे (विवर्जितः) रहित (शुद्धः) मिथ्यात्व रागादि रहित शुद्ध परिणाम अथवा परिणामधारी पुरुष (कर्म) ज्ञानावरणादि कर्मको (न) नहीं (बध्नाति) बांधता।

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध उज्ज्वल है, उसके जो काला डंक लगावें, तो काला मालूम होता है, और पीला डंक लगावें तो पीला भासता है, और यदि कुछ भी न लगावें, तो शुद्ध स्फटिक ही है, उसी तरह यह आत्मा क्रमसे अशुभ शुभ शुद्ध इन परिणामोंसे परिणत होता है। उनमेंसे मिथ्यात्व और विषय कषायादि अशुभके अवलम्बन (सहायता) से तो पापको ही बांधता है, उसके फलसे नरक निगोदादिके दुःखोंको भोगता है और अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्ठियोंके गुणस्मरण और दानपूजादि शुभ क्रियाओंसे संसारकी स्थितिका छेदनेवाला जो तीर्थङ्करनामकर्म उसको आदि ले विशिष्ट गुणरूप पुण्यप्रकृतियोंको अवांछीक वृत्तिसे बांधता है। तथा केवल शुद्धात्माके अवलम्बनरूप शुद्धोपयोगसे उसी भवमें केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप मोक्षको पाता है। इन तीन प्रकारके उपयोगोंमेंसे सर्वथा उपादेय

तो शुद्धोपयोग ही है, अन्य नहीं है। और शुभ अशुभ इन दोनोंमेंसे अशुभ तो सब प्रकारसे निषिद्ध है, नरक निगोदका कारण है, किसी तरह उपादेय नहीं है—हेय है, तथा शुभोपयोग प्रथम अवस्थामें उपादेय है, और परम अवस्थामें उपादेय नहीं है, हेय है ॥७१॥

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमान्तरस्थलं गतम् ।

अत ऊर्ध्वं तस्मिन्नेव महास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी-मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—

दाणिं लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण ।
जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥७२॥

दानेन लभ्यते भोगः परं इन्द्रत्वमपि तपसा ।
जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥७२॥

इसप्रकार इकतालीस दोहोंके महास्थलमें पांच दोहोंमें शुद्धोपयोगका व्याख्यान किया । आगे पन्द्रह दोहोंमें वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—(दानेन) दानसे (परं) नियम करके (भोगः) पांच इंद्रियोंके भोग (लभ्यते) प्राप्त होते हैं, (अपि) और (तपसा) तपसे (इंद्रत्वं) इन्द्र-पद मिलता है, तथा (ज्ञानेन) वीतराग-स्वसंवेदनज्ञानसे (जन्ममरणविवर्जितं) जन्म जरा मरणसे रहित (पदं) जो मोक्ष-पद वह (लभ्यते) मिलता है ।

भावार्थ—आहार अभय औषध और शास्त्र इन चार तरहके दानोंको यदि सम्यक्त्व रहित करे, तो भोगभूमिके सुख पाता है, तथा सम्यक्त्व सहित दान करे, तो परम्पराय मोक्ष पाता है । यद्यपि प्रथम अवस्थामें देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिकी विभूति भी पाता है, तो भी निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानकर मोक्ष ही है । यहां प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे भगवन्, जो ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होता है, तो सांख्यादिक भी ऐसा ही कहते हैं, कि ज्ञानसे ही मोक्ष है, उनको क्यों दूषण देते हो ? तब श्रीगुरुने कहा—इस जिन-शासनमें वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है, सो वीतराग कहनेसे वीतरागचारित्र भी आ जाता है, और सम्यक् पदके कहनेसे सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे एक चूर्णमें अथवा पाकमें अनेक औषधियां आ जाती हैं, परन्तु वस्तु एक

ही कहलाती है, उसी तरह वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके कहनेसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीनों आ जाते हैं। सांख्यादिकके मतमें वीतराग विशेषण नहीं है, और सम्यक् विशेषण नहीं है, केवल ज्ञानमात्र ही कहते हैं, सो वह मिथ्याज्ञान है, इसलिये दूषण देते हैं, यह जानना ॥७२॥

अथ तमेवार्थं विपक्ष दूषणद्वारेण द्रढयति—

देउ णिरंजणु इउं भणइ णाणिं मुक्खु ण भंति।
णाण-विहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति ॥७३॥

देवः निरञ्जन एवं भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्तिः।
ज्ञानविहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमन्ति ॥७३॥

आगे इसी अर्थको विपक्षीको दूषण देकर दृढ़ करते हैं—(निरंजनः) अनन्त ज्ञानादि गुण सहित, और अठारह दोष रहित, जो (देवः) सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं, वे (एवं) ऐसा (भणति) कहते हैं, कि (ज्ञानेन) वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान से ही (मोक्षः) मोक्ष है, (न भ्रांतिः) इसमें सन्देह नहीं है। और (ज्ञानविहीनाः) स्वसंवेदनज्ञानकर रहित जो (जीवाः) जीव हैं, वे (चिरं) बहुत कालतक (संसारं) संसारमें (भ्रमंति) भटकते हैं।

भावार्थ—यहां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमें यद्यपि सम्यक्त्वादि तीनों हैं, तो भी मुख्यता सम्यग्ज्ञानकी ही है। क्योंकि श्रीजिनवचनमें ऐसा कथन किया है, कि जिसका कथन किया जावे, वह मुख्य होता है, अन्य गौण होता है, ऐसा जानना ॥७३॥

अथ पुनरपि तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां निश्चिनोति—

णाण-विहीणहं मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ।
बहुए सलिल-विरोलियइं करु चोप्पडउ ण होइ ॥७४॥

ज्ञानविहीनस्य मोक्षपदं जीव मा कस्यापि अद्राक्षीः।
बहुना सलिलविलोडितेन करः चिक्कणो न भवति ॥७४॥

आगे फिर भी इसी कथनको दृष्टान्त और दार्ष्टांतसे निश्चित करते हैं—(ज्ञानविहीनस्य) जो सम्यग्ज्ञानकर रहित मलिन चित्त है, अर्थात् अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा लाभादि दुष्ट भावोंसे जिसका चित्त परिणत हुआ है, और मनमें ऐसा जानता है, कि

हमारी दुष्टताको कोई नहीं जान सकता, ऐसा समझकर वीतराग परमानन्द सुखरसके अनुभवरूप चित्तकी शुद्धिको नहीं करता, तथा बाहरसे बगुलाकासा भेष मायाचाररूप लोकरंजनके लिये धारण किया है, यही सत्य है, इसी भेषसे हमारा कल्याण होगा, इत्यादि अनेक विकल्पोंकी कल्लोलोंसे अपवित्र है, ऐसे (कस्यापि) किसी अज्ञानीके (मोक्षपदं) मोक्ष-पदवी (जीव) हे जीव, (मा द्राक्षोः) मत देख अर्थात् विना सम्यग्ज्ञान के मोक्ष नहीं होता। उसका दृष्टान्त कहते हैं।

(बहुना) बहुत (सलिलविलोडितेन) पानीके मथनेसे भी (करः) हाथ (चिक्कणो) चीकना (न भवति) नहीं होता। क्योंकि जलमें चिकनापन है ही नहीं। जैसे जलमें चिकनाई नहीं है, वैसे बाहिरी भेषमें सम्यग्ज्ञान नहीं है। सम्यग्ज्ञानके बिना महान् तप करो, तो भी मोक्ष नहीं होता। क्योंकि सम्यग्ज्ञानका लक्षण वीतराग शुद्धात्माकी अनुभूति है, वही मोक्षका मूल है। वह सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनादिसे भिन्न नहीं है, तीनों एक हैं ॥७४॥

अथ निश्चयनयेन यन्निजात्मबोधज्ञानबाह्यं ज्ञानं तेन प्रयोजनं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

जं णिय-बोहहं बाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण।
दुक्खहं कारणु जेण तउ जीवहं होइ खणेण ॥७५॥

यत् निजबोधाद्बाह्यं ज्ञानमपि कार्यं न तेन।
दुःखस्य कारणं येन तपः जीवस्य भवति क्षणेन ॥७५॥

आगे निश्चयकर आत्मज्ञानसे बहिर्मुख बाह्य पदार्थोंका ज्ञान है, उससे प्रयोजन नहीं सधता, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर कहते हैं—(यत्) जो (निजबोधात्) आत्मज्ञानसे (बाह्यं) बाहर (रहित) (ज्ञानमपि) शास्त्र वगैरका ज्ञान भी है, (तेन) उस ज्ञानसे (कार्यं न) कुछ काम नहीं (येन) क्योंकि (तपः) वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप (क्षणेन) शीघ्र ही (जीवस्य) जीवको (दुःखस्य कारणं) दुःखका कारण (भवति) होता है।

भावार्थ—निदानबन्ध आदि तीन शल्योंको आदि ले समस्त विषयाभिलापरूप मनोरथोंके विकल्पजालरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे रहित जो निजसम्यग्ज्ञान है, उससे रहित बाह्य पदार्थोंका शास्त्रद्वारा ज्ञान है, उससे कुछ काम नहीं। कार्य तो एक निज

आत्माके जाननेसे है। यहां शिष्यने प्रश्न किया, कि निदानबन्ध रहित आत्मज्ञान तुमने बतलाया, उसमें निदानबन्ध किसे कहते हैं ?

उसका समाधान—जो देखे सुने और भोगे हुए इन्द्रियोंके भोगोंसे जिसका चित्त रङ्ग रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव रूप-लावण्य सौभाग्यका अभिलाषी वासुदेव चक्रवर्ती-पदके भोगोंकी वांछा करे, दान पूजा तपश्चरणादिकर भोगोंकी अभिलाषा करे, वह निदानबन्ध है, सो यह बड़ी शल्य (कांटा) है। इस शल्यसे रहित जो आत्मज्ञान उसके बिना शब्द-शास्त्रादिका ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है। क्योंकि वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप भी दुःखका कारण है। ज्ञान रहित तपसे जो संसारकी सम्पदायें मिलती हैं, वे क्षणभंगुर हैं। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि आत्मज्ञानसे रहित जो शास्त्रका ज्ञान और तपश्चरणादि हैं, उनसे मुख्यताकर पुण्यका बन्ध होता है। उस पुण्यके प्रभावसे जगत्की विभूति पाता है, वह क्षणभंगुर है। इसलिये अज्ञानियोंका तप और श्रुत यद्यपि पुण्यका कारण है, तो भी मोक्षका कारण नहीं है ॥७५॥

अथ येन मिथ्यात्वरागादिवृद्धिर्भवति तदात्मज्ञानं न भवतीति निरूपयति—

तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्ढइ राउ ।
दिणयर-किरणहं पुरउ जिय किं विलसइ तम-राउ ॥७६॥

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः ।
दिनकरकिरणानां पुरतः जीव किं विलसति तमोरागः ॥७६॥

आगे जिससे मिथ्यात्व रागादिककी वृद्धि हो, वह आत्मज्ञान नहीं है, ऐसा निरूपण करते हैं—(जीव) हे जीव, (तत्) वह (निजज्ञानं एव) वीतराग नित्यानंद अखण्डस्वभाव परमात्मतत्त्वका परिज्ञान ही (नापि) नहीं (भवति) है, (येन) जिससे (रागः) परद्रव्यमें प्रीति (प्रवर्धते) बढ़े, (दिनकरकिरणानां पुरतः) सूर्यकी किरणोंके आगे (तमोरागः) अन्धकारका फैलाव (किं विलसति) कैसे शोभायमान हो सकता है ? नहीं हो सकता।

भावार्थ—शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग परम आनन्द उसके शत्रु पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा जिसमें हो, वह निज (आत्म) ज्ञान नहीं है, अज्ञान ही है। जिस जगह वीतरागभाव है, वही सम्यग्ज्ञान है। इसी बातको दृष्टान्त देकर दृढ़ करते हैं, सो सुनो। हे जीव, जैसे सूर्यके प्रकाशके आगे अन्धेरा नहीं शोभा देता,

वैसे ही आत्मज्ञानमें विषयोंकी अभिलाषा (इच्छा) नहीं शोभती। यह निश्चयसे जानना। शास्त्रका ज्ञान होने पर भी जो निराकुलता न हो, और आकुलताके उपजाने-वाले आत्मीक-सुखके वैरी रागादिक जो वृद्धिको प्राप्त हों, तो वह ज्ञान किस कामका ? ज्ञान तो वह है, जिससे आकुलता मिट जावे। इससे यह निश्चय हुआ, कि वाह्य पदार्थोंका ज्ञान मोक्ष-फलके अभावसे कार्यकारी नहीं है ॥७६॥

अथ ज्ञानिनां निजशुद्धात्मस्वरूपं विहाय नान्यत्किमप्युपादेयमिति दर्शयति—

अप्पा मिल्लिवि णाणियहं अण्णु ण सुंदरु वत्थु।
तेण ण विसयहं मणु रमइ जाणंतहं परमत्थु ॥७७॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानिनां अन्यन्न सुन्दरं वस्तु।
तेन न विषयेषु मनो रमते जानतां परमार्थम् ॥७७॥

आगे ज्ञानी जीवोंके निज शुद्धात्मभावके विना अन्य कुछ भी आदरने योग्य नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं—(आत्मानं) आत्माको (मुक्त्वा) छोड़कर (ज्ञानिनां) ज्ञानियों को (अन्यद् वस्तु) अन्य वस्तु (सुंदरं न) अच्छी नहीं लगती, (तेन) इसलिये (परमार्थं जानतां) परमात्म-पदार्थको जाननेवालोंका (मनः) मन (विषयाणां) विषयोंमें (न रमते) नहीं लगता।

भावार्थ—मिथ्यात्व रागादिकके छोड़नेसे निज शुद्धात्म द्रव्यके यथार्थ ज्ञानकर जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियोंको शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमात्माको छोड़के दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं भासती। इसीलिये उनका मन कभी विषय-वासनामें नहीं रमता। ये विषय कैसे हैं। जो कि शुद्धात्माकी प्राप्तिके शत्रु हैं। ऐसे ये भव-भ्रमणके कारण हैं, कामभोगरूप पांच इन्द्रियोंके विषय उनमें मूढ़ जीवोंका ही मन रमता है, सम्यग्दृष्टिका मन नहीं रमता। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि, जिन्होंने वीतराग सहजानन्द अखण्ड सुखमें तन्मय परमात्मतत्त्वको जान लिया है। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि जो विषय-वासनाके अनुरागी हैं, वे अज्ञानी हैं, और जो ज्ञानीजन हैं, वे विषय-विकारसे सदा विरक्त ही हैं ॥७७॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु।
मरगउ जें परियाणियउ तहुँ कच्चें कउ गण्णु ॥७८॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं चित्ते न लगति अन्यत् ।
मरकतः येन परिज्ञातः तस्य काचेन कुतो गणना ॥७८॥

आगे इसी कथनको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—(ज्ञानमयं आत्मानं) केवलज्ञानादि अनन्तगुणमयी आत्माको (मुक्त्वा) छोड़कर (अन्यत्) दूसरी वस्तु (चित्ते) ज्ञानियोंके मनमें (न लगति) नहीं रुचति । उसका दृष्टान्त यह है, कि (येन) जिसने (मरकतः) मरकतमणि (रत्न) (परिज्ञातः) जान लिया, (तस्य) उसको (काचेन) कांचसे (किं गणनं) क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ—जिसने रत्न पा लिया, उसको कांचके टुकड़ोंकी क्या जरूरत है ? उसी तरह जिसका चित्त आत्मामें लग गया, उसके दूसरे पदार्थोंकी वांछा नहीं रहती ।

अथ कर्मफलं भुञ्जानः सन् योऽसौ रागद्वेषं करोति स कर्म बध्नातीति कथयति—

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु मोहइं जो जि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो पर कम्मु जणेइ ॥७९॥

भुञ्जनोऽपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।
भावं असुन्दरं सुन्दरमपि स परं कर्म जनयति ॥७९॥

आगें कर्म-फलको भोगता हुआ जो राग द्वेष करता है, वह कर्मोंको बांधता है—(य एव) जो जीव (निजकर्मफलं) अपने कर्मोंके फलको (भुंजानोऽपि) भोगता हुआ भी (मोहेन) मोहसे (असुंदरं सुंदरं अपि) भले और बुरे (भावं) परिणामोंको (करोति) करता है, (सः) वह (परं) केवल (कर्म जनयति) कर्मको उपजाता (बांधता) है ।

भावार्थ—वीतराग परम आह्लादरूप शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो अशुद्ध रागादिक विभाव उनसे उपार्जन किये गये शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोहके उदयसे हर्ष विषाद भाव करता है, वह नये कर्मों का बन्ध करता है । सारांश यह है, कि जो निज स्वभावसे च्युत हुआ उदयमें आये हुए कर्मोंमें राग द्वेष करता है, वही कर्मोंको बांधता है ॥७९॥

अथ उदयागते कर्मानुभवे योऽसौ रागद्वेषौ न करोति स कर्म न बध्नातीति कथयति—

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिं राउ ण जाइ ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥८०॥

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।
स नैव बध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ।।८०।।

आगे जो उदयप्राप्त कर्मोंमें राग द्वेष नहीं करता, वह कर्मोंको भी नहीं बांधता, ऐसा कहते हैं—**(निजकर्मफलं)** अपने बांधे हुए कर्मोंके फलको **(भुंजानोऽपि)** भोगता हुआ भी **(तत्र)** उस फलके भोगनेमें **(यः)** जो जीव **(रागं)** राग द्वेषको **(न याति)** नहीं प्राप्त होता **(सः)** वह **(पुनः कर्म)** फिर कर्मको **(नैव)** नहीं **(बध्नाति)** बांधता, **(येन)** जिस कर्मबंधाभाव परिणामसे **(संचितं)** पहले बांधे हुए कर्म भी **(विलीयते)** नाश हो जाते हैं ।

भावार्थ—निज शुद्धात्माके ज्ञानके अभावसे उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ भी वीतराग चिदानन्द परमस्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्वको भावनासे उत्पन्न अतीन्द्रियसुखरूप अमृतसे तृप्त हुआ जो रागी द्वेषी नहीं होता, वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मोंको नहीं बांधता है, और नये कर्मोंका बंधका अभाव होनेसे प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा ही होती है । यह संवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षका मूल है ? ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, कि हे प्रभो, "कर्मके फलको भोगता हुआ भी ज्ञानसे नहीं बंधता" ऐसा सांख्य आदिक भी कहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ?

उसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—हम तो आत्मज्ञान संयुक्त ज्ञानी जीवोंकी अपेक्षासे कहते हैं, वे ज्ञानके प्रभावसे कर्म-फल भोगते हुए भी राग द्वेष भाव नहीं करते । इसलिये उनके नये बंधका अभाव है, और जो मिथ्यादृष्टि ज्ञानभावसे बाह्य पूर्वोपार्जित कर्म-फलको भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं, उनके अवश्य बंध होता है । इस तरह सांख्य नहीं कहता, वह वीतरागचारित्रसे रहित कथन करता है । इसलिए उन सांख्यादिकोंको दूषण दिया जाता है । यह तात्पर्य जानना ।।८०।।

अथ यावत्कालमणुमात्रमपि रागं न मुञ्चति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रतिपादयति—

जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।
सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु ॥८१॥

य: अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुञ्चति अत्र ।
स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थम् ॥८१॥

आगे जबतक परमाणुमात्र भी रागको नहीं छोड़ता—धारण करता है, तबतक कर्मोंसे नहीं छूटता, ऐसा कथन करते हैं—(यः) जो जीव (अणुमात्रं अपि) थोड़ा भी (रागं) राग (मनसि) मनमेंसे (यावत्) जबतक (अत्र) इस संसारमें (न मुंचति) नहीं छोड़ देता है, (तावत्) तबतक (जीव) हे जीव, (परमार्थं) निज शुद्धात्मतत्त्वको (जानन्नपि) शब्दसे केवल जानता हुआ भी (नैव) नहीं (मुच्यते) मुक्त होता ।

भावार्थ—जो वीतराग सदा आनन्दरूप शुद्धात्मभावसे रहित पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छा रखता है, मनमें थोड़ासा भी राग रखता है, वह आगमज्ञानसे आत्माको शब्दमात्र जानता हुआ भो वीतरागचारित्रकी भावनाके विना मोक्षको नहीं पाता ॥८१॥

अथ निर्विकल्पात्मभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्तीति कथयति—

बुज्झइ सत्थइं तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥८२॥

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति परं परमार्थं न वेत्ति ।
तावत् न मुच्यते यावत् नैव एनं परमार्थं मनुते ॥८२॥

आगे जो निर्विकल्प आत्म-भावनासे शून्य है, वह शास्त्रको पढ़ता हुआ भी तथा तपश्चरण करता हुआ भी परमार्थको नहीं जानता है, ऐसा कहते हैं—(शास्त्राणि) शास्त्रोंको (बुध्यते) जानता है, (तपः चरति) और तपस्या करता है, (परं) लेकिन (परमार्थ) परमात्माको (नवेत्ति) नहीं जानाता है, (यावत्) और जबतक (एवं) पूर्व कहे हुए (परमार्थं) परमात्माको (नैव मनुते) नहीं जानता, या अच्छी तरह अनुभव नहीं करता है, (तावत्) तबतक (न मुच्यते) नहीं छूटता ।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे आत्मा अध्यात्मशास्त्रोंसे जाना जाता है, तो भी निश्चयनयसे वीतरागस्वसंवेदनज्ञान ही से जानने योग्य है, यद्यपि बाह्य सहकारी-कारण अनशनादि बारह प्रकारके तपसे साधा जाता है, तो भी निश्चयनयसे निर्विकल्पवीतरागचारित्र ही से आत्माकी सिद्धि है। जिस वीतरागचारित्रका शुद्धात्मामें विश्राम होना ही लक्षण है। सो वीतरागचारित्रके आगमज्ञानसे तथा बाह्य तपसे आत्मज्ञानकी सिद्धि नहीं है। जबतक निज शुद्धात्मतत्त्वके स्वरूपका आचरण नहीं है, तबतक कर्मोंसे नहीं छूट सकता। यह निःसन्देह जानना, जबतक परमतत्त्वको न जाने, न श्रद्धा करे, न अनुभवे, तबतक कर्मबन्धसे नहीं छूटता। इससे यह निश्चय हुआ, कि कर्मबन्धसे छूटनेका कारण एक आत्मज्ञान ही हैं, और शास्त्रका ज्ञान भी आत्मज्ञानके लिये ही किया जाता है, जैसे दीपकसे वस्तुको देखकर वस्तुको उठा लेते हैं, और दीपकको छोड़ देते हैं, उसी तरह शुद्धात्मतत्त्वके उपदेश करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र उससे शुद्धात्मतत्त्वको जानकर उस शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहिए, और शास्त्रका विकल्प छोड़ना चाहिये। शास्त्र तो दीपकके समान है, तथा आत्मवस्तु रत्नके समान है ॥८२॥

अथ योऽसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं च मुञ्चति निश्चयेन देहस्थं शुद्धात्मानं न मन्यते स जडो भवतीति प्रतिपादयति—

सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥८३॥

शास्त्रं पठन्नपि भवति जडः यः न हन्ति विकल्पम्।
देहे वसन्तमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानम् ॥८३॥

आगे जो शास्त्रको पढ़ करके भी विकल्पको नहीं छोड़ता, और निश्चयसे शुद्धात्माको नहीं मानता जो कि शुद्धात्मदेव देहरूपी देवालयमें मौजूद है, उसे व ध्यावता है, वह मूर्ख है, ऐसा कहते हैं—(यः) जो जीव (शास्त्रं) शास्त्रको (पठन्नपि) पढ़ता हुआ भी (विकल्पं) विकल्पको (न) (हंति) नहीं दूर करता, (मेंटता) वह (जडो भवति) मूर्ख है, जो विकल्प नहीं मेंटता, वह (देहे) शरीरमें (वसंतमपि) रहते हुए भी (निर्मलं परमात्मानं) निर्मल परमात्माको (नैवमन्यते) नहीं श्रद्धानमें लाता।

भावार्थ—शास्त्रके अभ्यासका तो फल यह है, कि रागादि विकल्पोंको दूर करना, और निजशुद्धात्माको ध्यावना। इसलिए इस व्याख्यानको जानकर तीन गुप्तिमें

अचल हो परमसमाधिमें आरूढ होके निजस्वरूपका ध्यान करना। लेकिन जबतक तीन गुप्तियां न हों, परमसमाधि न आवे, (हो सके) तबतक विषयकषायोंके हटानेके लिये परजीवोंको धर्मोपदेश देना, उसमें भी परके उपदेशके बहानेसे मुख्यताकर अपना जीव ही को सम्बोधना। वह इस तरह है, कि परको उपदेश देते अपनेको समझावे। जो मार्ग दूसरोंको छुड़ावे, वह आप कैसे करे। इससे मुख्य सम्बोधन अपना ही है। परजीवोंको ऐसा ही उपदेश है, जो यह बात मेरे मनमें अच्छी नहीं लगती, तो तुमको भी भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मनमें विचार करो ॥८३॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य विशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स मूढो भवतीति प्रतिपादयति—

बोह-णिमित्तें सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु ॥८४॥

बोधनिमित्तेन शास्त्रं किल लोके पठ्यते अत्र।
तेनापि बोधो न यस्य वरः स किं मूढो न तथ्यम् ॥८४॥

आगे ज्ञान के लिए शास्त्रको पढ़ते हुए भी जिसके आत्म-ज्ञान नहीं, वह मूर्ख है, ऐसा कथन करते हैं—(अत्र लोके) इस लोकमें (किल) नियमसे (बोधनिमित्तेन) ज्ञानके निमित्त (शास्त्रं) शास्त्र (पठ्यते) पढ़े जाते हैं, (तेनापि) परन्तु शास्त्रके पढ़नेसे भी (यस्य) जिसको (वरः बोधः न) उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, (स) वह (किं) क्या (मूढः न) मूर्ख नहीं है ? (तथ्यं) मूर्ख ही है इसमें सन्देह नहीं।

भावार्थ—इस लोकमें यद्यपि लोक व्यवहारसे नवीन कविता का कर्त्ता कवि, प्राचीन काव्योंकी टीकाके कर्त्ताको गमक, जिससे वादमें कोई न जीत सके ऐसा वादित्व, और श्रोताओंके मनको अनुरागी करनेवाला शास्त्रका वक्ता होनेरूप वाग्मित्व, इत्यादि लक्षणोंवाला शास्त्रजनित ज्ञान होता है, तो भी निश्चयनयसे वीतरागस्व-संवेदनरूप ही ज्ञानकी अध्यात्म-शास्त्रोंमें प्रशंसा की गई है। इसलिये स्वसंवेदन ज्ञानके बिना शास्त्रोंके पढ़े हुए भी मूर्ख हैं। और जो कोई परमात्मज्ञानके उत्पन्न करनेवाला छोटे थोड़े शास्त्रोंको भी जानकर वीतराग स्वसंवेदनज्ञानकी भावना करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

ऐसा ही कथन ग्रन्थोंमें हरएक जगह कहा है, कि वैराग्यमें लगे हुए जो मोहशत्रुको जीतनेवाले हैं, वे थोड़े शास्त्रोंको ही पढ़कर सुधर जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं, और वैराग्यके विना सब शास्त्रोंको पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते । यह निश्चय जानना परन्तु यह कथन अपेक्षासे है । इस बहानेसे शास्त्र पढ़नेका अभ्यास नहीं छोड़ना, और जो विशेष शास्त्रके पाठी हैं, उनको दूषण न देना । जो शास्त्रके अक्षर बता रहा है, और आत्मामें चित्त नहीं लगाया वह ऐसे जानना कि जैसे किसीने कण रहित बहुत भूसेका ढेर कर लिया हो, वह किसी कामका नहीं है । इत्यादि पीठिका-मात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ हैं, उनकी निंदा नहीं करनी, और जो बहुश्रुत हैं, उनको भी अल्प शास्त्रज्ञोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि परके दोष ग्रहण करनेसे राग द्वेषकी उत्पत्ति होती है, उससे ज्ञान और तपका नाश होता है, यह निश्चयसे जानना ॥८४॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहितानां तीर्थभ्रमणेन मोक्षो न भवतीति कथयति—

तित्थइँ तित्थु भमंताहं मूढहं मोक्खु ण होइ ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥८५॥

तीर्थं तीर्थं भ्रमतां मूढानां मोक्षो न भवति ।
ज्ञानविवर्जितो येन जीव मुनिवरो भवति न स एव ॥८५॥

आगे वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे रहित जीवोंको तीर्थ-भ्रमण करनेसे भी मोक्ष नहीं है, ऐसा कहते हैं—(तीर्थं तीर्थं) तीर्थ तीर्थ प्रति (भ्रमतां) भ्रमण करनेवाले (मूढानां) मूर्खोंको (मोक्षः) मुक्ति (न भवति) नहीं होती, (जीव) हे जीव, (येन) क्योंकि जो (ज्ञानविवर्जितः) ज्ञानरहित हैं, (स एव) वह (मुनिवरः न भवति) मुनीश्वर नहीं हैं, संसारी हैं । मुनीश्वर तो वे ही हैं, जो समस्त विकल्पजालोंसे रहित होके अपने स्वरूपमें रमें, वे ही मोक्ष पाते हैं ।

भावार्थ—निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंदरूप निर्मल जल उसके धारण करनेवाले और ज्ञान दर्शनादि गुणोंके समूहरूपी चन्दनादि वृक्षोंके वनोंसे शोभित तथा देवेन्द्र चक्रवर्ती गणधरादि भव्यजीवरूपी तीर्थ-यात्रियोंके कानोंको सुखकारी ऐसी दिव्यध्वनिसे शोभायमान और अनेक मुनिजनरूपी राजहंसोंको आदि लेकर नाना तरहके पक्षियोंके शब्दोंसे महामनोहर जो अरहन्त वीत-

राग सर्वज्ञ वे ही निश्चयसे महातीर्थ हैं, उनके समान अन्य तीर्थ नहीं हैं। वे ही संसार के तरनेके कारण परमतीर्थ हैं। जो परम समाधिमें लीन महामुनि हैं, उनके वे ही तीर्थ हैं, निश्चयसे निज शुद्धात्मतत्त्वके ध्यानके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है, और व्यवहारनयसे तीर्थङ्कर परमदेवादिके गुणस्मरणके कारण मुख्यतासे शुभ बन्धके कारण ऐसे जो कैलास, सम्मेदशिखर आदि निर्वाणस्थान हैं, वे भी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं। जो तीर्थ-तीर्थ प्रतिभ्रमण करे, और निज तीर्थका जिसके श्रद्धान परिज्ञान आचरण नहीं हो, वह अज्ञानी है। उसके तीर्थ भ्रमनेसे मोक्ष नहीं हो सकता ॥८५॥

अथ ज्ञानिनां तथैवाज्ञानिनां च यतीनामन्तरं दर्शयति—

णाणिहिं मूढहं मुणिवरहं अंतरु होइ महंतु ।
देहु वि मिल्लइ णाणियउ जीवहं भिण्णु मुणंतु ॥८६॥

ज्ञानिनां मूढानां मुनिवराणां अन्तरं भवति महत् ।
देहमपि मुञ्चति ज्ञानी जीवाद्भिन्नं मन्यमानः ॥८६॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी यतियोंमें बहुत बड़ा भेद दिखलाते हैं—(ज्ञानिनां) सम्यग्दृष्टि भावलिंगी (मूढानां) मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी (मुनिवराणां) मुनियोंमें (महत् अंतरं) बड़ाभारी भेद (भवति) है। (ज्ञानी) क्योंकि ज्ञानी मुनि तो (देहं अपि) शरीरको भी (जीवाद्भिन्नं) जीवसे जुदा (मन्यमानः) जानकर (मुंचति) छोड़ देते हैं, अर्थात् शरीरका भी ममत्व छोड़ देते हैं, तो फिर पुत्र स्त्री आदिका क्या कहना है ? ये तो प्रत्यक्षसे जुदे हैं, और द्रव्यलिंगीमुनि लिंग (भेष) में आत्म-बुद्धिको रखता है।

भावार्थ—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी महामुनि मन वचन काय इन तीनोंसे अपनेसे भिन्न जानता है, द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मादिकसे जिसको ममता नहीं है, पिता माता पुत्र कलत्रादिकी तो बात अलग रहे जो अपने आत्म-स्वभावसे निज देहको ही जुदा जानता है। जिसके परवस्तुमें आतमभाव नहीं है। और मूढात्मा परभावोंको अपने जानता है। यही ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर है। परको अपना मानें वह बंधता है, और न मानें वह मुक्त होता है। यह निश्चयसे जानना ॥८६॥

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रैर्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयमन्तरस्थलं समाप्तम्। तदनन्तरं तत्रैव महास्थलमध्ये सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्याग-व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयमन्तरस्थलं प्रारभ्यते। तद्यथा—

लेणहं इच्छइ मूढु पर भुवणु वि एहु असेसु ।
बहु विह-धम्म-मिसेण जिय दोहिं वि एहु विसेसु ॥८७॥

लातुं इच्छति मूढः परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।
बहुविधधर्ममिषेण जीव द्वयोः अपि एष विशेषः ॥८७॥

इस प्रकार इकतालीस दोहोंके महास्थलके मध्यमें पन्द्रह दोहोंमें वीतरागस्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यतासे दूसरा अन्तरस्थल समाप्त हुआ ।

अब परिग्रहत्यागके व्याख्यानको आठ दोहोंमें कहते हैं—(द्वयोः अपि) ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनोंमें (एष विशेषः) इतना ही भेद है, कि (मूढः) अज्ञानीजन (बहुविधधर्ममिषेण) अनेक तरहके धर्मके बहानेसे (एतद् अशेषं) इस समस्त (भुवनं अपि) जगत्को ही (परं) नियमसे (लातुं इच्छति) लेनेकी इच्छा करता है, अर्थात् सब संसारके भोगोंकी इच्छा करता है, तपश्चरणादि कायक्लेशसे स्वर्गादिके सुखोंको चाहता है, और ज्ञानीजन कर्मोंके क्षयके लिये तपश्चरणादि करता है, भोगोंका अभिलाषी नहीं है ।

भावार्थ—वीतराग सहजानन्द अखण्डसुखका आस्वादरूप जो शुद्धात्मा वही आराधने योग्य है, ऐसी जो रुचि वह सम्यग्दर्शन, समस्त मिथ्यात्व रागादि आस्रवसे भिन्नरूप उसी परमात्माका जो ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान और उसीमें निश्चल चित्तकी वृत्ति वह सम्यक्चारित्र, यह निश्चयरत्नत्रयरूप जो शुद्धात्माकी रुचि जिसके नहीं, ऐसा मूढ़जन आत्माको नहीं जानता हुआ, और नहीं अनुभवता हुआ जगत्के समस्त भोगोंको धर्मके बहानेसे लेना चाहता है, तथा ज्ञानीजन समस्त भोगोंसे उदास है, जो विद्यमान भोग थे, वे सब छोड़ दिये और आगामी वांछा नहीं है ऐसा जानना ॥८७॥

अथ शिष्यकरणाद्यनुष्ठानेन पुस्तकाद्युपकरणेनाज्ञानी तुष्यति, ज्ञानी पुनर्बन्धहेतुं जानन् सन् लज्जां करोतीति प्रकटयति—

चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिं तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधहं हेउ मुणंतु ॥८८॥

शिष्यार्जिकापुस्तकैः तुष्यति मूढो निर्भ्रान्तिः ।
एतैः लज्जते ज्ञानी बन्धस्य हेतुं जानन् ॥८८॥

आगे शिष्योंका करना, पुस्तकादिका संग्रह करना, इन बातोंसे अज्ञानी प्रसन्न होता है, और ज्ञानीजन इनको बन्धके कारण जानता हुआ इनसे रागभाव नहीं करता, इनके संग्रहमें लज्जावान् होता है—(मूढः) अज्ञानीजन (शिष्यार्जिका-पुस्तकैः) चेला चेली पुस्तकादिसे (तुष्यति) हर्षित होता है, (निर्भ्रान्तः) इसमें कुछ सन्देह नहीं है, (ज्ञानी) और ज्ञानीजन (एतैः) इन बाह्य पदार्थोंसे (लज्जते) शरमाता है, क्योंकि इन सबोंको (बंधस्य हेतुं) बन्धका कारण (जानन्) जानता है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप जो निज शुद्धात्मा उसको न श्रद्धान करता, न जानता और न अनुभव करता जो मूढ़ात्मा वह पुण्यबन्धके कारण जिनदीक्षा दानादि शुभ आचरण और पुस्तकादि उपकरण उनको मुक्तिके कारण मानता है, और ज्ञानीजन इनको साक्षात् पुण्यबन्धके कारण जानता है, परम्पराय मुक्तिके कारण मानता है । यद्यपि व्यवहारनयकर बाह्य सामग्रीको धर्मका साधन जानता है, तो भी ऐसा मानता है, कि निश्चयनयसे मुक्तिके कारण नहीं हैं ।।८८।।

अथ चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पाद्य मुनिवराणां उत्पथे पात्यते [?] इति प्रतिपादयति—

चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्ला-चेल्लियएहिं ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडिय तेहिं ॥८९॥

चट्टैः पट्टैः कुण्डिकाभिः शिष्यार्जिकाभिः ।
मोहं जनयित्वा मुनिवराणां उत्पथे पातितास्तैः ।।८९।।

आगे कमंडलु पीछी पुस्तकादि उपकरण और शिष्यादिका संघ ये मुनियोंको मोह उत्पन्न कराके खोटे मार्गमें पटक देते हैं—(चट्टैः पट्टैः कुंडिकाभिः) पीछी कमंडल पुस्तक और (शिष्यार्जिकाभिः) मुनि श्रावकरूप चेला, अर्जिका, श्राविका इत्यादि चेली—ये संघ (मुनिवराणां) मुनिवरोंको (मोहं जनयित्वा) मोह उत्पन्न कराके (तैः) वे (उत्पथे) उन्मार्गमें (खोटे मार्गमें) (पातिताः) डाल देते हैं ।

भावार्थ—जैसे कोई अजीर्णके भयसे मनोज्ञ आहारको छोड़कर लङ्घन करता है, पीछे अजीर्णको दूर करनेवाली कोई मीठी औषधिको लेकर जिह्वाका लपटी होके मात्रासे अधिक लेके औषधिका ही अजीर्ण करता है, उसी तरह अज्ञानी कोई द्रव्यलिंगी यती विनयवान् पतिव्रता स्त्री आदिको मोहके डरसे छोड़कर जिनदीक्षा लेके अजीर्ण

समान मोहके दूर करनेके लिये वैराग्य धारण करके औषधि समान जो उपकरणादि उनको ही ग्रहण करके उन्हींका अनुरागी (प्रेमी) होता है, उनकी वृद्धिसे सुख मानता है, वह औषधिका ही अजीर्ण करता है। मात्रा प्रमाण औषधि लेवें, तो वह रोगको हर सके। यदि औषधिका ही अजीर्ण करे—मात्रासे अधिक लेवे, तो रोग नहीं जाता, उलटी रोगकी वृद्धि ही होती है। यह निःसन्देह जानना।

इससे यह निश्चय हुआ जो परमोपेक्षासंयम अर्थात् निर्विकल्प परमसमाधि-रूप तीन गुप्तिमयी परम शुद्धोपयोगरूप संयमके धारक हैं, उनके शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत सब ही परिग्रह त्यागने योग्य हैं। शुद्धोपयोगी मुनियोंके कुछ भी परिग्रह नहीं है, और जिनके परमोपेक्षा संयम नहीं लेकिन व्यवहार संयम है, उनके भावसंयमकी रक्षाके निमित्त हीन संहननके होनेपर उत्कृष्ट शक्तिके अभावसे यद्यपि तपका साधन शरीरकी रक्षाके निमित्त अन्न जलका ग्रहण होता है, उस अन्न जलके लेनेसे मल-मूत्रादिकी बाधा भी होती है, इसलिये शौचका उपकरण कमण्डलु, और संयमोपकरण पीछी, और ज्ञानोपकरण पुस्तक इनको ग्रहण करते हैं, तो भी इनमें ममता नहीं है, प्रयोजनमात्र प्रथम अवस्थामें धारते हैं।

ऐसा दूसरी जगह "रम्येषु" इत्यादिसे कहा है, कि मनोज्ञ स्त्री आदिक वस्तुओंमें जिसने मोह तोड़ दिया है, ऐसा महामुनि संयमके साधन पुस्तक पीछी कम-ण्डलु आदि उपकरणोंमें वृथा मोहको कैसे कर सकता है? कभी नहीं कर सकता। जैसे कोई बुद्धिमान पुरुष रोगके भयसे अजीर्णको दूर करना चाहे और अजीर्णके दूर करनेके लिये औषधिका सेवन करे, तो क्या मात्रासे अधिक ले सकता है? ऐसा कभी नहीं करेगा, मात्राप्रमाण ही लेगा ॥८९॥

अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोलुञ्चनं कृत्वापि सर्वसंगपरित्यागमकुर्वतात्मा वञ्चित इति निरूपयति—

केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुँचिवि छारेण।
सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर-लिंगधरेण ॥९०॥

केनापि आत्मा वञ्चितः शिरो लुञ्चित्वा क्षारेण।
सकला अपि संगा न परिहृता जिनवरलिङ्गधरेण ॥९०॥

आगे ऐसा कहते हैं, जिसने जिनदीक्षा धरके केशोंका लोंच किया, और सकल परिग्रहका त्याग नहीं किया, उसने अपनी आत्मा ही को वंचित किया—(केनापि) जिस किसीने (जिनवरलिंगधरेण) जिनवरका भेष धारण करके (क्षारेण) भस्मसे (शिरः) शिरके केश (लुंचित्वा) लौंच किये, (उखाड़े) लेकिन (सकला अपि संगाः) सब परिग्रह (न परिहृताः) नहीं छोड़े, उसने (आत्मा) अपनी आत्माको ही (वंचितः) ठग लिया।

भावार्थ—वीतराग निर्विकल्पनिजानन्द अखंडरूप सुखरसका जो आस्वाद उसरूप परिणमी जो परमात्माकी भावना वही हुआ तीक्ष्ण शस्त्र उससे बाहिरके और अन्तरके परिग्रहोंकी वांछा आदि ले समस्त मनोरथ उनकी कल्लोल मालाओंका त्याग-रूप मनका मुंडन वह तो नहीं किया, और जिनदीक्षारूप शिरोमुंडन कर भेष रखा, सब परिग्रहका त्याग नहीं किया, उसनें अपनी आत्मा ठगी। ऐसा कथन समझकर निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न, वीतराग परम आनन्दस्वरूपको अंगीकार करके तीनोंकाल तीनों लोकमें मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनाकर देखे सुने अनुभवे जो परिग्रह उनकी वांछा सर्वथा त्यागनी चाहिये। ये परिग्रह शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत हैं ॥९०॥

अथ ये सर्वसंगपरित्यागरूपं जिनलिङ्गं गृहीत्वापीष्टपरिग्रहान् गृह्णन्ति ते छर्दि कृत्वा पुनरपि गिलन्ति तामिति प्रतिपादयति—

जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ॥९१॥

ये जिनलिङ्गं धृत्वापि मुनय इष्टपरिग्रहान् लान्ति।
छर्दि कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दि गिलन्ति ॥९१॥

आगे जो सर्वसंगके त्यागरूप जिनमुद्राको ग्रहण कर फिर परिग्रहको धारण करता है, वह वमन करके पीछें निगलता है, ऐसा कथन करते हैं—(ये) जो (मुनयः) मुनि (जिनलिंगं) जिनलिंगको (धृत्वापि) ग्रहणकर (इष्टपरिग्रहान्) फिर भी इच्छित परिग्रहोंको (लांति) ग्रहण करते हैं, (जीव) हे जीव, (ते एव) वे ही (छर्दि कृत्वा) वमन करके (पुनः) फिर (तां छर्दि) उस वमनको पीछे (गिलंति) निगलते हैं।

भावार्थ—परिग्रहके तीन भेदोंमें गृहस्थकी अपेक्षा चेतन परिग्रह पुत्र कलत्रादि, अचेतन परिग्रह आभरणादि, और मिश्र परिग्रह आभरण सहित स्त्री पुत्रादि, साधुकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह शिष्यादि, अचित्त परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि, और मिश्र परिग्रह पीछी कमंडलु पुस्तकादि सहित शिष्यादि अथवा साधुके भावोंकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह मिथ्यात्व रागादि, अचित्त परिग्रह द्रव्यकर्म नोकर्म, और मिश्र परिग्रह द्रव्यकर्म भावकर्म दोनों मिले हुए। अथवा वीतराग त्रिगुप्तिमें लीन ध्यानी पुरुषकी अपेक्षा सचित्त परिग्रह सिद्धपरमेष्ठीका ध्यान, अचित्त परिग्रह पुद्गलादि पांच द्रव्यका विचार, और मिश्र परिग्रह गुणस्थान मार्गणास्थान जीवसमासादिरूप संसारी-जीवका विचार।

इस तरह बाहिरके और अन्तरके परिग्रहसे रहित जो जिनलिंग उसे ग्रहण कर जो अज्ञानी शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत परिग्रहको ग्रहण करते हैं, वे वमन करके पीछे आहार करनेवालोंके समान निन्दाके योग्य होते हैं। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जो जीव अपने माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र इनको छोड़कर परके घर और पुत्रादिकमें मोह करते हैं, अर्थात् अपना परिवार छोड़कर शिष्य-शाखाओंमें राग करते हैं, वे भुजाओंसे समुद्रको तैरके गायके खुरसे बने हुए गढ़ेके जलमें डूबते हैं, कैसा है समुद्र, जिसमें जलचरोंके समूह प्रगट हैं, ऐसे अथाह समुद्रको तो बाहोंसे तिर जाता है, लेकिन गायके खुरके जलमें डूबता है। यह बड़ा अचम्भा है। घरका ही सम्बन्ध छोड़ दिया तो पराये पुत्रोंसे क्या राग करना ? नहीं करना ॥९१॥

अथ ये ख्यातिपूजालाभनिमित्तं शुद्धात्मानं त्यजन्ति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देव-कुलं च दहन्तीति कथयति—

लाहहं कित्तिहि कारणिण जे सिव-संगु चयंति।
खीला-लग्गिवि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति ॥९२॥

लाभस्य कीर्तेः कारणेन ये शिवसंगं त्यजन्ति।
कीलानिमित्तं तेऽपि मुनयः देवकुलं देवं दहन्ति ॥९२॥

आगे जो अपनी प्रसिद्धि (बड़ाई) प्रतिष्ठा और परवस्तुका लाभ इन तीनोंके लिए आत्मध्यानको छोड़ते हैं, वे लोहेके कीलेके लिए देव तथा देवालयको जलाते हैं—(ये) जो कोई (लाभस्य) लाभ (कीर्तेः कारणेन) और कीर्तिके कारण (शिवसंगं) पर-

मात्माके ध्यानको (त्यजंति) छोड़ देते हैं, (ते अपि मुनयः) वे ही मुनि (कीलानिमित्त) लोहेके कीलेके लिए अर्थात् कीलेके समान असार इन्द्रिय-सुखके निमित्त (देवकुलं) मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थानको तथा (देवं) आत्मदेवको (दहंति) भवकी आतापसे भस्म कर देते हैं।

भावार्थ—जिस समय ख्याति पूजा लाभके अर्थ शुद्धात्माकी भावनाको छोड़कर अज्ञान भावोंमें प्रवर्त होते हैं, उस समय ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध होता है। उस ज्ञानावरणादिके बन्धसे ज्ञानादि गुणका आवरण होता है। केवलज्ञानावरणसे केवलज्ञान ढंक जाता है, मोहके उदयसे अनन्तसुख, वीर्यान्तरायके उदयसे अनन्तबल, और केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन आच्छादित होता है। इसप्रकार अनन्तचतुष्टयका आवरण हो रहा है। उस अनन्तचतुष्टयके अलाभमें परमौदारिक शरीरको नहीं पाता, क्योंकि जो उसी भवमें मोक्ष जाता है, उसीके परमौदारिक शरीर होता है। इसलिये जो कोई समभावमें शुद्धात्माकी भावना करे, तो अभी स्वर्गमें जाकर पीछे विदेहोंमें मनुष्य होकर मोक्ष पाता है। ऐसा ही कथन दूसरी जगह शास्त्रोंमें लिखा है, कि तपसे स्वर्ग तो सभी पाते हैं, परन्तु जो कोई ध्यानके योगसे स्वर्ग पाता है, वह परभवमें सासते (अविनाशी) सुखको (मोक्षको) पाता है। अर्थात् स्वर्गसे आकर मनुष्य होके मोक्ष पाता है, उसीका स्वर्ग पाना सफल है, और जो कोरे (अकेले) तपसे स्वर्ग पाके फिर संसारसे भ्रमता है, उसका स्वर्ग पाना वृथा है ॥६२॥

अथ यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेणात्मानं महान्तं मन्यते स परमार्थं न जानातीति दर्शयति—

अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि गरुयउ गंथहि तत्थु।
सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ॥६३॥

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः गुरुकं ग्रन्थैः तथ्यम्।
स परमार्थेन जिनो भणति नैव बुध्यते परमार्थम् ॥६३॥

आगे जो बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहसे अपनेको महन्त मानता है, वह परमार्थको नहीं जानता, ऐसा दिखलाते हैं—(य एव) जो (मुनिः) मुनि (ग्रंथैः) बाह्य परिग्रहोंसे (आत्मानं) अपनेको (गुरुकं) महन्त (बड़ा) (मन्यते) मानता है, अर्थात् परिग्रहोंसे ही गौरव जानता है, (तथ्यं) निश्चयसे (सः) वही पुरुष (परमार्थेन) वास्तवमें

(परमार्थं) परमार्थको (नैव बुध्यते) नहीं जानता, (जिनः भणति) ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं।

भावार्थ—निर्दोष परमात्मासे पराङ्मुख जो पूर्वसूत्रमें कहे गये सचित्त अचित्त मिश्र परिग्रह हैं, उनसे अपनेको महन्त मानता है, जो मैं बहुत पढ़ा हूँ। ऐसा जिसके अभिमान है, वह परमार्थ यानी वीतराग परमानन्दस्वभाव निज आत्माको नहीं जानता। आत्म-ज्ञानसे रहित है, यह निःसन्देह जानो ॥९३॥

ग्रन्थेनात्मानं महान्तं मन्यमानः सन् परमार्थं कस्मान्न जानातीति चेत्—

बुज्झंतहं परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ।
जीवा सयल वि बंभु परु जेण वियाणइ सोइ ॥९४॥

बुध्यमानानां परमार्थं जीव गुरुः लघुः अस्ति न कोऽपि।
जीवाः सकला अपि ब्रह्म परं येन विजानाति सोऽपि ॥९४॥

आगे शिष्य प्रश्न करता है, कि जो ग्रन्थसे अपनेको महन्त मानता है, वह परमार्थको क्यों नहीं जानता? इसका समाधान आचार्य करते हैं—(जीव) हे जीव, (परमार्थं) परमार्थको (बुध्यमानानां) समझनेवालोंके (कोऽपि) कोई जीव (गुरुः लघुः) बड़ा छोटा (न अस्ति) नहीं है, (सकला अपि) सभी (जीवाः) जीव (परब्रह्म) परमब्रह्मस्वरूप हैं, (येन) क्योंकि निश्चयनयसे (सोऽपि) वह सम्यग्दृष्टि एक भी जीव (विजानाति) सबको जानता है।

भावार्थ—जो परमार्थको नहीं जानता, वह परिग्रहसे गुरुता समझता है, और परिग्रहके न होनेसे लघुपना जानता है, यही भूल है। यद्यपि गुरुता लघुता कर्मके आवरणसे जीवोंमें पायी जाती है, तो भी शुद्धनयसे सब समान हैं, तथा ब्रह्म अर्थात् सिद्धपरमेष्ठी केवलज्ञानसे सबको जानते हैं, सबको देखते हैं, उसी प्रकार निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टि सब जीवोंको शुद्धरूप ही देखता है ॥९४॥

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परिग्रहपरित्यागव्याख्यानमुख्यतया सूत्राष्टकेन तृतीयमन्तरस्थलं समाप्तम्। अत ऊर्ध्वं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिगुणैः समानास्तेन कारणेन षोडशवर्णिकासुवर्णवद्भेदो नास्तीति प्रतिपादयति। तद्यथा—

जो भत्तउ रयण-त्तयह तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अच्छउ कहिं वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ ॥९५॥

य: भक्त: रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं इदम् ।
तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां स तस्य करोति न भेदम् ॥९५॥

इस तरह इकतालीस दोहोंके महास्थलमें परिग्रह त्यागके व्याख्यानको मुख्यतासे आठ दोहोंका तीसरा अन्तरस्थल पूर्ण हुआ। आगें तेरह दोहोंतक शुद्ध निश्चयसे सब जीव केवलज्ञानादिगुणसे समान हैं, इसलिये सोलहवान (ताव) के सुवर्ण की तरह भेद नहीं है, सब जीव समान हैं, ऐसा निश्चय करते हैं।

वह ऐसे हैं—(य) जो मुनि (रत्नत्रयस्य) रत्नत्रयकी (भक्त:) आराधना (सेवा) करनेवाला है, (तस्य) उसके (इदं लक्षणं) यह लक्षण (मन्यस्व) जानना कि (कस्यामपि कुडयां) किसी शरीरमें जीव (तिष्ठतु) रहे, (स:) वह ज्ञानी (तस्य भेदं) उस जीवका भेद (न करोति) नही करता, अर्थात् देहके भेदसे गुरुता लघुताका भेद करता है, परन्तु ज्ञानदृष्टिसे सबको समान देखता है।

भावार्थ—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी निश्चयरत्नत्रयका आराधकका ये लक्षण प्रभाकरभट्ट तू नि:सन्देह जान, जो किसी शरीरमें कर्मके उदयसे जीव रहे, परन्तु निश्चयसे शुद्ध बुद्ध (ज्ञानी) ही है। जैसे सोनेमें वान-भेद है, वैसे जीवोंमें वान-भेद नहीं है, केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंसे सब जीव समान हैं। ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्टने प्रश्न किया, हे भगवन्, जो जीवोंमें देहके भेदसे भेद नहीं है, सब समान हैं, तब जो वेदान्ती एक ही आत्मा मानते हैं, उनको क्यों दोप देते हो? तब श्रीगुरु उसका समाधान करते हैं—कि शुद्धसंग्रहनयसे सेना एक ही कही जाती है, लेकिन सेनामें अनेक हैं, तो भी ऐसे कहते हैं, कि सेना आयी, सेना गयी, उसी प्रकार जातिकी अपेक्षासे जीवोंके भेद नहीं हैं, सब एक जाति हैं, और व्यवहारनयसे व्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं, अनन्त जीव हैं, एक नहीं है। जैसे वन एक कहा जाता है, और वृक्ष जुदे जुदे हैं, उसी तरह जातिसे जीवोंमें एकता है, लेकिन द्रव्य जुदे जुदे हैं, तथा जैसे सेना एक है, परन्तु हाथी घोड़े रथ सुभट अनेक हैं, उसी तरह जीवोंमें जानना ॥९५॥

अथ त्रिभुवनस्थजीवानां मूढा भेदं कुर्वन्ति, ज्ञानिनस्तु भिन्नभिन्नसुवर्णानां षोडशवर्णिकैकत्ववत्केवलज्ञानलक्षणेनैकत्वं जानन्तीति दर्शयति—

जीवहं तिहुयण-संठियहं मूढा भेउ करंति ।
केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ॥९६॥

जीवानां त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति ।
केवलज्ञानेन ज्ञानिनः स्फुट सकलमपि एकं मन्यन्ते ॥९६॥

आगे तीन लोकमें रहनेवाले जीवोंका अज्ञानी भेद करते हैं । जीवपनेसे कोई कम बढ़ नहीं हैं, कर्मके उदयसे शरीर-भेद हैं, परन्तु द्रव्यकर सब समान हैं । जैसे सोनेमें वान-भेद है, वैसे ही परके संयोगसे भेद मालूम होता है, तो भी सुवर्णपनेसे सब समान हैं, ऐसा दिखलाते हैं—(त्रिभुवनसंस्थितानां) तीन भुवनमें रहनेवाले (जीवानां) जीवोंका (मूढाः) मूर्ख ही (भेदं) भेद (कुर्वंति) करते हैं, और (ज्ञानिनः) ज्ञानी जीव (केवलज्ञानेन) केवलज्ञानसे (स्फुटं) प्रगट (सकलमपि) सब जीवोंको (एकं मन्यंते) समान जानते हैं ।

भावार्थ—व्यवहारनयकर सोलहवानके सुवर्ण भिन्न भिन्न वस्त्रोंमें लपेटें तो वस्त्रके भेदसे भेद है, परन्तु सुवर्णपनेसे भेद नहीं है, उसी प्रकार तीन लोकमें तिष्ठे हुए जीवोंका व्यवहारनयसे शरीरके भेदसे भेद है, परंतु जीवपनेसे भेद नहीं है । देहका भेद देखकर मूढ जीव भेद मानते हैं, और वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी जीवपनेसे सब जीवोंको समान मानता है । सभी जीव केवलज्ञानवेलिके कन्द सुख-पंक्ति हैं, कोई कम बढ़ नहीं है ॥९६॥

अथ केवलज्ञानादिलक्षणेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वे जीवाः समाना इति कथयति—

जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण-विमुक्क ।
जीव-पएसहिं सयल सम सयल वि सगुणहिं एक्क ॥९७॥

जीवाः सकला अपि ज्ञानमया जन्ममरण विमुक्ताः ।
जीवप्रदेशैः सकलाः समाः सकला अपि स्वगुणैरेके ॥९७॥

आगे केवलज्ञानादि लक्षणसे शुद्धसंग्रहनयकर सब जीव एक हैं, ऐसा कहते हैं—(सकलाअपि) सभी (जीवाः) जीव (ज्ञानमयाः) ज्ञानमयी हैं, और (जन्ममरणविमुक्ताः) (जीवप्रदेशैः) अपने-अपने प्रदेशोंसे (सकलाः समाः) सब समान हैं, (अपि) और (सकलाः) सब जीव (स्वगुणैः एके) अपने केवलज्ञानादि गुणोंसे समान हैं ।

भावार्थ—व्यवहारसे लोक-अलोकका प्रकाशक और निश्चयनयसे निज शुद्धात्मद्रव्यका ग्रहण करनेवाला जो केवलज्ञान वह यद्यपि व्यवहारनयसे केवलज्ञानावरण कर्मसे ढंका हुआ है, तो भी शुद्ध निश्चयसे केवलज्ञानावरणका अभाव होनेसे केवलज्ञानस्वभावसे सभी जीव केवलज्ञानमयी हैं। यद्यपि व्यवहारनयकर सब संसारी जीव जन्म मरण सहित हैं, तो भी निश्चयनयकर वीतराग निजानन्दरूप अतीन्द्रिय सुखमयी हैं, जिनको आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं ऐसे हैं, शुद्धात्मस्वरूपसे विपरीत जन्म मरणके उत्पन्न करनेवाले जो कर्म उनके उदयके अभावसे जन्म मरण रहित हैं। यद्यपि संसारअवस्थामें व्यवहारनयकर प्रदेशोंका संकोच विस्तारको धारण करते हुए देहप्रमाण हैं, और मुक्त-अवस्थामें चरम (अन्तिम) शरीरसे कुछ कम देहप्रमाण हैं, तो भी निश्चयनयकर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं, हानि-वृद्धि न होनेसे अपने प्रदेशोंकर सब समान हैं, और यद्यपि व्यवहारनयसे संसार-अवस्थामें इन जीवोंके अव्याबाध अनन्त सुखादिगुण कर्मोंसे ढंके हुए हैं, तो भी निश्चयनयकर कर्मके अभावसे सभी जीव गुणोंकर समान हैं। ऐसा जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है, वही ध्यान करने योग्य है ॥९७॥

अथ जीवानां ज्ञानदर्शनलक्षणं प्रतिपादयति—

जीवहं लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु।
तेण ण किज्जइ भेउ तहं जइ मणि जाउ विहाणु ॥९८॥

जीवानां लक्षणं जिनवरैः भाषितं दर्शनं ज्ञानं।
तेन न क्रियते भेदः तेषां यदि मनसि जातो विभातः ॥९८॥

आगे जीवोंका ज्ञान-दर्शन कहते हैं—(जीवानां लक्षणं) जीवोंका लक्षण (जिनवरैः) जिनेन्द्रदेवने (दर्शनं ज्ञानं) दर्शन और ज्ञान (भाषितं) कहा है, (तेन) इसलिए (तेषां) उन जीवोंमें (भेदः) भेद (न क्रियते) मत कर, (यदि) अगर (मनसि) तेरे मनमें (विभातः जातः) ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हो गया है, अर्थात् हे शिष्य, तू सबको समान जान।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे संसारीअवस्थामें मत्यादि ज्ञान, और चक्षुरादि दर्शन जीवके लक्षण कहे हैं, तो भी निश्चयनयकर-केवलदर्शन केवलज्ञान ये ही लक्षण हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने वर्णन किया है। इसलिये व्यवहारनयकर देह-भेदसे भी भेद नहीं

है, केवलज्ञानदर्शनरूप निजलक्षणकर सब समान हैं, कोई भी बड़ा छोटा नहीं है। जो तेरे मनमें वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप सूर्यका उदय हुआ है, और मोह निद्रा के अभावसे आत्म-बोधरूप प्रभात हुआ है, तो तू सबोंको समान देख। जैसे यद्यपि सोलहवानीके सोने सब समान वृत्त हैं, तो भी उन सुवर्ण-राशियोंमेंसे एक सुवर्णको ग्रहण किया, तो उसके ग्रहण करनेसे सब सुवर्ण साथ नहीं आते, क्योंकि सबके प्रदेश भिन्न हैं, उसी प्रकार यद्यपि केवलज्ञान दर्शन लक्षण सब जीव समान हैं, तो भी एक जीवका ग्रहण करनेसे सबका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि प्रदेश सबके भिन्न भिन्न हैं, इससे यह निश्चय हुआ, कि यद्यपि केवलज्ञान दर्शन लक्षणसे सब जीव समान हैं, तो भी प्रदेश सबके जुदे जुदे हैं, यह तात्पर्य जानना ॥९८॥

अथ शुद्धात्मनां जीवजातिरूपेणैकत्वं दर्शयति—

बंभहं भुवणि वसंताहं जे णवि भेउ करंति।
ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥९९॥

ब्रह्मणां भुवने वसतां ये नैव भेदं कुर्वन्ति।
ते परमात्मप्रकाशकराः योगिन् विमलं जानन्ति ॥९९॥

आगे जातिके कथनसे सब जीवोंकी एक जाति है, परन्तु द्रव्य अनन्त हैं, ऐसा दिखलाते हैं—(भुवने) इस लोकमें (वसन्तः) रहनेवाले (ब्रह्मणः) जीवोंका (भेदं) भेद (नैव) नहीं (कुर्वन्ति) करते हैं, (ते) वे (परमात्मप्रकाशकराः) परमात्माके प्रकाश करनेवाले (योगिन्) योगी, (विमलं) अपने निर्मल आत्माको (जानंति) जानते हैं। इसमें सन्देह नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि जीव-राशिकी अपेक्षा जीवोंकी एकता है, तो भी प्रदेशभेदसे प्रगटरूप सब जुदे जुदे हैं। जैसे वृक्ष जातिकर वृक्षोंका एकपना है, तो भी सब वृक्ष जुदे जुदे हैं, और पहाड़-जातिसे सब पहाड़ोंका एकत्व है, तो भी सब जुदे जुदे हैं, तथा रत्न-जातिसे रत्नोंका एकत्व है, परन्तु सब रत्न पृथक् पृथक् हैं, घट-जातिकी अपेक्षा सब घटोंका एकपना है, परन्तु सब जुदे जुदे हैं, और पुरुष-जातिकर सबकी एकता है, परन्तु सब अलग अलग हैं। उसी प्रकार जीव-जातिकी अपेक्षासे सब जीवों का एकपना है, तो भी प्रदेशोंके भेदसे सब ही जीव जुदे जुदे हैं। इस पर कोई पर-वादी प्रश्न करता है, कि जैसे एक ही चन्द्रमा जलके भरे बहुत घड़ोंमें जुदा जुदा भासता है, उसी प्रकार एक ही जीव बहुत शरीरोंमें भिन्न भिन्न भास रहा है।

उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं—जो बहुत जलके घड़ोंमें चन्द्रमाकी किरणों की उपाधिसे जल-जातिके पुद्गल ही चन्द्रमाके आकारके परिणत हो गये हैं, लेकिन आकाशमें स्थित चन्द्रमा तो एक ही है, चन्द्रमा तो बहुत स्वरूप नहीं हो गया। उनका दृष्टान्त देते हैं। जैसे कोई देवदत्तनामा पुरुष उसके मुखकी उपाधि (निमित्त) से अनेक प्रकारके दर्पणोंसे शोभायमान काचका महल उसमें वे काचरूप पुद्गल ही अनेक मुखके आकारके परिणत हुए हैं, कुछ देवदत्तका मुख अनेकरूप नहीं परिणत हुआ है, मुख एक ही है। जो कदाचित् देवदत्तका मुख अनेकरूप परिणमन करे, तो दर्पणमें तिष्ठते हुए मुखोंके प्रतिबिम्ब चेतन हो जावें। परन्तु चेतन नहीं होते, जड़ ही रहते हैं, उसी प्रकार एक चन्द्रमा भी अनेकरूप नहीं परिणमता। वे जलरूप पुद्गल ही चन्द्रमाके आकारमें परिणत हो जाते हैं। इसलिये ऐसा निश्चय समझना, कि जो कोई ऐसा कहते हैं, कि एक ही ब्रह्मके नानारूप दीखते हैं, यह कहना ठीक नहीं है। जीव जुदे जुदे हैं ॥९९॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति—

राय-दोस वे परिहरिवि जे सम जीव णियंति।
ते सम-भावि परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ॥१००॥

रागद्वेषौ द्वौ परिहृत्य ये समान् जीवान् पश्यन्ति।
ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥१००॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि सब ही जीव द्रव्यसे तो जुदे जुदे हैं, परन्तु जातिमें एक हैं, और गुणोंकर समान हैं, ऐसी धारणा करना मुक्तिका कारण है—(ये) जो (रागद्वेषौ) राग और द्वेषको (परिहृत्य) दूर करके (जीवाः समाः) सब जीवोंको समान (निर्गच्छंति) जानते हैं, (ते) वे साधु (समभावे) समभावमें (प्रतिष्ठिताः) विराजमान (लघु) शीघ्र ही (निर्वाणं) मोक्षको (लभंते) पाते हैं।

भावार्थ—वीतराग निजानन्दस्वरूप जो निज आत्मद्रव्य उसकी भावनासे विमुख जो राग द्वेष उनको छोड़कर जो महान् पुरुष केवलज्ञान दर्शन लक्षणकर सब ही जीवोंको समान गिनते हैं, वे पुरुष समभावमें स्थित शीघ्र ही शिवपुरको पाते हैं। समभावका लक्षण ऐसा है, कि जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःखादि सबको समान जानें। जो अनन्त सिद्ध हुए और होवेंगे, यह सब समभावका प्रभाव है। सम-

भावसे मोक्ष मिलता है। कैसा है वह मोक्षस्थान, जो अत्यन्त अद्भुत अचिन्त्य केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंका स्थान है। यहां यह व्याख्यान जानकर राग द्वेषको छोड़के शुद्धात्माके अनुभवरूप जो समभाव उसका सेवन सदा करना चाहिये। यही इस ग्रन्थ का अभिप्राय है ॥१००॥

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति—

जीवहं दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि।
देह-विभेएं भेउ तहं णाणि कि मण्णइ सो जि ॥१०१॥

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षणं जानाति य एव।
देहविभेदेन भेदं तेषां ज्ञानी किं मन्यते तमेव ॥१०१॥

आगे सब जीवोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन साधारण लक्षण हैं, इनके विना कोई जीव नहीं है। ये गुण शक्तिरूप सब जीवोंमें पाये जाते हैं, ऐसा कहते हैं—(जीवानां) जीवोंके (दर्शनं ज्ञानं) दर्शन और ज्ञान (लक्षणं) निज लक्षणको (य एव) जो कोई (जानाति) जानता है, (जीव) हे जीव, (स एव ज्ञानी) वही ज्ञानी (देहविभेदेन) देहके भेदसे (तेषां भेदं) उन जीवोंके भेदको (किं मन्यते) क्या मान सकता है, नहीं मान सकता।

भावार्थ—तीन लोक और तीन कालवर्त्ती समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंको एक ही समयमें जाननेमें समर्थ जो केवलदर्शन केवलज्ञान है, उसे निज लक्षणोंसे जो कोई जानता है, वही सिद्ध-पद पाता है। जो ज्ञानी अच्छी तरह इन निज लक्षणोंको जान लेवे वह देहके भेदसे जीवोंका भेद नहीं मान सकता। अर्थात् देहसे उत्पन्न जो विषय-सुख उनके रसके आस्वादसे विमुख शुद्धात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किये जो ज्ञानावरणादिकर्म, उनके उदयसे उत्पन्न हुए देहादिकके भेदसे जीवोंका भेद, वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी कदापि नहीं मान सकता। देहमें भेद हुआ तो क्या, गुणसे सब समान हैं, और जीव जातिकर एक हैं।

यहां पर जो कोई ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती नाना जीवोंको नहीं मानते हैं, और वे एक ही जीव मानते हैं, उनकी यह बात अप्रमाण है। उनके मतमें एक ही जीवके माननेसे बड़ा भारी दोष होता है। वह इस तरह है, कि एक जीवके जीने मरने सुख दुःखादिके होनेपर सब जीवोंके उसी समय जीवना, मरना, सुख, दुःखादि होना

चाहिये, क्योंकि उनके मतमें वस्तु एक है । परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये उनका वस्तु एक मानना वृथा है, ऐसा जानो ॥१०१॥

अथ जीवानां निश्चयनयेन योऽसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनज्ञान-चारित्रलक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

देह विभेयइं जो कुणइ जीवहं भेउ विचित्तु ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहं दंसणु णाणु चरित्तु ॥१०२॥

देहविभेदेन यः करोति जीवानां भेद विचित्रम् ।
स नैव लक्षणं मनुते तेषां दर्शन ज्ञानं चारित्रम् ॥१०२॥

आगे जीव ही को जानते हैं, परन्तु उसके लक्षण नहीं जानते, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—(यः) जो (देहविभेदेन) शरीरोंके भेदसे (जीवानां) जीवोंका (विचित्रं) नानारूप (भेदं) भेद (करोति) करता है, (स) वह (तेषां) उन जीवोंका (दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) दर्शन ज्ञान चारित्र (लक्षणं) लक्षण (नैव मनुते) नहीं जानता, अर्थात् उसको गुणोंकी परीक्षा (पहचान) नहीं है ।

भावार्थ—देहके ममत्वके मूल कारण ख्याति (अपनी बड़ाई) पूजा और लाभरूप जो आर्त रौद्रस्वरूप खोटे ध्यान उनसे निज शुद्धात्माका ध्यान उसके अभावसे इस जीवने उपार्जन किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके उदयसे उत्पन्न जो शरीर है, उसके भेदसे भेद मानता है, उसको दर्शनादि गुणोंकी गम्य नहीं है । यद्यपि पापके उदयसे नरक-योनि, पुण्यके उदयसे देवोंका शरीर और शुभाशुभ मिश्रसे नर-देह तथा माया-चारसे पशुका शरीर मिलता है, अर्थात् इन शरीरोंके भेदोंसे जीवोंकी अनेक चेष्टायें देखी जाती हैं, परन्तु दर्शन ज्ञान लक्षणसे सब तुल्य हैं । उपयोग लक्षणके बिना कोई जीव नहीं है । इसलिये ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं । निश्चयनयसे दर्शन ज्ञान चारित्र जीवोंके लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, चाण्डालादि देहके भेद देखकर राग द्वेष नहीं करना चाहिये । सब जीवोंसे मैत्रीभाव करना यही तात्पर्य है ॥१०२॥

अथ शरीराणि बादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवन्ति न च जीवा इति दर्शयति—

अंगइं सुहुमइं बादरइं विहि-वसिं होंति जे बाल ।
जिय पुणु सयल वि तित्तडा सव्वत्थ वि सय-काल ॥१०३॥

अङ्गानि सूक्ष्माणि वादराणि विधिवशेन भवन्ति ये वालाः ।
जीवाः पुनः सकला अपि तावन्तः सर्वत्रापि सदाकाले ॥१०३॥

आगे सूक्ष्म वादरशरीर जीवोंके कर्मके सम्बन्धसे होते हैं, सो सूक्ष्म बादर स्थावर जंगम ये सब शरीरके भेद हैं, जीव तो चिद्रूप है, सब भेदोंसे रहित है, ऐसा दिखलाते हैं— (सूक्ष्माणि) सूक्ष्म (बादराणि) और बादर (अंगानि) शरीर (ये) तथा जो (बालाः) बाल वृद्ध तरुणादि अवस्थायें (विधिवशेन) कर्मोंसे (भवंति) होती हैं, (पुनः) और (जीवाः) जीव तो (सकलाअपि) सभी (सर्वत्र) सब जगह (सर्वकाले अपि) और सब कालमें (तावंतः) उतने प्रमाण ही अर्थात् असंख्यातप्रदेशी ही है ।

भावार्थ—जीवोंके शरीर व बाल वृद्धादि अवस्थायें कर्मोंके उदयसे होती हैं । अर्थात् अङ्गोंसे उत्पन्न हुए जो पंचेन्द्रियोंके विषय उनकी वांछा जिनका मूल कारण है, ऐसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप निदान वन्धादि खोटे ध्यान उनसे विमुख जो शुद्धात्माकी भावना उससे रहित इस जीवने उपार्जन किये शुभाशुभ कर्मोंके योगसे ये चतुर्गतिके शरीर होते हैं, और बाल वृद्धादि अवस्थायें होती हैं । ये अवस्थायें कर्मजनित हैं, जीवकी नहीं हैं ।

हे अज्ञानी जीव, यह बात तू निःसन्देह जान । ये सभी जीव द्रव्य-प्रमाणसे अनन्त हैं, क्षेत्रकी अपेक्षा एक एक जीव यद्यपि व्यवहारनयकर अपने मिले हुए देहके प्रमाण हैं, तो भी निश्चयनयकर लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं । सब लोकमें सब कालमें जीवोंका यही स्वरूप जानना । बादर सूक्ष्मादि भेद कर्मजनित होना समझकर (देखकर) जीवोंमें भेद मत जानो । विशुद्ध ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा सब ही जीव समान हैं, कोई भी जीव दर्शन ज्ञान रहित नहीं है, ऐसा जानना ॥१०३॥

अथ जीवानां शत्रुमित्रादिभेदं यः न करोति सः निश्चयनयेन जीवलक्षणं जानातीति प्रतिपादयति—

सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु जीव असेसु वि एइ ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥१०४॥

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा परः जीवा अशेषा अपि एते ।
एकत्वं कृत्वा यो मनुते स आत्मानं जानाति ॥१०४॥

आगे जो जीवोंके शत्रु मित्रादि भेद नहीं करता है, वह निश्चयकर जीवका लक्षण जानता है, ऐसा कहते हैं—(एते अशेषा अपि) ये सभी (जीवाः) जीव हैं, उनमेंसे (शत्रुरपि) कोई एक किसीका शत्रु भी है, (मित्रं अपि) मित्र भी है, (आत्मा) अपना है, और (परः) दूसरा है। ऐसा व्यवहारसे जानकर (यः) जो ज्ञानी (एकत्वं कृत्वा) निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर (मनुते) समान मानता है, (सः) वही (आत्मानं) आत्माके स्वरूपको (जानाति) जानता है।

भावार्थ—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीखते हैं, परन्तु जो ज्ञानी सबको एक दृष्टिसे देखता है—समान जानता है। शत्रु, मित्र, जीवित, मरण, लाभ, अलाभ आदि सबोंमें समभावरूप जो वीतराग परमसामायिकचारित्र उसके प्रभावसे जो जीवोंको शुद्ध संग्रहनयकर जानता है, सबको समान मानता है, वही अपने निजस्वरूपको जानता है। जो निजस्वरूप, वीतराग सहजानन्द एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि विकल्प–जालसे रहित है, ऐसे निजस्वरूपको समताभावके विना नहीं जान सकता ॥१०४॥

अथ योऽसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नास्तीत्यावेदयति—

जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल वि एक्क-सहाव ।
तासु ण थक्कइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव ॥१०५॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।
तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौः ॥१०५॥

आगे जो सब जीवोंको समान नहीं मानता, उसके समभाव नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—(जीव) हे जीव, (यः) जो (सकलानपि) सभी (जीवान्) जीवोंको (एकस्वभावान्) एक स्वभाववाले (नैव मन्यते) नहीं जानता, (तस्य) उस अज्ञानीके (समः भावः) समभाव (न तिष्ठति) नहीं रहता, (यः) जो समभाव (भवसागरे) संसार-समुद्रके तैरनेको (नौः) नावके समान है।

भावार्थ—जो अज्ञानी सब जीवोंको समान नहीं मानता, अर्थात् वीतराग निर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर सबको समान दृष्टिसे नहीं देखता, सकल ज्ञायक परम निर्मल केवलज्ञानादि गुणोंकर निश्चयनयसे सब जीव एकसे हैं, ऐसी जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके समभाव नहीं उत्पन्न हो सकता। ऐसा निस्सन्देह जानो। कैसा है समभाव,

जो संसार समुद्रसे तारनेके लिये जहाजके समान है। यहां ऐसा व्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमशांतभावरूप शुद्धात्मामें लीन होना योग्य है ॥१०५॥

अथ जीवानां योऽसौ भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति—

जीवहं भेउ जि कम्म-किउ कम्मु वि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहं कालु लहेविणु कोइ ॥१०६॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्म अपि जीवो न भवति ।
येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥१०६॥

आगे जीवोंमें जो भेद हैं, वह सब कर्मजनित हैं, ऐसा प्रगट करते हैं— (जीवानां) जीवोंमें (भेदः) नर नारकादि भेद (कर्मकृत एव) कर्मोंसे ही किया गया है, और (कर्म अपि) कर्म भी (जीवः) जीव (न भवति) नहीं हो सकता। (येन) क्योंकि वह जीव (कमपि) किसी (कालं) समयको (लब्ध्वा) पाकर (तेभ्यः) उन कर्मोंसे (विभिन्नः) जुदा (भवति) हो जाता है।

भावार्थ—कर्म शुद्धात्मासे जुदे हैं, शुद्धात्मा भेद-कल्पनासे रहित है। ये शुभाशुभकर्म जीवका स्वरूप नहीं हैं, जीवका स्वरूप तो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव है अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूल रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बांधता है। सो कर्मका बंध अनादिकालका है। इस कर्मबन्धसे कोई एक जीव वीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी कारणरूप जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय उसको पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है। कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है, जो जीवके भवस्थिति समीप (थोड़ी) रही हो, तभी सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, और सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, तभी कर्म-कलंकसे छूट सकता है। तात्पर्य यह है, कि जो टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक शुद्ध स्वभाव उससे विलक्षण जो स्त्री पुरुषादि शरीरके भेद उनको देखकर रागादि खोटे ध्यान नहीं करने चाहिये ॥१०६॥

अतः कारणात् शुद्धसंग्रहेण भेदं मा कार्षीरिति निरूपयति—

एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्ण-विसेसु ।
इक्कइं देवइं जें वसइ तिहुयणु एहु असेसु ॥१०७॥

एकं गुरु मा द्वौ कुरु मा कुरु वर्णविशेषम् ।
एकेन देवेन येन वसति त्रिभुवनं एतद् अशेषम् ॥१०७॥

आगें ऐसा कहते हैं, कि तू शुद्ध संग्रहनयकर जीवोंमें भेद मत कर--(एकं कुरु) हे आत्मन्, तू जातिकी अपेक्षा सब जीवोंको एक जान, (मा द्वौ कार्षीः) इसलिये राग और द्वेष मत कर, (वर्णविशेषं) मनुष्य जातिकी अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्ण-भेदको भी (मा कार्षीः) मत कर, (येन) क्योंकि (एकेन देवेन) अभेदनयसे शुद्ध आत्माके समान (एतद् अशेषं) ये सब (त्रिभुवनं) तीनलोकमें रहनेवाली जीव-राशि (वसति) ठहरी हुई है, अर्थात् जीवपनेसे सब एक हैं।

भावार्थ—सब जीवोंकी एक जाति है। जैसे सेना और वन एक हैं, वैसे जातिकी अपेक्षा सब जीव एक हैं। नर नारकादि भेद और ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्रादि वर्ण-भेद सब कर्मजनित हैं, अभेदनयने सब ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्रादि वर्ण-भेद सब कर्मजनित हैं, अभेदनयसे सब जीवोंको एक जानो। अनन्त जीवोंकर यह लोक भरा हुआ है। उस जीव-राशिमें भेद ऐसे हैं--जो पृथ्वीकायसूक्ष्म, जलकाय-सूक्ष्म, अग्निकायसूक्ष्म, वायुकायसूक्ष्म, नित्यनिगोदसूक्ष्म, इतरनिगोदसूक्ष्म--इन छह तरहके सूक्ष्म जीवोंकर तो यह लोक निरन्तर भरा हुआ है, सब जगह इस लोकमें सूक्ष्म जीव हैं। और पृथ्वीकायबादर, जलकायबादर, अग्निकायबादर, वायुकायबादर, नित्यनिगोदबादर, इतरनिगोदबादर, और प्रत्येक वनस्पति—ये जहां आधार है वहां हैं। सो कहीं पाये जाते हैं, कहीं नहीं पाये जाते, परन्तु ये भी बहुत जगह हैं।

इस प्रकार स्थावर तो तीनों लोकोंमें पाये जाते हैं, और दोइन्द्री, तीनइन्द्री, चारइन्द्री, पञ्चेन्द्रि तिर्यञ्च ये मध्यलोकमें ही पाये जाते हैं, अधोलोक ऊर्ध्वलोकमें नहीं। उसमेंसे दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री जीव कर्मभूमिमें ही पाये जाते हैं, भोगभूमिमें नहीं। भोगभूमिमें गर्भज पञ्चेन्द्री सैनी थलचर या नभचर ये दोनों जाति-तिर्यंच हैं। मनुष्य मध्यलोकमें ढाई द्वीपमें पाये जाते हैं, अन्य जगह नहीं, देवलोकमें स्वर्ग-वासी देव देवी पाये जाते हैं, अन्य पंचेन्द्री नहीं, पाताललोकमें ऊपरके भागमें भवन-वासीदेव तथा व्यन्तरदेव और नीचेके भागमें सात नरकोंके नारकी पंचेन्द्री हैं, अन्य कोई नहीं और मध्यलोकमें भवनवासी व्यन्तरदेव तथा ज्योतिषीदेव ये तीन जातिके देव और तिर्यञ्च पाये जाते हैं। इस प्रकार त्रसजीव किसी जगह हैं, किसी जगह नहीं हैं।

इस तरह यह लोक जीवोंसे भरा हुआ है। सूक्ष्मस्थावरके बिना तो लोकका कोई भाग खाली नहीं है, सब जगह सूक्ष्मस्थावर भरे हुए हैं। ये सभी जीव शुद्ध

पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर शक्तिकी अपेक्षा केवलज्ञानादि गुणरूप हैं। इसलिये यद्यपि यह जीव-राशि व्यवहारनयकर कर्माधीन है, तो भी निश्चयनयकर शक्तिरूप परब्रह्मस्वरूप है। इन जीवोंको ही परमविष्णु कहना, परम-शिव कहना चाहिए। यही अभिप्राय लेकर कोई एक ब्रह्ममयी जगत् कहते हैं, कोई एक विष्णुमयी कहते हैं, कोई एक शिवमयी कहते हैं। यहांपर शिष्यने प्रश्न किया, कि तुम भी जीवोंको परब्रह्म मानते हो, तथा परमविष्णु परमशिव मानते हो, तो अन्यमत वालोंको क्यों दूषण देते हो ?

उसका समाधान—हम तो पूर्वोक्त नयविभागकर केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा वीतराग सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे जीवोंको ऐसा मानते हैं, तो दूषण नहीं है। वे इस तरह नहीं मानते हैं। वे एक कोई पुरुष जगत्का कर्त्ता हर्त्ता मानते हैं। इसलिये उनको दूषण दिया जाता है, क्योंकि जो कोई एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त है, उस शुद्ध बुद्धको कर्त्ता-हर्त्तापना हो ही नहीं सकता, और इच्छा है वह मोहकी प्रकृति है। भगवान् मोहसे रहित हैं, इसलिये कर्त्ता हर्त्ता नहीं हो सकते। कर्त्ता हर्त्ता मानना प्रत्यक्ष विरोध है। हम तो जीव-राशिको परमब्रह्म मानते हैं, उसी जीव राशिसे लोक भरा हुआ है। अन्यमती ऐसा मानते हैं, कि एक ही ब्रह्म अनन्तरूप हो रहा है। जो वही एक सब-रूप हो रहा होवे, तो नरक निगोद स्थानकी कौन भोगे ? इसलिये जीव अनन्त हैं। इन जीवोंको ही परमब्रह्म परमशिव कहते हैं, ऐसा तू निश्चयसे जान ॥१०७॥

इति षोडशवर्णिकासुवर्णदृष्टान्तेन केवलज्ञानादिलक्षणेन सर्वे जीवाः समाना भव-न्तीति व्याख्यानमुख्यतया त्रयोदशसूत्रैरन्तरस्थलं गतम्। एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादि-प्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये चतुर्भिरन्तरस्थलैः शुद्धोपयोगवीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिग्रह-त्यागसर्वजीवसमानताप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकचत्वारिंशत्सूत्रैर्महास्थलं समाप्तम्।

अत ऊर्ध्वं 'परु जाणंतु वि' इत्यादि सप्ताधिकशतसूत्रपर्यन्ते स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चूलिकाव्याख्यानं करोति इति।

परु जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति।
पर-संगइं परमप्पयहं लक्खहं जेण चलंति ॥१०८॥

परं जानन्तोऽपि परममुनयः परसंसर्गं त्यजन्ति।
परसंगेन परमात्मनः लक्ष्यस्य येन चलन्ति ॥१०८॥

इस प्रकार सोलहवानीके सोनेके दृष्टान्त द्वारा केवलज्ञानादि लक्षणसे सब जीव समान हैं, इस व्याख्यानकी मुख्यतासे तेरह दोहा-सूत्र कहे। इस तरह मोक्ष-मार्ग, मोक्ष-फल, और मोक्ष इन तीनोंको कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें चार अन्तर-स्थलोंका इकतालीस दोहोंका महास्थल समाप्त हुआ। इसमें शुद्धोपयोग, वीतरागस्व-संवेदनज्ञान, परिग्रह त्याग, और सब जीव समान हैं, ये कथन किया।

आगे 'पर जाणंतु वि' इत्यादि एकसौ सात दोहा पर्यन्त तीसरा महाधिकार कहते हैं, उसीमें ग्रन्थको समाप्त करते हैं—(परममुनयः) परममुनि (परं जानंतोऽपि) उत्कृष्ट आत्मद्रव्यको जानते हुए भी (परसंसर्ग) परद्रव्य जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म उसके सम्बन्धको (त्यजंति) छोड़ देते हैं। (येन) क्योंकि (परसंसर्गेण) परद्रव्यके सम्बन्धसे (लक्ष्यस्य) ध्यावकरने योग्य जो (परमात्मनः) परमपद उससे (चलंति) चलायमान हो जाते हैं।

भावार्थ—शुद्धोपयोगी मुनि वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमें लीन हुए परद्रव्योंके साथ सम्बन्ध छोड़ देते हैं। अन्दरके विकार रागादि भावकर्म और बाहरके शरीरादि ये सब परद्रव्य कहे जाते हैं। वे मुनिराज एक आत्मभावके सिवाय सब परद्रव्यका संसर्ग (सम्बन्ध) छोड़ देते हैं। तथा रागी, द्वेषी, मिथ्यात्वी, असंयमी जीवोंका संबंध छोड़ देते हैं। इनके संसर्गसे परमपद जो वीतरागनित्यानन्द अमूर्तस्वभाव परम-समरसीभावरूप जो परमात्मतत्त्व ध्यावने योग्य है, उससे चलायमान हो जाते हैं, अर्थात् तीन गुप्तिरूप परमसमाधिसे रहित हो जाते हैं। यहांपर परमध्यानके घातक जो मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध परिणाम तथा रागी द्वेषी पुरुषोंका संसर्ग सर्वथा त्याग करना चाहिए यह सारांश है ॥१०८॥

अथ तमेव परद्रव्यसंसर्गत्यागं कथयति—

जो सम-भावहं वाहिरउ तिं सहुं मं करि संगु।
चिंता-सायरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥१०९॥

यः समभावाद् वाह्यः तेन सह मा कुरु संगम्।
चिंतासागरे पतसि परं अन्यदपि दह्यते अङ्गः ॥१०९॥

आगे उन्हीं परद्रव्योंके सम्बन्धको फिर छुड़ानेका कथन करते हैं—(यः) जो कोई (समभावात्) समभाव अर्थात् निजभावसे (वाह्य) वाह्य पदार्थ हैं, (तेन सह)

उनके साथ (संगं) संग (मा कुरु) मत कर । क्योंकि उनके साथ संग करनेसे (चिता-सागरे) चितारूपी समुद्रमें (पतसि) पड़ेगा, (परं) केवल (अन्यदपि) और भी (अंगः) शरीर (दह्यते) दाहको प्राप्त होगा, अर्थात् अन्दरसे जलता रहेगा।

भावार्थ—जो कोई जीवित, मरण, लाभ, अलाभादिमें तुल्यभाव उसके सम्मुख जो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म द्रव्य उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निजभाव उसरूप समभावसे जो जुदे पदार्थ हैं, उनका संग छोड़ दे। क्योंकि उनके संगसे चितारूपी समुद्रमें गिर पड़ेगा। जो समुद्र राग द्वेषरूपी कल्लोलोंसे व्याकुल है। उनके संगसे मनमें चिन्ता उत्पन्न होगी, और शरीरमें दाह होगा। यहां तात्पर्य यह है, कि वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिकी भावनासे विपरीत जो रागादि अशुद्ध परिणाम वे ही परद्रव्य कहे जाते हैं, और व्यवहारनयकर मिथ्यात्वी रागी-द्वेषी पुरुष पर कहे गए हैं। इन सबकी संगति सर्वदा दुःख देनेवाली है, किसी प्रकार सुखदायी नहीं है, ऐसा निश्चय है ॥१०९॥

अथैतदेव परसंसर्गदूषणं दृष्टान्तेन समर्थयति—

भल्लाहं वि णासंति गुण जहं संसग्ग खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं ॥११०॥

भद्राणामपि नश्यन्ति गुणाः येषां संसर्गः खलैः।
वैश्वानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्टयते घनैः ॥११०॥

आगे परद्रव्यका प्रसंग महान् दुःखरूप है, यह कथन दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—(खलैः सह) दुष्टोंके साथ (येषां) जिनका (संसर्गः) सम्बन्ध है, वह (भद्राणां अपि) उन विवेकी जीवोंके भी (गुणाः) सत्य शीलादि गुण (नश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं, जैसे (वैश्वानरः) आग (लोहेन) लोहेसे (मिलितः) मिल जाती है, (तेन) तभी (घनैः) घनोंसे (पिट्टयते) पीटी-कूटी जाती है।

भावार्थ—विवेकी जीवोंके शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागी द्वेषी अविवेकी जीवोंकी सङ्गतिसे नाश हो जाते हैं। अथवा आत्माके निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध भावोंके सम्बन्धसे मलिन हो जाते हैं। जैसे अग्नि लोहेके सङ्गमें पीटी-कूटी जाती है। यद्यपि आगको घन कूट नहीं सकता, परन्तु लोहेकी सङ्गतिसे अग्नि भी कूटनेमें आती है, उसी तरह दोषोंके संगसे गुण भी मलिन हो जाते हैं। यह कथन

जानकर आकुलता रहित सुखके घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगोंकी वांछारूप निदानबन्ध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टोंकी सङ्गति नहीं करना, अथवा अनेक दोषोंकर सहित रागी द्वेषी जीवोंकी भी सङ्गति कभी नहीं करना, यह तात्पर्य है।

अथ मोहपरित्यागं दर्शयति—

जोइय मोहु परिच्चयहि मोहु ण भल्लउ होइ।
मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥१११॥

योगिन् मोहं परित्यज मोहो न भद्रो भवति।
मोहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥१११॥

आगें मोहका त्याग करना दिखलाते हैं—(योगिन्) हे योगी, तू (मोहं) मोहको (परित्यज) बिलकुल छोड़ दे, क्योंकि (मोहः) मोह (भद्रः न भवति) अच्छा नहीं होता है, (मोहासक्तः) मोहसे आसक्त (सकलं जगत्) सब जगत् जीवोंको (दुःखं सहमानं) क्लेश भोगते हुए (पश्य) देख।

भावार्थ—जो आकुलता रहित है, वह दुःखका मूल मोह है। मोही जीवोंको दुःख सहित देखो। वह मोह परमात्मस्वरूपकी भावनाका प्रतिपक्षी दर्शनमोह चारित्रमोहरूप है। इसलिये तू उसको छोड़। पुत्र स्त्री आदिकमें तो मोहकी बात दूर रहे, यह तो प्रत्यक्षमें त्यागने योग्य ही है, और विषय-वासनाके वश देह आदिक परवस्तुओंका रागरूप मोह-जाल है, वह भी सर्वथा त्यागना चाहिये। अन्तर बाह्य मोहका त्यागकर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना। शुद्धात्माकी भावनारूप जो तपश्चरण उसका साधक जो शरीर उसकी स्थितिके लिये अन्न जलादिक लिये जाते हैं, तो भी विशेष राग न करना, राग रहित नीरस आहार लेना चाहिये ॥१११॥

अथ स्थलसंख्याबहिर्भूतमाहारमोहविषयनिराकरणसमर्थनार्थं प्रक्षेपकत्रयमाह तद्यथा—

काऊण णग्गरूवं बीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं।
अहिलससि किं ण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥१११*२॥

कृत्वा नग्नरूपं बीभत्सं दग्धमृतकसदृशम्।
अभिलषसि किं न लज्जसे भिक्षायां भोजनं मिष्टम् ॥१११*२॥

आगे स्थलसंख्याके सिवाय जो प्रक्षेपक दोहे हैं, उनके द्वारा आहारक मोह निवारण करते हैं—(बीभत्सं) भयानक देहके मैलसे युक्त (दग्धमृतकसदृशं) जले हुए मुरदेके समान रूपरहित ऐसे (नग्नरूपं) वस्त्र रहित नग्नरूपको (कृत्वा) धारण करके हे साधु, तू (भिक्षायां) परके घर भिक्षाको भ्रमता हुआ उस भिक्षामें (मिष्टं) स्वाद-युक्त (भोजनं) आहारकी (अभिलषसि) इच्छा करता है, तो तू (किं न लज्जसे) क्यों नहीं शरमाता ? यह बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ—पराये घर भिक्षाको जाते मिष्ट आहारकी इच्छा धारण करता है, सो तुझे लाज नहीं आती ? इसलिये आहारका राग छोड़ अल्प और नीरस, आहार उत्तम कुली श्रावकके घर साधुको लेना योग्य है। मुनिको राग-भाव रहित आहार लेना चाहिये। स्वादिष्ट सुन्दर आहारका राग करना योग्य नहीं है। और श्रावकको भी यही उचित है, कि भक्ति-भावसे मुनिको निर्दोष आहार देवे, जिसमें शुभका दोष न लगे। और आहारके समय ही आहारमें मिली हुई निर्दोष औषधि दे, शास्त्रदान करे, मुनियोंके भय दूर करे, उपसर्ग निवारण करे। यही गृहस्थको योग्य है। जिस गृहस्थ ने यतीको आहार दिया, उसने तपश्चरण दिया, क्योंकि संयमका साधन शरीर है, और शरीरकी स्थिति अन्न जलसे है। आहारके ग्रहण करनेसे तपस्याकी बढ़वारी होती है। इसलिये आहारका दान तपका दान है।

यह तप-संयम शुद्धात्माकी भावनारूप है, और ये अंतर बाह्य बारह प्रकारका तप शुद्धात्माकी अनुभूतिका साधक है। तप संयमका साधन दिगम्बरका शरीर है। इसलिये आहारके देनेवालेने यतीके देहकी रक्षाकी, और आहारके देनेवालेने शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष दी। क्योंकि मोक्षका साधन मुनिव्रत है, और मुनिव्रतका साधन शरीर है, तथा शरीरका साधन आहार है। इस प्रकार अनेक गुणोंको उत्पन्न करने-वाला आहारादि चार प्रकारका दान उसको श्रावक भक्तिसे देता है, तो भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक योगीश्वर महातपोधन आहारको ग्रहण करते हुए भी राग नहीं करते हैं। राग द्वेष मोहादि परिणाम निजभावके शत्रु हैं, यह सारांश हुआ।

अथ—

जइ इच्छसि भो साहू बारह-विह-तवहलं महा-विउलं।
तो मण-वयणे काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥१११✻२॥

यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं महाद्विपुलम् ।
ततः मनोवचनयोः काये भोजनगृद्धिं विवर्जयस्व ॥१११*३॥

आगे फिर भी भोजनकी लालसाको त्याग कराते हैं—(भो साधो) हे योगी, (यदि) जो तू (द्वादशविधतपः फलं) बारह प्रकार तपका फल (महद्विपुलं) बड़ा भारी स्वर्ग मोक्ष (इच्छसि) चाहता है, (ततः) तो वीतराग निजानन्द एक सुखरसका आस्वाद उसके अनुभवसे तृप्त हुआ (मनोवचनयोः) मन वचन और (काये) कायसे (भोजनगृद्धिं) भोजनकी लोलुपताको (विवर्जयस्व) त्याग करदे । यह सारांश है ।

उक्तं च—

जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति॥१११*४॥

ये सरसेन संतुष्टमनसः विरसे कषायं वहन्ति ।
ते मुनयः भोजनगृध्राः गणय नैव परमार्थं मन्यन्ते ॥१११*४॥

और भी कहा है—(ये) जो योगी (सरसेन) स्वादिष्ट आहारसे (संतुष्टमनसः) हर्षित होते हैं, और (विरसे) नीरस आहारमें (कषायं) क्रोधादि कषाय (वहंति) करते हैं, (ते मुनयः) वे मुनि (भोजने गृध्राः) भोजनके विषयमें गृद्धपक्षीके समान हैं, ऐसा तू (गणय) समझ । वे (परमार्थं) परमतत्त्वको (नैव मन्यंते) नहीं समझते हैं ।

भावार्थ—जो कोई वीतरागके मार्गसे विमुख हुए योगी रस सहित स्वादिष्ट आहारसे खुश होते हैं, कभी किसीके घर छह रसयुक्त आहार पावें तो मनमें हर्ष करें, आहारके देनेवालेसे प्रसन्न होते हैं, यदि किसीके घर रस रहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थको बुरा समझते हैं, वे तपोधन नहीं हैं, भोजनके लोलुपी हैं। गृद्धपक्षीके समान हैं । ऐसे लोलुपी यती देहमें अनुरागी होते हैं, परमात्म-पदार्थको नहीं जानते । गृहस्थोंके तो दानादिक ही बड़े धर्म हैं । जो सम्यक्त्व सहित दानादि करे, तो परम्परासे मोक्ष पावे । क्योंकि श्रावकका दानादिक ही परम धर्म है । वह ऐसे हैं, कि ये गृहस्थ-लोग हमेशा विषय कषायके आधीन हैं, इससे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्मका तो इनके ठिकाना ही नहीं है, अर्थात् गृहस्थोंके शुभोपयोगकी ही मुख्यता है । और शुद्धो-

पयोगी मुनि इसके घर आहार लेवें, तो इसके समान अन्य क्या ? श्रावकका तो यही वड़ा धरम है, जो कि यती, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन सबको विनयपूर्वक आहार दे। और यतीका यही धर्म है, अन्न जलादिमें राग न करे, और मान अपमानमें समताभाव रक्खे। गृहस्थके घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवे, चाहे चावल मिले, चाहे अन्य कुछ मिले। जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे। दूध, दही, घी, मिष्ठान्न, इनमें इच्छा न करे। यही जिनमार्गमें यतीको रीति है ॥१११*४॥

अथ शुद्धात्मोपलम्भाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयासक्तजीवानां विनाशं दर्शयति—

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासंति ।
अलिउल गंधइं मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥११२॥

रूपे पतङ्गाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यन्ति ।
अलिकुलानि गन्धेन मत्स्याः रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति ॥११२॥

आगे शुद्धात्माकी प्राप्तिके अभावमें जो विषयी जीव पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, उनका अकाज (विनाश) होता है, ऐसा दिखलाते हैं—(रूपे) रूपमें लीन हुए (पतंगा) पतंग जीव दीपकमें जलकर मर जाते हैं, (शब्दे) शब्द विषयमें लीन (मृगाः) हिरण व्याधके बाणोंसे मारे जाते हैं, (गजाः) हाथी (स्पर्शैः) स्पर्श विषयके कारण गड्ढेमें पड़कर बांधे जाते हैं, (गंधेन) सुगन्धकी लोलुपतासे (अलिकुलानि) भौंरे कांटोंमें या कमलमें दवकर प्राण छोड़ देते और (रसे) रसके लोभी (मत्स्याः) मच्छ (नश्यंति) धीवरके जालमें पड़कर मारे जाते हैं। एक एक विषय-कषायकर आसक्त हुए जीव नाशको प्राप्त होते हैं. तो पंचेन्द्रीका कहना ही क्या है ? ऐसा जानकर विवेकी जीव विषयोंमें (किं) क्या (अनुरागं) प्रीति (कुर्वंति) करते हैं ? कभी नहीं करते।

भावार्थ—पंचेन्द्रियके विषयोंकी इच्छा आदि जो सब खोटे ध्यान वे ही हुए विकल्प उनसे रहित विषय कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि, उससे उत्पन्न वीतराग परम आह्लादरूप सुख-अमृत, उसके रसके स्वादकर पूर्ण कलशकी तरह भरे हुए जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार, उसका उत्पन्न करनेवाला जो शुद्धोपयोगरूप कारण समयसार, उसकी भावनासे रहित संसारीजीव विषयोंके अनुरागी पांच इन्द्रियोंके लोलुपी भव-भवमें नाश

पाते हैं । ऐसा जानकर इन विषयोंमें विवेकी कैसे रागको प्राप्त होवे ? कभी विषया-भिलाषी नहीं होते । पतंगादिक एक-एक विषयमें लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें मोहित हैं, वे वीतराग चिदानन्दस्वभाव परमात्मतत्त्व उसको न सेवते हुए, न जानते हुए, और न भावते हुए, अज्ञानी जीव मिथ्या मार्गको वांछते, कुमार्गकी रुचि रखते हुए नरकादि गतिमें घानीमें पिलना, करोंतसे विदरना, और शूलीपर चढ़ना इत्यादि अनेक दुःखोंको देहादिककी प्रीतिसे भोगते हैं । ये अज्ञानी जीव वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधिसे पराङ्मुख हैं, जिनके चित्त चंचल हैं, कभी निश्चल चित्तकर निजरूपको नहीं ध्यावते हैं । और जो पुरुष स्नेहसे रहित हैं, वीत-रागनिर्विकल्प समाधिमें लीन हैं, वे ही लीलामात्रमें संसारको तैर जाते हैं ॥११२॥

अथ लोभकषायदोषं दर्शयति—

जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११३॥

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न भद्रः भवति ।
लोभासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥११३॥

आगे लोभकषायका दोष कहते हैं—(योगिन्) हे योगी, तू (लोभं) लोभको (परित्यज) छोड़, (लोभः) यह लोभ (भद्रो न भवति) अच्छा नहीं है, क्योंकि (लोभासक्तं) लोभमें फंसे हुए (सकलं जगत्) सम्पूर्ण जगत्को (दुःखं सहमानं) दुःख सहते हुए (पश्य) देख ।

भावार्थ—लोभकषायसे रहित जो परमात्मस्वभाव उससे विपरीत जो इस-भव परभवका लोभ, धन धान्यादिका लोभ उसे तू छोड़ । क्योंकि लोभी जीव भव भवमें दुःख भोगते हैं, ऐसा तू देख रहा है ॥११३॥

अथामुमेव लोभकषायदोषं दृष्टान्तेन समर्थयति—

तलि अहिरणि वरि घणवडणु संडस्सय लुंचोडु ।
लोहहं लग्गिवि हुयवहहं पिक्खु पडंतउ तोडु ॥११४॥

तले अधिकरणं उपरि घनपातनं संदशकलुञ्चनम् ।
लोहं लगित्वा हुतवहस्य पश्य पतत् त्रोटनम् ॥११४॥

आगे लोभकषायके दोषको दृष्टान्तसे पुष्ट करते हैं—(लोहं लगित्वा) जैसे लोहका सम्बन्ध पाकर (हुतवहं) अग्नि (तले) नीचे रक्खे हुए (अधिकरणे उपरि) अहरन (निहाई) के ऊपर (घनपातनं) घनकी चोट, (संदशकुलुंचनं) संडासीसे खेंचना, (पतत् त्रोटनं) चोट लगनेसे टूटना, इत्यादि दुःखोंको सहती है, ऐसा (पश्य) देख ।

भावार्थ—लोहेकी सङ्गतिसे लोकप्रसिद्ध देवता अग्नि दुःख भोगती है, यदि लोहेका सम्बन्ध न करे तो इतने दुःख क्यों भोगे, अर्थात् जैसे अग्नि लोहपिण्डके सम्बन्धसे दुःख भोगती है, उसी तरह लोह अर्थात् लोभके कारणसे परमात्मतत्त्वकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव घनपातके समान नरकादि दुःखोंको बहुत काल तक भोगता है ॥११४॥

अथ स्नेहपरित्यागं कथयति—

जोइय णेहु परिच्चयहि णेहु ण भल्लउ होइ ।
णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११५॥

योगिन् स्नेहं परित्यज स्नेहो न भद्रो भवति ।
स्नेहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥११५॥

आगे स्नेहका त्याग दिखलाते हैं— (योगिन्) हे योगी, रागादि रहित वीत-राग परमात्मपदार्थके ध्यानमें ठहरकर ज्ञानका वैरी (स्नेहं) स्नेह (प्रेम) को (परि-त्यज) छोड़, (स्नेहः) क्योंकि स्नेह (भद्रः न भवति) अच्छा नहीं है, (स्नेहासक्तं) स्नेहमें लगा हुआ (सकलं जगत्) समस्त संसारीजीव (दुःखं सहमानं) अनेक प्रकार शरीर और मनके दुःख सह रहे हैं, उनको तू (पश्य) देख । ये संसारीजीव स्नेह रहित शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित हैं, इसलिए नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं। दुःखका मूल एक देहादिकका स्नेह ही है ।

भावार्थ—यहां भेदाभेदरत्नत्रयरूप मोक्षके मार्गसे विमुख होकर मिथ्यात्व रागादिमें स्नेह नहीं करना, यह सारांश है । क्योंकि ऐसा कहा भी है, कि जबतक यह जीव जगत्से स्नेह न करे, तब तक सुखी है, और जो स्नेह सहित हैं, जिनका मन स्नेहसे बंध रहा है, उनको हर जगह दुःख ही है ॥११५॥

अथ स्नेहदोषं दृष्टान्तेन द्रढयति—

जलसिंचणु पय-णिद्दलणु पुणु पुणु पीलण-दुक्खु ।
णेहहँ लग्गिवि तिल-णियरु जंति सहंतउ पिक्खु ॥११६॥

जलसिञ्चनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखम् ।
स्नेहं लगित्वा तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्य ॥११६॥

आगे स्नेहका दोष दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—(तिलनिकरं) जैसे तिलोंका समूह (स्नेहं लगित्वा) स्नेह (चिकनाई) के सम्बन्धसे (जलसिंचनं) जलसे भीगना, (पादनिर्दलनं) पैरोंसे खुंदना, (यंत्रेण) घानीमें (पुनः पुनः) वार वार (पीडनदुःखं) पिलनेका दुःख (सहमानं) सहता है, उसे (पश्य) देखो ।

भावार्थ—जैसे स्नेह (चिकनाई तेल) के सम्बन्ध होनेसे तिल घानीमें पेरे जाते हैं, उसी तरह जो पंचेन्द्रियके विषयोंमें आसक्त हैं—मोहित हैं वे नाशको प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥११६॥

उक्तं च—

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए ।
वोद्दह-दहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥११७॥

ते चैव धन्याः ते चैव सत्पुरुषाः ते जीवन्तु जीवलोके ।
यौवनद्रहे पतिताः तरन्ति ये चैव लीलया ॥११७॥

इस विषयमें कहा भी है—(ते चैव धन्याः) वे ही धन्य हैं, (ते चैव सत्पुरुषाः) वे ही सज्जन हैं, और (ते) वे ही जीव (जीवलोके) इस जीवलोकमें (जीवंतु) जीवते हैं, (ये चैव) जो (यौवनद्रहे) जवान अवस्थारूपी बड़े भारी तालाव में (पतिताः) पड़े हुए विषय-रसमें नहीं डूबते, (लीलया) लीला (खेल) मात्रमें ही (तरंति) तैर जाते हैं । वे ही प्रशंसा योग्य हैं ।

भावार्थ—यहां विषय-वांछारूप जो स्नेह-जल उसके प्रवेशसे रहित जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नोंसे भरा निज शुद्धात्मभावनारूपी जहाज उससे यौवन अवस्थारूपी महान् तालावको तैर जाते हैं, वे ही सत्पुरुष हैं, वे ही धन्य हैं, यह सारांश जानना, बहुत विस्तारसे क्या लाभ है ॥११७॥

किं वहुना विस्तरेण—

मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिं छंडिवि वहु-विहु रज्जु ।
भिक्ख-भरोडा जीव तुहुँ करहि ण अप्पउ कज्जु ॥११८॥

मोक्षः एव साधितः जिनवरैः त्यक्त्वा बहुविधं राज्यम् ।
भिक्षाभोजन जीव त्वं करोषि न आत्मीयं कार्यम् ॥११८॥

आगे मोक्षका कारण वैराग्यको दृढ़ करते हैं—(जिनवरैः) जिनेश्वरदेवने (बहुविधं) अनेक प्रकारका (राज्यं) राज्यका विभव (त्यक्त्वा) छोड़कर (मोक्ष एव) मोक्षको ही (साधितः) साधन किया, परन्तु (जीव) हे जीव, (भिक्षाभोजन) भिक्षासे भोजन करनेवाला (त्वं) तू (आत्मीयं कार्यं) अपने आत्माका कल्याण भी (न करोषि) नहीं करता ।

भावार्थ—समस्त कर्ममल-कलंकसे रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंका स्थान तथा संसार-अवस्थासे अन्य अवस्थाका होना, वह मोक्ष कहा जाता है, उसी मोक्षको वीतरागदेवने राज्यविभूति छोड़कर सिद्ध किया । राज्यके सात अंग हैं, राजा, मन्त्री, सेना, वगैरः । ये जहां पूर्ण हों, वह उत्कृष्ट राज्य कहलाता है, वह राज्य तीर्थङ्करदेवका है, उसको छोड़नेमें वे तीर्थंकर देरी नहीं करते । लेकिन तू निर्धन होकर आत्म-कल्याण नहीं करता । तू माया-जालको छोड़कर महान् पुरुषोंकी तरह आत्म-कार्य कर । उन महान् पुरुषोंने भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाके वलसे निजस्वरूपको जानकर विनाशीक राज्य छोड़ा, अविनाशी राज्यके लिये उद्यमी हुए । यहांपर ऐसा व्याख्यान समझकर वाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करना, तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर दुर्धर तप करना यह सारांश हुआ ॥११८॥

अथ हे जीव त्वमपि जिनभट्टारकवदष्टकर्मनिर्मूलनं कृत्वा मोक्षं गच्छेति सम्बोधयति—

पावहि दुक्खु महंतु तुहुँ जिय संसारि भमंतु ।
अट्ठ वि कम्मइं णिद्दलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥११९॥

प्राप्नोषि दुःखं महत् त्वं जीव संसारे भ्रमन् ।
अष्टापि कर्माणि निर्दल्य व्रज मोक्षं महान्तम् ॥११९॥

आगें हे जीव, तू भी श्रीजिनराजकी तरह आठ कर्मोंका नाशकर मोक्षका जा, ऐसा समझाते हैं—(जीव) हे जीव, (त्वं) तू (संसारे) संसार-वनमें (भ्रमन्) भटकता हुआ (महद् दुःखं) महान् दुःख (प्राप्नोषि) पावेगा, इसलिए (अष्टापि कर्माणि) ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंको (निर्दल्य) नाश कर, (महांतं मोक्षं) सबमें श्रेष्ठ मोक्षको (व्रज) जा ।

भावार्थ—निश्चयकर संसारसे रहित जो शुद्धात्मा उससे जुदा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव भावरूप पांच तरहके परावर्तनस्वरूप संसार उसमें भटकता हुआ चारों गतियोंके दुःख पावेगा, निगोद राशिमें अनन्तकाल तक रुलेगा । इसलिए आठ कर्मोंका क्षय करके शुद्धात्माकी प्राप्तिके बलसे रागादिकका नाश कर निर्वाणको जा । कैसा है वह निर्वाण, जो निजस्वरूपकी प्राप्ति वही जिसका स्वरूप है, और जो सबमें श्रेष्ठ है । केवलज्ञानादि महान् गुणोंकर सहित है । जिसके समान दूसरा कोई नहीं ॥११९॥

अथ यद्यप्यल्पमपि दुःखं सोढुमसमर्थस्तथापि कर्माणि किमिति करोषीति शिक्षां प्रयच्छति—

जिय अणु मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउ-गइ-दुक्खहं कारणइं कम्मइं कुणहि किं तोइ ॥१२०॥

जीव अणुमात्राण्यपि दुःखानि सोढुं न शक्नोषि पश्य ।
चतुर्गतिदुःखानां कारणानि कर्माणि करोषि किं तथापि ॥१२०॥

आगे जो थोड़े दुःख भी सहनेको असमर्थ है, तो ऐसे काम क्यों करता है, कि जन्मोंसे अनन्तकाल तक दुःख तू भोगे, ऐसी शिक्षा देते हैं—(जीव) हे मूढ़-जीव, तू (अणुमात्राण्यपि) परमाणुमात्र (थोड़े) भी (दुःखानि) दुःख (सोढुं) सहनेको (न शक्नोषि) नहीं समर्थ है, (पश्य) देख (तथापि) तो फिर (चतुर्गतिदुःखानां) चार गतियोंके दुःखके (कारणानि कर्माणि) कारण जो कर्म हैं, (किं करोषि) उनको क्यों करता है ।

भावार्थ—परमात्माकी भावनासे उत्पन्न तत्त्वरूप वीतराग नित्यानन्द परम स्वभाव उससे भिन्न जो नरकादिकके दुःख उनके कारण कर्म ही हैं । जो दुःख तुझे अच्छे नहीं लगते, दुःखोंको अनिष्ट जानता है, तो दुःखके कारण कर्मोंको क्यों उपार्जन

करता है ? मत कर । यहाँ पर ऐसा व्याख्यान जानकर कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रागादि विकल्प-जालोंसे रहित जो निज शुद्धात्माकी भावना वही करनी चाहिए, ऐसा तात्पर्य जानना ।।१२०।।

अथ वहिर्व्यासंगासक्तं जगत् क्षणमप्यात्मानं न चिन्तयतीति प्रतिपादयति—

धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु ।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥१२१॥

धान्धे (?) पतितं सकलं जगत् कर्माणि करोति अज्ञानि ।
मोक्षस्य कारणं एकं क्षणं नव चिन्तयति आत्मानम् ।।१२१।।

आगे बाहरके परिग्रहमें लीन हुए जगत्के प्राणी क्षणमात्र भी आत्माका चिंतवन नहीं करते, ऐसा कहते हैं—(धांधे पतितं) जगत्के धन्धेमें पड़ा हुआ (सकलं जगत्) सब जगत् (अज्ञानि) अज्ञानी हुआ (कर्माणि) ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंको (करोति) करता है, परन्तु (मोक्षस्य कारणं) मोक्षके कारण (आत्मानं) शुद्ध आत्माको (एकं क्षणं) एक क्षण भी (नैव चिंतयति) नहीं चिन्तवन करता ।

भावार्थ—भेदविज्ञानसे रहित ये मूढ प्राणी शुद्धात्माकी भावनासे पराङ्मुख हैं, इसलिए शुभाशुभ कर्मोंका ही बन्ध करता है, और अनन्तज्ञानादिस्वरूप मोक्षका कारण जो वीतराग परमानन्दरूप निजशुद्धात्मा उसका एकक्षण भी विचार नहीं करता । सदा ही आर्त रौद्र ध्यानमें लग रहा है ऐसा सारांश है ।।१२१।।

अथ तमेवार्थं द्रढयति—

जोणि-लक्खइं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्त-कलत्तहिं मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ॥१२२॥

योनिलक्षाणि परिभ्रमति आत्मा दुःखं सहमानः ।
पुत्रकलत्रैः मोहितः यावन्न ज्ञानं महत् ।।१२२।।

आगे उसी बातको दृढ़ करते हैं—(यावत्) जबतक (महत् ज्ञानं न) सबसे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं हैं, तबतक (आत्मा) यह जीव (पुत्रकलत्रैः मोहितः) पुत्र स्त्री आदिकोंसे मोहित हुआ (दुःखंसहमानः) अनेक दुःखोंको सहता हुआ (योनि लक्षाणि) चौरासी लाख योनियोंमें (परिभ्रमति) भटकता फिरता है ।

भावार्थ—यह जीव चौरासीलाख योनियोंमें अनेक तरहके ताप सहता हुआ भटक रहा है, निज परमात्मतत्त्वके ध्यानसे उत्पन्न वीतराग परम आनन्दरूप निर्व्याकुल अतीन्द्रिय सुखसे विमुख जो शरीरके तथा मनके नाना तरहके सुख दुःखोंको सहता हुआ भ्रमण करता है। निज परमात्माकी भावनाके शत्रु जो देहसम्बन्धी माता, पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र-कलत्रादि उनसे मोहित है, तबतक अज्ञानी है, वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानसे रहित है, वह ज्ञान मोक्षका साधन है, ज्ञान ही से मोक्षकी सिद्धि होती है। इसलिये हमेशा ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिये ॥१२२॥

अथ हे जीव गृहपरिजनशरीरादिममत्वं मा कुर्विति संबोधयति—

जीव म जाणहि अप्पणउं घरु परियणु तणु इट्ठु।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं दिट्ठु ॥१२३॥

जीव मा जानीहि आत्मीयं गृहं परिजनं तनुः इष्टम्।
कर्मायत्तं कृत्रिमं आगमे योगिभिः दृष्टम् ॥१२३॥

आगे हे जीव, तू घर परिवार और शरीरादिका ममत्व मत कर ऐसा समझाते हैं—(जीव) हे जीव, तू (गृहं) घर (परिजनं) परिवार (तनुः) शरीर (इष्टं) और मित्रादिकों (आत्मीयं) अपने (मा जानीहि) अपने मत जान, क्योंकि (आगमे) परमागममें (योगिभिः) योगियोंने (दृष्टं) ऐसा दिखलाया है, कि ये (कर्मायत्तं) कर्मोंके आधीन हैं, और (कृत्रिमं) विनाशीक है।

भावार्थ—ये घर वगैरह शुद्ध चेतनस्वभाव अमूर्तीक निज आत्मासे भिन्न जो शुभाशुभ कर्म उसके उदयसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये कर्माधीन हैं, और विनश्वर होनेसे शुद्धात्मद्रव्यसे विपरीत हैं। शुद्धात्मद्रव्य किसीका बनाया हुआ नहीं है, इसलिये अकृत्रिम है, अनादिसिद्ध है, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है। जो टांकीसे गढ़ा हुआ न हो विना ही गढ़ी पुरुषाकार अमूर्तीकमूर्ति है। ऐसे आत्मस्वरूपसे ये देहादिक भिन्न हैं, ऐसा सर्वज्ञकथित परमागममें परमज्ञानके धारी योगीश्वरोंने देखा है। यहांपर पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीर आदि सबको अनित्य जानकर नित्यानन्दरूप निज शुद्धात्म स्वभावमें ठहरकर गृहादिक परद्रव्यमें ममता नहीं करना ॥१२३॥

अथ गृहपरिवारादिचिन्तया मोक्षो न लभ्यत इति निश्चिनोति—

मुक्खु ण पावहि जीव तुहुं घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ॥१२४॥

मोक्षं न प्राप्नोषि जीव त्वं गृहं परिजनं चिन्तयन् ।
ततः वरं चिन्तय तपः एव तपः प्राप्नोषि मोक्षं महान्तम् ॥१२४॥

आगे घर परिवारादिककी चिन्तासे मोक्ष नहीं मिलती, ऐसा निश्चय करते हैं—(जीव) हे जीव, (त्वं) तू (गृहं परिजनं) घर परिवार वगैरहकी (चिन्तयन्) चिन्ता करता हुआ (मोक्षं) मोक्ष (न प्राप्नोति) कभी नहीं पा सकता, (ततः) इसलिये (वरं) उत्तम (तपः एव तपः) तपका ही बारम्बार (चिंतय) चिन्तवन कर क्योंकि तपसे ही (महांतं मोक्षं) श्रेष्ठ मोक्ष सुखको (प्राप्नोषि) पा सकेगा ।

भावार्थ—तू गृहादि परवस्तुओंको चिन्तवन करता हुआ कर्म-कलङ्क रहित केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित मोक्षको नहीं पावेगा, और मोक्षका मार्ग जो निश्चय-व्यवहार-रत्नत्रय उसको भी नहीं पावेगा । इन गृहादिके चिन्तवनसे भव-वनमें भ्रमण करेगा । इसलिये इनका चिन्तवन तो मत कर, लेकिन बारह प्रकारके तपका चिंतवन कर । इसीसे मोक्ष पायेगा । वह मोक्ष तीर्थङ्कर परमदेवाधिदेव महापुरुषोंसे आश्रित है, इसलिये सबसे उत्कृष्ट है । मोक्षके समान अन्य पदार्थ नहीं । यहां परद्रव्यकी इच्छाको रोककर वीतराग परम आनन्दरूप जो परमात्मस्वरूप उसके ध्यानमें ठहरकर घर परिवारादिकका ममत्व छोड़, एक केवल निजस्वरूपकी भावना करना यह तात्पर्य है । आत्म-भावनाके सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है ॥१२४॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति—

मारिवि जीवहं लक्खडा जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त-कलत्तहं कारणइं तं तुहुँ एक्कु सहीसि ॥१२५॥

मारयित्वा जीवानां लक्षाणि यत् जीव पापं करिष्यसि ।
पुत्रकलत्राणां कारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥१२५॥

आगे जीवहिंसाका दोष दिखलाते हैं—(जीवानां लक्षाणि) लाखों जीवोंको (मारयित्वा) मारकर (जीव) हे जीव, (यत्) जो तू (पापं करिष्यसि) पाप करता है, (पुत्रकलत्राणां) पुत्र स्त्री वगैरहके (कारणेन) कारण (तत् त्वं) उसके फलको तू (एक) अकेला (सहिष्यसे) सहेगा ।

भावार्थ—हे जीव, तू पुत्रादि कुटुम्बके लिये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहादि अनेक प्रकारके पाप करता है, तथा अन्तरङ्गमें रागादि विकल्प रहित ज्ञानादि शुद्धचैतन्य प्राणोंका घात करता है, अपने प्राण रागादिक मैलसे मैले करता है, और वाह्यमें अनेक जीवोंकी हिंसा करके अशुभ कर्मोंका उपार्जन करता है, उनका फल तू नरकादि गतिमें अकेला सहेगा। कुटुम्बके लोग कोई भी तेरे दुःखके वटानेवाले नहीं हैं, तू ही सहेगा। श्रीजिनशासनमें हिंसा दो तरहकी है। एक आत्मघात, दूसरी परघात। उनमेंसे जो मिथ्यात्व रागादिकके निमित्तसे देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप जो तीक्ष्ण शस्त्र उससे अपने ज्ञानादि प्राणोंका हनना, वह निश्चयहिंसा है, रागादिककी उत्पत्ति वह निश्चय हिंसा है। क्योंकि इन विभावोंसे निज भाव घाते जाते हैं। ऐसा जानकर रागादि परिणामरूप निश्चयहिंसा त्यागना। यही निश्चयहिंसा आत्मघात है। और प्रमादके योगसे अविवेकी होकर एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री जीवोंका घात करना वह परघात है। जब इसने परजीवका घात विचारा, तव इसके परिणाम मलिन हुए, और भावोंकी मलिनता ही निश्चयहिंसा है, इसलिये परघातरूप हिंसा आत्मघातका कारण है।

जो हिंसक जीव है, वह परजीवोंका घातकर अपना घात करता है। यह स्वदया परदयाका स्वरूप जानकर हिंसा सर्वथा त्यागना। हिंसाके समान अन्य पाप नहीं है। निश्चयहिंसाका स्वरूप सिद्धान्तमें दूसरी जगह ऐसा कहा है—जो रागादिकका अभाव वही शास्त्रमें अहिंसा कही है, और रागादिककी उत्पत्ति वही हिंसा है, ऐसा कथन जिनशासनमें जिनेश्वरदेवने दिखलाया है। अर्थात् जो रागादिकका अभाव वह स्वदया और जो प्रमादरहित विवेकरूप करुणाभाव वह परदया है। यह स्वदया परदया धर्मका मूलकारण है। जो पापी हिंसक होगा उसके परिणाम निर्मल नहीं हो सकते, ऐसा निश्चय है, परजीव घात तो उसकी आयुके अनुसार है, परन्तु इसने जब परघात विचारा, तव आत्मघाती हो चुका ॥१२५॥

अथ तमेव हिंसादोषं द्रढयति—

मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुं दुक्खु करीसि।
तं तह पासि अणंत-गुणु अवसइं जीव लहीसि ॥१२६॥

मारयित्वा चूर्णयित्वा जीवान् यत् त्वं दुःखं करिष्यसि।
तत्तदपेक्षया अनन्तगुणं अवश्यमेव जीव लभसे ॥१२६॥

आगे उसी हिंसाके दोषको फिर निन्दते हैं, और दयाधर्मको दृढ़ करते हैं— (जीव) हे जीव, (यत् त्वं) जो तू (जीवान्) परजीवोंको (मारयित्वा) मारकर (चूरयित्वा) चूरकर (दुःखं करिष्यसि) दुःखी करता है, (तत्) उसका फल (तदपेक्षया) उसकी अपेक्षा (अनंतगुणं) अनन्तगुणा (अवश्यमेव) निश्चयसे (लभसे) पावेगा।

भावार्थ—निर्दयी होकर अन्य जीवोंके प्राण हरना, परजीवोंका शस्त्रादिकसे घात करना, वह मारना है, और हाथ पैर आदिकसे, तथा लाठी आदिसे परजीवोंका काटना, एकदेश मारना वह चूरना है, यह हिंसा ही महा पापका मूल है, निश्चयनयसे अभ्यन्तरमें मिथ्यात्व रागादिरूप तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शुद्धात्मानुभूतिरूप अपने निश्चय प्राणोंको हत रहा है, क्लेशरूप करता है, उसका फल अनंत दुःख अवश्य सहेगा। इसलिए हे मूढ़ जीव, परजीवोंको मत मारे, और मत चूरे, तथा अपने भाव हिंसारूप मत कर, उज्ज्वल भाव रख, जो तू जीवोंको दुःख देगा, तो निश्चयसे अनन्तगुणा दुःख पावेगा।

यहां सारांश यह है—जो यह जीव मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत हुआ पहले तो अपने भावप्राणोंका नाश करता है, परजीवका घात तो हो या न हो, परजीवका घात तो उसकी आयु पूर्ण हो गई हो, तब होता है, अन्यथा नहीं; परन्तु इसने जब परका घात विचारा, तब यह आत्मघाती हो चुका। जैसे गरम लोहेका गोला पकड़नेसे अपने हाथ तो निस्सन्देह जल जाते हैं। इससे यह निश्चय हुआ, कि जो परजीवों पर खोटे भाव करता है, वह आत्मघाती है। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जो आत्मा कषायवाला है, निर्दयी है, वह पहले तो आप ही अपनेसे अपना घात करता है, इसलिये आत्मघाती है, पीछे परजीवका घात होवे, या न होवे। जीवकी आयु बाकी रही हो, तो यह नहीं मार सकता, परन्तु इसने मारनेके भाव किये, इस कारण निस्सन्देह हिंसक हो चुका, और जब हिंसाके भाव हुए, तब यह कषायवान् हुआ। कषायवान् होना ही आत्मघात है ॥१२६॥

अथ जीववधेन नरकगतिस्तद्रक्षणे स्वर्गो भवतीति निश्चिनोति—

जीव वहंतहं णरय-गइ अभय-पदाणें सग्गु।
वे पह जवला दरिसिया जहिं रुच्चइ तहिं लग्गु ॥१२७॥

जीवं घ्नतां नरकगतिः अभयप्रदानेन स्वर्गः ।
द्वौ पन्थानौ समीपौ दर्शितौ यत्र रोचते तत्र लग ॥१२७॥

आगे जीवहिंसाका फल नरकगति है, और रक्षा करनेसे स्वर्ग होता है, ऐसा निश्चय करते हैं—(जीवं घ्नतां) जीवोंको मारनेवालोंकी (नरकगतिः) नरकगति होती है, (अभयप्रदानेन) अभयदान देनेसे (स्वर्गः) स्वर्ग होता है, (द्वौ पन्थानौ) ये दोनों मार्ग (समीपे) अपने पास (दर्शितौ) दिखलाये हैं, (यत्र) जिसमें (रोचते) तेरी रुचि हो, (तत्र) उसीमें (लग) तू लग जा ।

भावार्थ—निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणामरूप निजघात और व्यवहारनयकर परजीवोंके इन्द्री, बल, आयु, श्वासोच्छ्वासरूप प्राणोंका विनाश उसरूप परप्राणघात सो प्राणघातियोंके नरकगति होती है । हिंसक जीव नरक ही के पात्र हैं । निश्चयनयकर वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन परिणामरूप जो निजभावोंका अभयदान निज जीवकी रक्षा और व्यवहारनयकर परप्राणियोंके प्राणोंकी रक्षारूप अभयदान यह स्वदया परदयास्वरूप अभयदान है, उसके करनेवालोंके स्वर्ग मोक्ष होता है, इसमें सन्देह नहीं है । इनमेंसे जो अच्छा मालूम पड़े उसे करो । ऐसी श्रीगुरुने आज्ञा की । ऐसा कथन सुनकर कोई अज्ञानी जीव तर्क करता है, कि जो ये प्राण जीवसे जुदे हैं, कि नहीं ? यदि जीवसे जुदे नहीं हैं, तो जैसे जीवका नाश नहीं है, वैसे प्राणोंका भी नाश नहीं हो सकता ? अगर जुदे हैं, अर्थात् जीवसे सर्वथा भिन्न हैं, तो इन प्राणोंका नाश नहीं हो सकता । इसप्रकारसे जीव हिंसा है ही नहीं, तुम जीवहिंसामें पाप क्यों मानते हो ?

इसका समाधान—जो ये इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास और प्राण जीवसे किसी नयकर अभिन्न हैं, भिन्न नहीं हैं, किसी नयसे भिन्न हैं । ये दोनों नय प्रामाणिक हैं । अब अभेद कहते हैं, सो सुनो । अपने प्राणोंके होनेपर जो व्यवहारनयकर दुःखकी उत्पत्ति वह हिंसा है, उसीसे पापका बन्ध होता है । और जो इन प्राणोंको सर्वथा जुदे ही मानें, देह और आत्माका सर्वथा भेद ही जानें, तो जैसे परके शरीरका घात होनेपर दुःख नहीं होता है, वैसे अपने देहके घातमें भी दुःख न होना चाहिये, इसलिये व्यवहारनयकर जीवका और देहका एकत्व दीखता है, परन्तु निश्चयसे एकत्व नहीं है । यदि निश्चयसे एकपना होवे, तो देहके विनाश होनेसे जीवका विनाश

हो जावे, सो जीव अविनाशी है। जीव इस देहको छोड़कर परभवको जाता है, तब देह नहीं जाती है।

इसलिये जीव और देहमें भेद भी है। यद्यपि निश्चयनयकर भेद है, तो भी व्यवहारनयकर प्राणोंके चले जानेसे जीव दुःखी होता है, सो जीवको दुःखी करना यही हिंसा है, और हिंसासे पापका बन्ध होना है। निश्चयनयकर जीवका घात नहीं होता, यह तूने कहा, वह सत्य है, परन्तु व्यवहारनयकर प्राणवियोगरूप हिंसा है ही, और व्यवहारनयकर ही पाप है, और पापका फल नरकादिके दुःख हैं, वे भी व्यवहारनयकर ही हैं। यदि तुझे नरकके दुःख अच्छे लगते हैं, तो हिंसा कर, और नरक का भय है, तो हिंसा मत कर। ऐसे व्याख्यानसे अज्ञानी जीवोंका संशय मेटा।

अथ मोक्षमार्गे रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि।
सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥१२८॥

मूढ सकलमपि कृत्रिमं भ्रान्तः मा तुषं कण्डय।
शिवपथे निर्मले कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्यज ॥१२८॥

आगे श्रीगुरु यह शिक्षा देते हैं, कि तू मोक्ष-मार्गमें प्रीति कर—(मूढ) हे मूढ जीव, (सकलमपि) शुद्धात्माके सिवाय अन्य सब विषयादिक (कृत्रिमं) विनाशवाले हैं, तू (भ्रांतः) भ्रम (भूल) से (तुषंमा कंडय) भूसेका खण्डन मत कर। तू (निर्मले) परमपवित्र (शिवपथे) मोक्ष-मार्गमें (रतिं) प्रीति (कुरु) कर, (गृहं परिजनं) और मोक्ष-मार्गका उद्यमी होके घर परिवार आदिको (लघु) शीघ्र ही (त्यज) छोड़।

भावार्थ—हे मूढ, शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्य सब पंचेन्द्री विषयरूप पदार्थ नाशवान् हैं, तू भ्रमसे भूला हुआ असार भूसेके कूटनेकी तरहकी कार्य न कर, इस सामग्रीको विनाशीक जानकर शीघ्र ही मोक्ष-मार्गके घातक घर परिवार आदिकको छोड़कर, मोक्ष-मार्गका उद्यमी होके, ज्ञानदर्शनस्वभावको रखनेवाले शुद्धात्माकी प्राप्ति का उपाय जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप मोक्षका मार्ग उसमें प्रीतिकर। जो मोक्ष-मार्ग रागादिकसे रहित होनेसे महा निर्मल है ॥१२८॥

अथ पुनरप्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

जोइय सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीविं जंतिं कुडि ण गय इहु पडिछंदा जोइ ॥१२९॥

योगिन् सकलमपि कृत्रिमं निःकृत्रिमं न किमपि ।
जीवेन यातेन देहो न गतः इमं दृष्टान्तं पश्य ॥१२९॥

आगे फिर भी अनित्यानुप्रेक्षाका व्याख्यान करते हैं—(योगिन्) हे योगी, (सकलमपि) सभी (कृत्रिमं) विनश्वर हैं, (निःकृत्रिमं) अकृत्रिम (किमपि) कोई भी वस्तु (न) नहीं है, (जीवेन याता) जीवके जानेपर उसके साथ (देहो न गतः) शरीर भी नहीं जाता, (इमं दृष्टांतं) इस दृष्टान्तको (पश्य) प्रत्यक्ष देखो ।

भावार्थ—हे योगी, टंकोत्कीर्ण (अघटित घाट-विना टांकीका गढ़ा) अमूर्तीक पुरुषाकार आत्मा केवल ज्ञायक स्वभाव अकृत्रिम वीतराग परमानन्दस्वरूप, उससे जुदे जो मन वचन कायके व्यापार उनको आदि ले सभी कार्य पदार्थ विनश्वर हैं । इस संसारमें देहादि समस्त सामग्री अविनाशी नहीं है, जैसा शुद्ध बुद्ध परमात्मा अकृत्रिम है, वैसा देहादिमेंसे कोई भी नहीं है, सब क्षणभंगुर हैं । शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे रहित जो मिथ्यात्व विषयकषाय हैं उनसे आसक्त होके जीवने जो कर्म उपार्जन किये हैं, उन कर्मोंसे जब यह जीव परभवमें गमन करता है, तब शरीर भी साथ नहीं जाता । इसलिये इस लोकमें इन देहादिक सबको विनश्वर जानकर देहादिककी ममता छोड़ना चाहिये, और सकल विभाव रहित निज शुद्धात्म पदार्थकी भावना करनी चाहिये ॥१२९॥

अथ तपोधनं प्रत्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु ।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥१३०॥

देवकुलं देवोऽपि शास्त्रं गुरुः तीर्थमपि वेदोऽपि काव्यम् ।
वृक्षः यद् दृश्यते कुसुमितं इन्धनं भविष्यति सर्वम् ॥१३०॥

आगे मुनिराजोंको देवल आदि सभी सामग्री अनित्य दिखलाते हुए अध्रुवानुप्रेक्षाको कहते हैं—(देवकुलं) अरहन्तदेवकी प्रतिमाका स्थान जिनालय (देवोऽपि) श्रीजिनेन्द्रदेव (शास्त्रं) जैनशास्त्र (गुरुः) दीक्षा देनेवाले गुरु (तीर्थमपि) संसार-सागरसे तरनेके कारण परमतपस्वियोंके स्थान सम्मेदशिखर आदि (वेदोऽपि)

द्वादशाङ्गरूप सिद्धान्त (काव्यं) गद्य-पद्यरूप रचना इत्यादि (यद् वस्तु कुसुमितं) जो वस्तु अच्छी या बुरी दीखनेमें आती हैं, (सर्वं) सब (इंधनं) कालरूपी अग्निका ईन्धन (भविष्यति) हो जावेगो।

भावार्थ—निर्दोषी परमात्मा श्रीअरहन्तदेव उनको प्रतिमाके पधरानेके लिये जो गृहस्थोंने देवालय (जैनमन्दिर) बनाया है, वह विनाशीक है, अनन्त ज्ञानादिगुण-रूप श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा धर्मकी प्रभावनाके अर्थ भव्यजीवोंने देवालयमें स्थापन की है, उसे देव कहते हैं, वह भी विनश्वर है। यह तो जिनमन्दिर और जिनप्रतिमाका निरूपण किया, इसके सिवाय अन्य देवोंके मन्दिर और अन्यदेवकी प्रतिमायें सब ही विनश्वर हैं, वीतरागनिर्विकल्प जो आत्मतत्त्व उसको आदि ले जीव अजीवादि सकल पदार्थ उनका निरूपण करनेवाला जो जैनशास्त्र वह भी यद्यपि अनादि प्रवृत्तिकी अपेक्षा नित्य है, तो भी वक्ता श्रोता पुस्तकादिककी अपेक्षा विनश्वर ही है, और जैन सिवाय जो सांख्य पातंजल आदि परशास्त्र हैं, वे सब विनाशीक हैं।

जिनदीक्षाके देनेवाले लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानादि गुणोंकर पूर्ण पर-मात्माके रोकनेवाला जो मिथ्यात्व रागादि परिणत महा अज्ञानरूप अन्धकार उसके दूर करनेके लिये सूर्यके समान जिनके वचनरूपी किरणोंसे मोहान्धकार दूर हो गया है, ऐसे महामुनि गुरु हैं, वे भी विनश्वर हैं, और उनके आचरणसे विपरीत जो अज्ञान तापस मिथ्यागुरु वे भी क्षणभंगुर हैं। ससार-समुद्रके तरनेका कारण जो निज शुद्धात्म-तत्त्व उसकी भावनारूप जो निश्चयतीर्थ उसमें लीन परमतपोधनका निवासस्थान सम्मेदशिखर गिरनार आदि तीर्थ वे भी विनश्वर हैं, और जिनतीर्थके सिवाय जो पर यतियोंका निवास वे परतीर्थ वे भी विनाशीक हैं।

निर्दोष परमात्मा जो सर्वज्ञ वीतरागदेव उनकर उपदेश किया गया जो द्वादशांग सिद्धान्त वह वेद है, वह यद्यपि सदा सनातन है, तो भी क्षेत्रकी अपेक्षा विनश्वर है, किसी समय है, किसी क्षेत्रमें पाया जाता है, किसी समय नहीं पाया जाता, भरतक्षेत्र ऐरावत क्षेत्रमें कभी प्रगट हो जाता है, कभी विलय हो जाता है, और महाविदेहक्षेत्रमें यद्यपि प्रवाहकर सदा शाश्वता है, तो भी वक्ता श्रोताव्याख्यानकी अपेक्षा विनश्वर है, वे ही वक्ता श्रोता हमेशा नहीं पाये जाते, इसलिये विनश्वर है, और पर मतियोंकर कहा गया जो हिंसारूप वेद वह भी विनश्वर है। शुद्ध जीवादि पदार्थोंका वर्णन करनेवाली संस्कृत प्राकृत छटारूप गद्य व छन्दबन्धरूप पद्य उस स्वरूप

और जिसमें विचित्र कथायें हैं, ऐसे सुन्दर काव्य कहे जाते हैं, वे भी विनश्वर हैं। इत्यादि जो-जो वस्तु सुन्दर और खोटे कवियोंकर प्रकाशित खोटे काव्य भी विनश्वर हैं। इत्यादि जो-जो वस्तु सुन्दर और असुन्दर दीखती हैं, वे सब कालरूपी अग्निका ईंधन हो जावेंगी।

तात्पर्य यह है, कि सब भस्म हो जावेंगी, और परमात्माकी भावनासे रहित जो जीव उसने उपार्जन किया जो वनस्पतिनामकर्म उसके उदयसे वृक्ष हुआ, सो वृक्षोंके समूह जो फूले-फले दीखते हैं, वे सब ईंधन हो जावेंगे। संसारका सब ठाठ क्षणभंगुर है, ऐसा जानकर पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें मोह नहीं करना, विषयका राग सर्वथा त्यागना योग्य है। प्रथम अवस्थामें यद्यपि धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिका निमित्त जिनमन्दिर, जिन-प्रतिमा, जिनधर्म तथा जैनधर्मी इनमें प्रेम करना योग्य है, तो भी शुद्धात्माकी भावनाके समय यह धर्मानुराग भी नीचे दरजेका गिना जाता है, वहांपर केवल वीतराग-भाव ही है ॥१३०॥

अथ शुद्धात्मद्रव्यादन्यत्सर्वमध्रुवमिति प्रकटयति—

एक्कु जि मेल्लिवि बंभु परु भुवणु वि एहु असेसु।
पुहविहिं णिम्मिउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु ॥१३१॥

एवमेव मुक्त्वा ब्रह्म परं भुवनमपि एतद् अशेषम्।
पृथिव्यां निर्मापितं भंगुरं एतद् बुध्यस्व विशेषम् ॥१३१॥

आगे शुद्धात्मस्वरूपसे अन्य जो सामग्री है, वह सभी विनश्वर हैं, ऐसा व्याख्यान करते हैं—(एकं परं ब्रह्म एव) एक शुद्धजीव द्रव्यरूप परब्रह्मको (मुक्त्वा) छोड़-कर (पृथिव्यां) इस लोकमें (इदं अशेषं भुवनमपि निर्मापितं) इस समस्त लोकके पदार्थोंकी रचना है, वह सब (भंगुरं) विनाशीक है, (एतद् विशेषं) इस विशेष बातको तू (बुध्यस्व) जान।

भावार्थ—शुद्धसंग्रहनयकर समस्त जीव-राशि एक है। जैसे नाना प्रकारके वृक्षोंकर भरा हुआ वन एक कहा जाता है, उसी तरह नाना प्रकारके जीव-जाति करके एक कहे जाते हैं। वे सब जीव अविनाशी हैं, और सब देहादिकी रचना विनाशीक दीखती है। शुभ-अशुभ कर्मकर जो देहादिक इस जगत्में रची गई है, वह सब विनाशीक हैं, हे प्रभाकरभट्ट, ऐसा विशेष तू जान, देहादिको अनित्य जान और

जीवोंको नित्य जान। निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाव परब्रह्म (शुद्ध जीवतत्त्व) उससे भिन्न जो पांच इन्द्रियोंका विषयवन वह क्षणभंगुर जानो ॥१३१॥

अथ पूर्वोक्तमध्रुवत्वं ज्ञात्वा धनयौवनयोस्तृष्णा न कर्तव्येति कथयति—

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ।
तें कारणिं वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥१३२॥

ये दृष्टाः सूर्योद्गमने ते अस्तमने न दृष्टाः।
तेन कारणेन वत्स धर्मं कुरु धने यौवने का तृष्णा ॥१३२॥

आगे पूर्वोक्त विषय-सामग्रीको अनित्य जानकर धन यौवन और विषयोंमें तृष्णा नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—(वत्स) हे शिष्य, (ये) जो कुछ पदार्थ (सूर्योद्गमने) सूर्यके उदय होनेपर (दृष्टाः) देखे थे, (ते) वे (अस्तमने) सूर्यके अस्त होने के समय (न दृष्टाः) नहीं देखे जाते, नष्ट हो जाते हैं (तेन कारणेन) इस कारण तू (धर्मं) धर्मको (कुरु) पालन कर (धने यौवने) धन और यौवन अवस्थामें (का तृष्णा) क्या तृष्णा कर रहा है।

भावार्थ—धन, धान्य, मनुष्य, पशु, आदिक पदार्थ जो सवेरेके समय देखे थे, वे सांझके समयमें नहीं दीखते, नष्ट हो जाते हैं, ऐसा जगत्का ठाठ विनाशीक जानकर इन पदार्थोंकी तृष्णा छोड़, और श्रावकका तथा यतीका धर्म स्वीकार कर, धन यौवनमें क्या तृष्णा कर रहा है। ये तो जलके ववूलेके समान क्षणभंगुर हैं। यहां कोई प्रश्न करे, कि गृहस्थी धनकी तृष्णा न करे तो क्या करे?

उसका उत्तर—निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके आराधक जो यति उनकी सब तरह गृहस्थको सेवा करनी चाहिये, चार प्रकारका दान देना, धर्मकी इच्छा रखनी, धनकी इच्छा नहीं करनी। जो किसी दिन प्रत्याख्यानकी चौकड़ीके उदयसे श्रावकके व्रतमें भी रहे, तो देव पूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, दान, शील, उपवासादि अणुव्रतरूप धर्म करे, और जो बड़ी शक्ति होवे, तो सब परिग्रह त्यागकर यतीके व्रत धारण करके निर्विकल्प परमसमाधिमें रहे। यतीको सर्वथा धनका त्याग और गृहस्थको धनका प्रमाण करना योग्य है। विवेकी गृहस्थ धनकी तृष्णा न करें। धन यौवन असार हैं, यौवन अवस्थामें विषय तृष्णा न करें, विषयका राग छोड़कर विषयोंमें

पराङ्मुख जो वीतराग निजानन्द एक अखण्ड स्वभावरूप शुद्धात्मा उसमें लीन होकर हमेशा भावना करनी चाहिए ।।१३२।।

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति—

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ रुक्खें चम्ममएण ।
खज्जिवि जर-उद्देहियए णरइ पडिव्वउ तेण ॥१३३॥

धर्मो न संचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।
खादयित्वा जरोद्रेहिकया नरके पतितव्यं तेन ।।१३३।।

आगे जो धर्मसे रहित हैं, और तपश्चरण भी नहीं करते हैं, उनका मनुष्य-जन्म वृथा है, ऐसा कहते हैं—(येन) जिसने (चर्ममयेन वृक्षेण) मनुष्य शरीररूपो चर्ममयी वृक्षको पाकर उससे (धर्मः न कृतः) धर्म नहीं किया, (तपो न कृतं) और तप भी नहीं किया, उसका शरीर (जरोद्रेहिकया खादयित्वा) बुढ़ापारूपी दीमकके कीड़े-कर खाया जायगा, फिर (तेन) उसको मरणकर (नरके) नरकमें (पतितव्यं) पड़ना पड़ेगा ।

भावार्थ—गृहस्थ अवस्थामें जिसने सम्यक्त्वपूर्वक दान, शील, पूजा, उपवासादिरूप गृहस्थका धर्म नहीं किया, दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाके भेदरूप श्रावकका धर्म नहीं धारण किया, तथा मुनि होकर सब पदार्थोंकी इच्छाका निरोध कर अनशन वगैरः बारह प्रकारका तप नहीं किया, तपश्चरणके बलसे शुद्धात्मा के ध्यानमें ठहरकर निरन्तर भावना नहीं की, मनुष्यके शरीररूप चर्ममयी वृक्षको पाकर यतीका व श्रावकका धर्म नहीं किया, उनका शरीर वृद्धावस्थारूपी दीमकके कीड़े खावेंगे, फिर वह नरकमें जावेगा । इसलिये गृहस्थको तो यह योग्य है, कि निश्चय-रत्नत्रयकी श्रद्धाकर निजस्वरूप उपादेय जान, व्यवहार रत्नत्रयरूप श्रावकका धर्म पालना । और यतीको यह योग्य है, कि निश्चयरत्नत्रयमें ठहरकर व्यवहाररत्नत्रयके बलसे महातप करना । अगर यतीका व श्रावकका धर्म नहीं बना, अणुव्रत नहीं पाले, तो महा दुर्लभ मनुष्य-देहका पाना निष्फल है, उससे कुछ फायदा नहीं ।।१३३।।

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परमभक्तिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

अरि जिय जिण-पइ भत्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तिं बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ संसारि ॥१३४॥

अरे जीव जिनपदे भक्तिं कुरु सुखं स्वजनं अपहर ।
तेन पित्रापि कार्यं नैव यः पातयति संसारे ॥१३४॥

आगे श्रीगुरु शिष्यको यह शिक्षा देते हैं, कि तू मुनिराजके चरणारविन्दोंकी परमभक्ति कर, (अरे जीव) हे भव्य जीव, तू (जिनपदे) जिनपदमें (भक्तिं कुरु) भक्तिकर, और जिनेश्वरके कहे हुए जिनधर्ममें प्रीति कर, (सुखे) संसार सुखके निमित्त-कारण (स्वजनं) जो अपने कुटुम्बके जन उनको (अपहर) त्याग, अन्यकी तो बात क्या है ? (तेन पित्रापि नैव कार्यं) उस महास्नेहरूप पितासे भी कुछ काम नहीं है, (यः) जो (संसारे) संसार-समुद्रमें इस जीवको (पातयति) पटक देवे ।

भावार्थ—हे आत्माराम, अनादिकालसे दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ राग-द्वेष मोहरहित शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म, उनमें भी छह आवश्यकरूप यतीका धर्म, तथा दान पूजादि श्रावकका धर्म, यह शुभाचाररूप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीति कर । इस धर्मसे विमुख जो अपने कुलका मनुष्य उसे छोड़, और इस धर्मके सन्मुख जो पर कुटुम्बका भी मनुष्य हो उससे प्रीति कर । तात्पर्य यह है, कि य जीव जैसे विषय-सुखसे प्रीति करता है, वैसे जो जिनधर्मसे करे तो संसारमें नहीं भटके । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि जैसे विषयोंके कारणोंमें यह जीव बारम्बार प्रेम करता है, वैसे जो जिनधर्ममें करे, तो संसारमें भ्रमण न करे ॥१३४॥

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मा वञ्चित इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

जेण ण चिण्णउ तव-यरणु णिम्मलु चित्तु करेवि ।
अप्पा वंचिउ तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि ॥१३५॥

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा ।
आत्मा वञ्चितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ॥१३५॥

आगे जिसने चित्तकी शुद्धता करके तपश्चरण नहीं किया, उसने अपना आत्मा ठग लिया, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—(येन) जिस जीवने (तपश्चरणं) वाह्याभ्यन्तर तप (न चीर्णं) नहीं किया, (निर्मलं चित्तं) महा निर्मल चित्त

(कृत्वा) करके (तेन) उसने (मनुष्यजन्म) मनुष्यजन्मको (लब्ध्वा) पाकर (परं) केवल (आत्मा वंचितः) अपना आत्मा ठग लिया ।

भावार्थ—महान् दुर्लभ इस मनुष्य-देहको पाकर जिसने विषयकषाय सेवन किये और क्रोधादिरहित वीतराग चिदानन्द सुखरूपी अमृतकर प्राप्त अपना निर्मल चित्त करके अनशनादि तप न किया, वह आत्मघाती है, अपने आत्माका ठगनेवाला है । एकेन्द्री पर्यायसे विकलत्रय होना दुर्लभ है, विकलत्रयसे असैनी पंचेन्द्री होना, असैनी पंचेन्द्रियसे सैनी होना, सैनी तिर्यञ्चमे मनुष्य होना दुर्लभ है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घ आयु, सतसङ्ग धर्मश्रवण, धर्मका धारण और उसे जन्मपर्यन्त निवाहना ये सब बातें दुर्लभ हैं, सबसे दुर्लभ (कठिन) आत्मज्ञान है, जिससे कि चित्त शुद्ध होता है । ऐसी महादुर्लभ मनुष्यदेह पाकर तपश्चरण अङ्गीकार करके निर्विकल्प समाधिके बलसे रागादिका त्याग कर परिणाम निर्मल करने चाहिये, जिन्होंने चित्त को निर्मल नहीं किया, वे आत्माको ठगनेवाले हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि चित्तके बंधनेसे यह जीव कर्मोंसे बंधता है । जिनका चित्त परिग्रहसे धन धान्यादिकमें आसक्त हुआ, वे ही कर्मबन्धनसे बन्धते हैं, और जिनका चित्त परिग्रहसे छूटा आशा (तृष्णा) से अलग हुआ, वे ही मुक्त हुए । इसमें सन्देह नहीं है । यह आत्मा निर्मल स्वभाव है, सो चित्तके मैले होनेसे मैला होता है ॥१३५॥

अथ पञ्चेन्द्रियविजयं दर्शयति—

ए पंचिंदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिं संसारि ॥१३६॥

एते पञ्चेन्द्रियकरभकाः जीव मुक्तान् मा चारय ।
चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पातयन्ति संसारे ॥१३६॥

आगे पांच इन्द्रियोंका जीतना दिखलाते हैं—(एते) ये प्रत्यक्ष (पंचेन्द्रियकरभकाः) पांच इन्द्रियरूपी ऊंट हैं, उनको (स्वेच्छया) अपनी इच्छासे (मा चारय) मत चरने दे, क्योंकि (अशेषं) सम्पूर्ण (विषयवनं) विषय-वनको (चरित्वा) चरके (पुन) फिर ये (संसारे) संसारमें ही (पातयंति) पटक देंगे ।

भावार्थ—ये पांचों इन्द्री अतीन्द्रिय-सुखके आस्वादनरूप परमात्मामें पराङ्मुख हैं, उनको हे मूढ़ जीव, तू शुद्धात्माकी भावनासे पराङ्मुख होकर उनको स्वच्छन्द मतकर, अपने वशमें रख, ये तुझे संसारमें पटक देंगे, इसलिये इनका विषयोंसे रोक

लौटा। संसारसे रहित जो शुद्ध आत्मा उससे उलटा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव-रूप पांच प्रकारका संसार उसमें ये पंचेन्द्रोरूपी ऊंट स्वच्छन्द हुए विषय-वनको चरके जगतके जीवोंको जगतमें ही पटक देंगे, यह तात्पर्य जानना ॥१३६॥

अथ ध्यानवैषम्यं कथयति—

जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ।
इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥१३७॥

योगिन् विषमा योगगतिः मनः संस्थापयितुं न याति।
इन्द्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥१३७॥

आगे ध्यानकी कठिनता दिखलाते हैं—(योगिन्) हे योगी, (योगगतिः) ध्यानकी गति (विषमा) महाविषम है, क्योंकि (मनः) चित्तरूपी वन्दर चपल होनेसे (संस्थापयितुं न यति) निज शुद्धात्मामें स्थिरताको नहीं प्राप्त होता। क्योंकि (इन्द्रिय-विषयेषु एव) इन्द्रियके विषयोंमें ही (सुखानि) सुख मान रहा है, इसलिये (तत्र एव) उन्हीं विषयोंमें (पुनः पुनः) फिर-फिर अर्थात् बार-बार (याति) जाता है।

भावार्थ—वीतराग परम आनन्द समरसी भावरूप अतीन्द्रिय सुखसे रहित जो यह संसारी जीव है, उसका मन अनादिकालकी अविद्याकी वासनामें वस रहा है, इसलिये पंचेन्द्रियोंके विषय-सुखोंमें आसक्त है, इन जगत्के जीवोंका मन बारम्बार विषय-सुखोंमें जाता है, और निजस्वरूपमें नहीं लगता है, इसलिये ध्यानकी गति विषम (कठिन) है ॥१३७॥

अथ स्थलसंख्याग्राह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु।
होयवि पंचहं वाहिरउ झायंतउ परमत्थु ॥१३७*५॥

स योगी यः पालयति (?) दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्।
भूत्वा पञ्चभ्यः वाह्यः ध्यायन् परमार्थम् ॥१३७*५॥

आगे स्थल-संख्याके वाह्य जो प्रक्षेपक दोहे हैं, उनको कहते हैं—(स योगी) वही ध्यानी है, (यः) जो (पंचभ्यः वाह्यः) पंचेन्द्रियोंसे वाहर (अलग) (भूत्वा) होकर (परमार्थं) निज परमात्माका (ध्यायन्) ध्यान करता हुआ (दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रयको (पालयति) पालता है, रक्षा करता है।

भावार्थ—जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरण-रूप निश्चयरत्नत्रयमें ही लीन है, जो पंचमगतिरूपी मोक्षके सुखको विनाश करनेवाली और पांचपरमेष्ठीकी भावनासे रहित ऐसी पञ्चेन्द्रियोंसे जुदा हो गया है, वही योगी है, योग शब्दका अर्थ ऐसा है, कि अपना मन चेतनमें लगाना वह योग जिसके हो, वही योगी है, वही ध्यानी है, वही तपोधन है, यह निःसन्देह जानना ॥१३७*५॥

अथ पंचेन्द्रियसुखस्यानित्यत्वं दर्शयति—

विसय-सुहइं वे दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि ॥१३८॥

विषयसुखानि द्वे दिवसके पुनः दुःखानां परिपाटी ।
भ्रान्त जीव मा वाहय त्वं आत्मनः स्कन्धे कुठारम् ॥१३८॥

आगे पंचेन्द्रियोंके सुखको विनाशीक बतलाते हैं—(विषयसुखानि) विषयोंके सुख (द्वे दिवसे) दो दिन के हैं, (पुनः) फिर बादमें (दुःखानां परिपाटी) ये विषय दुःखकी परिपाटी हैं, ऐसा जानकर (भ्रांत जीव) हे भोले जीव, (त्वं) तू (आत्मनः स्कंधे) अपने कन्धे पर (कुठारं) आप ही कुल्हाड़ीको (मा वाहय) मत चलावे।

भावार्थ—ये विषय क्षणभंगुर हैं, वारम्वार दुर्गतिके दुःखके देनेवाले हैं, इस-लिये विषयोंका सेवन अपने कन्धे पर कुल्हाड़ीका मारना है, अर्थात् नरकमें अपनेको डुवोना है, ऐसा व्याख्यान जानकर विषय-सुखोंको छोड़, वीतराग परमात्म-सुखमें ठहरकर निरन्तर शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये ॥१३८॥

अथात्मभावनार्थं योऽसौ विद्यमानविषयान् त्यजति तस्य प्रशंसां करोति—

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥१३९॥

सतः विषयान् यः परिहरति बलिं करोमि अहं तस्य ।
स दैवेन एव मुण्डितः शीर्षं खल्वाटं यस्य ॥१३९॥

आगे आत्म-भावनाके लिये जो विद्यमान विषयोंको छोड़ता है, उसकी प्रशंसा करते हैं—(यः) जो कोई ज्ञानी (सतः विषयान्) विद्यमान विषयोंको (परिहरति) छोड़ देता है, (तस्य) उसकी (अहं) मैं (बलिं) पूजा (करोमि) करता हूँ, क्योंकि

(यस्य शीर्षं) जिसका सिर (खल्वाटं) गंजा है, (सः) वह तो (दैवेन एव) दैवकर ही (मुंडितः) मूडा हुआ है, वह मुण्डित नहीं कहा जा सकता।

भावार्थ— जो देखनेमें मनोज्ञ ऐसा इन्द्राइनिका विष-फल उसके समान ये मौजूद विषय हैं, ये वीतराग शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप निश्चयधर्मस्वरूप रत्नके चोर हैं, उनको जो ज्ञानी छोड़ते हैं, उनको वलिहारी श्रीयोगीन्द्रदेव करते हैं, अर्थात् अपना गुणानुराग प्रगट करते हैं, जो वर्तमान विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनको छोड़ते हैं, वे महापुरुषोंकर प्रशंसा योग्य हैं, अर्थात् जिनके सम्पदा मौजूद हैं, वे सव त्यागकर वीतरागके मार्गको आराधें, वे तो सत्पुरुषोंसे सदा ही प्रशंसाके योग्य हैं, और जिसके कुछ भी तो सामग्री नहीं है, परन्तु तृष्णासे दुःखी होरहा है, अर्थात् जिसके विषय तो विद्यमान नहीं हैं, तो भी उनका अभिलाषी है, वह महानिंद्य है।

चतुर्थकालमें तो इस क्षेत्रमें देवोंका आगमन था, उनको देखकर धर्मकी रुचि होती थी, और नानाप्रकारकी ऋद्धियोंके धारी महामुनियोंका अतिशय देखकर ज्ञान की प्राप्ति होती थी, तथा अन्य जीवोंको अवधिमनःपर्यय केवलज्ञानकी उत्पत्ति देखकर सम्यक्त्वकी सिद्धि होती थी, जिनके चरणारविन्दोंको बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा नमस्कार करते थे, ऐसे वड़े-वड़े राजाओंकर सेननीक भरत सगर राम पाण्डवादि अनेक चक्रवर्ती बलभद्र नारायण तथा मण्डलीक राजाओंको जिनधर्ममें लीन देखकर भव्यजीवोंको जिनधर्मकी रुचि उपजती थी, तव परमात्म-भावनाके लिए विद्यमान विषयों का त्याग करते थे। और जवतक गृहस्थपनेमें रहते थे, तव तक दान-पूजादि शुभ क्रियायें करते थे, चार प्रकारके सङ्घकी सेवा करते थे।

इसलिये पहले समयमें तो ज्ञानोत्पत्तिके अनेक कारण थे, ज्ञान उत्पन्न होनेका अचम्भा नहीं था। लेकिन अव इस पंचमकालमें इतनी सामग्री नहीं है। ऐसा कहा भी है, कि इस पंचमकालमें देवोंका आगमन तो वन्द हो गया है, और कोई अतिशय नहीं देखा जाता। यह काल धर्मके अतिशयसे रहित है, और केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे रहित है, तथा हलधर, चक्रवर्ती आदि शलाकापुरुषोंसे रहित है, ऐसे दुःषमकालमें जो भव्यजीव धर्मको धारण करते हैं, यती श्रावकके व्रत आचरते हैं, यह अचम्भा है। वे पुरुष धन्य हैं, सदा प्रशंसा योग्य हैं ॥१३९॥

अथ मनोजये कृते सतीन्द्रियजयः कृतो भवतीति प्रकटयति—

पंचहं णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरु-वरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥१४०॥

पञ्चानां नायकं वशीकुरुत येन भवन्ति वशे अन्यानि ।
मूले विनष्टे तरुवरस्य अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ॥१४०॥

आगे मनके जीतनेसे इन्द्रियोंका जय होता है, जिसने मनको जीता, उसने सब इन्द्रियोंको जीत लिया, ऐसा व्याख्यान करते हैं—(पंचानां नायकं) पांच इन्द्रियों के स्वामी मनको (वशीकुरुत) तुम वशमें करो (येन) जिस मनके वश होनेसे (अन्यानि वशे भवंति) अन्य पांच इन्द्रियें वशमें हो जाती हैं । जैसे कि (तरुवरस्य) वृक्षकी (मूले विनष्टे) जड़के नाश हो जानेसे (पर्णानि) पत्ते (अवश्यं शुष्यंति) निश्चय से सूख जाते हैं ।

भावार्थ—पांचवां ज्ञान जो केवलज्ञान उससे पराङ्मुख स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, इन पांचों इन्द्रियोंका स्वामी मन है, जो कि रागादि विकल्प रहित परमात्माकी भावनासे विमुख और देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछारूप आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंको आदि लेकर अनेक विकल्पजालमयी मन है । यह चंचलमनरूपी हस्ती उसको भेद विज्ञानकी भावनारूप अंकुशके बलसे वशमें करो, अपने आधीन करो । जिसके वश करनेसे सब इन्द्रियां वशमें हो सकती हैं, जैसे जड़के टूट जानेसे वृक्षके पत्ते आप ही सूख जाते हैं । इसलिये निज शुद्धात्मकी भावनाके लिये जिस तिस तरह मनको जीतना चाहिये । ऐसा ही अन्य जगह भी कहा है, कि उस उपायसे उदास नहीं होना । जगत्‌से उदास होकर मन जीतनेका उपाय करना ॥१४०॥

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियन्तं कालं गमिष्यसीति संबोधयति—

विसयासत्तउ जीव तुहुँ कित्तिउ कालु गमीसि ।
सिव-संगमु करि णिच्चलउ अवसइं मुक्खु लहीसि ॥१४१॥

विषयासक्तः जीव त्वं कियन्तं कालं गमिष्यसि ।
शिवसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे ॥१४१॥

आगे जीवको उपदेश देते हैं, कि हे जीव, तू विषयोंमें लीन होकर अनन्तकाल तक भटका, और अब भी विषयासक्त है, सो विषयासक्त हुआ कितने कालतक

भटकेगा, अब तो मोक्षका साधन कर, ऐसा सम्बोधन करते हैं—(जीव) हे अज्ञानी जीव, (त्वं) तू (विषयासक्तः) विषयोंमें आसक्त होके (कियंतं कालं) कितना काल (गमिष्यसि) वितायेगा (शिवसंगमं) अब तो शुद्धात्माका अनुभव (निश्चलं) निश्चल-रूप (कुरु) कर, जिससे कि (अवश्यं) अवश्य (मोक्षं) मोक्षको (लभसे) पावेगा ।

भावार्थ—हे अज्ञानी, तू शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनन्द-रूप अविनाशी सुखके अनुभवसे रहित हुआ विषयोंमें लीन होकर कितने कालतक भटकेगा । पहले तो अनन्तकाल तक भ्रमा, अब भी भ्रमणसे नहीं थका, सो बहिर्मुख परिणाम करके कब तक भटकेगा ? अब तो केवलज्ञान दर्शनरूप अपने शुद्धात्माका अनुभव कर, निज भावोंका सम्बन्ध कर । घोर उपसर्ग और बाईस परीषहोंको उत्पत्तिमें भी सुमेरुके समान निश्चल जो आत्म-ध्यान उसको धारण कर, उसके प्रभाव से निःसंशय मोक्ष पावेगा । जो मोक्ष पदार्थ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यादि अनन्तगुणोंका ठिकाना है, सो विषयके त्यागसे अवश्य मोक्ष पावेगा ।

अथ शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मसंसर्गत्यागं मा कार्षीस्त्वमिति पुनरपि संबोधयति—

इहु सिव-संगमु परिहरिवि गुरुवड कहिं वि म जाहि ।
जे सिव-संगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ॥१४२॥

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर क्वापि मा गच्छ ।
ये शिवसंगमे लीना नैव दुःखं सहमानाः पश्य ॥१४२॥

आगे निजस्वरूपका संसर्ग तू मत छोड़, निजस्वरूप ही उपादेय है, ऐसा ही वार-वार उपदेश करते हैं—(गुरुवर) हे तपोधन, (शिवसंगमं) आत्म-कल्याणको (परि-हृत्य) छोड़कर (क्वापि) तू कहीं भी (मा गच्छ) मत जा, (ये) जो कोई अज्ञानी जीव (शिवसंगमे) निजभावमें (नैव लीनाः) नहीं लीन होते हैं, वे सब (दुःखं) दुःखको (सहमानाः) सहते हैं, ऐसा तू (पश्य) देख ।

भावार्थ—यह आत्म-कल्याण प्रत्यक्षमें संसार-सागरके तैरनेका उपाय है, उसको छोड़कर हे तपोधन, तू शुद्धात्माकी भावनाके शत्रु जो मिथ्यात्व रागादि हैं, उनमें कभी गमन मत कर, केवल आत्मस्वरूपमें मगन रह । जो कोई अज्ञानी विषय-कषायके वश होकर शिवसङ्गम (निजभाव) में लीन नहीं रहते, उनको व्याकुलतारूप दुःख भव-वनमें सहता देख । संसारी जीव सभी व्याकुल हैं, दुःखरूप हैं, कोई सुखी

नहीं है, एक शिवपद ही परम आनन्दका धाम है। जो अपने स्वभावमें निश्चयनयकर ठहरनेवाला केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित परमात्मा उसीका नाम शिव है, ऐसा सब जगह जानना। अथवा निर्वाणका नाम शिव है, अन्य कोई शिव नामका पदार्थ नहीं है, जैसा कि नैयायिक वैशेषिकोंने जगत्‌का कर्त्ता हर्त्ता कोई शिव माना है, ऐसा तू मत मान। तू अपने स्वरूपको अथवा केवलज्ञानियोंको अथवा मोक्षपदको शिव समझ। यही श्रीवीतरागदेवकी आज्ञा है ॥१४२॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति—

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु वि अणंतु।
जीविं विण्णि ण पत्ताइं जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥१४३॥

कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरोऽपि अनन्तः।
जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वम् ॥१४३॥

आगे सम्यग्दर्शनको दुर्लभ दिखलाते हैं—(कालः अनादिः) काल भी अनादि है, (जीवो अनादिः) जीव भी अनादि हैं, और (भवसागरोऽपि) संसार-समुद्र भी (अनंतः) अनादि अनन्त है। लेकिन (जीवेन) इस जीवने (जिनः स्वामी सम्यक्त्वं) जिनराजस्वामी और सम्यक्त्व (द्वे) ये दो (न प्राप्ते) नहीं पाये।

भावार्थ—काल जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं, उसमें अनादिकालसे भटकते हुए इस जीवने मिथ्यात्व-रागादिकके वश होकर शुद्धात्मस्वरूप अपना न देखा, न जाना। यह संसारी जीव अनादिकालसे आत्म-ज्ञानकी भावनासे रहित है। इस जीवने स्वर्ग नरक राज्यादि सब पाये, परन्तु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्रीजिनराजस्वामी न पाये। यह जीव अनादिका मिथ्यादृष्टि है, और क्षुद्र देवोंका उपासक है। श्रीजिनराज भगवान्‌की भक्ति इसके कभी नहीं हुई, अन्य देवोंका उपासक हुआ सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। यहां कोई प्रश्न करे, कि अनादिका मिथ्यादृष्टि होनेसे सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक है, परन्तु जिनराजस्वामी न पाये, ऐसा नहीं हो सकता? क्योंकि "भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ" ऐसा शास्त्रका वचन है, अर्थात् भव-भवमें इस जीवने जिनवर पूजे और गुरु वन्दे। परन्तु तुम कहते हो, कि इस जीवने भव-वनमें भ्रमते जिनराजस्वामी नहीं पाये।

उसका समाधान—जो भाव-भक्ति इसके कभी न हुई, भाव-भक्ति तो सम्यग्दृष्टिके ही होती है, और बाह्यलौकिकभक्ति इसके संसारके प्रयोजनके लिये हुई वह गिनतीमें नहीं। ऊपरकी सब बातें निःसार (थोथी) हैं, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव-भक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती। ज्ञानी जीव ही जिनराजके दास हैं, सो सम्यक्त्व बिना भाव-भक्तिके अभावसे जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें सन्देह नहीं है। जो जिनवर-स्वामीको पाते, तो उसीके समान होते, ऊपरी लोग-दिखावारूप भक्ति हुई, तो किस कामकी, यह जानना। अब श्रीजिनदेवका और सम्यग्दर्शनका स्वरूप सुनो। अनंत ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित हैं। वे जिनस्वामी हैं, वे ही परम आराधने योग्य हैं, तथा शुद्धात्मज्ञानरूप निश्चयसम्यक्त्व (वीतराग सम्यक्त्व) अथवा वीतराग सर्वज्ञदेवके उपदेश हुए षट् द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, और पांच अस्तिकाय उनका श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व यह निश्चय व्यवहार दो प्रकारका सम्यक्त्व है। निश्चयका नाम वीतराग है, व्यवहारका नाम सराग है। एक तो चौथे पद का यह अर्थ है, और दूसरे ऐसा "सिवसंगमु सम्मत्तु" इसका अर्थ ऐसा है, कि शिव जो जिनेन्द्रदेव उनका संगम अर्थात् भाव-सेवन इस जीवको नहीं हुआ, और सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्व होवे तो परमात्माका भी परिचय होवे ॥१४३॥

अथ शुद्धात्मसंवित्तिसाधकतपश्चरणप्रतिपक्षभूतं गृहवासं दूषयति—

घर-वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वासउ एहु।
पासु कयंतें मंडियउ अविचलु णिस्सन्देहु ॥१४४॥

गृहवासं मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एषः।
पाशः कृतान्तेन मण्डितः अविचलः निस्सन्देहम् ॥१४४॥

आगे शुद्धात्मज्ञानका साधक जो तपश्चरण उसके शत्रुरूपगृहवासको दोष देते हैं—(जीव) हे जीव, तू इसको (गृहवासं) घर वास (मा जानीहि) मत जान, (एषः) यह (दुष्कृतवासः) पापका निवास स्थान है, (कृतांतेन) यमराजने (कालने) अज्ञानी जीवोंके बांधनेके लिये यह (पाशः मंडितः) अनेक फांसोंसे मंडित (अविचलः) बहुत मजबूत बन्दीखाना बनाया है, इसमें (निस्सन्देहं) सन्देह नहीं है।

भावार्थ—यहां घर शब्दसे मुख्यरूप स्त्री जानना, स्त्री ही घरका मूल है, स्त्री बिना गृहवास नहीं कहलाता। ऐसा ही दूसरे शास्त्रोंमें भी कहा है, कि घरको

घर मत जानो, स्त्री ही घर है, जिन पुरुषोंने स्त्रीका त्याग किया, उन्होंने घरका त्याग किया। यह घर मोहके बन्धनसे अति दृढ़ बंधा हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। यहां तात्पर्य ऐसा है, कि शुद्धात्मज्ञान दर्शन शुद्ध भावरूप जो परमात्मपदार्थ उसकी भावनासे विमुख जो विषय कषाय हैं, उनसे यह मन व्याकुल होता है। इसलिये मनका शुद्धिके विना गृहस्थके यतिकी तरह शुद्धात्माका ध्यान नहीं होता। इस कारण घरका त्याग करना योग्य है, घरके विना त्यागे मन शुद्ध नहीं होता। ऐसी दूसरी जगह भी कहा है, कि कषायोंसे और इन दुष्ट इन्द्रियोंसे मन व्याकुल होता है, इसलिये गृहस्थ लोग आत्म-भावना कर नहीं सकते ॥१४४॥

अथ गृहममत्वत्यागानन्तरं देहममत्वत्यागं दर्शयति—

देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहिं अप्पणउ किं अण्णु।
पर-कारणि मण गुरुव तुहुं सिव-संगमु अवगण्णु ॥१४५॥

देहोऽपि यत्र नात्मीयः तत्रात्मीयं किमन्यत्।
परकारणे मा मुह्य (?) त्वं शिवसंगमं अवगण्य ॥१४५॥

आगे घरकी ममता छुड़ाकर शरीरका ममत्व छुड़ाते हैं—(यत्र) जिस संसारमें (देहोऽपि) शरीर भी (आत्मीयः न) अपना नहीं है, (तत्र) उसमें (अन्यत्) अन्य (आत्मीयं किं) क्या अपना हो सकता है ? (त्वं) इस कारण तू (शिवसंगमं) मोक्षका संगम (अवगण्य) छोड़कर (परकारणे) पुत्र, स्त्री, वस्त्र, आभूषण आदि उपकरणोंमें (मा मुह्य) ममत्व मत कर।

भावार्थ—अमूर्त वीतराग भावरूप जो निज शुद्धात्मा उससे व्यवहारनयकर दूध पानी की तरह यह देह एक-मेक हो रही है, ऐसी देह, जीवका स्वरूप नहीं है, तो पुत्र कलत्रादि धन-धान्यादि अपने किस तरह हो सकेंगे ? ऐसा जानकर बाह्य पदार्थोंमें ममता छोड़कर शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप जो वीतराग निर्विकल्पसमाधि उसमें ठहरकर सब प्रकारसे शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये ॥१४५॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारान्तरेण व्यक्तीकरोति—

करि सिव-संगमु एक्कु पर जहिं पाविज्जइ सुक्खु।
जोइय अण्णु म चिंति तुहुं जेण ण लब्भइ मुक्खु ॥१४६॥

कुरु शिवसंगमं एकं परं यत्र प्राप्यते सुखम् ।
योगिन् अन्यं मा चिन्तय त्वं येन न लभ्यते मोक्षः ।।१४६।।

आगे इसी अर्थको फिर भी दूसरी तरह प्रगट करते हैं—(योगिन्) हे योगी हंस, (त्वं) तू (एकं शिवसंगमं) एक निज शुद्धात्माकी ही भावना (परं) केवल (कुरु) कर, (यत्र) जिसमें कि (सुखं प्राप्येत) अतीन्द्रिय सुख पावे, (अन्यं मा) अन्य कुछ भी मत (चिंतय) चिंतवन कर, (येन) जिससे कि (मोक्षः न लभ्यते) मोक्ष न मिले ।

भावार्थ—हे जीव, तू शुद्ध अखण्ड स्वभाव निज शुद्धात्माका चिन्तवन कर, यदि तू शिवसंग करेगा तो अतीन्द्रिय सुख पावेगा । जो अनन्त सुखको प्राप्त हुए वे केवल आत्म-ज्ञानसे ही प्राप्त हुए, दूसरा कोई उपाय नहीं है । इसलिये हे योगी, तू अन्य कुछ भी चिन्तवन मत कर, परके चिन्तवनसे अव्याबाध अनन्त सुखरूप मोक्षको नहीं पावेगा । इसलिये निजस्वरूपका ही चिन्तन कर ।।१४६।।

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निस्सारमिति निश्चिनोति—

वलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहं पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ।।१४७।।

बलिः क्रियते मनुष्यजन्म पश्यतां परं सारम् ।
यदि अवष्टभ्यते ततः क्वथति अथ दह्यते तर्हि क्षारः ।।१४७।।

आगे भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनासे रहित जीवका मनुष्य-जन्म निष्फल है, ऐसा कहते हैं—(मनुष्य जन्म) इस मनुष्य-जन्मको (वलिः क्रियते) मस्तकके ऊपर वार डालो, जो कि (पश्यतां परं सारं) देखनेमें केवल सार दीखता है, (यदि अवष्टभ्यते) जो इस मनुष्य-देहको भूमिमें गाड़ दिया जावे, (ततः) तो (क्वथति) सड़कर दुर्गन्धरूप परिणमे, (अथ) और जो (दह्यते) जलाइये (तर्हि) तो (क्षारः) राख हो जाता है ।

भावार्थ—इस मनुष्य-देहको व्यवहारनयसे बाहरसे देखो तो सार मालूम होता है, यदि विचार करो तो कुछ भी सार नहीं है । तिर्यञ्चोंके शरीरमें तो कुछ सार भी दिखता है, जैसे हाथीके शरीरमें दांत सार है, सुरह गौके शरीरमें बाल सार हैं, इत्यादि । परन्तु मनुष्य-देहमें सार नहीं है, घुनके खाये हुए गन्नेकी तरह मनुष्य-

देहको असार जानकर परलोकका बीज करके सार करना चाहिये । जैसे घुनोंका खाया हुआ ईख किसी कामका नहीं है, एक बीजके कामका है, सो उसको बोकर असारसे सार किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य-देह किसी कामका नहीं, परन्तु परलोकका बीजकर असारको सार करना चाहिये । इस देहसे परलोक सुधारना ही श्रेष्ठ है । जैसे घुनसे खाये गये ईखको बोनेसे अनेक ईखोंका लाभ होता है, वैसे ही इस असार शरीरके आधारसे वीतराग परमानन्द शुद्धात्मस्वभावका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण-रूप निश्चयरत्नत्रयकी भावनाके बलसे मोक्ष प्राप्त किया जाता है, और निश्चयरत्नत्रय का साधक जो व्यवहाररत्नत्रय उसकी भावनाके बलसे स्वर्ग मिलता है, तथा परम्परा से मोक्ष होता है । यह मनुष्य-शरीर परलोक सुधारनेके लिये होवे तभी सार है, नहीं तो सर्वथा असार है ।।१४७।।

अथ देहस्याशुचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति षट्कलेन तथाहि—

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु-मिट्ठाहार ।
देहहं सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार ॥१४८॥

उद्वर्तय म्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुमृष्टाहारान् ।
देहस्य सकलं निरर्थं गतं यथा दुर्जने उपकाराः ॥१४८॥

आगे देहको अशुचि अनित्य आदि दिखानेका छह दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—(देहस्य) इस देहका (उद्वर्तय) उबटना करो, (म्रक्षय) तैलादिकका मर्दन करो, (चेष्टां कुरु) श्रृंगार आदिसे अनेक प्रकार सजाओ, (सुमृष्टाहारान्) अच्छे-अच्छे मिष्ट आहार (देहि) देओ, लेकिन (सकलं) ये सब (निरर्थं गतं) यत्न व्यर्थ हैं, (यथा) जैसे (दुर्जने) दुर्जनोंका (उपकाराः) उपकार करना वृथा है ।

भावार्थ—जैसे दुर्जनपर अनेक उपकार करो वे सब वृथा जाते हैं, दुर्जनमें कुछ फायदा नहीं, उसी तरह शरीरके अनेक यत्न करो, इसको अनेक तरहसे पोषण करो परन्तु यह अपना नहीं हो सकता । इसलिये यही सार है कि इसको अधिक पुष्ट नहीं करना । कुछ थोड़ासा ग्रासादि देकर स्थिर करके मोक्ष साधन करना; सात धातुमयी यह अशुचि शरीर है, इसमें पवित्र शुद्धात्मस्वरूपकी आराधना करना । इस महा निर्गुण शरीरमें केवलज्ञानादि गुणोंका समूह साधना चाहिये । यह शरीर

भोगके लिये नहीं है, इससे योगका साधनकर अविनाशी पदकी सिद्धि करनी। ऐसा कहा भी है, कि इस क्षणभंगुर शरीरसे स्थिरपद मोक्षकी सिद्धि करनी चाहिये, यह शरीर मलिन है, इससे निर्मल वीतरागकी सिद्धि करना, और यह शरीर ज्ञानादि गुणोंसे रहित है, इसके निमित्तसे सारभूत ज्ञानादि गुण सिद्ध करने योग्य हैं। इस शरीरसे तप संयमादिका साधन होता है, और तप संयमादि क्रियासे सारभूत गुणोंकी सिद्धि होती है। जिस क्रियासे ऐसे गुण सिद्ध हों, वह क्रिया क्यों नहीं करनी, अवश्य करनी चाहिये ॥१४८॥

अथ—

जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ जोइय काउ।
णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥१४९॥

यथा जर्जरं नरकगृहं तथा योगिन् कायः।
नरके निरन्तरं पूरितं किं क्रियते अनुरागः ॥१४९॥

आगे शरीरको अशुचि दिखलाकर ममत्व छुड़ाते हैं—(योगिन्) हे योगी, (यथा) जैसा (जर्जरं) सैंकड़ों छेदोंवाला (नरकगृहं) नरक-घर है, (तथा) वैसा यह (कायः) शरीर (नरके) मल-मूत्रादिसे (निरंतरं) हमेशा (पूरितं) भरा हुआ है। ऐसे शरीरसे (अनुरागः) प्रीति (किं क्रियते) कैसे की जावे? किसी तरह भी यह प्रीतिके योग्य नहीं है।

भावार्थ—जैसे नरकका घर अति जीर्ण जिसके सैंकड़ों छिद्र हैं, वैसे यह कायरूपी घर साक्षात् नरकका मन्दिर है, नव द्वारोंसे अशुचि वस्तु झरती है। और आत्माराम जन्म-मरणादि छिद्र आदि दोष रहित हैं, भगवान् शुद्धात्मा भावकर्म, द्रव्य-कर्म, नोकर्ममलसे रहित हैं, यह शरीर मल-मूत्रादि नरकसे भरा हुआ है। ऐसा शरीरका और जीवका भेद जानकर देहसे ममता छोड़के वीतराग निर्विकल्प समाधिमें ठहरके निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥१४९॥

अथ—

दुक्खइं पावइं असुचियइं ति-हुयणि सयलइं लेवि।
एयहिं देहु विणिम्मियउ विहिणा वइरु मुणेवि ॥१५०॥

दुःखानि पापानि अशुचीनि त्रिभुवने सकलानि लात्वा ।
एतैः देहः विनिर्मितः विधिना वैरं मत्वा ॥१५०॥

आगे फिर भी देहकी मलिनता दिखलाते हैं—(त्रिभुवने) तीन लोकमें (दुःखानि पापानि अशुचीनि) जितने दुःख हैं, पाप हैं, और अशुचि वस्तुयें हैं, (सकलानि) उन सबको (लात्वा) लेकर (एतैः) इन मिले हुओंसे (विधिना) विधाताने (वैरं) (मत्वा) मानकर (देहः) शरीर (निर्मितः) बनाया है ।

भावार्थ—तीन लोकमें जितने दुःख हैं, उनसे यह देह रचा गया है, इससे दुःखरूप है, और आत्मद्रव्य व्यवहारनयकर देहमें स्थित है, तो भी निश्चयनयकर देहसे भिन्न निराकुलस्वरूप सुखरूप है, तीन लोकमें जितने पाप हैं, उन पापोंसे यह शरीर बनाया गया है, इसलिये यह देह पापरूप ही है, इससे पाप ही उत्पन्न होता है, और चिदानन्द चिद्रूप जीव पदार्थ व्यवहारनयसे देहमें स्थित है, तो भी देहसे भिन्न अत्यन्त पवित्र है, तीन जगत्‌में जितने अशुचि पदार्थ हैं, उनको इकट्ठे कर यह शरीर निर्माण किया है, इसलिये महा अशुचिरूप है, और आत्मा व्यवहारनयकर देहमें विराजमान है, तो भी देहसे जुदा परम पवित्र है । इस प्रकार देहका और जीवका अत्यन्त भेद जानकर निरन्तर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥१५०॥

अथ—

जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंतु ।
णाणिय धम्में रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ॥१५१॥

योगिन् देहः घृणास्पदः लज्जसे किं न रममाणः ।
ज्ञानिन् धर्मेण रतिं कुरु आत्मानं विमलं कुर्वन् ॥१५१॥

आगे फिर भी देहको अपवित्र दिखलाते हैं—(योगिन्) हे योगी, (देहः) यह शरीर (घृणास्पदः) घिनावना है, (रममाण) इस देहसे रमता हुआ तू (किं न लज्जसे) क्यों नहीं शरमाता ? (ज्ञानिन्) हे ज्ञानी, तू (आत्मानं) आत्माको (विमलं कुर्वन्) निर्मल करता हुआ (धर्मे) धर्मसे (रतिं) प्रीति (कुरु) कर ।

भावार्थ—हे जीव, तू सब विकल्प छोड़कर वीतरागचारित्ररूप निश्चयधर्ममें प्रीति कर । आर्त रौद्र आदि समस्त विकल्पोंको छोड़कर आत्माको निर्मल करता हुआ वीतराग भावोंसे प्रीति कर ॥१५१॥

अथ—

जोइय देहु परिच्चयहि देहु ण भल्लउ होइ ।
देह-विभिण्णउ णाणमउ सो तुहुँ अप्पा जोइ ॥१५२॥

योगिन् देहं परित्यज देहो न भद्रः भवति ।
देहविभिन्नं ज्ञानमयं तं त्वं आत्मानं पश्य ॥१५२॥

आगे देहके स्नेहसे छुड़ाते हैं—(योगिन्) हे योगी, (देहं) इस शरीरसे (परित्यज) प्रीति छोड़, क्योंकि (देहः) यह देह (भद्रः न भवति) अच्छा नहीं है, इसलिये (देहविभिन्नं) देहसे भिन्न (ज्ञानमयं) ज्ञानादि गुणमय (तं आत्मानं) ऐसे आत्माको (त्वं) तू (पश्य) देख ।

भावार्थ—नित्यानन्द अखण्ड स्वभाव जो शुद्धात्मा उससे जुदा और दुःखका मूल तथा महान् अशुद्ध जो शरीर उससे भिन्न आत्माको पहचान, और कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंको आदि लेकर शुभ विभावभावोंको त्यागकर, निज-स्वरूपका ध्यान कर । ऐसा कथन सुनकर शिष्यने पूछा, कि हे प्रभो, इन खोटी लेश्याओंका क्या स्वरूप है ?

तब श्रीगुरु कहते हैं—कृष्णलेश्याका धारक वह है, जो अधिक क्रोधी होवे, कभी वैर न छोड़े, उसका वैर पत्थरकी लकीरकी तरह हो, महा विषयी हो, पर-जीवोंकी हंसी उड़ानेमें जिसके शंका न हो, अपनी हंसी होनेका जिसको भय न हो, जिसका स्वभाव लज्जा रहित हो, दया-धर्मसे रहित हो, और अपनेसे बलवान्के वशमें हो, गरीबको सतानेवाला हो, ऐसा कृष्णलेश्यावालेका लक्षण कहा । नीललेश्यावालेके लक्षण कहते हैं, सो सुनो—जिसके धन-धान्यादिककी अति ममता हो, और महा-विषयाभिलाषी हो, इन्द्रियोंके विषय सेवता हुआ तृप्त न हो । कापोतलेश्याका धारक रणमें मरना चाहता है, स्तुति करनेसे अति प्रसन्न होता है । ये तीनों कुलेश्याके लक्षण कहे गये हैं, इनको छोड़कर पवित्र भावोंसे देहसे जुदे जीवको जानकर अपने स्वरूपका ध्यान कर । यही कल्याणका कारण है ॥१५२॥

अथ—

दुक्खहं कारणु मुणिवि मणि देहु वि एहु चयंति ।
जित्थु ण पावहिं परमसुहु तित्थु कि संत वसंति ॥१५३॥

दुःखस्य कारणं मत्वा मनसि देहमपि इमं त्यजन्ति ।
यत्र न प्राप्नुवन्ति परमसुखं तत्र किं सन्तः वसन्ति ।।१५३।।

आगे फिर भी देहको दुःखका कारण दिखलाते हैं—(दुःखस्य कारणं) नरकादि दुःखका कारण (इमं देहमपि) इस देहको (मनसि) मनसे (मत्वा) जानकर ज्ञानीजीव (त्यजंति) इसका ममत्व छोड़ देते हैं, क्योंकि (यत्र) जिस देहमें (परमसुखं) उत्तम सुख (न प्राप्नुवंति) नही पाते, (तत्र) उसमें (संतः) सत्पुरुष (किं वसंति) कैसे रह सकते हैं ?

भावार्थ—वीतराग परमानंद जो आत्म-सुख उससे विपरीत नरकादिके दुःख, उनका कारण यह शरीर, उसको बुरा समझकर ज्ञानी जीव देहकी ममता छोड़ देते हैं, और शुद्धात्मस्वरूपका सेवन करते हैं, निजस्वरूपमें ठहरकर देहादि पदार्थोंमें प्रीति छोड़ देते हैं । इस देहमें कभी सुख नहीं पाते, सदा आधि-व्याधिसे पीड़ित ही रहते हैं । पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे रहित जो शुद्धात्मानुभूतिरूप परमसुख वह देहके ममत्व करनेसे कभी नहीं मिल सकता । महा दुःखके कारण इस शरीरमें सत्पुरुष कभी नहीं रह सकते । देहसे उदास होके संसारकी आशा छोड़ सुखका निवास जो सिद्धपद उसको प्राप्त होते हैं । और जो आत्म-भावनाको छोड़कर संतोषसे रहित होके देहादिकमें राग करते हैं, वे अनन्त भव धारण करते हैं संसारमें भटकते फिरते हैं ।।१५३।।

अथात्मायत्तसुखे रतिं कुर्विति दर्शयति—

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चिंतंताहं हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥१५४॥

आत्मायत्तं यदेव सुखं तेनैव कुरु संतोषम् ।
परं सुखं वत्स चिन्तयतां हृदये न नश्यति शोषः ।।१५४।।

आगे यह उपदेश करते हैं, कि तू आत्म-सुखमें प्रीति कर—(वत्स) हे शिष्य, (यदेव) जो (आत्मायत्तं सुखं) परद्रव्यसे रहित आत्माधीन सुख है, (तेनैव) उसीमें (संतोषं) सन्तोष (कुरु) कर, (परंसुखं) इन्द्रियाधीन सुखको (चिंतयतां) चिन्तवन करनेवालोंके (हृदये) चित्तका (शोषः) दाह (न नश्यति) नहीं मिटता ।

भावार्थ—आत्माधीन सुख आत्माके जाननेसे उत्पन्न होता है, इसलिये तू आत्माके अनुभवसे सन्तोष कर, भोगोंकी वांछा करनेसे चित्त शान्त नहीं होता । जो

अध्यात्मकी प्रीति है, वह स्वाधीनता है, इसमें कोई विघ्न नहीं है, और भोगोंका अनुराग वह पराधीनता है। भोगोंको भोगते कभी तृप्ति नहीं होती। जैसे अग्नि ईन्धनसे तृप्त नहीं होती, और सैकड़ों नदियोंसे समुद्र तृप्त नहीं होता है। ऐसा ही समयसारमें कहा है, कि हंस (जीव) तू इस आत्मस्वरूपमें ही सदा लीन हो, और सदा इसीमें सन्तुष्ट हो। इसीसे तू तृप्त होगा और इसीसे ही तुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी। इस कथनसे अध्यात्म-सुखमें ठहरकर निजस्वरूपकी भावना करनी चाहिये, और कामभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसा कहा भी है, कि जैसे तृण, काठ आदि ईन्धनसे अग्नि तृप्त नहीं होती, और हजारों नदियोंसे लवणसमुद्र तृप्त नही होता, उसी तरह यह जीव काम भोगोंसे तृप्त नहीं होता। इसलिये विषय-सुखोंको छोड़कर अध्यात्म-सुखका सेवन करना चाहिये। आत्म-सुखका शब्दार्थ करते हैं—मिथ्यात्व विषय कषाय आदि बाह्य पदार्थोंका अवलम्बन (सहारा) छोड़ना और आत्मामें तल्लीन होना वह अध्यात्म है ॥१५४॥

अथात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति—

अप्पहं णाणु परिच्चयवि अण्णु ण अत्थि सहाउ।
इउ जाणेविणु जोइयहु परहं म बंधउ राउ ॥१५५॥

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति स्वभावः।
इदं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा बधान रागम् ॥१५५॥

आगे आत्माका ज्ञानस्वभाव दिखलाते हैं—(आत्मनः) आत्माका निजस्वभाव (ज्ञानं परित्यज्य) वीतराग स्वसंवेदनज्ञानके सिवाय (अन्यः स्वभावः) दूसरा स्वभाव (न अस्ति) नहीं है, आत्मा केवलज्ञानस्वभाव है, (इति ज्ञात्वा) ऐसा जानकर (योगिन्) हे योगी, (परस्मिन्) परवस्तुसे (रागं) प्रीति (मा बधान) मत बांध।

भावार्थ—पर जो शुद्धात्मासे भिन्न देहादिक उनमें राग मत कर, आत्माका ज्ञानस्वरूप जानकर रागादिक छोड़के निरन्तर आत्माकी भावना करनी चाहिए।

अथ स्वात्मोपलम्भनिमित्तं चित्तस्थिरीकरणरूपेण परमोपदेशं पञ्चकलेन दर्शयति—

विसय-कसायहिं मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥१५६॥

विषयकषायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यति यस्य ।
आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोऽपि तस्य ।।१५६।।

आगे आत्माकी प्राप्तिके लिये चित्तको स्थिर करता, ऐसा परम उपदेश श्रीगुरु दिखलाते हैं—(यस्य) जिसका (मनःसलिलं) मनरूपी जल (विषयकषायैः) विषय-कषायरूप प्रचण्ड पवनसे (नैव क्षुभ्यते) नहीं चलायमान होता है, (तस्य) उसी भव्य जीवकी (आत्मा) आत्मा (वत्स) हे बच्चे, (निर्मलो भवति) निर्मल होती है, और (लघु) शीघ्र ही (प्रत्यक्षोऽपि) प्रत्यक्ष हो जाती है ।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूपी जलचर मगर-मच्छादि जलके जीव उनसे भरा जो संसार-सागर उसमें विषयकषायरूप प्रचण्ड पवन जो कि शुद्धात्मतत्त्वसे सदा पराङ्मुख हैं, उसी प्रचण्ड पवनसे जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ, उसीका आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्नके समान है, अनादिकालका अज्ञानरूपी पाताल में पड़ा है, सो रागादि मलके छोड़नेसे शीघ्र ही निर्मल हो जाता है, हे बच्चे, आत्मा उन भव्य जीवोंका निर्मल होता है, और प्रत्यक्ष उनको आत्माका दर्शन होता है । परमकला जो आत्माकी अनुभूति वही हुई निश्चयदृष्टि उससे आत्मस्वरूपका अवलोकन होता है । आत्मा स्वसंवेदनज्ञान करके ही ग्रहण करने योग्य है । जिसका मन विषय से चंचल न हो, उसीको आत्माका दर्शन होता है ।।१५६।।

अथ—

अप्पा परहं ण मेलविउ मणु मारिवि सहस त्ति ।
सो वढ जोएं किं करइ जासु ण एही सत्ति ।।१५७।।

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति ।
स वत्स योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ।।१५७।।

आगे यह कहते हैं, कि जिसने शीघ्र ही मनको वशकर आत्माको परमात्मा से नहीं मिलाया, जिसमें ऐसी शक्ति नहीं है, वह योगसे क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता—(सहसा मनः मारयित्वा) जिसने शीघ्र ही मनको वशमें करके (आत्मा) यह आत्मा (परस्य न मेलितः) परमात्मामें नहीं मिलाया, (वत्स) हे शिष्य, (यस्य) जिसकी (ईदृशी) ऐसी (शक्तिः) शक्ति (न) नहीं है, (सः) वह (योगेन) योग से (किं करोति) क्या कर सकता है ?

भावार्थ—यह प्रत्यक्षरूप संसारी जीव विकल्प सहित है दशा जिसकी, उसको समस्त विकल्प-जाल रहित निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मासे नहीं मिलाया। मिथ्यात्व विषय कषायादि विकल्पोंके समूहकर परिणत हुआ जो मन उसको वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शस्त्रसे शीघ्र ही मारकर आत्माको परमात्मासे नहीं मिलाया, वह योगी योगसे क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता। जिसमें मन मारनेकी शक्ति नहीं है, वह योगी कैसा ? योगी तो उसे कहते हैं, कि जो बड़ाई पूजा (अपनी महिमा) और लाभ आदि सब मनोरथरूप विकल्प-जालोंसे रहित निर्मल ज्ञान दर्शनमयी परमात्माको देखे जाने अनुभव करे। सो ऐसा मनके मारे विना नहीं हो सकता, यह निश्चय जानना ॥१५७॥

अथ—

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे झायहिं झाणु।
वढ अण्णाण-वियंभियहं कउ तहं केवल-णाणु ॥१५८॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यद् ते ध्यायन्ति ध्यानम्।
वत्स अज्ञानविजृम्भितानां कुतः तेषां केवलज्ञानम् ॥१५८॥

आगे ज्ञानमयी आत्माको छोड़कर जो अन्य पदार्थका ध्यान करते हैं, वे अज्ञानी हैं, उनको केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है, ऐसा निरूपण करते हैं—(ज्ञानमयं) जो महा निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप (आत्मानं) आत्मद्रव्यको (मुक्त्वा) छोड़कर (अन्यद्) जड़ पदार्थ परद्रव्य उनका (ये ध्यानं ध्यायंति) ध्यान लगाते हैं, (वत्स) हे वत्स, वे अज्ञानी हैं, (तेषां अज्ञानविजृंभितानां) उन शुद्धात्माके ज्ञानसे विमुख कुमति कुश्रुत कुअवधिरूप अज्ञानसे परिणत हुए जीवोंको (केवलज्ञानं कुतः) केवलज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती।

भावार्थ—यद्यपि विकल्प सहित अवस्थामें शुभोपयोगियोंको चित्तकी स्थिरताके लिये और विषय कषायरूप खोटे ध्यानके रोकनेके लिये जिनप्रतिमा तथा नमोकारमन्त्रके अक्षर ध्यावने योग्य हैं, तो भी निश्चय ध्यानके समय शुद्ध आत्मा ही ध्यावने योग्य है, अन्य नहीं ॥१५८॥

अथ—

सुण्णउं पउं झायंताहं वलि वलि जोइयडाहं।
समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहं ॥१५९॥

शून्यं पदं ध्यायतां पुनः पुनः (?) योगिनाम् ।
समरसीभावं परेण सह पुण्यमपि पापं न येषाम् ॥१५६॥

आगे शुभाशुभ विकल्पसे रहित जो निर्विकल्प (शून्य) ध्यान उसको जो ध्याते हैं, उन योगियोंको मैं वलिहारी करता हूँ, ऐसा कहते हैं—(शून्यं पदं ध्यायतां) विकल्प रहित ब्रह्मपदको ध्यावनेवाले (योगिनां) योगियोंको मैं (वलिं वलिं) बार-बार मस्तक नमाकर पूजा करता हूँ, (येषां) जिन योगियोंके (परेण सह) अन्य पदार्थोंके साथ (समरसीभावं) समरसीभाव है, और (पुण्यं पापं अपि न) जिनके पुण्य और पाप दोनों ही उपादेय नहीं हैं ।

भावार्थ—शुभ-अशुभ मन, वचन, कायके व्यापार रहित जो वीतराग परम-आनन्दमयी सुखामृत-रसका आस्वाद वही उसका स्वरूप है, ऐसी आत्मज्ञानमयी परम-कलाकर भरपूर जो ब्रह्मपद-शून्यपद-निज शुद्धात्मस्वरूप उसको ध्यानी राग रहित तीन गुप्तिरूप समाधिके बलसे ध्यावते हैं, उन ध्यानी योगियोंकी मैं बार-बार वलिहारी करता हूँ, ऐसे योगीन्द्रदेव अपना अन्तरङ्गका धर्मानुराग प्रकट करते हैं, और परम योगीश्वरोंके परम स्वसंवेदनज्ञान सहित महा समरसीभाव है । समरसीभावका लक्षण ऐसा है, कि जिनके इन्द्र और कीट दोनों समान, चिन्तामणिरत्न और कङ्कड़ दोनों समान हों । अथवा ज्ञानादि गुण और गुणी निज शुद्धात्म द्रव्य इन दोनोंका एकी-भावरूप परिणमन वह समरसीभाव है, उस कर सहित हैं, जिनके पुण्य पाप दोनों ही नहीं हैं । ये दोनों शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वभाव परमात्मासे भिन्न हैं, सो जिन मुनियोंने दोनोंको हेय समझ लिया है, परमध्यानमें आरूढ़ हैं, उनकी मैं बार-बार वलिहारी जाता हूँ ॥१५६॥

अथ—

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।
वलि किज्जउं तसु जोइयहिं जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥१६०॥

उद्वसान् वसितान् यः करोति वसितान् करोति यः शून्यान् ।
वलिं कुर्वेऽहं तस्य योगिनः यस्य न पापं न पुण्यम् ॥१६०॥

आगे फिर भी योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं—(यः) जो (उद्वसान्) उजड़ हैं, अर्थात् पहले कभी नहीं हुए ऐसे शुद्धोपयोगरूप परिणामोंको (वसितान्) स्वसंवेदन-

ज्ञानके बलसे बसाता है, अर्थात् अपने हृदयमें स्थापन करता है, और (यः) जो (वसितान्) पहलेके बसे हुए मिथ्यात्वादि परिणाम हैं, उनको (शून्यान्) ऊजड़ करता है, उनको निकाल देता है, (तस्य योगिनः) उस योगीकी (अहं) मैं (बलिं) पूजा (कुर्वे) करता हूँ, (यस्य) जिसके (न पापं न पुण्यं) न तो पाप है और न पुण्य है।

भावार्थ—जो प्रगटरूप नहीं बसते हैं, अनादिकालके वीतराग चिदानन्दस्वरूप शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग परिणाम उनको अब निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके बलसे बसाता है, निज स्वादनरूप स्वाभाविक ज्ञानकर शुद्ध परिणामोंकी बस्ती निज घटरूपी नगरमें भरपूर करता है। और अनादिकालके जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राणोंके घातक ऐसे मिथ्यात्व रागादिरूप विकल्पजाल हैं, उनको निजस्वरूप नगरसे निकाल देता है, उनको ऊजड़ कर देता है, ऐसे परमयोगीकी मैं बलिहारी हूँ, अर्थात् उसके मस्तकपर मैं अपनेको वारता हूँ। इस प्रकार श्रीयोगीन्द्रदेव परमयोगियोंकी प्रशंसा करते हैं। जिन योगियोंके वीतराग शुद्धात्मा तत्त्वसे विपरीत पुण्य-पाप दोनों ही नहीं हैं ॥१६०॥

अथैक सूत्रेण प्रश्नं कृत्वा सूत्रचतुष्टयेनोत्तरं दत्त्वा च तमेव पूर्वसूत्रपञ्चकेनोक्तं निर्विकल्पसमाधिरूपं परमोपदेशं पुनरपि विवृणोति पञ्चकलेन—

तुट्टइ मोहु तडित्ति जहिं मणु अत्थवणहं जाइ।
सो सामइ उवएसु कहि अण्णें देविं काइं ॥१६१॥

त्रुटयति मोहः झटिति यत्र मनः अस्तमनं याति।
तं स्वामिन् उपदेशं कथय अन्येन देवेन किम् ॥१६१॥

आगे एक दोहेमें शिष्यका प्रश्न और चार दोहोंमें प्रश्नका उत्तर देकर निर्विकल्पसमाधिरूप परम उपदेशको फिर भी विस्तारसे कहते हैं—(स्वामिन्) हे स्वामी, मुझे (तं उपदेशं) उस उपदेशको (कथय) कहो (यत्र) जिससे (मोहः) मोह (झटिति) शीघ्र (त्रुटयति) छूट जावे, (मनः) और चचल मन (अस्तमनं) स्थिरताको (याति) प्राप्त हो जावे, (अन्येन देवेन किं) दूसरे देवतोंसे क्या प्रयोजन?

भावार्थ—प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्द्रदेवसे प्रश्न करते हैं, कि हे स्वामी, वह उपदेश कहो कि जिससे निर्मोह शुद्धात्मद्रव्यसे पराङ्मुख मोह शीघ्र जुदा हो जावे, अर्थात् मोहके उदयसे उत्पन्न समस्त विकल्प-जालोंसे रहित जो परमात्मा पदार्थ उसमें

मोह-जालका लेश भी न रहे, और निर्विकल्प शुद्धात्म भावनासे विपरीत नाना विकल्प-जालरूपी चंचल मन वह अस्त हो जावे। हे स्वामी, निर्दोष परमाराध्य जो परमात्मा उससे अन्य जो मिथ्याती देव उनसे मेरा क्या मतलब है ? ऐसा शिष्यने श्रीगुरुसे प्रश्न किया उसका एक दोहा-सूत्र कहा ॥१६१॥

अथोत्तरम्—

णास-विणिग्गउ सासडा अंवरि जेत्थु विलाइ।
तुट्टइ मोहु तड त्ति तहिं मणु अत्थवणहं जाइ ॥१६२॥

नासाविनिर्गतः श्वासः अम्बरे यत्र विलीयते।
त्रुटयति मोहः झटिति तत्र मनः अस्तं याति ॥१६२॥

आगे श्रीगुरू उत्तर देते हैं—(नासाविनिर्गतः श्वासः) नाकसे निकला जो श्वास वह (यत्र) जिस (अंवरे) निर्विकल्पसमाधिमें (विलीयते) मिल जावे, (तत्र) उसी जगह (मोहः) मोह (झटिति) शीघ्र (त्रुटयति) नष्ट हो जाता है, (मनः) और मन (अस्तं याति) स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—नासिकासे निकले जो श्वासोच्छ्वास हैं, वे अम्वर अर्थात् आकाशके समान निर्मल मिथ्यात्व विकल्प-जाल रहित शुद्ध भावोंमें विलीन हो जाते हैं, अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानन्दकर पूर्ण निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर चित्त हो जाता है, तव श्वासोच्छ्वासरूप पवन रुक जाती है, नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुवा रंध्ररूपी दशवें द्वारमें होके निकले, तव मोह टूटता है, उसी समय मोहके उदयकर उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जाल नाश हो जाते हैं, वाह्य ज्ञानसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें विकल्पोंका आधारभूत जो मन वह अस्त हो जाता है, अर्थात् निजस्वभावमें मनको चंचलता नहीं रहती। जव यह जीव रागादि परभावोंसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें होता है, तव यह श्वासोच्छ्वासरूप पवन नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयमेव अवांछीक वृत्तिसे तालुवाके वालको अनीके आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें (दशवें द्वारमें) होकर वारीक निकलती है, नासाके छेदको छोड़कर तालुरंध्रमें (छेदमें) होकर निकलती है। और पातंजलिमतवाले वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वायुधारणा वांछापूर्वक होती है, और वांछा है, वह मोहसे उत्पन्न विकल्परूप है, वांछाका कारण मोह है।

वह संयमीके वायुका निरोध वांछापूर्वक नहीं होता है, स्वाभाविक ही होता है। जिनशासनमें ऐसा कहा है, कि कुंभक (पवनको खेंचना) पूरक (पवनको थांभना) रेचक (पवनको निकालना) ये तीन भेद प्राणायामके हैं, इसीको वायुधारणा कहते हैं। यह क्षणमात्र होती है, परन्तु अभ्यासके वशसे घड़ी पहर दिवस आदितक भी होती है। उस वायुधारणाका फल ऐसा कहा है, कि देह आरोग्य होती है, देहके सब रोग मिट जाते हैं, शरीर हलका हो जाता है, परन्तु मुक्ति इस वायुधारणासे नहीं होती, क्योंकि वायुधारणा शरीरका धर्म है, आत्माका स्वभाव नहीं है। शुद्धोपयोगियोंके सहज ही बिना यत्नके मन भी रुक जाता है, और श्वास भी स्थिर हो जाते हैं। शुभोपयोगियोंके मनके रोकनेके लिये प्राणायामका अभ्यास है, मनके अचल होनेपर कुछ प्रयोजन नहीं है। जो आत्मस्वरूप है, वह केवल चेतनामयी ज्ञान दर्शनस्वरूप है, सो शुद्धोपयोगी तो स्वरूपमें अतिलीन हैं, और शुभोपयोगी कुछ एक मनकी चपलतासे आनन्दघनमें अडोल अवस्थाको नहीं पाते, तबतक मनके वश करनेके लिए श्रीपंचपरमेष्ठीका ध्यान स्मरण करते हैं, ओंकारादि मन्त्रोंका ध्यान करते हैं और प्राणायामका अभ्यास कर मनको रोकके चिद्रूपमें लगाते हैं, जब वह लग गया, तब मन और पवन सब स्थिर हो जाते हैं। शुभोपयोगियोंकी दृष्टि एक शुद्धोपयोगपर है, पातंजलिमतकी तरह थोथी वायुधारणा नहीं है। जो वायुधारणासे ही शक्ति होवे, तो वायुधारणाके करनेवालोंको इस दुःषमकालमें मोक्ष क्यों न होवे ? कभी नहीं होता। मोक्ष तो केवल स्वभावमयी है ॥१६२॥

अथ—

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु-णिसासु।
केवल-णाणु वि परिणमइ अंबरि जाहं णिवासु ॥१६३॥

मोहो विलीयते मनो म्रियते त्रुट्यति श्वासोच्छ्वासः।
केवलज्ञानमपि परिणमति अम्बरे येषां निवासः ॥१६३॥

आगे फिर भी परमसमाधिका कथन करते हैं—(येषां) जिन मुनिश्वरोंका (अंबरे) परमसमाधिमें (निवासः) निवास है, उनका (मोहः) मोह (विलीयते) नाशको प्राप्त हो जाता है, (मनः) मन (म्रियते) मर जाता है, (श्वासोच्छ्वासः)

श्वासोच्छ्वास (त्रुटचति) रुक जाता है, (अपि) और (केवलज्ञानं) केवलज्ञान (परिणमति) उत्पन्न होता है।

भावार्थ—दर्शनमोह और चारित्रमोह आदि कल्पना-जाल सब विलय हो जाते हैं, इस लोक परलोक आदिकी वांछा आदि विकल्प जालरूप मन स्थिर हो जाता है, और श्वासोच्छ्वासरूप वायु रुक जाती है, श्वासोच्छ्वास अवांछीकपनेसे नासिका के द्वारको छोड़कर तालुछिद्रमें होकर निकलते हैं, तथा कुछ देरके बाद नासिकासे निकलते हैं। इस प्रकार श्वासोच्छ्वासरूप पवन वश हो जाता है। चाहे जिस द्वारसे निकालो। केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियोंके उत्पन्न होता है, कि जिन मुनियोंका राग द्वेष मोहरूप विकल्प-जालसे रहित शुद्धात्माका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुप्तिमयी परमसमाधिमें निवास है। यहां अम्बर नाम आकाशका अर्थ नहीं समझना, किन्तु समस्त विषय-कषायरूप विकल्प-जालोंसे शून्य परमसमाधि लेना। और यहां वायु शब्दसे कुंभक पूरक रेचकादिरूप वांछापूर्वक वायु-निरोध न लेना, किन्तु स्वयमेव अवांछीक वृत्तिपर निर्विकल्पसमाधिके बलसे ब्रह्मद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र जिसको तालुवेका रंध्र कहते हैं, उसके द्वारा अवांछीक वृत्तिसे पवन निकलता है, वह लेना। ध्यानी मुनियोंके पवन रोकनेका यत्न नहीं होता है, बिना ही यत्नके सहज ही पवन रुक जाता है, और मन भी अचल हो जाता है, ऐसा समाधि का प्रभाव है।

ऐसी दूसरी जगह भी कहा है, कि जो मूढ़ है, वे तो अम्बरका अर्थ आकाश को जानते हैं, और जो ज्ञानीजन हैं, वे अम्बरका अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प जानते हैं। सो निर्विकल्प ध्यानमें मन मर जाता है, पवनका सहज ही विरोध होता है, और सब अंग तीन भुवनके समान हो जाता है। जो परमसमाधिको जाने, तो मोह टूट जावे। मनके विकल्पोंका मिटना वही मनका मरना है, और वही श्वासका रुकना है, जो कि सब द्वारोंसे रुककर दशवें द्वारमेंसे होकर निकले। तीन लोकका प्रकाशक आत्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थापित करता है। अन्तराल शब्दका अर्थ रागादि भावोंसे शून्यदशा लेना आकाशका अर्थ न लेना। आकाशके जाननेसे मोह-जाल नहीं मिटता, आत्मस्वरूपके जाननेसे मोह-जाल मिटता है। जो पातञ्जलि आदि परमतमें शून्यरूप समाधि कही है, वह अभिप्राय नहीं लेना, क्योंकि जब विभावोंकी शून्यता हो जावेगी तब वस्तुका ही अभाव हो जायगा ॥१६३॥

अथ—

जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु।
तुट्टइ मोहु तड त्ति तसु पावइ परहं पवाणु ॥१६४॥

य: आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम्।
त्रुटयति मोहो झटिति तस्य प्राप्नोति परस्य प्रमाणम् ॥१६४॥

आगे फिर भी निर्विकल्पसमाधिका कथन करते हैं—(यः) जो ध्यानी पुरुष (आकाशे) निर्विकल्पसमाधिमें (मनः) मन (धरती) स्थिर करता है, (तस्य) उसीका (मोहः) मोह (झटिति) शीघ्र (त्रुटयति) टूट जाता है, और ज्ञान करके (परस्य प्रमाणं) लोकालोकप्रमाण आत्माको (प्राप्नोति) प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—आकाश अर्थात् वीतराग चिदानन्द स्वभाव अनन्त गुणरूप और मिथ्यात्व रागादि परभाव रहित स्वरूप निर्विकल्पसमाधि यहां समझना। जैसे आकाशद्रव्य सब द्रव्योंसे भरा हुआ है, परन्तु सबसे शून्य अपने स्वरूप है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियोंसे रहित है, शून्यरूप है, इसलिये आकाश शब्द का अर्थ यहां शुद्धात्मस्वरूप लेना। व्यवहारनयकर ज्ञान लोकालोकका प्रकाशक है, और निश्चयनयकर अपने स्वरूपका प्रकाशक है। आत्माका केवलज्ञान लोकालोकको जानता है, इस कारण ज्ञानकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण कहा जाता है, प्रदेशोंकी अपेक्षा लोकालोकप्रमाण नहीं है। ज्ञानगुण लोकालोकमें व्याप्त है; परन्तु परद्रव्योंसे भिन्न है। परवस्तुसे जो तन्मयी हो जावे, तो वस्तुका अभाव हो जावे। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि ज्ञान गुणकर लोकालोकप्रमाण जो आत्मा उसे आकाश भी कहते हैं, उसमें जो मन लगावे, तब जगत्से मोह दूर हो और परमात्माको पावे।

व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है, इसलिये सब जगत्में है। जैसे व्यवहारनयकर नेत्र रूपी पदार्थको जानता है; परन्तु उन पदार्थोंसे भिन्न है। जो निश्चयकर सर्वगत होवे, तो परपदार्थोंसे तन्मयी हो जावे, जो उसे तन्मयी होवे तो नेत्रोंको अग्निका दाह होना चाहिये, इस कारण तन्मयी नहीं है। उसी प्रकार आत्मा जो पदार्थोंको तन्मयी होके जाने, तो परके सुख दुःखसे तन्मयी होनेसे इसको भी दूसरेका सुख दुःख मालूम होना चाहिये, पर ऐसा होता नहीं है। इसलिये निश्चयसे आत्मा असर्वगत है, और व्यवहारनयसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा निश्चयसे लोक-

प्रमाण असंख्यातप्रदेशी है, और व्यवहारनयकर पात्रमें रखे हुए दीपककी तरह देह-प्रमाण है, जैसा शरीर-धारण करे वैसा प्रदेशोंका संकोच विस्तार हो जाता है ॥१६४॥

अथ—

देहि वसंतु वि णवि मुणिउ अप्पा देउ अणंतु ।
अंबरि समरसि मणु धरिवि सामिय णट्ठु णिभंतु ॥१६५॥

देहे वसन्नपि नैव मतः आत्मा देवः अनन्तः ।
अम्बरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्टः निर्भ्रान्तः ॥१६५॥

आगे फिर भी शिष्य प्रश्न करता है—(स्वामिन्) हे स्वामी, (देह वसन्नपि) व्यवहारनयकर देहमें रहता हुआ भी (आत्मा देवः) आराधने योग्य आत्मा (अनंतः) अनंत गुणोंका आधार (नैव मतः) मैंने अज्ञानतासे नहीं जाना । क्या करके (समरसे) समान भावरूप (अंबरे) निर्विकल्पसमाधिमें (मनः धृत्वा) मन लगाकर । इसलिये अबतक (नष्टो निर्भ्रांतः) निस्सन्देह नष्ट हुआ ।

भावार्थ—प्रभाकरभट्ट पछताता हुआ श्रीयोगीन्द्रदेवसे विनती करता है, कि हे स्वामिन् मैंने अबतक रागादि विभाव रहित निर्विकल्पसमाधिमें मन लगाकर आत्म-देव नहीं जाना, इसलिये इतने कालतक संसारमें भटका निजस्वरूपकी प्राप्तिके बिना मैं नष्ट हुआ । अब ऐसा उपदेश करें कि जिससे भ्रम मिट जावे ॥१६५॥

एवं परमोपदेशकथनमुख्यत्वेन सूत्रदशकं गतम् । अथ परमोपशमभावसहितेन सर्वसंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति—

सयल वि संग ण मिल्लिया णवि किउ उवसम-भाउ ।
सिव-पय-मग्गु वि मुणिउ णवि जहिं जोइहिं अणुराउ ॥१६६॥
घोरु ण चिण्णउ तव-चरणु जं णिय-बोहहं सारु ।
पुण्णु वि पाउ वि दड्ढु णवि किमु छिज्जइ संसारु ॥१६७॥

सकला अपि संगा न मुक्ताः नैव कृत उपशमभावः ।
शिवपदमार्गोऽपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुरागः ॥१६६॥
घोरं न चीर्णं तपश्चरणं यत् निजबोधस्य सारम् ।
पुण्यमपि पापमपि दग्धं नैव किं छिद्यते संसारः ॥१६७॥

इस प्रकार परमोपदेशके कथनकी मुख्यतासे दस दोहे कहे हैं। आगे परमोपदेश भाव सहित सव परिग्रहका त्याग करनेसे संसारका विच्छेद होता है, ऐसा दो दोहोंमें निश्चय करते हैं—(सकला अपि संगाः) सब परिग्रह भी (न मुक्ताः) नहीं छोड़े, (उपशमभावः नैव कृत) समभाव भी नहीं किया (यत्र योगिनां अनुरागः) और जहां योगीश्वरोंका प्रेम है, ऐसा (शिवमार्गोऽपि) मोक्ष-पद भी (नैव मतः) नहीं जाना, (घोरं तपश्चरणं) महा दुर्धर तप (न चीर्णं) नहीं किया, (यत्) जो कि (निजबोधेन सारं) आत्मज्ञानकर शोभायमान है, (पुण्यमपि पापमपि) और पुण्य तथा पाप ये दोनों (नैव दग्धं) नहीं भस्म किये, तो (संसारः) संसार (किं छिद्यते) कैसे छूट सकता है ?

भावार्थ—मिथ्यात्व [अतत्त्व श्रद्धान] राग [प्रीतिभाव दोष] दोष [वैरभाव] वेद [स्त्री पुरुष नपुंसक] क्रोध, मान, माया, लोभरूप चार कषाय, और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि—ये चौदह अन्तरंग परिग्रह, क्षेत्र [ग्रामादिक] वास्तु [गृहादिक] हिरण्य [रुपया पैसा मुहर आदि] सुवर्ण [गहने आदि] धन [हाथी, घोड़ा आदि] धान्य [अन्नादि] दासी, दास, कुप्य [वस्त्र तथा सुगन्धादिक], भांड [वर्तन आदि] ये दस तरहके वाहरके परिग्रह, इस प्रकार बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहके चौबीस भेद हुए, इनको नहीं छोड़ा। जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभादिमें समानभाव कभी नहीं किया, कल्याणरूप मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भी नहीं जाने। निजस्वरूपका श्रद्धान, निजस्वरूपका ज्ञान, और निजस्वरूपका आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय तथा नव पदार्थोंका श्रद्धान, नव पदार्थोंका ज्ञान, और अशुभ क्रिया का त्यागरूप व्यवहाररत्नत्रय—ये दोनों ही मोक्षके मार्ग हैं, इन दोनोंमेंसे निश्चयरत्नत्रय तो साक्षात् मोक्षका मार्ग है, और व्यवहाररत्नत्रय परम्पराय मोक्षका मार्ग है। ये दोनों मैंने कभी नहीं जाने, संसारका ही मार्ग जाना। अनशनादि बारह प्रकारका तप नहीं किया, बाईस परीषह नहीं सहन कीं। तथा पुण्य सुवर्णकी बेड़ी, पाप लोहेकी बेड़ी, ये दोनो बन्धन निर्मल आत्मध्यानरूपी अग्निसे भस्म नहीं किये। इन बातोंके बिना किये संसारका विच्छेद नहीं होता, संसारसे मुक्त होनेके ये ही कारण हैं। ऐसा व्याख्यान जानकर सदैव शुद्धात्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिये ॥१६६-१६७॥

अथ दानपूजापञ्चपरमेष्ठिवन्दनादिरूपं परंपरया मुक्तिकारणं श्रावकधर्मं कथयति—

दाणु न दिण्णउ मुणिवरहं ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु ।
पंच ण वंदिय परम-गुरू किमु होसइ सिव-लाहु ॥१६८॥

दानं न दत्तं मुनिवरेभ्यः नापि पूजितः जिननाथः ।
पञ्च न वन्दिताः परमगुरवः किं भविष्यति शिवलाभः ॥१६८॥

आगे दान पूजा और पंचपरमेष्ठीकी वंदना, आदि परम्परा मुक्तिका कारण जो श्रावकधर्म उसे कहते हैं—(दानं) आहारादि दान (मुनिवराणां) मुनीश्वर आदि पात्रोंको (न दत्तं) नहीं दिया, (जिननाथः) जिनेन्द्रभगवानको भी (नापि पूजितः) नहीं पूजा, (पंचपरमगुरवः) अरहन्त आदिक पांचपरमेष्ठी (न वंदिताः) भी नहीं पूजे, तब (शिवलाभः) मोक्षकी प्राप्ति (किं भविष्यति) कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान—ये चार प्रकारके दान भक्तिपूर्वक पात्रोंको नहीं दिये, अर्थात् निश्चय व्यवहाररत्नत्रयके आराधक जो यती आदिक चार प्रकार संघ उनको चार प्रकारका दान भक्तिकर नहीं दिया, और भूखे जीवोंको करुणाभावसे दान नहीं दिया । इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंकर पूर्ण जिननाथकी पूजा नहीं की; जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फलसे पूजा नहीं की; और तीन लोककर वन्दने योग्य ऐसे अरहन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांचपरमेष्ठियोंकी आराधना नहीं की । सो हे जीव, इन कार्योंके विना तुझे मुक्तिका लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिके ये ही उपाय हैं । जिनपूजा, पंचपरमेष्ठीकी वन्दना, और चार संघको चार प्रकारका दान, इन विना मुक्ति नहीं हो सकती । ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अङ्गमें कही गई जो दान पूजा वन्दनादिककी विधि वही करने योग्य है । शुभ विधिसे न्यायकर उपार्जन किया अच्छा द्रव्य वह दाताके अच्छे गुणोंको धारणकर विधिसे पात्रको देना, जिनराजकी पूजा करना, और पंचपरमेष्ठीकी वन्दना करना, ये ही व्यवहारनयकर कल्याणके उपाय हैं ॥१६८॥

अथ निश्चयेन चिन्तारहितध्यानमेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेन—

अद्धुम्मीलिय-लोयणिहिं जोउ कि झंपियएहिं ।
एमुइ लब्भइ परम-गइ णिच्चिंति ठियएहिं ॥१६९॥

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं आच्छादिताभ्याम् ।
एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चिन्तं स्थितैः ॥१६९॥

आगे निश्चयसे चिन्ता रहित ध्यान ही मुक्तिका कारण है, ऐसा कहते हैं—(**अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां**) आधे उघड़े हुए नेत्रोंसे अथवा (**झंपिताभ्यां**) बन्द हुए नेत्रोंसे (**किं**) क्या (**योगः**) ध्यानकी सिद्धि होती है, कभी नहीं । (**निश्चिन्तं स्थितैः**) जो चिन्ता रहित एकाग्रमे स्थित हैं, उनको (**एवमेव**) इसी तरह (**लभ्यते परमगतिः**) स्वयमेव परमगति (मोक्ष) मिलती है ।

भावार्थ—ख्याति [बड़ाई] पूजा [अपनी प्रतिष्ठा] और लाभ इनको आदि लेकर समस्त चिन्ताओंसे रहित जो निश्चिन्त पुरुष हैं, वे ही शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिरता पाते हैं, उन्हींके ध्यानकी सिद्धि है, और वे ही परमगतिके पात्र हैं ॥१६९॥

अथ—

जोइय मिल्लहि चिन्त जइ तो तुट्टइ संसारु ।
चिंतासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ॥१७०॥

योगिन् मुञ्चसि चिन्तां यदि ततः त्रुटयति संसारः ।
चिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लभते न हंसचारम् ॥१७०॥

आगे फिर भी चिन्ताका ही त्याग बतलाते हैं—(**योगिन्**) हे योगी, (**यदि**) जो तू (**चिंतां मुंचसि**) चिन्ताओंको छोड़ेगा (**ततः**) तो (**संसारः**) संसारका भ्रमण (**त्रुटयति**) छूट जायगा, क्योंकि (**चिंतासक्तः**) चिन्तामें लगे हुए (**जिनवरोऽपि**) छद्मस्थ अवस्थावाले तीर्थंकरदेव भी (**हंसचारं न लभते**) परमात्माका आचरणरूप शुद्ध भावों को नहीं पाते ।

भावार्थ—हे योगी, निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मपदार्थसे पराङ्मुख जो चिंता-जाल उसे छोड़ेगा, तभी चिन्ताके अभावसे संसार भ्रमण टूटेगा । शुद्धात्म-द्रव्यसे विमुख द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पांच प्रकारके संसारसे तू मुक्त होगा । जब-तक चिन्तावान् है, तबतक निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती । दूसरोंकी तो क्या बात है, जो तीर्थङ्करदेव भी केवल अवस्थाके पहले जबतक कुछ शुभाशुभ चिन्ता-कर सहित हैं, तबतक वे भी रागादि रहित शुद्धोपयोग परिणामोंको नहीं पा सकते । संशय विमोह विभ्रम रहित अनन्त ज्ञानादि निर्मलगुण सहित हंसके समान उज्ज्वल

परमात्माके शुद्ध भाव हैं, वे चिंताके विना छोड़े नहीं होते । तीर्थङ्करदेव भी मुनि होके निश्चिन्त व्रत धारण करते हैं, तभी परमहंस दशा पाते हैं, ऐसा व्याख्यान जानकर देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी वांछा आदि समस्त चिंता-जालको छोड़कर परम निश्चिन्त हो, शुद्धात्मकी भावना करना योग्य है ॥१७०॥

अथ—

जोइय दुम्मइ कवुण तुहं भवकारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहिं जो रहिउ सो जाणिवि मणु मारि ॥१७१॥

योगिन् दुर्मतिः का तव भावकारणे व्यवहारे ।
ब्रह्म प्रपंचैर्यद्व रहितं तत् ज्ञात्वा मनो मारय ॥१७१॥

आगे श्रीगुरु मुनियोंको उपदेश देते हैं, कि मनको मारकर परब्रह्मका ध्यान करो—(योगिन्) हे योगी, (तक का दुर्मतिः) तेरी क्या खोटी बुद्धि है, जो तू (भव-कारणे व्यवहारे) संसारके कारण उद्यमरूप व्यवहार करता है । अब तू (प्रपंचैः रहितं) मायाजालरूप पाखंडोंसे रहित (यत् ब्रह्म) जो शुद्धात्मा है, (तत् ज्ञात्वा) उसको जान-कर (मनो मारय) विकल्प-जालरूपी मनको मार ।

भावार्थ—वीतराग स्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्माको जानकर शुभाशुभ विकल्प-जालरूप मनको मारो । मनके विना वश किये निर्विकल्पध्यानकी सिद्धि नहीं होती । मनके अनेक विकल्प-जालोंसे जो शुद्ध आत्मा उसमें निश्चलता तभी होती है, जबकि मनको मारके निर्विकल्प दशाको प्राप्त होवे । इसलिये सकल शुभाशुभ व्यवहारको छोड़के शुद्धात्माको जानो ॥१७१॥

अथ—

सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं पंचहिं रूवहिं जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाहि तुहुँ अप्पा देउ अणंतु ॥१७२॥

सर्वैः रागैः षड्भिः रसैः पञ्चभिः रूपैः गच्छत् ।
चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनन्तम् ॥१७२॥

आगे यही कहते हैं, कि सब विषयोंको छोड़कर आत्मदेवको ध्यावो—हे प्रभाकर भट्ट, (त्वं) तू (सर्वैः रागैः) सब शुभाशुभ रागोंसे (षड्भिः रसैः) छहों रसोंसे

(पंचभिः रसैः) पांच रसोंसे (गच्छत् चित्तं) चलायमान चित्तको (निवार्य) रोककर (अनंतं) अनन्तगुणवाले (आत्मानं देवं) आत्मदेवका (ध्याय) चिंतवन कर।

भावार्थ—वीतराग, परम आनन्द सुखमें क्रीड़ा करनेवाले, केवलज्ञानादि अनन्तगुणवाले अविनाशी शुद्ध आत्माका एकाग्रचित्त होकर ध्यान कर। क्या करके? वीतराग शुद्धात्मद्रव्यसे विमुख जो समस्त शुभाशुभ राग, निजरससे विपरीत जो दधि, दुग्ध, तेल, घी, नोंन, मिश्री, ये छह रस और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्यसे भिन्न काले, सफेद, हरे, पीले, लाल, पांचतरहके रूप इनमें निरन्तर चित्त जाता है, उसको रोककर आत्मदेवकी आराधना कर ॥१७२॥

अथ येन स्वरूपेण चिन्त्यते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति—

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।
तेण सरूविं परिणवइ जह फलिहउ-मणि मंतु ॥१७३॥

येन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एषः अनन्तः।
तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मन्त्रः ॥१७३॥

आगे आत्माको जिसरूपसे ध्यावो, उसीरूप परिणमता है, जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक दिया जाये, वैसा ही रंग भासता है, ऐसा कहते हैं—(एषः) यह प्रत्यक्षरूप (अनंतः) अविनाशी (आत्मा) आत्मा (येन स्वरूपेण) जिस स्वरूपसे (ध्यायते) ध्याया जाता है, (तेन स्वरूपेण) उसी स्वरूप (परिणमति) परिणमता है, (यथा स्फटिकमणिः मंत्रः) जैसे स्फटिकमणि और गारुड़ी आदि मन्त्र हैं।

भावार्थ—यह आत्मा शुभ, अशुभ, शुद्ध इन तीन उपयोगरूप परिणमता है। जो अशुभोपयोगका ध्यान करे, तो पापरूप परिणवे, शुभोपयोगका ध्यान करे, तो पुण्यरूप परिणवे, और जो शुद्धोपयोगको ध्यावे, तो परमशुद्धरूप परिणमन करता है। जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक लगाओ, अर्थात् श्याम, हरा, पीला लालमेंसे जैसा लगाओ, उसीरूप स्फटिकमणि परिणमता है, हरे डंकसे हरा और लालसे लाल भासता है। उसी तरह जीवद्रव्य जिस उपयोगरूप परिणमता है, उसीरूप भासता है। और गारुड़ी आदि मन्त्रोंमेंसे गारुड़ी मन्त्र गरुड़रूप भासता है, जिससे कि सर्प डर जाता है। ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थोंमें भी कहा है, कि जिस-जिस रूपसे आत्मा परिणमता है, उस-उस रूपसे आत्मा तन्मयी हो जाता है, जैसे स्फटिकमणि उज्ज्वल है,

उसके नीचे जैसा डंक लगाओ, वैसा ही भासता है। ऐसा जानकर आत्माका स्वरूप जानना चाहिये। जो शुद्धात्मपदकी प्राप्तिके चाहनेवाले हैं, उनको यही योग्य है, कि समस्त रागादिक विकल्पोंके समूहको छोड़कर आत्माके शुद्धरूपको ध्यावें और विकारों-पर दृष्टि न रक्खें ॥१७३॥

अथ चतुष्पादिकां कथयति—

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसें जायउ जप्पा।
जामइं जाणइ अप्पें अप्पा तामइं सो जि देउ परमप्पा ॥१७४॥

एष यः आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जाप्यः।
यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव देवः परमात्मा ॥१७४॥

आगे चतुष्पदछन्दमें आत्माके शुद्ध स्वरूपको कहते हैं—(एष य आत्मा) यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदनज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा (स परमात्मा) वही शुद्धनिश्चयनयकर अनन्त चतुष्टयस्वरूप क्षुदादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहार-नयकर (कर्मविशेषेण) अनादि कर्मबन्धके विशेषसे (जात्यः जातः) पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है; परन्तु (यदा) जिस समय (आत्मना) वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानकर (आत्मानं) अपनेको (जानाति) जानता है, (तदा) उस समय (स एव) यह आत्मा ही (परमात्मा) परमात्मा देव है।

भावार्थ—निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो परम आनन्द उसके अनुभवमें क्रीडा करनेसे देव कहा जाता है, यही आराधने योग्य है। जो आत्मदेव शुद्ध निश्चयनयकर भगवान् केवलीके समान है। ऐसा परमात्मदेव शक्तिरूपसे देहमें है, जो देहमें न होवे, तो केवलज्ञानके समय कैसे प्रगट होवे ॥१७४॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तीकरोति—

जो परमप्पा णाणमउ सो हउं देउ अणंतु।
जो हउ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥१७५॥

यः परमात्मा ज्ञानमयः स अहं देवः अनन्तः।
यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्भ्रान्तः ॥१७५॥

आगे इसी अर्थको प्रगटपनेसे दृढ़ करते हैं—(यः परमात्मा) जो परमात्मा (ज्ञानमयः) ज्ञानस्वरूप है, (स अहं) वह मैं ही हूँ, जो कि (अनंतः देवः) अविनाशी

देवस्वरूप हूँ, (य अहं) जो मैं हूँ, (सपरः परमात्मा) वही उत्कृष्ट परमात्मा है। (इत्थं) इस प्रकार (निर्भ्रान्तः) निस्सन्देह (भावय) तू भावना कर।

भावार्थ—जो कोई एक परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मीका निवास है, ज्ञानमयी है, वैसा ही मैं हूं। यद्यपि व्यवहारनयकर मैं कर्मोंसे बंधा हुआ हूँ, तो भी निश्चयनयकर मेरे बन्ध मोक्ष नहीं है, जैसा भगवान्‌का स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप है। जो आत्मदेव महामुनियोंकर परम आराधने योग्य है, और अनन्त सुख आदि गुणोंका निवास है। इससे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा वैसा यह आत्मा और जैसा यह आत्मा है, वैसा ही परमात्मा है। जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, और जो मैं हूं, वही परमात्मा है। अहं यह शब्द देहमें स्थित आत्मा को कहता है। और सः यह शब्द मुक्ति प्राप्त परमात्मामें लगाना। जो परमात्मा वह मैं हूं, और मैं हूँ सो परमात्मा—यही ध्यान हमेशा करना। वह परमात्मा परमगुणके सम्बन्धसे उत्कृष्ट है।

श्री योगीन्द्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं, कि हे प्रभाकरभट्ट, तू सब विकल्पों को छोड़कर केवल परमात्माका ध्यान कर। निस्सन्देह होके इस देहमें शुद्धात्मा है, ऐसा निश्चय कर। मिथ्यात्वादि सब विभावोंकी उपशमताके वशसे केवलज्ञानादि उत्पत्तिका जो कारण समयसार (निजआत्मा) उसीकी निरन्तर भावना करनी चाहिये। वीतराग सम्यक्त्वादिरूप शुद्ध आत्माका एकदेश प्रगटपनेको पाकर सब तरह से ज्ञानकी भावना योग्य है ॥१७५॥

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

णिम्मल-फलिहहं जेम जिय भिण्णउ परकिय-भाउ।
अप्प-सहावहं तेम मुणि सयलु वि कम्म-सहाउ ॥१७६॥

निर्मलस्फटिकाद् यथा जीव भिन्नः परकृतभावः।
आत्मस्वभावात् तथा मन्यस्व सकलमपि कर्मस्वभावम् ॥१७६॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिसे पुष्ट करते हैं—(जीव) हे जीव, (यथा) जैसे (परकृतभावः) नीचेके सब डंक (निर्मलस्फटिकात्) महा निर्मल स्फटिकमणिसे (भिन्नः) जुदे है, (तथा) उसी तरह (आत्मस्वभावात्) आत्मस्वभावसे (सकलमपि) सब (कर्मस्वभावं) शुभाशुभ कर्म (मन्यस्व) भिन्न जानो।

भावार्थ—आत्मस्वभाव महानिर्मल है, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म ये सब जड़ हैं, आत्मा चिद्रूप है। अनन्त ज्ञानादि गुणरूप जो चिदानन्द उससे तू सकल प्रपंच भिन्न मान ।।१७६।।

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां द्रढयति—

जेम सहावि णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ ।
भंतिए मइलु म मण्णि जिय मइलउ देक्खवि काउ ।।१७७।।

यथा स्वभावेन निर्मलः स्फटिकः तथा स्वभावः ।
भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जीव मलिनं दृष्ट्वा कायम् ।।१७७।।

आगे देह और आत्मा जुदे-जुदे हैं, यह भेद-भावना दृढ़ करते हैं—(यथा) जैसे (स्फटिकः) स्फटिकमणि (स्वभावेन) स्वभावसे (निर्मलः) निर्मल है, (तथा) उसीतरह (स्वभावः) आत्मा ज्ञान दर्शनरूप निर्मल है। ऐसे आत्मस्वभावको (जीव) हे जीव, (कायं मलिनं) शरीरकी मलिनता (दृष्ट्वा) देखकर (भ्रांत्या) भ्रमसे (मलिनं) मैला (मा मन्यस्व) मत मान।

भावार्थ—यह काय शुद्ध बुद्ध परमात्मपदार्थसे भिन्न है, काय मैली है, आत्मा निर्मल है ।।१७७।।

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्तादिवस्त्रदृष्टान्तेन व्यक्तिकरोति चतुष्कलेन—

रत्तें वत्थें जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहिं रत्तिं णाणि तहं अप्पु ण मण्णइ रत्तु ।।१७८।।

जिण्णिं वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहिं जिण्णि णाणि तहं अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ।।१७९।।

वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहं अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ।।१८०।।

भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहं मण्णइ णाणि ।
देहु वि भिण्णउं णाणि तहं अप्पहं मण्णइ जाणि ।।१८१।।

रक्तेन वस्त्रेन यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तम् ।
देहेन रक्तेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥१७८॥
जीर्णेन वस्त्रेण तथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णम् ।
देहेन जीर्णेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥१७९॥
वस्त्रे प्रणष्टे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।
नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥१८०॥
भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।
देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ॥१८१॥

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके दृष्टान्तसे चार-
होंमें प्रगट करते हैं—(यथा) जैसे (बुधः) कोई बुद्धिमान पुरुष (रक्ते वस्त्रे) लाल
त्रसे (देहं रक्तं) शरीरको लाल (न मन्यते) नहीं मानता, (तथा) उसी तरह
ज्ञानी) वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदनज्ञानी (देहे रक्ते) शरीरके लाल होनेसे
आत्मानं) आत्माको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता। (यथा बुधः) जैसे
ई बुद्धिमान् (वस्त्रे जीर्णे) कपड़ेके जीर्ण [पुराने] होनेपर (देहं जीर्णं) शरीरको
र्ण (न मन्यते) नहीं मानता, (तथा ज्ञानी) उसी तरह ज्ञानी (देहे जीर्णे)
रीरके जीर्ण होनेसे (आत्मानं जीर्णं न मन्यते) आत्माको जीर्ण नहीं मानता, (यथा
ः) जैसे कोई बुद्धिमान् (वस्त्रे प्रणष्टे) वस्त्रके नाश होनेसे (देहं नष्टं) देहका
श (न मन्यते) नहीं मानता, (तथा ज्ञानी) उसी तरह ज्ञानी (देहे नष्टे) देह
नाश होनेसे (आत्मानं) आत्माका (नष्टं न मन्यते) नाश नहीं मानता, (जीव)
जीव, (यथा ज्ञानी) जैसे ज्ञानी (देहाद् भिन्नं एव) देहसे भिन्न ही (वस्त्रं
यते) कपड़ेको मानता है, (तथा ज्ञानी) उसी तरह ज्ञानी (देहमपि) शरीरको
(आत्मनः भिन्नं) आत्मासे जुदा (मन्यते) मानता है, ऐसा (जानीहि)
जानो।

भावार्थ—जैसे वस्त्र और शरीर मिले हुए भासते हैं, परन्तु शरीरसे वस्त्र
ा है, उसी तरह आत्मा और शरीर मिले हुए दिखते हैं, परन्तु जुदा हैं।
ीरकी रक्ततासे, जीर्णतासे, और विनाशसे आत्माकी रक्तता जीर्णता और
नाश नहीं होता, यह निःसन्देह जानो। यह आत्मा व्यवहारनयकर देहमें स्थित है,

तो भी सहज शुद्ध परमानन्दरूप निजस्वभावकर जुदा ही है, देहके सुख-दुःख जीवमें नहीं हैं ॥१७८-८१॥

अथ दुःखजनकदेहघातकं शत्रुमपि मित्रं जानीहीति दर्शयति—

इहु तणु जीवड तुज्झ रिउ दुक्खइं जेण जणेइ ।
सो परु जाणहि मित्तु तुहुँ जो तणु एहु हणेइ ॥१८२॥

इयं तनुः जीव तव रिपुः दुःखानि येन जनयति ।
तं परं जानीहि मित्रं त्वं यः तनुमेतां हन्ति ॥१८२॥

आगे दुःख उत्पन्न करनेवाला शत्रुरूप यह देह है, उसको तू मित्र मत समझ, ऐसा कहते हैं—(जीव) हे जीव, (इयं तनुः) यह शरीर (तव रिपुः) तेरा शत्रु है (येन) क्योंकि (दुःखानि) दुःखोंको (जनयति) उत्पन्न करता है, (यः) जो (इमां तनुं) इस शरीर का (हंति) घात करे, (तं) उसको (त्वं) तुम (परं मित्रं) परममित्र (जानीहि) जानो।

भावार्थ—यह शरीर तेरा शत्रु होनेसे दुःख उत्पन्न करता है, इससे तू अनुराग मत कर और जो तेरे शरीरकी सेवा करता है, उससे भी राग मत कर, तथा जो तेरे शरीरका घात कर देवे, उसको शत्रु मत जान। जब कोई तेरे शरीरका विनाश करे, तब वीतराग चिदानन्द ज्ञानस्वभाव परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो परम समरसीभाव, उसमें लीन होकर शरीरके घातकपर द्वेष मत कर। जैसे महा धर्म-स्वरूप युधिष्ठिर पांडव आदि पांचों भाइयोंने दुर्योधनादिपर द्वेष नहीं किया। इसी तरह सभी साधुओंका यही स्वभाव है, कि अपने शरीरका जो घात करे, उससे द्वेष नहीं करते, सबके मित्र ही रहते हैं ॥१८२॥

अथ उदयागते पापकर्मणि स्वस्वभावो न त्याज्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

उदयहं आणिवि कम्मु मइं जं भुंजेवउ होइ ।
तं सह आविउ खविउ मइं सो पर लाहु जि कोइ ॥१८३॥

उदयमानीय कर्म मया यद् भोक्तव्यं भवति ।
तत् स्वयमागतं क्षपितं मया स परं लाभ एव कश्चित् ॥१८३॥

आगे पूर्वोपार्जित पापके उदयसे दुःख अवस्था आ जावे उसमें अपना धीरता आदि स्वभाव न छोड़े, ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—(यत्) जो

(मया) मैं (कर्म) कर्मको (उदयं आनीय) उदयमें लाकर (भोक्तव्यं भवति) भोगने चाहता था, (तत्) वह कर्म (स्वयं आगतं) आप ही आ गया, (मया क्षपितं) इससे मैं शान्त चित्तसे फल सहनकर क्षय करूं, (स कश्चित्) यह कोई (परं लाभः) महान् ही लाभ हुआ।

भावार्थ—जो महामुनि मुक्तिके अधिकारी हैं, उदयमें वे नहीं आये हुए कर्मों को परम आत्म-ज्ञानकी भावनाके बलसे उदयमें लाकर उसका फल भोगकर शीघ्र निर्जरा कर देते हैं। और जो वे पूर्वकर्म विना उपायके सहज ही बाईस परीषह तथा उपसर्गके वशसे उदयमें आये हों, तो विषाद न करना बहुत लाभ समझना। मनमें यह मानना कि हम तो उदीरणासे इन कर्मोंको उदयमें लाकर क्षय करते, परन्तु ये सहज ही उदयमें आये, यह तो बड़ा ही लाभ है। जैसे कोई बड़ा व्यापारी अपने ऊपरका कर्ज लोगोंका बुला-बुलाके देता है, यदि कोई विना बुलाये सहज ही लेने आया हो, तो बड़ा ही लाभ है। उसी तरह कोई महापुरुष महान् दुर्धर तप करके कर्मोंको उदयमें लाके क्षय करते हैं, लेकिन वे कर्म अपने स्वयमेव उदयमें आये हैं, तो इनके समान दूसरा क्या है, ऐसा संतोष धारणकर ज्ञानीजन उदयमें आये हुए कर्मोंको भोगते हैं, परन्तु राग-द्वेष नहीं करते ॥१८३॥

अथ इदानीं पुरुषवचनं सोढुं न याति तदा निर्विकल्पात्मतत्त्वभावना कर्तव्येति प्रतिपादयति—

णिट्ठुर-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ।
तो लहु भावहि बंभु परु जिं मणु झत्ति विलाइ ॥१८४॥

निष्ठुरवचनं श्रुत्वा जीव यदि मनसि सोढुं न याति।
ततो लघु भावय ब्रह्म परं येन मनो झटिति विलीयते ॥१८४॥

आगे यह कहते हैं कि जो कोई कर्कश (कठोर) वचन कहे, और यह न कह सकता हो तो अपने कषायभाव रोकनेके लिये निर्विकल्प आत्म-तत्त्वकी भावना करनी चाहिए—(जीव) हे जीव, (निष्ठुरवचनं श्रुत्वा) जो कोई अविवेकी किसीको कठोर वचन कहे, उसको सुनकर (यदि) जो (न सोढुं याति) न सह सके, (ततः) तो कषाय दूर करनेके लिये (परं ब्रह्म) परमानन्दस्वरूप इस देहमें विराजमान परम-ब्रह्मका (मनसि) मनमें (लघु) शीघ्र (भावय) ध्यान करो। जो ब्रह्म अनन्तज्ञानादि

गुणोंका आधार है, सर्वोत्कृष्ट है, (येन) जिसके ध्यान करनेसे (मनः) मनका विकार (झटिति) शीघ्र ही (विलीयते) विलीन हो जाता है ॥१८४॥

अथ जीवः कर्मवशेन जातिभेदभिन्नो भवतीति निश्चिनोति—

लोउ विलक्खणु कम्म-वसु इत्थु भवंतरि एइ ।
चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थुजि भवि ण पडेइ ॥१८५॥

लोकः विलक्षणः कर्मवशः अत्र भवान्तरे आयाति ।
आश्चर्यं किं यदि अयं आत्मनि स्थितः अत्रैव भवे न पतति ॥१८५॥

आगे जीवके कर्मके वशसे भिन्न-भिन्न स्वरूप जाति-भेदसे होते हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—(विलक्षणः) सोलहवानीके सुवर्णकी तरह केवलज्ञानादि गुणकर समान जो परमात्मतत्त्व उससे भिन्न जो (लोकः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जाति-भेदरूप जीव-राशि वह (कर्मवशः) कर्मसे उत्पन्न है, अर्थात् जाति-भेद कर्मके निमित्तसे हुआ है, और वे कर्म आत्म-ज्ञानकी भावनासे रहित अज्ञानी जीवने उपार्जन किये हैं, उन कर्मोंके अधीन जाति-भेद है, जबतक कर्मोंका उपार्जन है, तबतक (अत्र भवांतरे आयाति) इस संसारमें अनेक जाति धारण करता है, (अयं यदि) जो यह जीव (आत्मनि स्थितः) आत्मस्वरूपमें लगे, तो (अत्रैव भवे) इसी भवमें (न पतति) नहीं पड़े-भ्रमण नहीं करे, (किं आश्चर्यं) इसमें क्या आश्चर्य है, कुछ भी नहीं।

भावार्थ—जबतक आत्मामें चित्त नहीं लगता, तबतक संसारमें भ्रमण करता है, अनेक भव धारण करता है, लेकिन जब यह आत्मदर्शी हुआ तब कर्मोंको नहीं उपार्जन करता, और भवमें भी नहीं भटकता। इसमें आश्चर्य नहीं है। संसार शरीर भोगोंसे उदास और जिसको भव-भ्रमणका भय उत्पन्न हो गया है, ऐसा भव्य जीव उसको मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद, योग, इन पांचों आस्रवोंको छोड़कर परमात्मतत्वमें सदैव भावना करनी चाहिये। जो इसके आत्म-भावना होवे तो भव-भ्रमण नहीं हो सकता ॥१८५॥

अथ परेण दोषग्रहणे कृते कोपो न कर्तव्य इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

अवगुण-गहणइं महुतणाइं जइ जीवहं संतोसु ।
तो तहं सोक्खहं हेउ हउं इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥१८६॥

अवगुणग्रहेणेन मदीयेन यदि जीवानां संतोषः ।
ततः तेषां सुखस्य हेतुरहं इति मत्वा त्यज रोषम् ।।१८६।।

आगे जो कोई अपने दोष ग्रहण करे तो उसपर क्रोध नहीं करना, क्षमा करना, यह अभिप्राय मनमें रखकर व्याख्यान करते हैं—(**मदीयेन अवगुणग्रहणेन**) अज्ञानी जीवोंको परके दोष ग्रहण करनेसे हर्ष होता है, मेरे दोष ग्रहण करके (**यदि जीवानां संतोषः**) जिन जीवोंको हर्ष होता है, (**ततः**) तो मुझे यही लाभ है, कि (**अहं**) मैं (**तेषां सुखस्य हेतुः**) उनको सुखका कारण हुआ, (**इति मत्वा**) ऐसा मनमें विचारकर (**रोषं त्यज**) गुस्सा छोड़ो ।

भावार्थ—ज्ञानी गुस्सा नहीं करते, ऐसा विचारते हैं, कि जो कोई परका उपकार करनेवाले परजीवोंको द्रव्यादि देकर सुखी करते हैं, मैंने कुछ द्रव्य नहीं दिया, उपकार नहीं किया, मेरे अवगुण ही से सुखी हो गये, तो इसके समान दूसरी बात क्या है ? ऐसा जानकर हे भव्य, तू रोष छोड़ । अथवा ऐसा विचारे, कि मेरे अनंत ज्ञानादिगुण तो उसने नहीं लिये, दोष लिये वो निस्संक लो । जैसे घरमें कोई चोर आया, और उसने रत्न सुवर्णादि नहीं लिये माटी पत्थर लिये तो लो, तुच्छ वस्तुके लेनेवालेपर क्या क्रोध करना, ऐसा जान रोष छोड़ना । अथवा ऐसा विचारे, कि जो यह दोष कहता है, वे सच कहता है, तो सत्यवादीसे क्या द्वेष करना । अथवा ये दोष मुझमें नहीं हुआ वह वृथा कहता है, तो उसके वृथा कहनेसे क्या मैं दोषी हो गया, बिल्कुल नहीं हुआ । ऐसा जानकर क्रोध छोड़ क्षमाभाव धारण करना चाहिये ।

अथवा यह विचारो कि वह मेरे मुंहके आगे नहीं कहता, लेकिन पीठ पीछे कहता है, सो पीठ पीछे तो राजाओंको भी बुरा कहते हैं, ऐसा जानकर उससे क्षमा करना कि प्रत्यक्ष तो मेरा मानभंग नहीं करता है, परोक्षकी बात क्या है । अथवा कदाचित् कोई प्रत्यक्ष मुंह आगे दोष कहे, तो तू यह विचार कि वचनमात्रसे मेरे दोष ग्रहण करता है, शरीरको तो बाधा नहीं करता, यह गुण है, ऐसा जान क्षमा ही कर । अथवा जो कोई शरीरको भी बाधा करे, तो तू ऐसा विचार, कि मेरे प्राण तो नहीं हरता, यह गुण है । जो कभी कोई पापी प्राण ही हर ले, तो यह विचार कि ये प्राण तो विनाशक हैं, विनाशीक वस्तुके चले जानेकी क्या बात है । मेरा ज्ञानभाव अविनश्वर है, उसको तो कोई हर नहीं सकता, इसने तो मेरे बाह्य प्राण हर

लिये हैं; परन्तु भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनाका विनाश नहीं किया। ऐसा जानकर सर्वथा क्षमा ही करना चाहिये ॥१८६॥

अथ सर्वचिन्तां निषेधयति युग्मेन—

जोइय चिंति म किं पि तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स।
तिल-तुस-मित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥१८७॥

योगिन् चिन्तय मा किमपि त्वं यदि भीतः दुःखस्य।
तिलतुषमात्रमपि शल्यं वेदनां करोत्यवश्यम् ॥१८७॥

आगे सब चिन्ताओंका निषेध करते हैं—(योगिन्) हे योगी, (त्वं) तू (यदि) जो (दुःखस्य) वीतराग परम आनन्दके शत्रु जो नरकादि चारों गतियोंके दुःख उनसे (भीतः) डर गया है, तो तू निश्चिन्त होकर परलोकका साधन कर, इस लोक की (किमपि मा चिंतय) कुछ भी चिन्ता मत कर। क्योंकि (तिलतुषमात्रमपि शल्यं) तिलके भूसे मात्र भी शल्य (वेदनां) मनको वेदना (अवश्यं करोति) निश्चयसे करती है।

भावार्थ—चिन्ता रहित आत्म-ज्ञानसे उलटे जो विषय कषाय आदि विकल्प-जाल उनकी चिन्ता कुछ भी नहीं करना। यह चिन्ता दुःखका ही कारण है, जैसे बाण आदिकी तृणप्रमाण भी सलाई महादुःखका कारण है, जब वह शल्य निकले, तभी सुख होता है ॥१८७॥

किंच—

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ।
जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥१८८॥

मोक्षं मा चिन्तय योगिन् मोक्षो न चिन्तितो भवति।
येन निबद्धो जीवः मोक्षं करिष्यति तदेव ॥१८८॥

आगे मोक्षकी भी चिन्ता नहीं करना, ऐसा कहते हैं—(योगिन्) हे योगी, अन्य चिन्ताकी तो बात क्या रही, (मोक्षं मा चिंतय) मोक्षकी भी चिन्ता मत कर, (मोक्षः) क्योंकि मोक्ष (चिंतितो न भवति) चिन्ता करनेसे नहीं होता, वांछाके त्यागसे ही होता है, रागादि चिन्ताजालसे रहित केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंको प्रगटता सहित

जो मोक्ष है, वह चिन्ताके त्यागसे होता है। यही कहते हैं—(येन) जिन मिथ्यात्व-रागादि चिन्ता-जालोंसे उपार्जन किये कर्मोंसे (जीवः) यह जीव (निबद्धः) बन्धा हुआ है, (तदेव) वे कर्म ही (मोक्षं) शुभाशुभ विकल्पके समूहसे रहित जो शुद्धात्मतत्त्वका स्वरूप उसमें लीन हुए परमयोगियोंकी मोक्ष (करिष्यति) करेंगे।

भावार्थ—वह चिन्ताका त्याग ही तुझको निस्सन्देह मोक्ष करेगा। अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी प्रगटता वह मोक्ष है। यद्यपि विकल्प सहित जो प्रथम अवस्था उसमें विषय कषायादि खोटे ध्यानके निवारण करनेके लिये और मोक्ष-मार्गमें परिणाम दृढ़ करनेके लिये ज्ञानीजन ऐसी भावना करते हैं, कि चतुर्गतिके दुःखोंका क्षय हो, अष्ट कर्मोंका क्षय हो, ज्ञानका लाभ हो, पंचमगतिमें गमन हो, समाधि मरण हो, और जिनराजके गुणोंकी सम्पत्ति मुझको हो। यह भावना चौथे पांचवें छट्ठे गुणस्थानमें करने योग्य है, तो भी ऊपरके गुणस्थानोंमें वीतराग निर्विकल्पसमाधिके समय नहीं होती ॥१८८॥

अथ चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपट्कमन्तरस्थलं कथ्यते। तद्यथा—

परम-समाहि-महा-सरहिं जे बुड्डहिं पइसेवि।
अप्पा थक्कइ विमलु तहं भव-मल जंति वहेवि ॥१८९॥

परमसमाधिमहासरसि ये मज्जन्ति प्रविश्य।
आत्मा तिष्ठति विमलः तेषां भवमलानि यान्ति ऊढ्वा ॥१८९॥

आगे चौबीस दोहोंके स्थलमें परमसमाधिके व्याख्यानकी मुख्यतासे छह दोहा-सूत्र कहते हैं—(ये) जो कोई महान् पुरुष (परमसमाधिमहासरसि) परमसमाधिरूप सरोवरमें (प्रविश्य) घुसकर (मज्जन्ति) मग्न होते हैं, उनके सब प्रदेश समाधिरसमें भींग जाते हैं, (आत्मा तिष्ठति) उन्हींके चिदानन्द अखण्ड स्वभाव आत्माका ध्यान स्थिर होता है। जो कि आत्मा (विमलः) द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे रहित महा-निर्मल है, (तेषां) जो योगी परमसमाधिमें रत हैं, उन्हीं पुरुषोंके (भवमलानि) शुद्धात्म-द्रव्यसे विपरीत अशुद्ध भावके कारण जो कर्म हैं, वे सब (वहित्वा यांति) शुद्धात्म परि-णामरूप जो जलका प्रवाह उसमें वह जाते हैं।

भावार्थ—जहां जलका प्रवाह आवे, वहां मल कैसे रह सकता है, कभी नहीं रहता ॥१८९॥

अथ—

सयल-वियप्पहं जो विलउ परम-समाहि भणंति ।
तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयलवि मेल्लिंति ॥१९०॥

सकलविकल्पानां यः विलयः (तं) परमसमाधिं भणन्ति ।
तेन शुभाशुभभावान् मुनयः सकलानपि मुञ्चन्ति ॥१९०॥

आगे परमसमाधिका लक्षण कहते हैं—(यः) जो (सकलविकल्पानां) निर्विकल्पपरमात्मस्वरूपसे विपरीत रागादि समस्त विकल्पोंका (विलयः) नाश होना, उसको (परमसमाधिं भणंति) परमसमाधि कहते हैं, (तेन) इस परमसमाधिसे (मुनयः) मुनिराज (सकलानपि) सभी (शुभाशुभविकल्पान्) शुभ अशुभ भावोंको (मुंचंति) छोड़ देते हैं ।

भावार्थ—परम आराध्य जो आत्मस्वरूप उसके ध्यानमें लीन जो तपोधन वे शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित जो शुद्धात्मद्रव्य उससे विपरीत जो अच्छे बुरे भाव उन सबको छोड़ देते हैं, समस्त परद्रव्यकी आशासे रहित जो निज शुद्धात्म स्वभाव उससे विपरीत जो इस लोक परलोककी आशा, वह जबतक मनमें स्थित में, तबतक यह जीव दुःखी है । ऐसा जानकर सब परद्रव्यकी आशासे रहित जो शुद्धात्मद्रव्य उसकी भावना करनी चाहिये । ऐसा ही कथन अन्य जगह भी है—आशारूप पिशाचसे घिरा हुआ यह जीव महान् भयंकर दुःख पाता है, जिन मुनियोंने आशा छोड़ी, उन्होंने सब दुःख दूर किये, क्योंकि दुःखका मूल आशा ही है ॥१९०॥

अथ—

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु ।
परम-समाहि-विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ॥१९१॥

घोरं कुर्वन् अपि तपश्चरणं सकलान्यपि शास्त्राणि जानन् ।
परमसमाधिविवर्जितः नैव पश्यति शिवं शान्तम् ॥१९१॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि जो परमसमाधिके विना शुद्ध आत्माको नहीं देख सकता—(घोरं तपश्चरणं कुर्वन् अपि) जो मुनि महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ भी

और (सकलानि शास्त्राणि) सब शास्त्रोंको (जानन्) जानता हुआ भी (परमसमाधि-विवर्जितः) जो परमसमाधिसे रहित है, वह (शांतं शिवं) शांतरूप शुद्धात्माको (नैव पश्यति) नहीं देख सकता।

भावार्थ—तप उसे कहते हैं, कि जिसमें किसी वस्तुकी इच्छा न हो। सो इच्छाका अभाव तो हुआ नहीं परन्तु कायक्लेश करता है, शीतकालमें नदीके तीर, ग्रीष्मकालमें पर्वतके शिखरपर, वर्षाकालमें वृक्षकी मूलमें महान् दुर्धर तप करता है। केवल तप ही नहीं करता शास्त्र भी पढ़ता है, सकल शास्त्रोंके प्रबन्धसे रहित जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप उससे रहित हुआ सीखता है, शास्त्रोंका रहस्य जानता है, परन्तु परमसमाधिसे रहित है, अर्थात् रागादि विकल्पसे रहित समाधि जिसके प्रगट न हुई, तो वह परमसमाधिके विना तप करता हुआ और श्रुत पढ़ता हुआ भी निर्मल ज्ञान दर्शनरूप तथा इस देहमें विराजमान ऐसे निज परमात्माको नहीं देख सकता। जो आत्मस्वरूप राग-द्वेष मोह रहित परमशांत है। परमसमाधिके विना तप और श्रुतसे भी शुद्धात्माको नहीं देख सकता।

जो निज शुद्धात्माको उपादेय जानकर ज्ञानका साधक तप करता है, और ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय जो जैनशास्त्र उनको पढ़ता है, तो परम्परा मोक्षका साधक है। और जो आत्माके श्रद्धान विना कायक्लेशरूप तप ही करे, तथा शब्दरूप ही श्रुत पढ़े, तो मोक्षका कारण नहीं है, पुण्यबन्धके कारण होते हैं। ऐसा ही परमानन्दस्तोत्रमें कहा है, कि जो निर्विकल्प समाधि रहित जीव हैं, वे आत्मस्वरूपको नहीं देख सकते। ब्रह्मका रूप आनन्द है, वह ब्रह्म निज देहमें मौजूद है; परन्तु ध्यानसे रहित जीव ब्रह्मको नहीं देख सकते, जैसे जन्मका अन्धा सूर्यको नहीं देख सकता है ॥१९१॥

अथ—

विसय-कसाय वि णिद्दलिवि जे ण समाहि करंति।
ते परमप्पहं जोइया णवि आराहय होंति ॥१९२॥

विषयकषायानपि निर्दल्य ये न समाधिं कुर्वन्ति।
ते परमात्मनः योगिन् नैव आराधका भवन्ति ॥१९२॥

आगे विषय कषायोंका निषेध करते हैं—(ये) जो (विषयकषायानपि) समाधिको धारणकर विषय कषायोंको (निर्दल्य) मूलसे उखाड़कर (समाधिं) तीव्र गुप्तिरूप परमसमाधिको (न कुर्वंति) नहीं धारण करते, (ते) वे (योगिन्) हे योगी, (परमात्माराधकाः) परमात्माके आराधक (नैव भवंति) नहीं हैं।

भावार्थ—ये विषय कषाय शुद्धात्मतत्त्वके शत्रु हैं, जो इनका नाश न करे, वह स्वरूपका आराधक कैसा ? स्वरूपको वही आराधता है, जिसके विषय कषायका प्रसंग न हो, सब दोषोंसे रहित जो निज परमात्मा उसकी आराधनाके घातक विषय कषायके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं है। विषय कषायकी निवृत्तिरूप शुद्धात्माकी अनुभूति वह वैराग्यसे ही देखी जाती है। इसलिये ध्यानका मुख्य कारण वैराग्य है। जब वैराग्य हो तब तत्त्वज्ञान निर्मल हो, सो वैराग्य और तत्त्वज्ञान ये दोनों परस्परमें मित्र हैं। ये ही ध्यानके कारण हैं, और बाह्याभ्यन्तर परिग्रहके त्यागरूप निर्ग्रन्थपना वह ध्यानका कारण है। निश्चित आत्मानुभूति ही स्वरूप है जिसका ऐसे जो मनका वश होना, वह वीतराग निर्विकल्पसमाधिका सहकारी है, और बाईस परीषहोंका जीतना, वह भी ध्यानका कारण है। ये पांच ध्यानके कारण जानकर ध्यान करना चाहिए। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि संसार शरीर भोगोंसे विरक्तता, तत्त्वविज्ञान, सकल परिग्रहका त्याग, मनका वश करना, और बाईस परीषहोंका जीतना—ये पांच आत्म-ध्यानके कारण हैं ॥१९२॥

अथ—

परम-समाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति।
ते भव-दुक्खइं बहुविहइं कालु अणंतु सहंति ॥१९३॥

परमसमाधिं धृत्वापि मुनयः ये परब्रह्म न यान्ति।
ते भवदुःखानि बहुविधानि कालं अनन्तं सहन्ते ॥१९३॥

आगे परमसमाधिकी महिमा कहते हैं—(ये मुनयः) जो कोई मुनि (परमसमाधिं) परमसमाधिको (धृत्वापि) धारण करके भी (परब्रह्म) निज देहमें ठहरे हुए केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप निज आत्माको (न यांति) नहीं जानते हैं, (ते) वे शुद्धात्मभावनासे रहित पुरुष (बहुविधानि) अनेक प्रकारके (भवदुःखानि) नारकादि भवदुःख आधि, व्याधिरूप (अनंतं कालं) अनन्तकालतक (सहंते) भोगते हैं।

भावार्थ—मनके दुःखको आधि कहते हैं, और तनुसम्बन्धी दुःखोंको व्याधि कहते हैं, नाना प्रकारके दुःखोंको अज्ञानी जीव भोगता है। ये दुःख वीतराग परम आह्लादरूप जो पारमार्थिक-सुख उससे विमुख है। यह जीव अनन्तकाल तक निज-स्वरूपके ज्ञान बिना चारों गतियोंके नाना प्रकारके दुःख भोग रहा है। ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्मामें स्थिर होके राग द्वेषादि समस्त विभावोंका त्यागकर निज स्वरूपकी ही भावना करनी चाहिये ॥१९३॥

अथ—

जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति।
परम—समाहि ण तामु केवुलि एमु भणंति ॥१९४॥

यावत् शुभाशुभभावाः नैव सकला अपि त्रुटचन्ति।
परमसमाधिर्न तावत् मनसि केवलिन एवं भणन्ति ॥१९४॥

आगे यह कहते हैं, कि जबतक इस जीवके शुभाशुभ भाव सब दूर न हों, तबतक परमसमाधि नहीं हो सकती—(यावत्) जबतक (सकला अपि) समस्त (शुभाशुभभावाः) सकल विकल्प—जालसे रहित जो परमात्मा उससे विपरीत शुभाशुभ परिणाम (नैव त्रुटचन्ति) दूर न हों-मिटें नहीं, (तावत्) तबतक (मनसि) रागादि विकल्प रहित शुद्ध चित्तमें (परमसमाधिः न) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परमसमाधि इस जीवके नहीं हो सकती (एवं) ऐसा (केवलिनः) केवली-भगवान् (भणंति) कहते हैं।

भावार्थ—शुभाशुभ विकल्प जब मिटें, तभी परमसमाधि होवे, ऐसी जिनेश्वर-देवकी आज्ञा है ॥१९४॥

इति चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिप्रतिपादकसूत्रषट्केन प्रथममन्तर-स्थलं गतम्।

तदनन्तरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरित्येकोऽर्थः तस्य चतुर्विधनामाभिधेयस्यार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा—

सयल-वियप्पहं तुट्टाहं सिव-पय-मग्गि वसंतु।
कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥१९५॥

सकलविकल्पानां त्रुटयतां शिवपदमार्गे वसन् ।
कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ।।१९५।।

इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें परमसमाधिके कथनरूप छह दोहोंका अन्तरस्थल हुआ ।

आगे तीन दोहोंमें अरहन्तपदका व्याख्यान करते हैं, अरहन्तपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो, या केवलज्ञानकी उत्पत्ति कहो—ये चारों अर्थ एकको ही सूचित करते हैं, अर्थात् चारों शब्दोंका अर्थ एक ही है—(**कर्मचतुष्के विलयं गते**) ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनी, और अन्तराय इन चार घातियाकर्मोंके नाश होनेसे (**आत्मा**) यह जीव (**अर्हन् भवति**) अरहन्त होता है, अर्थात् जब घातिया-कर्म विलय हो जाते हैं, तब अरहन्तपद पाता है, देवेन्द्रादिकर पूजाके योग्य हो वह अरहन्त है, क्योंकि पूजायोग्यको ही अरहन्त कहते हैं । पहले तो महामुनि हुआ (**शिवपदमार्गेवसन्**) मोक्षपदके मार्गरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें ठहरता हुआ (**सकल-विकल्पानां**) समस्त रागादि विकल्पोंका (**त्रुटयतां**) नाश करता है, अर्थात् जब समस्त रागादि विकल्पोंका नाश हो जावे, तब निर्विकल्प ध्यानके प्रसादसे केवलज्ञान होता है । केवलज्ञानीका नाम अर्हन्त है, चाहे उसे जीवन्मुक्त कहो । जब अरहन्त हुआ, तब भावमोक्ष हुआ, पीछे चार अघातियाकर्मोंको नाशकर सिद्ध हो जाता है । सिद्धको विदेहमोक्ष कहते हैं । यही मोक्ष होनेका उपाय है ।।१९५।।

अथ—

केवल-णाणिं अणवरउ लोयालोउ मुणंतु ।
णियमें परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु ।।१९६।।

केवलज्ञानेनानवरतं लोकालोकं जानन् ।
नियमेन परमानन्दमयः आत्मा भवति अर्हन् ।।१९६।।

अब केवलज्ञानकी ही महिमा कहते हैं—(**केवलज्ञानेन**) केवलज्ञानसे (**लोका-लोकं**) लोक अलोकको (**अनवरतं**) निरन्तर (**जानन्**) जानता हुआ (**नियमेन**) निश्चयसे (**परमानंदमयः**) परम आनन्दमयी (**आत्मा**) यह आत्मा ही रत्नत्रयके प्रसादसे (**अर्हन्**) अरहन्त (**भवति**) होता है ।

भावार्थ—समस्त लोकालोकको एक ही समयमें केवलज्ञानसे जानता हुआ अरहन्त कहलाता है। जिसका ज्ञान जाननेके क्रमसे रहित है। एक ही समयमें समस्त लोकालोकको प्रत्यक्ष जानता है, आगे पीछे नहीं जानता। सब क्षेत्र, सब काल, सब भावको निरन्तर प्रत्यक्ष जानता है। जो केवलीभगवान् परम आनन्दमयी हैं। वीतराग परमसमरसीभावरूप जो परम आनन्द अतीन्द्रिय अविनाशी सुख वही जिसका लक्षण है। निश्चयसे ज्ञानानन्दस्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१९६॥

अथ—

जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंद-सहाउ।
सो परमप्पउ परम-परु सो जिय अप्प-सहाउ ॥१९७॥

यः जिनः केवलज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः।
सः परमात्मा परमपरः स जीव आत्मस्वभावः ॥१९७॥

आगे ऐसा कहते हैं, कि केवलज्ञान ही आत्माका निजस्वभाव है, और केवलीको ही परमात्मा कहते हैं—(यः जिनः) जो अनन्त संसाररूपी वनके भ्रमणके कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी बैरो उनका जीतनेवाला वह (केवलज्ञानमयः) केवलज्ञानादि अनन्त गुणमयी है (परमानन्दस्वभावः) और इन्द्रिय विषयसे रहित आत्मीक रागादि विकल्पोंसे रहित परमानन्द ही जिसका स्वभाव है, ऐसा जिनेश्वर केवलज्ञानमयी अरहन्तदेव (सः) वही (परमात्मा) उत्कृष्ट अनन्त ज्ञानादि गुणरूप लक्ष्मीवाला आत्मा परमात्मा है। उसीको वीतराग सर्वज्ञ कहते हैं, (जीव) हे जीव, वही (परमपरः) संसारियोंसे उत्कृष्ट है, ऐसा जो भगवान् वह तो व्यक्तिरूप है, और (सः आत्मस्वभावः) वह आत्माका ही स्वभाव है।

भावार्थ—संसार अवस्थामें निश्चयनयकर शक्तिरूप विराजमान है, इसलिये संसारीको शक्तिरूप जिन कहते हैं, और केवलीको व्यक्तिरूप कहते हैं। द्रव्यार्थिकनयकर जैसे भगवान् हैं, वैसे ही सब जीव हैं, इस तरह निश्चयनयकर जीवको परब्रह्म कहो, परमशिव कहो, जितने भगवान्के नाम हैं, उतने ही निश्चयनयकर विचारो तो सब जीवोंके हैं, सभी जीव जिनसमान हैं, और जिनराज भी जीवोंके समान हैं, ऐसा जानना। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है। जो सम्यग्दृष्टि जीवोंको जिनवर जाने, और जिनवरको जीव जाने, जो जीवोंकी जाति है, वही जिनवरकी जाति है, और जो जिनवरकी

जाति है, वही जीवोंकी जाति है, ऐसे महामुनि द्रव्यार्थिकनयकर जीव और जिनवरमें जातिभेद नहीं मानते, वे मोक्ष पाते हैं ।।१९७।।

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये अर्हदवस्थाकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण द्वितीयमन्तरस्थलं गतम् । अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशशब्दस्यार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

सयलहं कम्महं दोसहं वि जो जिणु देउ विभिण्णु ।
सो परमप्प-पयासु तुहुं जोइय णियमें मण्णु ॥१९८॥

सकलेभ्यः कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिनः देवः विभिन्नः ।
तं परमात्मप्रकाशं त्वं योगिन् नियमेन मन्यस्व ।।१९८।।

इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें अरहन्तदेवके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें दूसरा अन्तरस्थल कहा ।

आगे परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहते हैं—**(सकलेभ्यः कर्मभ्यः)** ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंसे **(दोषेभ्यः अपि)** और सब क्षुधादि अठारह दोषोंसे **(विभिन्नः)** रहित **(यः जिनदेवः)** जो जिनेश्वरदेव है, **(तं)** उसको **(योगिन् त्वं)** हे योगी, तू **(परमात्मप्रकाशं)** परमात्मप्रकाश **(नियमेन)** निश्चयसे **(मन्यस्व)** मान । अर्थात् जो निर्दोष जिनेन्द्रदेव हैं, वही परमात्मप्रकाश है ।

भावार्थ—रागादि रहित चिदानन्दस्वभाव परमात्मासे भिन्न जो सब कर्म वे ही संसारके मूल हैं । जगतके जीव तो कर्मोंकर सहित हैं, और भगवान् जिनराज इनसे मुक्त हैं, और सब दोषोंसे रहित हैं । वे दोष सब संसारी-जीवोंके लग रहे हैं, ज्ञायकस्वभाव आत्माके अनन्तज्ञान सुखादि गुणोंके आच्छादक हैं । उन दोषोंसे रहित जो सर्वज्ञ वही परमात्मप्रकाश हैं, योगीश्वरोंके मनमें ऐसा ही निश्चय है । श्रीगुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे योगिन्, तू निश्चयसे ऐसा ही मान, यही सत्पुरुषोंका अभिप्राय है ।।१९८।।

अथ—

केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।
सो जिण-देउ वि परम-मुणि परम-पयासु मुणंतु ॥१९९॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनन्तम् ।
स जिनदेवोऽपि परममुनिः परमप्रकाशं जानन् ।।१९९।।

फिर भी इसी कथनको दृढ़ करते हैं—(केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं) केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य (यदेव अनंतं) ये अनन्तचतुष्टय जिसके हों (स जिनदेवः) वही जिनदेव है, (परममुनिः) वही परममुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी है। क्या करता संता। (परमप्रकाशं जानन्) उत्कृष्ट लोकालोकका प्रकाशक जो केवलज्ञान वही जिसके परमप्रकाश है, उससे सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावको जाना हुआ परमप्रकाशक है। ये केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय एक ही समयमें अनन्तद्रव्य, अनन्तक्षेत्र, अनन्तकाल और अनन्तभावोंको जानते हैं, इसलिये अनन्त हैं, अविनश्वर हैं, इनका अन्त नहीं है, ऐसा जानना ।।१९९।।

अथ—

जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु ।
परम पयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विसुद्धु ॥२००॥

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः ब्रह्मापि बुद्धः ।
परमप्रकाशः भणन्ति मुनयः स जिनदेवो विशुद्धः ।।२००।।

आगे जिनदेवके ही अनेक नाम हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—(यः) जिस (परमात्मा) परमात्माको (मुनयः) मुनि (परमपदः) परमपद (हरिः हरः ब्रह्मा अपि) हरि महादेव ब्रह्मा (बुद्धः परमप्रकाशः भणंति) बुद्ध और परमप्रकाश नामसे कहते हैं, (सः) वह (विशुद्धः जिनदेवः) रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही है, उसीके ये सब नाम हैं।

भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानी उसे परमानन्द ज्ञानादि गुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते हैं। वही विष्णु है, वही महादेव है, उसीका नाम परब्रह्म है, सबका ज्ञायक होनेसे बुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामोंसे गाया जाता है। समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है, ऐसा जो अरहन्तदेव वही परमात्म परमपद, वही विष्णु, वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही सुगत, वही जिनेश्वर, और वही विशुद्ध—इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है। नाना रुचिके धारक ये संसारी जीव वे नाना प्रकारके नामोंसे जिनराजको आराधते हैं। ये

नाम जिनराजके सिवाय दूसरेके नहीं हैं। ऐसा ही दूसरे ग्रन्थोंमें भी कहा है—एक हजार आठ नामों सहित वह मोक्षपुरका स्वामी उसकी आराधना सब करते हैं। उसके अनन्त नाम और अनन्तरूप हैं। वास्तवमें नामसे रहित रूपसे रहित ऐसे भगवान् देवको हे प्राणियों, तुम आराधो ॥२००॥

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशशब्दार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण तृतीयमन्तरस्थलं गतम् ।

तदनन्तरं सिद्धस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति तद्यथा—

झाणें कम्म-क्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु ।
जिणवरदेवइं सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ॥२०१॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनन्तः ।
जिनवरदेवेन स एव जीव प्रभणितः सिद्धो महान् ॥२०१॥

इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थकी मुख्यता से तीन दोहोंमें तीसरा अन्तरस्थल कहा ।

आगे सिद्धस्वरूपके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं— (**ध्यानेन**) शुक्लध्यानसे (**कर्मक्षयं**) कर्मोंका क्षय (**कृत्वा**) करके (**मुक्तः भवति**) जो मुक्त होता है, (**अनंतः**) और अविनाशी है, (**जीव**) हे जीव, (**स एव**) उसे ही (**जिनवरदेवेन**) जिनवरदेवने (**महान् सिद्धः प्रभणितः**) सबसे महान् सिद्ध भगवान् कहा है ।

भावार्थ—अरहन्तपरमेष्ठी सकल सिद्धान्तोंके प्रकाशक हैं, वे सिद्ध परमात्मा को सिद्धपरमेष्ठी कहते हैं, जिसे सब संत पुरुष आराधते हैं। केवलज्ञानादि महान् अनन्तगुणोंके धारण करनेसे वह महान् अर्थात् सबमें बड़े हैं। जो सिद्धभगवान् ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मोंसे रहित हैं, और सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं। क्षायकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्यावाध—इन आठ गुणोंसे मण्डित हैं, और जिसका अन्त नहीं ऐसा निरञ्जनदेव विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत जो आर्त रौद्र खोटे ध्यान उनसे उत्पन्न हुए जो शुभ अशुभ कर्म उनका स्वसंवेदनज्ञानरूप शुक्लध्यानसे क्षय करके अक्षय पद पा लिया है। कैसा है शुक्लध्यान ? रागादि समस्त विकल्पोंसे रहित परम निराकुलतारूप है। यही ध्यान मोक्षका मूल है, इसीसे अनन्त सिद्ध हुए और होंगे ॥२०१॥

अथ—

अण्णु वि बंधु वि तिहुयणहं सासय-सुक्ख-सहाउ ।
तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥२०२॥

अन्यदपि बन्धुरपि त्रिभुवनस्य शाश्वतसौख्यस्वभावः ।
तत्रैव सकलमपि कालं जीव निवसति लब्धस्वभावः ॥२०२॥

आगे फिर भी सिद्धोंकी महिमा कहते हैं—(अन्यदपि) फिर वे सिद्धभगवान् (त्रिभुवनस्य) तीन लोकके प्राणियोंका (बंधुरपि) हित करने वाले हैं, (शाश्वतसुखस्वभावः) और जिनका स्वभाव अविनाशी सुख है, और (तत्रैव) उसी शुद्ध क्षेत्रमें (लब्धस्वभावः) निजस्वभावको पाकर (जीव) हे जीव, (सकलमपि कालं) सदा काल (निवसति) निवास करते हैं, फिर चतुर्गतिमें नहीं आवेंगे ।

भावार्थ—सिद्धपरमेष्ठी तीनलोकके नाथ हैं, और जिनका भव्यजीव ध्यान करके भवसागरसे पार होते हैं, इसलिये भव्योंके बन्धु हैं, हितकारी हैं । जिनका रागादि रहित अव्याबाध अविनाशी सुख स्वभाव है, ऐसे अनन्तगुणरूप वे भगवान् उस मोक्ष पदमें सदा काल विराजते हैं । जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वभाव पा लिया है, अनन्तकाल बीत गये, और अनन्तकाल आवेंगे, परन्तु वे प्रभु सदाकाल सिद्धक्षेत्रमें बस रहे हैं । समस्त काल रहते हैं, इसके कहनेका प्रयोजन यह है, कि जो कोई ऐसा कहते हैं, कि मुक्त-जीवोंका भी संसारमें पतन होता है, सो उनका कहना खंडित किया गया ॥२०२॥

अथ—

जम्मण-मरण-विवज्जियउ चउ-गइ-दुक्ख विमुक्कु ।
केवल-दंसण-णाणमउ णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥२०३॥

जन्ममरणविवर्जितः चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ।
केवलदर्शनज्ञानमयः नन्दति तत्रैव मुक्तः ॥२०३॥

आगे फिर भी सिद्धोंका ही वर्णन करते हैं—(जन्ममरणविवर्जितः) वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी जन्म और मरणकर रहित हैं, (चतुर्गतिदुःखविमुक्तः) चारों गतियोंके दुःखोंसे रहित हैं, (केवलदर्शनज्ञानमयः) और केवलदर्शन केवलज्ञानमयी हैं, ऐसे

(मुक्त) कर्म रहित हुए (तत्रैव) अनन्तकालतक उसी सिद्धक्षेत्रमें (नंदति) अपने स्वभावमें आनंदरूप विराजते हैं ।

भावार्थ— सहज शुद्ध परमानंद एक अखण्ड स्वभावरूप जो आत्मसुख उससे विपरीत जो चतुर्गतिके दुःख उनसे रहित हैं, जन्म-मरणरूपरोगोंसे रहित हैं, अविनश्वर-पुरमें सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संसारी जीवोंकी तरह विचाररूप नहीं है, कि किसीको पहले जानें, किसीको पीछे जानें, उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल, और सब भावोंको जानता है । लोका-लोकप्रकाशी आत्मा निज भाव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य-मयी है । ऐसे अनन्त गुणोंके सागर भगवान् सिद्धपरमेष्ठी स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावरूप चतुष्टयमें निवास करते हुए सदा आनन्दरूपलोकके शिखरपर विराज रहे हैं, जिसका कभी अन्त नहीं, उसी सिद्धपदमें सदा काल विराजते हैं, केवलज्ञान दर्शन कर घट-घटमें व्यापक हैं । सकल कर्मोपाधि रहित महा निरुपाधि निराबाधपना आदि अनन्तगुणों सहित मोक्षमें आनन्द विलास करते हैं ॥२०३॥

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमन्तरस्थलं गतम् । अथानन्तरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रत्रय-पर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तथाहि—

जे परमप्प-पयासु मुणि भावि भावहिं सत्थु ।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहिं परमत्थु ॥२०४॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयन्ति शास्त्रम् ।
मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यन्ति परमार्थम् ॥२०४॥

इस तरह चौबीस दोहोंवाले महास्थलमें सिद्धपरमेष्ठीके व्याख्यानकी मुख्यता कर तीन दोहोंमें चौथा अन्तरस्थल कहा ।

आगे तीन दोहोंमें परमात्मप्रकाशकी भावनामें लीन पुरुषोंके फलको दिखाते हुए व्याख्यान करते हैं—(ये मुनयः) जो मुनि (भावेन) भावोंसे (परमात्मप्रकाशं शास्त्रं) इस परमात्मप्रकाश नामा शास्त्रका (भावयंति) चिन्तवन करते हैं, सदैव इसीका अभ्यास करते हैं, (जीव) हे जीव, (ते) वे (सकलं मोहं) समस्त मोहको (जित्वा) जीतकर (परमार्थं बुध्यंति) परमतत्त्वको जानते हैं ।

भावार्थ—जो कोई सब परिग्रहके त्यागी साधु परमात्मस्वभावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाशनामा ग्रन्थको समस्त रागादि खोटे ध्यानरहित जो शुद्धभाव उससे निरन्तर विचारते हैं, वे निर्मोह परमात्मतत्त्वसे विपरीत जो मोहनामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड़ देते हैं, मिथ्यात्व रागादिकोंको जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानन्द स्वभाव जो परमात्मा उसको अच्छी तरह जानते हैं ॥२०४॥

अथ—

अण्णु वि भत्तिए जे मुणहिं इहु परमप्प-पयासु ।
लोयालोय-पयासयरु पावहिं ते वि पयासु ॥२०५॥

अन्यदपि भक्त्या ये जानन्ति इमं परमात्मप्रकाशम् ।
लोकालोकप्रकाशकरं प्राप्नुवन्ति तेऽपि प्रकाशम् ॥२०५॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं—(**अन्यदपि**) और भी कहते हैं, (**ये**) जो कोई भव्य जीव (**भक्त्या**) भक्तिसे (**इमं परमात्मप्रकाशं**) इस परमात्मप्रकाश शास्त्रको (**जानन्ति**) पढ़ें, सुने, इसका अर्थ जानें, (**तेऽपि**) वे भी (**लोकालोकप्रकाशकरं**) लोकालोकको प्रकाशनेवाले (**प्रकाशं**) केवलज्ञान तथा उसके आधारभूत परमात्मतत्त्वको शीघ्र ही पा सकेंगे । अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मतत्त्वका भी है, और इस ग्रन्थका भी है, सो परमात्मप्रकाश ग्रन्थके पढ़नेवाले दोनों ही को पावेंगे । प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है, उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा अनन्त गुण पर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकालोकका प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उसे तुरन्त ही पावेंगे ॥२०५॥

अथ—

जे परमप्प-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहं तिहुयण-णाह हवंति ॥२०६॥

ये परमात्मप्रकाशस्य अनुदिनं नाम गृह्णन्ति ।
त्रुटयति मोहः झटिति तेषां त्रिभुवननाथा भवन्ति ॥२०६॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके पढ़नेका फल कहते हैं—(**ये**) जो कोई भव्य जीव (**परमात्मप्रकाशस्य**) व्यवहारनयसे परमात्माके प्रकाश करनेवाले इस ग्रन्थका

तथा निश्चयनयसे केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित परमात्मपदार्थका (अनुदिनं) सदैव (नाम गृह्णन्ति) नाम लेते हैं, सदा उसीका स्मरण करते हैं, (तेषां) उनका (मोहः) निर्मोह आत्मद्रव्यसे विलक्षण जो मोहनामा कर्म (झटिति त्रुट्यति) शीघ्र ही टूट जाता है, और वे (त्रिभुवननाथा भवंति) शुद्धात्म तत्त्वकी भावनाके फलसे पूर्व देवेन्द्र चक्रवर्त्यादिकी महान् विभूति पाकर चक्रवर्तीपदको छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञानको उत्पन्न कराके तीन भुवनके नाथ होते हैं, यह सारांश है ॥२०६॥

एवं चतुर्विंशतिसूत्र प्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशभावनाफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

अथ परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मा तदाराधकपुरुषलक्षणज्ञापनार्थं सूत्रत्रयेण व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

जे भव-दुक्खहं बीहिया पउ इच्छहिं णिव्वाणु ।
इह परमप्प-पयासयहं ते पर जोग्ग वियाणु ॥२०७॥

ये भवदुःखेभ्यः भीताः पदं इच्छन्ति निर्वाणम् ।
इह परमात्मप्रकाशकस्य ते परं योग्या विजानीहि ॥२०७॥

इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें परमात्मप्रकाशकी भावनाके फलके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहोंमें पांचवां अन्तरस्थल कहा ।

आगे परमात्मप्रकाश शब्दसे कहा गया जो प्रकाशरूप शुद्ध परमात्मा उसकी आराधनाके करनेवाले महापुरुषोंके लक्षण जाननेके लिये तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—(ते परं) वे ही महापुरुष (अस्य परमात्मप्रकाशकस्य) इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थके अभ्यास करनेके (योग्याः विजानीहि) योग्य जानो, (ये) जो (भवदुःखेभ्यः) चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंसे (भीताः) डर गये हैं, और (निर्वाणं पदं) मोक्षपदको (इच्छंति) चाहते हैं ।

भावार्थ—व्यवहारनयकर परमात्मप्रकाशनामा ग्रन्थकी और निश्चयनयकर निर्दोष परमात्मतत्त्वकी भावनाके योग्य वे ही हैं, जो रागादि विकल्प रहित परम आनन्दरूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय अविनश्वर सुखसे विपरीत जो नरकादि संसारके दुःख उनसे डर गये हैं, जिनको चतुर्गतिके भ्रमणका डर है, और जो सिद्धपरमेष्ठीके निवास मोक्षपदको चाहते हैं ॥२०७॥

अथ—

जे परमप्पहं भत्तियर विसय ण जे वि रमंति ।
ते परमप्प-पयासयहं मुणिवर जोग्ग हवंति ॥२०८॥

ये परमात्मनो भक्तिपराः विषयान् न येऽपि रमन्ते ।
ते परमात्मप्रकाशकस्य मुनिवरा योग्या भवन्ति ॥२०८॥

आगे फिर भी उन्हीं पुरुषोंकी महिमा कहते हैं—(ये) जो (परमात्मनः भक्तिपराः) परमात्माकी भक्ति करनेवाले (ये) जो मुनि (विषयान् न अपि रमंते) विषयकषायोंमें नहीं रमते हैं, (ते मुनिवराः) वे ही मुनिश्वर (परमात्मप्रकाशस्य योग्याः) परमात्मप्रकाशके अभ्यासके योग्य (भवंति) हैं ।

भावार्थ—व्यवहारनयकर परमात्मप्रकाश नामका ग्रन्थ और निश्चयनयकर निजशुद्धात्मस्वरूप परमात्मा उसकी भक्तिमें जो तत्पर हैं, वे विषय रहित जो परमात्मतत्त्वकी अनुभूति उससे उपार्जन किया जो अतीन्द्रिय परमानन्दसुख उसके रसके आस्वादसे तृप्त हुए विषयोंमें नहीं रमते हैं । जिनको मनोहर विषय आकर प्राप्त हुए हैं, तो भी वे उनमें नहीं रमते ॥२०८॥

अथ—

णाण-वियक्खणु सुद्ध-मणु जो जणु एहउ कोइ ।
सो परमप्प-पयासयहं जोग्गु भणंति जि जोइ ॥२०९॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृशः कश्चिदपि ।
तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणन्ति ये योगिनः ॥२०९॥

आगे फिर भी यही कथन करते हैं—(यः जनः) जो प्राणी (ज्ञानविचक्षणः) स्वसंवेदनज्ञानकर विचक्षण [बुद्धिमान] हैं, और (शुद्धमनाः) जिसका मन परमात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो राग द्वेष मोहरूप समस्त विकल्प-जाल उसके त्यागसे शुद्ध है, (कश्चिदपि ईदृशः) ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो, (तं) उसे (ये योगिनः) जो योगीश्वर हैं, वे (परमात्मप्रकाशस्य योग्यं) परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य (भणंति) कहते हैं ।

भावार्थ—व्यवहारनयकर यह परमात्मप्रकाशनामा द्रव्यसूत्र और निश्चयनयकर शुद्धात्मस्वभावसूत्रके आराधनेको वे ही पुरुष योग्य हैं, जो कि आत्मज्ञानके प्रभावसे

सहा प्रवीण हैं, और जिनके मिथ्यात्व राग द्वेषादि मलकर रहित शुद्ध भाव हैं, ऐसे पुरुषोंके सिवाय दूसरा कोई भी परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य नहीं है ॥२०९॥

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमाराधकपुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण षष्ठमन्तरस्थलं गतम् ।

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनन्तरमौद्धत्यपरिहारेण च सूत्रद्वयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

लक्खण-छंद-विवज्जियउ एहु परमप्प-पयासु ।
कुणइ सुहावइं भावियउ चउ-गइ-दुक्ख-विणासु ॥२१०॥

लक्षणछन्दोविवर्जितः एष परमात्मप्रकाशः ।
करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशम् ॥२१०॥

इस प्रकार चौबीस दोहोंके महास्थलमें आराधक पुरुषके लक्षण तीन दोहोंमें कहके छट्ठा अन्तरस्थल समाप्त हुआ ।

आगें शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा और उद्धतपनेके त्यागकी मुख्यताकर दो दोहे इस तरह तीन दोहोंमें व्याख्यान करते हैं—(**एष परमात्मप्रकाशः**) यह परमात्मप्रकाश (**सुभावेन भावितः**) शुद्ध भावोंकर भाया हुआ (**चतुर्गतिदुःखविनाशं**) चारों गतिके दुःखोंका विनाश (**करोति**) करता है । जो परमात्मप्रकाश (**लक्षणछंदोविवर्जितः**) यद्यपि व्यवहारनयकर प्राकृतरूप दोहा छन्दोकर सहित है, और अनेक लक्षणोंकर सहित है, तो भी निश्चयनयकर परमात्मप्रकाश जो शुद्धात्मस्वरूप वह लक्षण और छन्दोकर रहित है ।

भावार्थ—शुभ लक्षण और प्रबन्ध ये दोनों परमात्मामें नहीं हैं । परमात्मा शुभाशुभ लक्षणोंकर रहित है, और जिसके कोई प्रबन्ध नहीं, अनन्तरूप है, उपयोग-लक्षणमय परमानन्द लक्षणस्वरूप है, सो भावोंसे उसको आराधो, वही चतुर्गतिकेदुःखों का नाश करनेवाला है । शुद्ध परमात्मा तो व्यवहार लक्षण और श्रुतरूप छन्दोंसे रहित है, इनसे भिन्न निज लक्षणमयी है, और यह परमात्मप्रकाशनामा अध्यात्म-ग्रन्थ यद्यपि दोहेके छन्दरूप है, और प्राकृत लक्षणरूप है, परन्तु इसमें स्वसंवेदनज्ञानकी मुख्यता है, छन्द अलङ्कारादिकी मुख्यता नहीं है ॥२१०॥

अथ श्रीयोगीन्द्रदेव औद्धत्यं परिहरति—

इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुण-दोसु वि पुणरुत्तु ।
भट्ट-पभायर-कारणइं मइं पुणु पुणु वि पउत्तु ॥२११॥

अत्र न ग्राह्यः पण्डितैः गुणो दोषोऽपि पुनरुक्तः ।
भट्टप्रभाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम् ॥२११॥

आगे श्रीयोगीन्द्रदेव उद्धतपनेका त्याग दिखलाते हैं—(अत्र) श्रीयोगीन्द्रदेव कहते हैं, अहो भव्यजीवो, इस ग्रन्थमें (पुनरुक्तः) पुनरुक्तिका (गुणो दोषोऽपि) दोष भी (पंडितैः) आप पण्डितजन (न ग्राह्यः) ग्रहण नहीं करें, और कवि-कलाका गुण भी न लें, क्योंकि (मया) मैंने (भट्टप्रभाकर कारणेन) प्रभाकरभट्टके सम्बोधनेके लिये (पुनः पुनरपि प्रोक्तं) वीतराग परमानन्दरूप परमात्मतत्त्वका कथन बार-बार किया है।

भावार्थ—इस शुद्धात्म-भावनाके ग्रन्थमें पुनरुक्तका दोष नहीं लगता। समाधितन्त्र ग्रन्थकी तरह इस ग्रन्थमें भी बार-बार शुद्ध स्वरूपका ही कथन किया है, बारम्बार उसी अर्थका चिन्तवन है, ऐसा जानकर इसका रहस्य [अभिप्राय] बार-बार चिन्तवना। प्रभाकरभट्टकी मुख्यताकर समस्त जीवोंको सुखसे प्रतिबोध होनेके लिये इस ग्रन्थमें बार-बार बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्माका कथन किया है, ऐसा जानना ॥२११॥

अथ—

जं मइं किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।
तं वर-णाणि खमंतु महु जे बुज्झहिं परमत्थु ॥२१२॥

यन्मया किमपि विजल्पितं युक्तायुक्तमपि अत्र ।
तद् वरज्ञानिनः क्षाम्यन्तु मम ये बुध्यन्ते परमार्थम् ॥२१२॥

आगे श्रीयोगीन्द्राचार्य ज्ञानीजनोंसे प्रार्थना करते हैं, कि मैंने जो किसी जगह छन्द अलङ्कारादिमें युक्त अयुक्त कहा हो, तो उसे पण्डितजन परमार्थके जाननेवाले मुझपर क्षमा करें—(अत्र) इस ग्रन्थमें (यत्) जो (मया) मैंने (किमपि) कुछ भी (युक्तायुक्तमपि जल्पितं) युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे, तो (तत्) उसे (ये

वरज्ञानिनः) जो महान् ज्ञानके धारक (परमार्थं) परम अर्थको (बुध्यंते) जानते हैं, वे पण्डितजन (मम क्षाम्यंतु) मेरे ऊपर क्षमा करें।

भावार्थ—मेरी छद्मस्थकी बुद्धि है, जो कदाचित् मैंने शब्दमें, अर्थमें, तथा छन्द अलंकारमें, अयुक्त कहा हो, वह मेरा दोष क्षमा करो, सुधार लो, जो विवेकी परम अर्थको अच्छी तरह जानते हैं, वे मुझपर कृपा करो, मेरा दोष न लो। यह प्रार्थना योगीन्द्राचार्यने महामुनियोंसे की। जो महामुनि अपने शुद्ध स्वरूपको अच्छी तरह अपनेमें जानते हैं। जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यकर सहित हैं, ऐसे अपने स्वरूपको अपनेमें ही देखते हैं, जानते हैं, और अनुभवते हैं, वे ही इस ग्रन्थके सुननेके योग्य हैं. और सुधारनेके योग्य हैं ॥२१२॥

इति सूत्रत्रयेण सप्तममन्तरस्थलं गतम्। एवंसप्तभिरन्तरस्थलैश्चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितं महास्थलं समाप्तम्।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति—

जं तत्तं णाण-रूवं परम-मुणि-गणा णिच्च झायंति चित्ते,
जं तत्तं देह-चत्तं णिवसइ भुवणे सव्व-देहीण देहे।
जं तत्तं दिव्व-देहं तिहुवण-गुरुगं सिज्झए संत-जीवे,
तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णिय-मणे पावए सो हि सिद्धिं ॥२१३॥

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायन्ति चित्ते,
यत् तत्त्वं देहत्यक्तं निवसति भुवने सर्वदेहिनां देहे।
यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शान्तजीवे,
तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ॥२१३॥

इस प्रकार तीन दोहोंमें सातवां अन्तरस्थल कहा। इस तरह चौवीस दोहोंका महास्थल पूर्ण हुआ।

आगे एक स्रग्धरा नामके छन्दमें फिर भी इस ग्रन्थके पढ़नेका फल कहते हैं—(तत्) वह (तत्त्वं) निज आतम-तत्त्व (यस्य निजमनसि) जिसके मनमें (स्फुरति) प्रकाशमान हो जाता है, (स हि) वह ही साधु (सिद्धिं प्राप्नोति) सिद्धिको पाता है। कैसा है, वह तत्त्व? जो कि (शुद्धं) रागादि मल रहित है, (ज्ञानरूपं)

और ज्ञानरूप है, जिसको (परममुनिगणाः) परममुनीश्वर (नित्यं) सदा (चित्ते ध्यायंति) अपने चित्तमें ध्याते हैं, (यत् तत्त्वं) जो तत्त्व (भुवने) इस लोकमें (सर्वदेहिनां देहे) सब प्राणियोंके शरीरमें (निवसति) मौजूद है, (देहत्यक्तं) और आप देहसे रहित है, (यत् तत्त्वं) जो तत्त्व (दिव्यदेहं) केवलज्ञान और आनन्दरूप अनुपम देहको धारण करता है, (त्रिभुवनगुरुकं) तीनभुवनमें श्रेष्ठ है, (शांतजीवे सिध्यति) जिसको आराधकर शान्तपरिणामी सन्तपुरुष सिद्धपद पाते हैं।

भावार्थ—ऐसा वह चैतन्यतत्त्व जिसके चित्तमें प्रगट हुआ है, वही साधु सिद्धिको पाता है। अव्याबाध अनन्तसुख आदि गुणोंकर वह तत्त्व तीन लोकका गुरु है, सन्तपुरुषोंके ही हृदयमें वह तत्त्व सिद्ध होता है। कैसे हैं संत ? जो अपनी बड़ाई, अपनी प्रतिष्ठा और लाभादि समस्त मनोरथों और विकल्पजालोंसे रहित हैं, जिन्होंने अपना स्वरूप परमशान्तभावरूप पा लिया है ॥२१३॥

अथ ग्रन्थस्यावसाने मङ्गलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति—

परम-पय-गयाणं भासओ दिव्व काओ,
मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्व-जोओ।
विसय-सुह-रयाणं दुल्लहो जो हु लोए,
जयउ सिव-सरूवो केवलो को वि बोहो ॥२१४॥

परमपदगतानां भासको दिव्यकायः
मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः।
विषयसुखरतानां दुर्लभो यो हि लोके,
जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोऽपि बोधः ॥२१४॥

आगे ग्रन्थके अन्तमङ्गलके लिये आशीर्वादरूप नमस्कार करते हैं—(दिव्यकायः) जिसका ज्ञान आनन्दरूप शरीर है, अथवा (परमपदगतानां भासकः) अरहन्तपदको प्राप्त हुए जीवोंका प्रकाशमान परमौदारिकशरीर है, ऐसा परमात्मतत्त्व (जयतु) सर्वोत्कृष्टपनेसे वृद्धिको प्राप्त होवे। जो परमौदारिकशरीर ऐसा है, कि जिसका तेज हजारों सूर्योंसे अधिक है, अर्थात् सकल प्रकाशी है। जो परमपदको प्राप्त हुए केवली हैं, उनको तो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है, (मुनिवराणां) और जो महा-

मुनि हैं, उनके (मनसि) मनमें (दिव्ययोगः) द्वितीय शुक्लध्यानरूप वीतराग निर्वि-कल्पसमाधिरूप भास रहा है, (मोक्षदः) और मोक्षका देनेवाला है। (केवलः कोऽपि बोधः) जिसका केवलज्ञान स्वभाव है, ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति (शिवस्वरूपः) सदा कल्याणरूप है। (लोके) लोकमें (विषयसुखरतानां) शिवस्वरूप अनन्त परमात्माकी भावनासे उत्पन्न जो परमानन्द अतीन्द्रियसुख उससे विपरीत जो पांच इन्द्रियोंके विषय उनमें जो आसक्त हैं, उनको (यः हि) जो परमात्मतत्त्व (दुर्लभः) महा दुर्लभ है।

भावार्थ—इस लोकमें विषयी जीव जिसको नहीं पा सकते, ऐसा वह पर-मात्मतत्त्व जयवंत होवे ॥२१४॥

इस प्रकार "परमात्मप्रकाश" ग्रन्थमें पहले 'जे जाया झाणग्गियए' इत्यादि एकसौ तेबीस दोहे तीन प्रक्षेपकों सहित ऐसे १२६ दोहोंमें पहला अधिकार समाप्त हुआ। एकसौ चौदह दोहे तथा ५ प्रक्षेपक सहित ११९ दोहोंमें दूसरा महाधिकार कहा। और 'परु जाणंतु वि' इत्यादि एकसौ सात दोहोंमें तीसरा महाधिकार कहा। प्रक्षेपक और अन्तके दो छन्द उन सहित तीनसौ पैंतालीस दोहोंमें परमात्मप्रकाशका व्याख्यान "ब्रह्मदेवकृत टीका सहित" समाप्त हुआ।

टीकाकारका अंतिम कथन।

पंडवरामहिं णरवरहिं पुज्जिउ भत्तिभरेण।
सिरिसासणु जिणभासियउ णंदउ सुक्खसएहिं ॥१॥

[पाण्डवरामैः नरवरैः पूजितं भक्तिभरेण।
श्रीशासनं जिनभाषितं नन्दतु सुखशतैः ॥१॥]

इस ग्रन्थमें बहुधा पदोंकी संधि नहीं की, और वचन भी जुदे जुदे सुखसे समझनेके लिये रक्खे गये हैं, समझनेके लिये कठिन संस्कृत नहीं रक्खी, इसलिये यहां लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य, विशेषणके दोष न लेना। जो पंडितजन विशेषज्ञ हैं, वे ऐसा समझें, कि यह ग्रन्थ बालबुद्धियोंके समझानेके लिये सुगम किया है। इस परमात्मप्रकाशकी टीकाका व्याख्यान जानकर भव्यजीवोंको ऐसा विचार करना चाहिये, कि मैं सहज शुद्धज्ञानानन्द स्वभाव निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निजानन्द निरञ्जन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चय-रत्नत्रयमयी निर्विकल्पसमाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप आनन्दानुभूतिमात्र जो स्वसंवेदनज्ञान उससे गम्य हूँ, अन्य उपायोंसे गम्य नहीं हूँ। निर्विकल्प निजानन्द ज्ञानकर ही मेरी प्राप्ति है, पूर्ण हूँ। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ पांचों इन्द्रियोंके विषय व्यापार, मन वचन काय, द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म ख्याति पूजा लाभ, देखे सुने और अनुभवे भोगोंकी वांछारूप निदानबन्ध, माया मिथ्या ये तीन शल्यें इत्यादि विभाव परिणामोंसे रहित सब प्रपंचोंसे रहित मैं हूँ। तीन लोक, तीन कालमें, मन वचन कायकर, कृत कारित अनुमोदनाकर, शुद्ध निश्चयसे मैं आत्माराम ऐसा हूँ। तथा सभी जीव ऐसे हैं। ऐसी सदैव भावना करनी चाहिये।

अब टीकाकारके अन्तके श्लोकका अर्थ कहते हैं—युधिष्ठिर राजाको आदि लेकर पांच भाई पांडव और श्रीरामचन्द्र तथा अन्य भी विवेकी राजा हैं, उनसे अत्यन्त भक्तिकर यह जिनशासन पूजनीक है, जिसको सुर नाग भी पूजते हैं, ऐसा श्रीजिन-

भाषित शासन सैंकड़ों सुखोंके वृद्धिको प्राप्त होवे। यह परमात्मप्रकाश ग्रन्थका व्याख्यान प्रभाकरभट्टके सम्बोधनके लिये श्रीयोगीन्द्रदेवने किया, उसपर श्रीब्रह्मदेवने संस्कृतटीका की। श्रीयोगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टके समझानेके लिये तीनसौ पैंतालीस दोहे रचे, उसपर श्रीब्रह्मदेवने संस्कृतटीका पांच हजार चार (५००४) प्रमाण की। और उसपर दौलतरामने भाषावचनिकाके श्लोक अड़सठिसौ नब्बे (६८९०) संख्या-प्रमाण बनाये।

इस प्रकार श्रीयोगीन्द्राचार्यविरचित परमात्मप्रकाशकी
पं० दौलतरामकृत भाषाटीका समाप्त हुई।



॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्री समन्तभद्राचार्य विरचित-

वृहत् स्वयंभू स्तोत्र

[भाषा टीका सहित]

भाषा टीकाकार-

स्व० श्रीमान् ब्र० शीतलप्रसादजी वर्णी

ग्रंथ महा दुर्लभ भया, प्रति मिलती है नाहि।
तातें भाषा शुद्धकर, करू प्रकाशित ताहि॥

प्रेरक—

चारित्र-विभूषण श्री १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज

कुकनवाली चातुर्मास

सन् १९७९ वीर नि० सं० २५०६

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यविरचित-

स्वयंभू स्तोत्र टीका।

प्रेरणा प्रदाता मुनि श्री विवेक सागर जी द्वारा मंगलाचरण

दोहा—

आदिनाथ को नमन कर, सब चौबीस जिनेन्द्र। महावीर को प्रणमिहूं, विवेक सिंधु निर्ग्रन्थ।
संस्कृत स्तुति रचना करी, समंतभद्र आचार्य। जिन मुखाप्रवासिनि महा, जिनवाणी शिरधार्य॥
यह महा स्तुति गम्भीर है, अनुयोगों की द्वार। पढ़े सुने भवि जीव जो, पावे पद निर्वार॥
ग्रंथ महा दुर्लभ भया, प्रति है मिलती नाँहि। तातें भाषा शुद्ध कर, करूं प्रकाशित ताँहि॥
जो थे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, ज्ञान के सागर अहो। गुरुदेव त्रैकालिक नमोस्तु ज्ञानसिंध्वाचार्यजो।

टीकाकार द्वारा मंगलाचरण

वंदहु श्रीजिन आदि को, अंतनाम महावीर। परमातम सर्वज्ञ प्रभु, परम शान्त गम्भीर॥
गुरु गौतम को सुमरिके, कुंदकुंद गुरु ध्याय। जिनवाणी वंदन करूं, भवदधि पार कराय॥
वर्तमान चौबीस जिन, सम्बन्धी थुति सार। न्याय विराग सु आतम को, प्रगटावन दुखहार॥
समन्तभद्र आचार्य ने, रची सुमङ्गलदाय। प्रभाचन्द्र टीका करी, संस्कृत में रुचि लाय॥
बालबोध भाषा करूं, स्वपर हेतु सुखकार। तत्त्व सत्य दिप जाय ज्यों, मिथ्यापथ निरवार॥

(१) श्री आदिनाथ स्तुति

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले, समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वयंभुवा) जो अपने आप दूसरों के उपदेश बिना ही मोक्ष के मार्ग

को समझकर और उसको पालन कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य इन चार अपूर्व गुणों के धारी परमात्मा हो गये हैं (भूतहितेन) जिन्होंने सर्व प्राणियों को हितकारी ऐसे मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति का उपाय दिखलाया है तथा प्राप्त कराया है अर्थात् जो परम दयावान हैं (समंजसज्ञानविभूतिचक्षुषा) जिनके सर्व पदार्थों के तत्त्व को यथार्थ जानने वाली परम अतिशय रूप केवलज्ञानमयी दृष्टि प्रकाशमान है। (येन) जिसने (क्षपाकरेण इव) चन्द्रमा की तरह (गुणोत्करैः करैः) स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति के कारणरूप गुणों के समूह से भरपूर सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रमई किरणों से (तम विधुन्वता) ज्ञानावरण आदि कर्म रूप अंधकार को दूर कर दिया है, अथवा जिन्होंने निराबाध व यथार्थ अर्थ को प्रकाश करने वाले दूसरों के समझ में आने योग्य वचनरूपी किरणों से चन्द्रमा के समान दूसरे प्राणियों के अज्ञान रूपी अंधेरे को नाश कर दिया है, ऐसे श्री ऋषभदेव भगवान प्रथम तीर्थंकर (भूतले) इस पृथ्वी में (विराजितं) शोभायमान हैं।

भावार्थ—जैन सिद्धान्त में गुणों की ही पूजा है। यहां पर इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल में प्रसिद्ध चौबीस तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का स्तवन किया गया है। ऋषभदेव इक्ष्वाकु वंश के शिरोमणि श्री नाभिराजा और मरुदेवी माता के पुत्र थे। जन्म से ही मति श्रुत अवधि इन तीन सम्यग्ज्ञान के धारी थे। जिनको आत्मज्ञान स्वयं ही झलक रहा था। उनको किसी से उपदेश सुनने की जरूरत नहीं थी। उनके गुरु वे आप ही थे। ऐसे परम ज्ञानी महात्मा ऋषभदेव ने स्वयं ही आत्मध्यान के बल से अरहंत पद प्राप्त किया। वे जीवन्मुक्त परमात्मा हुए। उनको केवलज्ञान प्रगट होगया, जिससे सर्व अज्ञान मिट गया। सर्व पदार्थ एक साथ अपने अनन्त गुण व पर्याय सहित झलक गए। तब वे इन्द्र द्वारा रचित समवसरण में परम शोभा को प्रदर्शित करते हुए अर्थात् अपने ध्यानमई परम वीतराग शरीर की योगमुद्रा से वीतराग रस से पूर्ण आत्मानन्द के भोग की छटा को दिखलाते हुए तिष्ठे। तब स्वयं मोह के नाश होने से परोपकार की इच्छा न रखते हुए भी भव्य जीवों के पुण्य के उदय से भगवान की दिव्यवाणी रूपी किरणें प्रगट हुई। जिन्होंने उसी तरह सुनने वालों के सशय, अज्ञान व आलस्य भाव को मेट दिया, जिस तरह चन्द्रमा रात्रि के अंधेरे को अपनी किरणों से दूर कर देता है। क्योंकि भगवान आदिनाथ ने स्वयं धर्मपुरुषार्थ का साधन कर मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध किया व अपने उपदेश से सच्चा मोक्ष मार्ग वताकर अनेक जीवों का कल्याण किया। ऐसे स्वपर हितकारी परमात्मा का स्मरण हम इसीलिए करते हैं कि हमारे भीतर भी ऐसा ही पुरुषार्थ प्रगट हो, जो हम

परमात्म पद को पावें व हमारे द्वारा जगत के प्राणी भी लाभ उठा सकें। ऐसी स्तुति अपने आपको परम पद के लाभ के लिए उत्सुक बनाने वाली है।

गीता छन्द—

जो हुए हैं अरहंत आदी, स्वयं बोध सम्हार के। परम निर्मल ज्ञानचक्षु प्रकाश भवतम हारके॥
निज पूर्ण गुणमय वचन करसे,जग अज्ञान मिटा दिया। सो चन्द्र सम भवि जीव हितकर,जगतमांहि प्रकाशिया।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भगवान गृहस्थ अवस्था में रहे फिर उनको संसार से वैराग्य हुआ—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (प्रथमं) इस अवसर्पिणी काल के चतुर्थ काल में होने वाले सर्व राजाओं में प्रथम (प्रजापतिः) प्रजा के स्वामी थे। जिन्होंने (जिजीविषूः प्रजा) जीने की इच्छा रखने वाली प्रजा को (कृष्यादिषु कर्मसु) खेती सेवा आदि आजीविका के उपायों के करने की (शशास) शिक्षा दी अर्थात् प्रजा को कृषि आदि षट्कर्मों में जोड़ दिया। (पुनः) फिर (प्रबुद्धतत्त्वः) तत्त्वज्ञानी अर्थात् त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्व को जानने वाले व (अद्भुतोदयः) आश्चर्यकारी पुण्य को रखने वाले जिनके गर्भ जन्मादि कल्याणक इन्द्रादिक देवों ने बड़ी भक्ति से किये ऐसे (विदांवरः) तत्त्वज्ञानियों में या आत्मज्ञानियों में प्रधान श्री ऋषभदेव भगवान (ममत्वतः) संसार के मोह से व परिग्रह के ममत्व से (निर्विविदे) विरक्त होगए।

नोट—संस्कृत टीकाकार ने यहां प्रबुद्धतत्त्व के दो अर्थ किये हैं; एक तो यह कि वे ऋषभदेव भगवान मति श्रुत अवधि तीन ज्ञान के धारी थे व प्रजा के हित अहित को—उनके भाग्य को व उनके कर्तव्य को व किसे क्या करना चाहिये व कौन किसके योग्य है,इस बात को जानते थे। दूसरा अर्थ यह किया है कि त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्व के स्वरूप को जानते थे।

भावार्थ—सनातन जैन सिद्धान्त के अनुसार भरतक्षेत्र के हरएक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकर महापुण्याधिकारी हुआ करते हैं। इस वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे काल के अन्त में अर्थात् जब उसमें ८४ लाख पूर्व और तीन वर्ष साढ़े आठ मास शेष थे तब श्री ऋषभदेव भगवान यहां गर्भ में आये। उस समय इन्द्रादि

देवों ने बड़ी भक्ति से गर्भ का महा उत्सव किया। फिर जन्म लेने पर बड़े समारोह से प्रभु को ले जाकर सुमेरु पर्वत पर क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया। ऐसे भगवान पूर्व जन्म के संस्कार से जन्म से ही महात्मा थे, आत्मज्ञानी थे व मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान के अधिकारी थे—उनको विद्या पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ी। वे अपने व दूसरों के अगले पिछले जन्मों के चारित्र को भी अवधिज्ञान से जान सकते थे। ऋषभदेव भगवान के समय में वे कल्पवृक्ष—जिनसे प्रजा इच्छित भोजनादि सामग्री प्राप्त कर लेती थी, बिलकुल न रहे, तब प्रजा किंकर्त्तव्य मूढ़ होगई। उस समय किस तरह पेट पालना, इस चिन्ता से व्यथित हो प्रजा श्री ऋषभदेव की सेवा में आकर विनती करने लगी कि हमारी रक्षा का उपाय बतावें। तब गृहस्थ अवस्था ही में प्रभु ने अपने दिव्यज्ञान से विचार कर आजीविका साधन के छह कर्म बताए। असि कर्म, मसि कर्म, कृषि कर्म, वाणिज्य कर्म, शिल्प कर्म, विद्या या सेवा कर्म। और उस समय की प्रजा का निरीक्षण कर जो जिस कर्म के योग्य था उसको वह कर्म सौंप दिया और इस विचार से कि वह कर्म उसका खानदानी पेशा हो जावे जिसमें उसकी सन्तान शुरू से ही प्रवीण हो निकले यह व्यवस्था की, कि तीन वर्ण स्थापित कर दिये। जो असि कर्म या रक्षा कर्म के योग्य वीर थे उनको क्षत्रिय वर्ण में, जो लिखने के कर्म मसि, खेती व व्यापार योग्य कुछ शान्त प्रकृति के व चतुर थे उनको वैश्य वर्ण में, इनके सिवाय जो मन्द बुद्धि थे उनको शिल्प व विद्या या सेवा कर्म सौंपा गया और उनको शूद्र वर्ण में रक्खा। उस समय यह नियम कर दिया कि हर कोई अपनी-अपनी नियत आजीविका करे व जो इस नियम को उल्लंघन करेगा वह दण्ड का पात्र होगा। इस प्रकार प्रजा को संतोषपूर्वक व आकुलता रहित जीवन बिताने का सब मार्ग प्रभु ने गृहस्थावस्था में बताया और उसी का प्रचार किया। जब तक ८३ लाख पूर्व वर्ष नहीं हुए तब तक वे गृहस्थ ही में रहे। यद्यपि वे जन्म से सम्यग्दृष्टी थे. आत्मज्ञानी थे, (वैरागी थे, संसार शरीर भोगों से उदास थे,) (आत्मानन्द को ही सच्चा सुख समझते थे, विषय सुख को विषवत् जानते थे तथापि कषाय के उदय को इतना नहीं जीत सके थे जो एकदम से वैरागी हो जावें व त्यागी हो जावें)। देशविरत गुणस्थान के योग्य कषाय मौजूद थी इसी से वे विवाह करके रहे। भरत बाहुबलि आदि पुत्रों को व ब्राह्मी सुन्दरीपुत्रियों को जन्म दिया। उन सबको विद्या पढ़ाई व योग्य बनाया। मुनिव्रत धारण योग्य भाव को रोकने वाले प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से वे गृह में जल में कमलवत् रहे परन्तु त्याग न कर सके। स्वात्मानुभव के प्रताप से व आत्मा की उत्कृष्ट भावना के बल से प्रभु को जब

वैराग्य होगया तब वे गृह से व राज्यपाट आदि से वैराग्यवान होकर त्यागने का भाव करते हुए। इस श्लोक में इतना विवेचन इसीलिये स्वामी समंतभद्र ने किया है कि जब तक बाहरी व्रत नियम प्रतिज्ञा धारण के योग्य भीतर से कषाय न घटे—इच्छा न टले वहां तक बाहरी नियम प्रतिज्ञा या त्याग करना उचित नहीं है। कहा है—"ज्यों ज्यों तव घटे कषाया, त्यों त्यों जिन त्याग बताया।" धर्म का पालन गृहस्थ में रहते हुए भी हो सकता है। यह बात श्री ऋषभदेव के जीवन चरित्र से झलकती है। परन्तु पूर्ण मोक्ष मार्ग साधु पद में ही सध सकता है इसलिये उनको साधु पद भी धारना पडा था व तपस्या भी करनी पडी थी। गृहस्थ में रहकर एक क्षत्री किस प्रकार नीति से राज्य करता है, प्रजा को संतोषित रखता है, यह बात श्री ऋषभदेव के गृही जीवन से शिक्षा रूप मिलती है। प्रभु इतने उदासीन थे व विचारशील थे कि उन्होंने जब तक केवलज्ञान प्राप्त किया तब तक न गृही अवस्था में, न त्याग अवस्था में दूसरों को धर्म का उपदेश किया, न वे बाहरी धर्म क्रिया का साधन करते थे। मात्र अन्तरङ्ग आत्मानन्द के विचार में मगन रहते थे। सिद्ध स्वरूप का ही नित्य ध्यान किया करते थे। सिद्ध के समान अपनी आत्मा में विचार करते रहते थे।

गीता छन्द—

सो प्रजापति हो प्रथम जिसने, प्रजा को उपदेशिया। असि कृषि आदी कर्म से, जीवन उपाय बता दिया॥
फिर तत्त्वज्ञानी परम विद, अद्भुत उदय धर्तारने। संसार भोग ममत्व टालो, साध संयम धारने॥२॥

उत्थानिका—भगवान को वैराग्य होने के बाद उन्होंने क्या किया—

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधा—वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो ऋषभदेव वैराग्यवान हुए थे वे (मुमुक्षुः) संसार से पार होना चाहते थे, (इक्ष्वाकुकुलआदिः) इक्ष्वाकु वंश में आदि राजा थे (आत्मवान्) अपने इन्द्रियों को वश करके आत्मा के स्वरूप में तिष्ठने वाले थे, (प्रभुः) स्वतन्त्र थे, (सहिष्णुः) परीषहों को सहने के लिये शक्तिमान थे; (अच्युतः) व दुःसह परीषह का क्लेश पड़ने पर भी अपनी प्रतिज्ञा में लिये हुए व्रतों से डिगने वाले न थे—ऐसे महात्मा ने (सागरवारिवाससं) समुद्र पर्यन्त वस्त्रवाली (सतीम्) अपने पास होने वाली व दूसरे से न भोगी हुई ऐसी (इमां वसुधावधूम्) इस पृथ्वी रूपी महिला को (वधूम् इव) स्त्री के समान (विहाय) त्याग करके (प्रवव्राज) मुनि दीक्षा धारण करली।

भावार्थ—इस श्लोक में यह बताया गया है कि जिस प्रभु ने मुनि दीक्षा धारण

की उसमें इतने गुण थे-एक तो उनके तीव्र उत्कण्ठा थी कि हम इस असार व पराधीन व कटुक संसार से पार होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करें। दूसरे वे बड़े वीर थे. इक्ष्वाकु वंश के शिरोमणि क्षत्रिय शूर थे। तीसरे वे इन्द्रिय व मन को विजय करके आत्मा में आत्मस्थ होने वाले थे, चौथे वे किसी के आधीन न थे, पूर्ण स्वतन्त्र थे, पांचवें वे २२ परीषहों को सहने के लिए पूर्ण समर्थ थे, छठे वे घोर उपसर्ग आने पर भी अपने व्रत व तप में व ध्यान में निश्चल रहने वाले थे। ऐसे राजपुत्र ने उस पृथ्वी को छोड़ा जो समुद्र पर्यन्त फैली हुई थी व जो उनके पास थी हो तथा जो दूसरे से भोगी नहीं गई थी,उसको भी उसी तरह छोड़ा जिस तरहअपनी स्त्रियोंको त्यागा और साधु का चारित्र धार लिया। यहां पृथ्वी की उपमा महिला से दी है। पृथ्वी का वस्त्र समुद्र का पानी था। स्त्री का आवरण वस्त्र होता है। जैसे स्त्री सती व पतिव्रता होती है वैसे वह पृथ्वी दूसरे से अभोक्ता व विद्यमान अपनी थी। न होती को नहीं छोडा था, होती को छोड़ा था। कुलटा स्त्री को छोडना सुगम है, परन्तु पतिव्रता को छोडना कठिन है। न होती हुई वस्तु को छोड़ना सुगम है, होती हुई को त्यागना कठिन है। प्रभु ने बड़ा भारी साहस किया जो अपने पास होने वाली निष्कंटक समुद्र पर्यन्त राज्य पृथ्वी को त्याग दिया। और आकुलता मिटाकर निराकुल हो आत्म-ध्यान करने का पुरुषार्थ किया। इस श्लोक में यह बात सूचित की है कि जो मुनिपद धारण करे उसमें ऊपर लिखी योग्यता होनी चाहिये। उसमें मुमुक्षुपना, जितेंद्रियपना, स्वाधीनपना, सहनशीलता व प्रतिज्ञाबद्धपना अवश्य होना उचित है। जो इतने गुणों का धारी न होगा वह कदाचित् विषय वासना के आधीन हो जायगा,दुःखों के पड़ने पर घबड़ा जायगा व संयम से भ्रष्ट हो जायगा। जो ख्याति, पूजा, लाभादि के आधीन होकर साधु होगा वह कभी भी साधु का व्रत नहीं पाल सकता। उसकी वृत्ति में स्वाधीनता हो, मात्र स्वहित विचार कर ही तपस्या करता हो। ऐसा ही मुनि मोक्ष-मार्गी है। जो अंतर्मुहूर्त से अधिक प्रमाद में नहीं रह सकता है, जिसके अंतमुहूर्त पीछे ध्यानावस्था सप्तम गुणस्थान के योग्य होती ही हो, जो सर्व रसों का त्यागी होकर एक आत्मरस का पिपासु हो वही जैन का साधु होने योग्य है। दिखलाया यह है कि प्रभु में दीक्षा लेते वक्त मुनि के योग्य सर्वश्रेष्ठ गुण मौजूद थे।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में साधु के गुण कहते हैं—

यम-नियम-नितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा। परिणमितसमाधिः सर्व सत्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजाल समूलं। दहति निहित निद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२३॥

भावार्थ—जो साधु यम नियम में तल्लीन है, जिसका अन्तरङ्ग बहिरङ्ग सर्व शांत

है, जो सामायिक भाव में रंग रहा है, जो सर्व प्राणियों पर दयावान है, जो हितमित वचनों को कहने वाला है, जिसने निद्रा को जीत लिया है व जिसके आध्यात्मिक तत्त्व का पूर्ण निश्चय है वही साधु सर्व क्लेशों को जला डालता है।

गीता छन्द--

इन्द्रियजयी, इक्ष्वाकुवंशी मोक्ष की इच्छा करें। सो सहनशील सुगाढ़ व्रत में साधु संयम को धरें।।
निज भूमि महिला त्यागदी जो थी सती नारी समा। यह सिंधु जल है वस्त्र जिसका और छोड़ी सब रमा।

उत्थानिका--भगवान ने दीक्षा लेकर क्या किया--

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदाऽमृतेश्वरः ॥४॥

अन्वयार्थ--(यः) जिस आदिनाथ ऋषि ने (स्वदोषमूलं) अपने आत्मा सम्बन्धी अज्ञान और रागादि दोषों के मूल कारण चार घातिया कर्मों को (स्वसमाधितेजसा) अपनी आत्म-समाधि की अग्नि से अर्थात् शुक्लध्यान के प्रभाव से (निर्दयभस्मसात्क्रियां निनाय) निर्दयी होकर भस्मपने को प्राप्त कर दिया व (अर्थिने जगते) तत्त्वज्ञान के अभिलाषी जगत के प्राणियों के लिये (अंजसा) परमार्थ रूप से यथार्थ (तत्त्वं) जीवादि के स्वरूप को (जगाद) वर्णन किया (च) फिर वे (ब्रह्मपदाऽमृतेश्वरः बभूव) मोक्षपन के अनन्त सुख के स्वामी होगए, अर्थात् सिद्ध परमात्मा होगए।

भावार्थ--इस श्लोक में आचार्य ने तप, ज्ञान और निर्वाण तीनों अवस्था को स्मरण कर लिया है। श्री ऋषभदेव ने साधु होकर दिन रात आत्मानुभव रूपी अग्नि जलाने का पुरुषार्थ किया। उसी के बल से धर्म ध्यान की पूर्णता की, फिर शुक्लध्यान को प्रगटाया। इसी शुक्लध्यान के बल से सबसे पहले सर्व कर्मों के शिरोमणि मोहनीय कर्म का नाश किया, जिससे परम वीतराग भाव को क्षायिक सम्यक्त्व सहित प्राप्त किया। फिर अन्तर्मुहूर्त ठहरकर बारहवें गुणस्थान में शेष तीन घातिया कर्मों का भी नाश किया। ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के नाश से अज्ञानतम मिटा व केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। अन्तराय के नाश से अनन्त बल को प्राप्त किया। आत्मा में अनादिकाल से राग-द्वेष, मोह का, अज्ञान का व निर्बलता का दोष था, सो सब जड़मूल से नष्ट होगया। अब प्रभु केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा होगए। इस तीर्थङ्कर अवस्था में स्वामी ऋषभदेव बहुत काल रहे। और यत्र तत्र विहार कर मोक्ष-तत्त्व के अभिलाषियों को दिव्य-ध्वनि

द्वारा परमार्थ का उपदेश दिया। दीर्घकाल तक श्री ऋषभदेव का समवसरण विहार कर धर्मोपदेश सुनाता रहा जिससे अनेक जीवों ने धर्म का लाभ उठाया। आयु के अन्त के निकट आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों को नाशकर वे परम सिद्ध होगए। कैलाश पर्वत से मोक्ष हुए, उसी की सीध पर जाकर तीन लोक के अग्रभाग में ठहर गए—अविनाशी आनन्दरूपी अमृत का निरन्तर पान करने वाले परमेश्वर होगए। यहां यह बताया है कि आत्मा की निर्विकल्प समाधि या स्वानुभवरूप साधन से ही यह आत्मा निर्दोष पवित्र व वीतरागी होता है। परमात्मा होने का निश्चल आत्मध्यान ही एक उपाय है, और कोई उपाय नहीं है, न कभी था न होगा। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के ज्ञान में थिरता पाना ही आत्मध्यान है। श्री समयसार कलश में स्वामी अमृतचन्दजी कहते हैं—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमगम्यां। भूमिं श्रयन्ति कथमप्यवनीतमोहाः॥
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः। मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥२०/१०

भावार्थ—जो जिस तरह हो सके मोह भाव को हटाकर ज्ञान मात्र अपनी ही निश्चल आत्मभूमि का आश्रय लेते हैं अर्थात् अपने ही ज्ञानदर्शन स्वभाव में विश्रांति पाते हैं, वे ही मोक्ष के साधन को पाकर सिद्ध हो जाते हैं। जो मूढ़ अज्ञानी हैं वे इस भूमि को न पाकर भ्रमण किया करते हैं।

संस्कृत टीकाकार ने कहा है कि सर्वज्ञ वीतराग का ही कथन सत्य हो सकता है। तथा अरहन्त अवस्था में परमात्मा को भूख प्यास आदि की बिलकुल पीड़ा नहीं होती। जिसको ऐसी कोई पीडा हो वह कदाचित् कुछ का कुछ भी कह सके, सो अरहन्त परमात्मा के भूख प्यास को बाधा बिलकुल सम्भव नहीं है। न उनको किसी तरह ग्रास रूप भोजन करने की आवश्यकता है। वे निरन्तर आत्मस्थ रहते हैं, अनन्त वीर्यवान होते हुए कर्म की निर्बलता नहीं मालूम करते हैं। अनन्त सुखी होने से निरन्तर आनन्द का स्वाद लेते हैं। उनको न क्षुधादि का, न उसके मेटने का कोई कष्ट है, न विकल्प है, न प्रयत्न है। योगबल से उनका शरीर स्वयं ग्रहण होने वाली आहारक वर्गणाओं के द्वारा सदा पुष्ट रहता है। उनकी प्रवृत्ति साधारण साधु के समान नहीं होती है। वे एक अलौकिक महापुरुष हो गये हैं।

गीता छन्द

निज ध्यान अग्नि प्रभाव से रागादि मूलक कर्म को। करुणा विगर हैं भस्म कीने चार घाती कर्म को॥
अरहंत हो जग प्राणिहित सत् तत्त्व का वर्णन किया। फिर सिद्ध हो निज ब्रह्मपद अमृतमई सुख नित पिया॥

उत्थानिका—मीमांसक मतधारी कोई शिष्य शंका करता है कि भगवान ऋषभदेव को अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं हो सकता। जब वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते तब वे यथार्थ उपदेश कैसे कर सकते हैं ? इस शंका के समाधान में आचार्य कहते हैं—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ।।५।।

अन्वयार्थ—(सः) वह (नाभिनन्दनः) नाभि राजा चौदहवें कुलकर के पुत्र (वृषभः) धर्म से शोभायमान ऐसे सार्थक नामधारी श्री वृषभदेव महाराज (विश्वचक्षुः) जो जगत के सर्व पदार्थों को एक साथ देखनेवाले केवलज्ञान रूपी नेत्र के धारी हैं, (सतां अर्चितः) जो इन्द्र गणधरादि महान पुरुषों के द्वारा पूजित हैं, (निरंजनः) जो ज्ञानावरणादि कर्म रूपी अंजन से रहित पवित्र हैं, (समग्रविद्यात्मवपुः) जिनके आत्मा का शरीर सर्व जीवादि पदार्थों को जानने वाली विद्या रूप है। अर्थात् सर्व कर्मों के नाश होने से जिनका शरीर जड़-मई नहीं है किन्तु ज्ञान-रूप है, (जिनः) जो सर्व बाहरी व भीतरी आत्मा के शत्रुओं को जीतने वाले हैं, (जितक्षुल्लकवादिशासनः) तथा जो अल्प-ज्ञानियों के कहे हुए मतों को परास्त करने वाले हैं सो भगवान (मम चेतः पुनातु) मेरी आत्मा को पवित्र करो अर्थात् सर्व दोषों से शुद्ध करो ।

भावार्थ—श्री समन्तभद्राचार्य ने श्री ऋषभदेव की स्तुति करते हुए यह कहा है कि वह प्रभु धर्ममय हैं, केवलज्ञानी हैं, सर्व जड़ कर्म के सम्बन्ध रहित शुद्ध आत्मप्रदेशों के धारी ज्ञान शरीरी हैं, रागादि दोषों को जीतकर वीतरागी हैं व अयथार्थ मतों को, जिनको तुच्छ ज्ञानियों ने अपनी कल्पना से प्रगट किया है, साररहित बताने वाले हैं। और यह भावना भाई है कि उनके गुणों के स्तवन से मेरी आत्मा रागादि दोषों से रहित पवित्र हो जावे। इस बात से यह सूचित किया है कि ऐसा ही परमात्मा पूजने योग्य है जिसमें सर्वदा वीतराग व हितोपदेशीपने के गुण हों। तथा पूजक को कोई और बात की चाह न रखनी चाहिये—मात्र यही इच्छा रखनी चाहिये कि मेरे आत्मा के अज्ञान व रागादि दोष मिटें और वह पवित्र हो जावे अर्थात् स्वयं परमात्मा हो जावे। उच्च भावना का ही उच्च फल होता है। क्षणभंगुर पदों की या नाशवन्त धन धान्यादि की चाह करके वीतराग सर्वज्ञ देव की भक्ति करना उल्टा कषाय को पुष्ट करना है। जगत में क्रोधादि कषाय ही आत्मा के वैरी हैं, ये ही संसार बढ़ाने वाले हैं। इसलिये इनके नाश का ही पवित्र

उद्देश्य रखना उचित है। तब यह जीव यहां भी आत्मिक सुख शान्ति प्राप्त कर सकता है व भविष्य में भी अपना जीवन उच्च बना सकता है। श्री अमितिगति महाराज सुभाषित-रत्नसंदोह में कहते हैं-

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो॥ नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणा भ्रातभार्यासुखादि। कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो वृथा मे। पर्यालोच्येति जीव स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रयत्वम्॥

भावार्थ-ज्ञानी को उपदेश करते हैं कि ऐसा विचार कर कि मेरा आत्मा एक अकेला ही अविनाशी है, यही दुःख सुख को अकेला भोगने वाला है। यह ज्ञानदर्शन स्वभाव का धारी है। इस जगत में मेरा और कोई भी नहीं है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय, भाई, स्त्री व सांसारिक सुख आदि ये कोई भी मेरे नहीं हो सकते हैं, यह सर्व कर्मों के उदय से हुए हैं, चंचल हैं, दुःखकारी हैं। इनमें मेरा मोह करना वृथा है। तथा हे जीव! तू अपने हितकारी सच्चे मोक्ष मार्ग को धारण कर, इसीसे ही तू सुखी होगा। यही भावना हर एक धर्मात्मा जीव को परमात्म-भक्ति करते हुए भी रखनी चाहिये। तीर्थंकरों की स्तुति मात्र आत्म चिन्तन में प्रेरक है, इसीलिये जब निर्विकल्प समाधि या ध्यान में मन न लगे तब ही करनी योग्य है।

संस्कृत टीकाकार ने लिखा है कि नैयायिक ऐसी शंका करते हैं कि सर्व कर्मों के नाश होने के पूर्व जिनेश्वर को सर्वज्ञ कहते हो तो कहो; परन्तु सर्व कर्म नाश होने पर वह सर्वज्ञ नहीं रहता। उसके बुद्धि आदि सब विशेष गुणों का अत्यन्त नाश हो जाता है। यह कहना ठीक नहीं है। ज्ञान आत्मा का गुण है, गुण गुणी कभी अलग नहीं हो सकते हैं, कर्मों के नाश से ज्ञान पूर्ण प्रगट हो जाता है। सांख्यमत वाले भी मोक्ष में ज्ञान का अभाव मानते हैं। वे चैतन्य मात्र रह जाता है ऐसा तो मानते हैं तथापि कहते हैं कि ज्ञान प्रकृति के सम्बन्ध से रहता है। जब प्रकृति छूट गई तब ज्ञान भी नहीं रहा। यह भी कहना ठीक नहीं है। चेतना गुण ज्ञानदर्शनमय है। इसलिये परमात्मा ज्ञाता दृष्टापने से कभी शून्य नहीं हो सकता है। क्षुल्लक मत के विषय में टीकाकार ने उनको बतलाया है जिनके कर्ता सर्वज्ञ न थे व जिन्होंने एकान्त तत्त्व को बताया है। किन्हीं ने वस्तु को सर्वथा नित्य, किन्हीं ने सर्वथा क्षणिक ही कही है। श्री जिनेन्द्र भगवान ने पदार्थ को नित्य व अनित्य दोनों रूप देखा व वैसा कहा। द्रव्य जब स्वभाव की थिरता से नित्य है तब पर्याय के पलटने से अनित्य है। यही बात प्रत्यक्ष प्रगट है। तब इस सत्य को बताने वाले

श्री ऋषभदेव भगवान की बार-बार स्तुति करके अपने आपको कृतार्थ व पवित्र मान रहा हूँ। ऐसी भावना श्री समन्तभद्राचार्य जी कर रहे हैं।

गीता छन्द

जो नाभिनन्दन वृषभ जिन सब कर्म मलसे रहित हैं। जो ज्ञान तन धारी प्रपूजित साधुजन कर सहित हैं॥
जो विश्वलोचन लघु मतोंको जीतते निज ज्ञान से। सो आदिनाथ पवित्र कीजे आत्म मम अघ खानसे।५।

(२) श्री अजितनाथ स्तुतिः

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीवमुखारविन्दः।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाजित इत्यवन्ध्यम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(यस्य त्रिदिवच्युतस्य प्रभावात्) जिस स्वर्ग से च्युत होकर जन्म लेने वाले भगवान के महात्म्य से (क्रीड़ासु अपि अजेयाशक्तिः) महायुद्ध की तो बात ही क्या खेल-क्रीड़ा में भी दूसरे से न जीती जानेवाली शक्ति को प्राप्त करने वाले (क्षीवमुखारविन्दः) तथा अपने मुख कमल को हर्षित रखने वाले (बन्धुवर्गः) बंधु समूह ने (भुवि) इस लोक में (अजित इति नाम) उन भगवान का अजित ऐसा नाम (अवन्ध्यम्) सार्थक (चकार) रक्खा।

भावार्थ—इस श्लोक में आचार्य ने बताया है कि कोई शुद्ध ईश्वर परमात्मा कभी कहीं अवतार नहीं लेता है। यही संसारी जीव उन्नति करते-करते उच्च पद में आकर जन्म धारण कर लेता है। श्री अजितनाथ तीर्थंकर जो ऋषभदेव के बहुत काल पीछे क्षत्रिय वंश में जन्मे थे, विजय नाम अनुत्तर विमान से आए थे। उसके पहले भव में वे बड़े तपस्वी श्री विमलवाहन मुनि थे। उत्तम शुभोपयोग के कारण उन्होंने महापुण्य बन्ध किया था। जब वे अपनी माता के गर्भ में आए तब इनके पुण्य के बल से सर्व कुटुम्ब का भी तीव्र पुण्य उदय में आगया और उनको हर प्रकार विजय ही मिलने लगी। युद्ध में तो विजय मिलती ही थी, खेल कूद में भी वे विजय पाने लगे तथा उनका मुख पहले से बहुत अधिक प्रसन्न रहने लगा। जहां पुण्याधिकारी हों वहां सुख का सामान क्यों न हो ? इसी कारण बड़े प्रभावशाली तीर्थंकर नाम कर्म को रखने वाले आत्मा का नाम अजित रक्खा गया। आचार्य कहते हैं कि यह नाम निक्षेप से न था किन्तु सार्थक था। प्रभु वास्तव में

अजित थे। उनको न तो बाहरी कोई शत्रु जीत सकता था और न मोह जीत सकता था। वे मोहको जीतकर परम शुद्ध सम्यग्दर्शी महात्मा थे।

तीर्थंकरादि सर्व उच्चपद व अद्भुत साताकारी सामग्री सब पुण्य के उदय से ही प्राप्त होती है जैसा आत्मानुशासन में कहा है—

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि। संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१६॥

भावार्थ-जितने इन्द्रिय भोग सम्बन्धी पदार्थ व सुख हैं सो सर्व धर्मरूपी उपवन के वृक्षों के फल हैं। इसलिये तुमको उचित है कि अनेक उपायों से धर्मवृक्ष की रक्षा करो। शुद्धोपयोग धर्म में जितने अंश शुभोपयोग रहता है वह पुण्य बंध का कारण है।

मालिनी छन्द।

दिविसे प्रभु आकर जन्म जब मात लीना। वरके सब बन्धू मुख कमल हर्ष कीना॥
क्रीडा करते भी जिन विजय पूर्ण पाई। अजित नाम रक्खा जो प्रगट अर्थदाई॥६॥

उत्थानिका—भव्यजीव अपने इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि के लिये आज भी श्री अजितनाथ का नाम लेते हैं ऐसा कहते हैं—

अद्यापि यस्याजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम्।
प्रगृह्यते नाम परम-पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके॥ ७॥

अन्वयार्थ—(अद्यापि) आज भी (लोके) इस लोक में (स्वसिद्धिकामेन जनेन) अपने आत्मा की सिद्धि को व अपने इच्छित प्रयोजनको सिद्ध करने की इच्छा रखनेवाले मानव द्वारा (अजितशासनस्य) जिसका मत अनेकांत होने से दूसरों के द्वारा पराजित नहीं हो सकता (सतां प्रणेतुः) व जो भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करानेवाला है (यस्य) ऐसे भगवान अजितनाथ का (परम-पवित्रं नाम) परम पवित्र अर्थात् सर्व पाप मलके दूर करने का कारण ऐसा शुभ नाम (प्रतिमंगलार्थं) मंगल होने के अर्थ व इष्टकार्य की सिद्धि के निमित्त (प्रगृह्यते) लिया जाता है।

भावार्थ—यहां पर यह बताया है कि धन्य है श्री अजितनाथ भगवान का पवित्र आत्मा जिनके गर्भ में आते ही उनके कुटुम्ब को परम सिद्धि हुई व जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर अनेक जीवोंको मोक्षमार्ग बताया व जब श्री अजितनाथ हुए तबसे बराबर जिन्होंने उनका आराधन किया उनका कल्याण हुआ। आज भी इस पंचमकाल में जो कोई अपने आत्मा का हित सिद्ध करना चाहते हैं उनको श्री अजितनाथका नाम स्मरण

परम उपकारी है। उनके नाम लेने से उनके सर्व आत्मीक गुण बुद्धि के सामने उपस्थित हो जाते हैं। उनका अमोघ शासन स्मरण में आता है। उनको वस्तु का यथार्थ कथन ध्यान में आ जाता है। उनका उपदेश एकांत मत का निराकरण करने वाला है व अनेकांत मतका स्थापन करने वाला है जैसा कि वस्तुका स्वरूप है व जिसको स्वयं आचार्य इसी स्तोत्र में आगे दिखलायेंगे। तथा जिन्हों के उपदेश से अनेकों को मोक्षका मार्ग मिला व जो उपदेश अब भी सुनने वालों को मोक्षमार्ग पर प्रेरित करता है ऐसे प्रभु का नाम स्मरण परम कल्याणकारी है, आत्मानुभवकी तरफ झुकाने वाला है, हरएक नाम वाले पुरुष का बोध कराता है। नाम रखने का प्रयोजन ही यह है कि जिसका नाम है उसके स्वरूप का ज्ञान नाम लेते ही स्मरण में आजावे। एक नाम तो ऐसा होता है जो मात्र नाम ही होता है, जैसा नाम वैसा अर्थ उसमें नहीं होता है जिसका नाम रक्खा जाता है। जैसे किसी मानव का नाम इन्द्रचन्द्र रक्खा जाय तो भी यह नाम उसका तो अवश्य बोध कराता है जिसका इन्द्रचन्द्र नाम है। दूसरा नाम ऐसा भी होता है जो उस गुणका वाचक हो, जो उसमें हो, जिसका नाम रक्खा जावे। श्री अजितनाथ भगवान का नाम ऐसा ही है। पवित्र जो आत्मागुण हैं उनके नाम स्मरण से स्मरण करनेवाले का भाव पवित्र हो जाता है, जिससे पापों का नाश होता है, अंतराय कर्म का बल घटता है तथा जितना अंश उस पवित्र भाव में शुभराग हो जाता है उतना अंश पुण्यकर्म का बंध भी होता है। इसीलिये मंगल के लिये पूज्य पुरुषों का नाम लेना हितकर समझा जाता है। व्यवहार में प्रवर्तते हुए मुनिगण भी जब किसी शास्त्रका व धर्मोपदेश का व ग्रंथ सम्पादन का काम प्रारंभ करते हैं तो परमात्मा का नाम व गुण स्मरण रूप मंगलाचरण करते हैं। मंगल शब्द का अर्थ है कि जो मं अर्थात् पाप उसको गल–गलावे सो मंगल है। तथा मंग अर्थात् सुख को ल-लाति उत्पन्न करावे सो मंगल है। पूज्य पुरुषों के गुणों की तरफ उपयोग जाने से ही पाप गलता है, पुण्य बंधता है। इसीलिये प्रारंभिक कार्य में होने वाले विघ्नों के टालने में यह मंगलाचरण निमित्त कारण हो जाता है। गृहस्थ भी किसी भी धर्म कार्यको करते हुए मंगलाचरण करते हैं। लौकिक कार्यों के सम्पादन में भी गृहस्थ परमात्मा का नाम स्मरण करते रहते हैं। वह भी इसीलिये कि उस कार्य के होने में जो बाधक कोई अंतराय कर्म हो वह टल जावे। उसका बल घट जावे।

(जब यह सिद्धांत है कि पूज्य पुरुषोंकी भक्ति पाप गलाती है, पुण्य लाती है तब उसका उपयोग मात्र इस भावसे करना कि पाप हटे, पुण्य प्रगटे सम्यक्त्वमें बाधक नहीं है)

जहां यह माना जायगा कि परमात्मा का नाम लेंगे तो वह प्रसन्न होकर हमारा काम कर देगा अथवा नाम लेनेसे अवश्य काम हो ही जायगा, वहां पर सम्यक्त्व भाव बिगड़ जाता है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी नाम व गुण स्मरणसे कोई शर्त नहीं बांधता है। वह उदासीन भाव से अपना कर्तव्य करता है। यदि कार्य सफल होगया तो समझता है कि पाप कर्म हलका था, वह मङ्गलाचरणसे टल गया। यदि काम सफल न हुआ तो कुछ खेद नहीं मानता है। वह जानता है कि अंतराय कर्म तीव्र था इससे नहीं टला। जैसे प्रवीण रोगी औषधि सेवन करता है, औषधि कभी पूरा गुण करती है, कभी कम गुण करती है, कभी गुण नहीं करती हैं। यदि गुण नहीं करती है तो वह रोगी यही समझता है कि रोगकी प्रबलता है इससे गुण नहीं हुआ। वह औषधि बनानेवाले को दोषी नहीं ठहराता है। यदि रोग शमन हो गया तो औषधि का असर मात्र हुआ ऐसा मानता है, औषधि बनानेवाले की कोई अद्भुत करामात नहीं समझता है। परम पूज्य पुरुषों के नाम व गुण का स्मरण श्रद्धा व ज्ञान पूर्वक किया हुआ पाप—शमन व पुण्य--बंध का साधन है। संसारी रोगी प्राणी अपने पाप के शमन के लिये निरन्तर भगवान की नाम रूपी औषधि सेवन किया करता है। नाम मात्र ही लेने से पाप गलते हैं। गुणों के स्मरण की तो बात ही निराली है। श्री मानतुंगाचार्य भक्तामर स्तोत्र में कहते हैं—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं, त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति॥
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव, पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि॥१॥

भावार्थ—हे प्रभु! आपकी स्तुति तो सर्व रागादि दोषों को दूर करने वाली है, आपकी तो बात ही क्या! वह तो दूर रही आपका नाम मात्र ही जीवों के पापों को नाश कर डालता है। सूर्य की किरणों का प्रकाश तो दूर ही रहो, उनका सबेरे के समय कुछ उजाला सरोवरों के भीतर कमलों को प्रफुल्लित कर देता है, उनका उदासीनपन दूर हो जाता है। इसलिये श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे अजितनाथ भगवान! आपका नाम आत्मसिद्धि करने में व नाम लेने वाले के इष्ट प्रयोजन की सिद्धि करने में परम सहायक है। यद्यपि आप वीतराग भक्त पर कुछ भी अनुग्रह नहीं करते तथापि आपके नाम व गुण स्मरण में यह शक्ति है कि विना आपकी आत्मा के दखल दिये ही भक्त का पाप कट जाता है व उसे पुण्य का संचय होता है तथा आत्मानुभवकी जागृति का निमित्त हो जाता है। मालिनी छन्द।

अब भी जग लेते नाम भगवत् अजितका, सत् शिवमगदाता वर अजित तीर्थंकर का।
मंगल कर्ता है परमशुचि नाम जिनका, निज कारजका भी लेत नित नाम उनका॥७॥

उत्थानिका—किसलिये प्रभु कर्मबन्धको क्षय करके सर्वज्ञ हुए इस बात को बताते हैं—

यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(यथा) जैसे (मुक्तघनोपदेहः) बादलों के आच्छादन से छूटकर (भास्वान्) सूर्य (अरविन्दाभ्युदयाय) कमलों के विकास के लिये उदासीनपने निमित्त कारण हो जाता है। उसी तरह (यः महामुनिः) वे अजितनाथ भगवान प्रत्यक्ष ज्ञानी या गणधरों के स्वामी परम स्नातक (प्रभुशक्तिभूम्ना) जगत का उपकार करनेवाली अपनी वाणी के महात्म्य से अर्थात् अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जीवादि पदार्थों का सत्य स्वरूप का प्ररूपण करके उस परम पवित्र शासन के प्रभाव से (भव्याशयालीन-कलंकशान्त्यै) भव्यों के चित्त में जो अज्ञान व रागादि कलंक लगा हुआ था व उनका कारण ज्ञानावरणादि कर्मबंध था उसके नाश के लिये (प्रादुरासीत्) प्रकाशमान हुए।

भावार्थ—जैसे सूर्य स्वयं ही जब बादलों से ढका होता है तब उसका प्रकाश छिपा रहता है परन्तु जब मेघ चले जाते हैं तब वह स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। वह सूर्य अपने स्वभाव में काम करता रहता है। वह यह नहीं चाहता है कि मेरे प्रकाश से अंधकार टले व कमल प्रफुल्लित हों परन्तु ऐसा कुछ निमित्त नैमित्तिक वस्तु का स्वभाव है कि जब सूर्य का प्रकाश होगा तब अंधकार मिटे हो गा व कमलों का वन फूले ही गा। वैसे श्री अजितनाथ भगवान अपने ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश कर व केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा होकर आप ही प्रकाशमान हुए। परन्तु उनके प्रगट होने से यह वस्तु का स्वभाव है कि उनका तो अज्ञान मिटा ही परन्तु जगत का भी अज्ञान मिटा व भव्य जीवों को परम प्रसन्नता हुई। जैसे सूर्य की किरणें स्वभाव से ही फैलती हैं वैसे अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि स्वभाव से ही प्रगट होती है। उसको सुनकर भव्यजीवों के अभिप्राय में जो मिथ्यात्वका कलंक था जिससे वे अपने आत्मा के स्वरूप से विमुख थे व अनात्मा की तरफ सन्मुख थे व जिससे वे इन्द्रिय विषय सुख के लोलुपी थे व अतीन्द्रिय आत्मिक सुख के भोग से शून्य थे, वह कलंक दूर हो जाता है। तथा उनका पाप गल जाता है और वे उस सच्चे रत्नत्रय रूपी मोक्ष मार्ग को पा लेते हैं, जिसके ऊपर चलके वे भी श्री अरहन्त परमात्मा के समान अपना कर्म कलंक मिटाकर परमात्मा हो जाते हैं।

यहां पर आचार्य ने सूर्य का दृष्टांत देकर यही प्रगट किया है कि अरहंत भगवान बिलकुल इच्छा नहीं करते कि किसी का अज्ञान मिटे व किसी को मोक्षमार्ग मिले तथापि ऐसा कुछ वस्तु स्वभाव है कि उनकी वाणी खिर जाती है। और वह श्रोताओं के कानों में उनही की भाषा में जिसे वे समझते हैं ऐसी पड़ती है कि वे परम तृप्त हो जाते हैं और अपना अज्ञान मिटाके सम्यक्त्वी या सम्यग्ज्ञानी हो जाते हैं। प्रभु का अरहंतपना उनके लिये तो हितकर है ही। परन्तु दूसरों के लिये भी स्वयं ही उदासीनपने ऐसा हितकर होता है कि उनका भी परम कल्याण हो जाता है, वे भी उसी पथ के अनुयायी होकर अरहंत हो जाते हैं या मोक्षमार्ग का साधन मुनि या श्रावक या सम्यक्त्व भावमें करने लग जाते हैं। धन्य है श्री अजितनाथ भगवान की महिमा, जिसका गुणगान वाणी से हो नहीं सकता।

श्री अरहंत भगवान वीतराग होने पर भी किस तरह दूसरों के उपकार व अपकार में कारण पड़ जाते हैं इस बातको पात्र केशरी स्तोत्र में इस तरह बताया है—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि। क्षिपस्य कुपितोपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ।
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुध्यते यद्भवान्। न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम्॥८॥

भावार्थ—हे भगवान् ! जो आपकी स्तुति करते हैं उन पर आप राजी न होते हुए भी अनुपम सुख देते हैं अर्थात् वे स्वयं आत्मा में लय होकर आत्मानंद प्राप्त कर लेते हैं। तथा जो आपके साथ द्वेष रखते हैं अर्थात् आपको नहीं पहचान कर द्वेषी मोही देवादि की भक्ति में लीन हैं व आपकी निन्दा करते हैं उनपर आप क्रोध नहीं करते हैं तो भी वे दुर्गति में चले जाते हैं। तो भी हे ईश ! आपके अर्हत परमेष्ठीपने में कोई विरोध नहीं आता है; क्योंकि आप न तो द्वेष करते हैं न राग करते हैं, आप तो वीतराग भावमें ही लीन हैं।

मालिनी छन्द।

जिम सूर्य प्रकाशे, मेघदल को हटाकर। कमल बन प्रफुल्लें, सब उदासी घटाकर।
तिम मुनिवर प्रगटे, दिव्य वाणी छटाकर। भविगण आशय गत, मल कलंक मिटाकर। ८॥

उत्थानिका—भगवान ने प्रकाशमान होकर क्या किया—

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपंकशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः॥ ९॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस श्री अजितनाथ तीर्थंकर देवने (पृथु) महान् अर्थात् सर्व

पदार्थों को विषय करने वाले (ज्येष्ठं) व सर्व से उत्तम ऐसे (धर्मतीर्थं) उत्तम क्षमादि रूप व रत्नत्रय लक्षण रूप धर्म को जो संसार-समुद्र से पार करने के लिये तीर्थ रूप है (प्रणीतं) वर्णन किया है। [प्राप्य) जिसको समझ कर (जनाः) भव्य जीव (दुःखं) संसार भ्रमण के क्लेश को (जयंति) जीत लेते हैं अर्थात् संसार से पार हो जाते हैं (इव) जैसे (घर्मतप्ताः) तीव्र गर्मी के दुःख से पीड़ित (गजप्रवेका) बड़े २ हाथी (चंदनपंकशीतं) चंदन की कीचड़ के समान शीतल (गांगं हृदं) गंगा के कुण्ड को (प्राप्य दुःखं जयन्ति) पाकर व उसमें नहाकर अपने क्लेश से छूट जाते हैं व शांति पा लेते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने यह आशय प्रगट किया है कि भगवान श्री अजितनाथकी जो दिव्यध्वनि प्रगट हुई उसमें सर्वोत्तम व महान धर्मका स्वरूप प्रगट किया गया। तीर्थंकर भगवान का नाम तब ही सार्थक होता है जब वे उस तीर्थंको प्रकाश करते हैं जिसको स्वीकार कर भव्य जीव संसार समुद्र से पार हो जावें। वह तीर्थ एक धर्म है। सर्वज्ञ भगवान वीतराग हैं अतएव उन्होंने जो कुछ धर्म का सच्चा स्वरूप था उसे ही दिखाया है। उसमें कभी कोई बाधा नहीं आ सकती है। तथा वह नियम से मोक्ष द्वीप को प्राप्त कराने वाला है।। निश्चयनय से वह धर्म आत्मा का निज स्वभाव है। जब आत्मा अपने आत्मा को सर्व परद्रव्य, परभाव व परके निमित्त से होने वाले विभाव उन सबसे भिन्न एक अमूर्तीक अखंड ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि शुद्ध गुणोंका एक अमिट समूह रूप अविनाशी ऐसा समझता है और उस रूप ही विश्वास करता है तथा सर्व से रागद्वेष छोड़ कर एक अपने ही यथार्थ स्वरूप में तन्मय होता है उस समय निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व निश्चय चारित्र रूप एक अपने आत्मा का ही स्वानुभवगोचर भाव अपने में झलकता है। यही स्वसंवेदन ज्ञान रूप आत्मीक शुद्ध भाव है। वह ही धर्मतीर्थ है जिससे संसार के कारण रागद्वेष व कर्म बंध स्वयं कट जाते हैं और यह आत्मा शुद्ध होते होते परमात्मा हो जाता है। इस स्वानुभव रूप धर्म से बढ़कर कोई महान धर्म नहीं है। जब तक इसको न पावे, लाख तरह का लाखों वर्ष तप जप किया जावे वह कभी मोक्ष नहीं प्राप्त करा सकता है। यह धर्म स्वानुभवगोचर है। इसे कोई खण्डन नहीं कर सकता है। इसी धर्म को गंगा कुण्ड की उपमा दी है। जो संसारी भवाताप से पीड़ित हैं, तृष्णा के उद्वेग से अत्यन्त दुखी हैं. मिथ्यात्व के कारण भववनमें भटकते हुये संतापित हो रहे हैं वे जब इस स्वात्मानुभव रूप धर्म में गोता लगाते हैं तो परम शांत हो जाते हैं, सर्व दुःखों को जीत लेते हैं, बड़े ही सुखी हो जाते हैं। जैसे धूप से सताये बड़े २ हाथी चंदन समान

शीतल गंगा कुण्ड में गोता लगाने से दुःख रहित शांत हो जाते हैं। व्यवहार मुनि व गृहस्थ धर्म जो कुछ श्री जिनेन्द्र भगवान ने बताया है वह भी इसी हेतु से कि वह साधक किसी तरह निश्चय धर्म जो स्वात्मानुभव है उसको प्राप्त करले। दशलक्षणी धर्म व व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सब निश्चय धर्म के लिये ही साधन किये जाते हैं। यदि निश्चय धर्म न हो तो वे सब व्यवहार धर्म वृथा हैं—मोक्ष के साधक नहीं हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं—

मोत्तण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टन्ति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६

भावार्थ—निश्चय आत्म स्वरूप को छोड़कर विद्वान साधु मात्र व्यवहार धर्म में नहीं चलते हैं क्योंकि जो यतिगण परमार्थ जो स्वानुभव है उसको आश्रय करते हैं, उन्हीं के कर्मों का क्षय होता है। श्रीनागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमें निश्चयधर्म को बताते हैं—

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थिति। विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥१४३॥

भावार्थ—ध्यान करने वाला आत्मा स्व परको जानकर व यथार्थ श्रद्धान करके परको छोड़कर आत्मा को ही जाने व देखे। यही यथार्थ स्वानुभव दशा है।

इष्टोपदेश में श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्। तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४६॥

भावार्थ—अज्ञानसे दूर वही महान आत्मज्योति ज्ञानमई परम उत्कृष्ट है उसी के सम्बन्ध में प्रश्न करे, उसी की भावना करे व उसी का ही अनुभव करे। मोक्ष के वांछकों का यही कर्तव्य है।

मालिनी छन्द

जिसने प्रगटाया, धर्म भव पार कर्ता, उत्तम अति ऊचा, जान जन दुःख हरता।
चन्दन सम शीतल, गंग ह्रदमें नहाते, बहुधाम सताए, हस्तिवर शांति पाते ॥६॥

उत्थानिका—क्या भगवानने किसी फलको उद्देश में रखकर धर्म तीर्थका प्रकाश किया था? इस पर स्तुतिकार कहते हैं—

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुर्विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्तां ॥१०॥

अन्वयार्थ—इस श्लोक में यह दिखाते हैं कि भगवान ने कोई फलकी इच्छा नहीं की। (सः) वह अजितनाथ भगवान (ब्रह्मनिष्ठः) सर्व दोष रहित अपने परमात्मस्वभाव

में तल्लीन हैं (समभित्रशत्रुः) उनके लिये शत्रु व मित्र समान हैं अर्थात् वे परम वीतरागी हैं। (विद्याविनिर्वातकषायदोषः) जिन्होंने आत्मज्ञानकी व आत्मध्यान की कला के प्रकाश से अपने क्रोधादि कषायों को व सर्व दोषों को अर्थात् ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मो को नाश कर डाला है (लब्धात्मलक्ष्मीः) व जिन्होंने अनन्त ज्ञान दर्शन सुखवीर्यमई अपनी अंतरंग लक्ष्मीको प्राप्त कर लिया है (जितात्मा) व जो इन्द्रिय विजयी व आत्माधीन हैं (जिनः) व कर्मोंको जीतनेवाले वीर हैं (भगवान्) ऐसे विशेष ज्ञानवान व पूजनीय (अजितः) अंतरग वहिरंग शत्रुओं से न जीतेजानेवाले श्री अजितनाथ महाराज (मे) मुझ समन्तभद्रको (श्रियं) अनंत ज्ञानादि लक्ष्मी (विधत्ताम्) प्राप्त करने में सहायक हों।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि श्री अजितनाथ तीर्थंकर को केवलज्ञान का लाभ हो जाने पर किसी तरहकी इच्छा नहीं हो सकती। क्योंकि उनका उपयोग जो अल्पज्ञानी की दशा में इन्द्रिय व मनके द्वारा काम करता था सो उपयोग अपने ब्रह्म स्वरूप आत्मा में मगन व लीन होरहा है। इससे कोई संकल्प विकल्प उठने की जगह ही बाकी नहीं रही है। आत्मरूप होनेसे वे परम वीतरागी हैं। कोई शत्रुता करे तो उस पर क्रोध नही करते, कोई प्रशंसा करे व मित्रता करे तो उस पर राग नहीं करते। इसका भी कारण यही है कि भेद विज्ञान द्वारा प्राप्त स्वात्मानुभव के द्वारा उन्होंने सर्व क्रोधादि कषायों को व अज्ञानादि के दोषों को व सामान्य से चार घातियां कर्मोंको नाश कर डाला है और अपने आत्मीक धनको प्राप्त कर लिया है तथा आत्मीक सुखके भोगमें परम आशक्त हैं। उन्होंने सर्व इच्छाओंको व सर्व कर्मोंको जीत लिया है, उनका कोई सामना करनेवाला नहीं रहा। इसीलिये भगवानने अपने अजित नामको सफल किया है। साक्षात् परमात्मा स्वरूप होकर प्रभुने अपूर्व ज्ञान व अपूर्व आनंदका लाभ किया है। श्री समन्तभद्राचार्य भावना भाते हैं कि मैं उनकी स्तुति करके यही चाहता हूँ कि उन ही के गुणानुवाद से व उन ही के उपदेश में मैं स्वयं आत्मस्थ होजाऊं व अपने कर्म-शत्रुओंको बिजय करके अनंतज्ञानादि लक्ष्मीको प्राप्त करके उन ही के समान ही अरहन्त होजाऊं। और मैं किसी क्षणभंगुर वस्तुकी चाह नहीं रखता। वास्तवमें वीतराग भगवान कथित जिन धर्मकी यही आज्ञा है कि मानवका ध्येय स्वात्मस्वरूपकी प्राप्ति ही होना चाहिये। यही मोक्ष है, यही निज स्वभाव है और इसी ही हेतु से निश्चय व व्यवहार धर्मका साधन करना चाहिये। यही वीतरागभाव परमानदका दाता है व आत्माको परमात्म-पदमें स्थापन करानेवाला है। वास्तव में श्री जिनेन्द्र के गुणोंका स्तवन अपने ही आत्मका स्तवन है। इसीलिये यद्यपि वह राग

रूप झलकता है परन्तु वह वीतरागता व आत्मानुभवकी ही तरफ ले जानेवाला है। ज्ञानीजन स्वात्मीक भावना के ही लिये स्तवन करते हैं। क्योंकि निश्चनयसे श्रीजिनेन्द्र में और आत्मा में कोई भेद नहीं है। श्री योगेन्द्राचार्य योगसार में कहते हैं—

सुद्धप्पा अरु जिणवरइं भेउ म किमपि वियाणि। मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ विवाणी ॥२०॥
जो जिणु सो अप्पा मुणहु इह सिद्धंतहु सारु। इउ जाणेविण जोयइहु छडहु मायाचारु ॥२१॥

अर्थात्—शुद्ध आत्मा और जिनेन्द्र में कोई भेद मत जानो यह ज्ञान निश्चय से है! योगी मोक्षका कारण है। जैन सिद्धांत का यह सार है कि जैसा जिन है वैसा ही यह आत्मा है, हे योगी ऐसा जानकर माया छोड़।

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु। हउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ॥२२॥

भावार्थ—जो परमात्मा है सो ही मैं हूँ, जो मैं हूं सो ही परमात्मा है। हे योगी! ऐसा जानकर स्वात्मा का अनुभव कर और अधिक विचार न कर।

यहां टीकाकार ने जिनश्रियंको एक पद मानकर जिनकी लक्ष्मी ऐसा अर्थ किया है जबकि जिनः श्रियं ऐसा पाठ लेने से जिनः श्री अजितनाथ का विशेषण मानके हमने अर्थ किया है।

मालिनी छन्द

निज ब्रह्म रमानी, मित्र शत्रू समानी। ले ज्ञान कृपानी, रोषादि दोष हानी॥
लहि आतम लक्ष्मी, निजवशी जीतकर्मा। भगवन् अजितेश, दीजिये श्री स्वशर्मा ॥१०॥

---

(३) श्री संभवजिनस्तुतिः।

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसीरिहाकस्मिकऽक एव वैद्यो वैद्योयथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥११॥

अन्वयार्थ—श्री समन्तभद्राचार्य श्री संभवनाथ स्वामी को अपने मन के सामने रख के इस तरह स्तुति करते हैं कि (त्वं) आप (शम्भवः) भव्य जीवों को सुख के कारण हो तथा (सम्भवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य) संसार सम्बन्धी विषय भोग की तृष्णा रूपी रोगों से पीड़ित मानव के लिये (इह लोके) इस लोक में आप (आकस्मिकः एव वैद्यः) विना किसी फलको चाहने वाले आकस्मिक ही वैद्य (आसीः) हो यथा जैसे

(अनाथरुजां) किसी अशरण, निर्धन व असहायके रोगों को (प्रशान्त्यै) दूर करने के लिये (वैद्यः) कोई अचानक बिना बुलाए, परोपकारी वैद्य अकस्मात् सहाई हो जाता है।

भावार्थ—तीसरे तीर्थङ्कर श्री संभवनाथ स्वामी की स्तुति करते हुए आचार्य ने उनके दो नामों पर लक्ष्य दिया है—एक शंभव दूसरे संभव। शंभव का अर्थ यह किया कि उनके स्मरण व ध्यान व भजन से भव्य जीवों को सुख की प्राप्ति होती है इसलिये वे शंभव हैं। दूसरे सभव का अर्थ किया है कि बार २ किसी क्रम टूटे बिना चलने वाले संसार व ससारी जीव उसके आप नाथ हैं व रक्षक हैं। इसी अर्थ का विशेष खुलासा एक परोपकारी निस्पृह वैद्य का दृष्टांत देकर किया है। जैसे कहीं कोई अनाथ रोग से पीड़ित पड़ा घवड़ा रहा हो, वह द्रव्याभाव से व सहायता के अभाव से किसी वैद्य को वुला भी नहीं सकता हो, अचानक उसके दुःख को देखकर एक परोपकारी वैद्य आ जाता है। वह उसको औषधि बताता है व उसे सेवन करने की प्रेरणा करता है व विश्वास दिलाता है कि यदि तू सेवन करेगा तो निश्चय से तू निरोगी हो जायगा। वह रोगी जब उस परोपकारी निरपेक्ष वैद्य की शिक्षा के अनुसार औषधिका सेवन यथार्थ रूप से करता है तब वह स्वयं अच्छा हो जाता है। इसी तरह श्री संभवनाथ स्वामी जब अरहंत हुए तब बिना किसी फल की इच्छा के अकस्मात् उनका दिव्य उपदेश उन भव्य जीवों के पुण्यके उदय से उन्हीं के हितार्थ हुआ जो अनादिकाल से मोहकर्म के प्रेरे हुए संसार में तृष्णारूपी रोग से पीड़ित होकर घवड़ा रहे थे। वे बिचारे अज्ञान से उस रोग की यथार्थ औषधि न पाते हुए तृष्णाकी शांति के लिये इंद्रिय विषयों में दौड़ २ कर जाते थे, तब तृष्णा रोग को और भी बढ़ा लेते थे। इसी विषय-तृष्णावश पाप कर्म बांध दुर्गति में दुःख उठाते थे। उन जीवों को अकस्मात् जब भगवान की दिव्यवाणी से रत्नत्रयमई जिनधर्मका स्वरूप प्रगट हुआ कि जो संसार की तृष्णामई रोग के शमन की सच्ची दवाई है। तब जिन २ भव्य रोगियों ने इस धर्म रूपी औषधि पर विश्वास किया और उसका यथार्थ रीति से सेवन किया उनका संसार रोग मिट गया—वे आत्मानन्द को पाकर परम तृप्त हो गए। और वरावर आत्मानुभवमई दिव्य औषधि के सेवन से मोहादि कर्मों को नाशकर विलकुल ससार रोग रहित निरोग, स्वस्थ व स्वाधीन होगए। यहां वैद्य का दृष्टांत इसीलिये दिया है कि वैद्य मात्र औषधि का वताने वाला है, वैद्य वैसे ही किसी रोगी का रोग दूर नहीं कर सकता। जब रोगी स्वयं औषधि सेवन करेगा तब ही वह अच्छा होगा। इसी तरह सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत भगवान किसी भी भक्त को मुक्ति नहीं दे सकते, न उसके संसार रोग को शमन कर सकते हैं, वे

तो मात्र सत्य उपाय बताने वाले हैं। जो कोई उस पर विश्वास करेगा और पुरुषार्थ करके उसीका सेवन करेगा, तथा वैसा ही सेवन करेगा जैसा—श्री अर्हंत भगवान ने कहा था तो अवश्य वह कर्मों का नाश करके कभी न कभी मुक्त हो जायगा। जो लोग ऐसा समझ लेते हैं कि परमात्मा भक्त को पार कर देता है चाहे वह मोक्ष का साधन न भी करे सो बात इस कथन से हट जाती है। आत्मशुद्धि अपने ही आत्मध्यान रूपी पुरुषार्थ से होती है यह नियम हैं। इसके बिना न आज तक किसी को हुई हैं, न होगी, न होती है। स्वतन्त्रता का एक ही मार्ग है और वह आत्म-स्वातंत्र्यका अनुभव है। यही बात यहां प्रगट की है। क्योंकि श्री संभवनाथ स्वामी वैद्य के समान यथार्थ उपाय बतानेवाले हैं, इसलिये बारबार नमस्कार व स्तवन करने योग्य हैं। वास्तव में अपना उद्धार आप से ही होता है। जैसा श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है:—

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञायकत्वतः। स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥

अर्थात्—आत्मा का निश्चय गुरु आत्मा ही हैं, क्योंकि अपने ही भीतर अपने हित की वांछा होती है, तथा आपको ही मोक्ष के उपाय का ज्ञान भी करना पड़ता है व आपको ही अपने हित के लिये प्रयोग करना पड़ता है। वास्तव में श्री अर्हंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु व शास्त्र आदि बाहरी प्रेरक व उदासीन निमित्त हैं। जो स्वयं पुरुषार्थ न करेंगे वे कदापि शिवश्री न लहेंगे।

भुजंगप्रयात छन्द।

तुही सौख्यकारी, जगतमें नरों को, कुतृष्णा महाव्याधि, पीड़ित जनों को।
अचानक परम वैद्य है, रोगहारा, यथा वैद्य ने दीनका रोग टारा ॥११॥

उत्थानिका—जिस जगत के प्राणियों के भगवान् अचानक वैद्य हैं वे जगत के प्राणी कैसे दुखी हैं सो बताते हैं—

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(इदं जगत्) इस दीखने वाले जगत के प्राणियों की (अनित्य) जो किसी भी शरीर में सदा रह नहीं सकते अर्थात् पर्याय की अपेक्षा जो नाशवत हैं। (अत्राणं) व जिनका कोई मरण से व तीव्र दुःखों के सहने से रक्षा करने वाला नहीं है तथा (अहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्) जो शरीर की अवस्था में अहंकार बुद्धि व स्त्री पुत्रादि धन आदि में ममकार बुद्धि रखने से मिथ्या अभिप्राय के दोष से दूषित हैं

श्रोर इसीलिये (जन्मजरांतकार्तं) जन्म जरा व मरण के दुःखों से निरन्तर पीड़ित हैं उनको (निरञ्जनां शांति) कर्म कलक से दूर करके परम वीतराग भाव को (त्वं अजीगमः) आपने प्राप्त कराया।

भावार्थ—इस श्लोक में आचार्य ने संसारी प्राणियों के ससार रूपी रोग का बहुत अच्छा खुलासा किया है। वास्तव में हर एक अवस्था जो यह ससारी जीव कर्मों के उदय से पाता है, नित्य नहीं रह सकती। जो शरीर बनता है वह एक दिन जरूर नष्ट हो जाता है। जिस शरीर के साथी माता, पिता, स्त्री, पुत्र, वन्धु व मित्र होते हैं उनका भी वियोग अवश्य हो जाता है। जो लक्ष्मी आज किसी के साथ है, पुण्य के क्षय होने से चली जाती है। जो आज राजा है वह रंक हो जाता है। जो आज निरोगी है वह रोगी हो जाता है। जो आज अधिकारी है वह दीन सेवक हो जाता है। जो आज युवान है वह बुड्ढा हो जाता है। हर एक अवस्था विजली के चमत्कारवत् चञ्चल है। पानी के बुद्वुदे के समान नाशवंत है। देखते देखते अवस्था वदल जाती है। राज्यपाट उलट पलट हो जाते हैं। कोई भी प्राणी इन अनित्य पदार्थों को नित्य करके नहीं रख सकता है। इसी तरह इस जगत का हर एक प्राणी अशरण है। जब मरण का समय आ जाता है कोई मित्र, वैद्य, औषधि, मंत्र, तन्त्र, यन्त्र, स्त्री, पुत्र, नौकर, चाकर, दुर्ग, पाताल, स्वर्ग-पुरी आदि कोई भी वचा नहीं सकते। लाचार होकर वड़े २ चक्रवर्ती व इन्द्र आदि को भी अपना शरीर छोड़ना पड़ता है। कोई ईश्वर परमात्मा भी किसी को मरने से वचा नहीं सकता। इसी तरह जब पाप के उदय से रोग, शोक, वियोग, दरिद्र आदि घोर कष्ट पड़ जाते हैं तब भी कोई रक्षा नहीं कर सकता। इस जीव को आप ही भोगना पड़ता है। मित्र, स्त्री, पुत्र आदि सब देखते ही रहते हैं। कोई दुःख को वांट नहीं सकता है। इसके सिवाय संसारी प्राणी ऐसी मोह की मदिरा पिये हुए हैं जिसके नशे में अपने आत्मा को विलकुल भूले हुए हैं। इसलिये जिस शरीर में व जिस अवस्था में होते हैं उसमें यह अहंकार कर लेते हैं कि मैं पशु हूं, मैं वृक्ष हूं, मैं पक्षी हूं, मैं मानव हूं, मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं राजा हूं, मैं धनवान हूं, मैं महाजन हूं, मैं दातार हूं, मैं तपस्वी हूं, मैं व्रती हूं, मैं धर्मात्मा हूं, मैं परोपकारी हूं, मैं दीन हूं, मैं दुःखी हूं, मैं वालक हूं, मैं जवान हूं, मैं बूढा हूं इत्यादि। तथा जो वस्तु पुण्य के उदय से अपने सम्वन्ध में आ जाती है उसमें ममकार कर लेते हैं। जैसे मेरा वस्त्र है, मेरा आभूषण है, मेरा घर है, मेरा राज्य है, मेरी जाति है, मेरा देश है, मेरा पुत्र है, मेरी स्त्री है, मेरी पुत्री है, मेरा मित्र है, मेरा

सेवक है, मेरा मालिक है इत्यादि। इस तरह अहंकार व ममकार में अंधे होते हुए इन्द्रिय विषयों के लिये लोलुपी होते हुए आत्मीक सुख को भूले हुए मैं सुखी, मैं दुःखी, इस भाव में सने हुए मिथ्यात्व के प्रबल दोष से पीड़ित रहते हुए तीव्र कर्म बांधते हैं।

बारबार आयु व गति कर्म बांधकर एक शरीर में जन्मते हैं वहां कदाचित् बूढ़े होते हैं फिर मरते हैं फिर जन्मते हैं और अनेक इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, दरिद्र आदि दुःखों के साथ २ अवश्य होने वाले जन्म जरा मरण के कष्टों से सदा पीड़ित रहते हैं। ऐसी महा दीन संसारी प्राणियों की दशा हो रही है। ये जीव संसार के कर्म रूपी रोग से महान् कष्ट भोग रहे हैं। उनके लिये श्री अरहन्त भगवान ने रत्नत्रय धर्म रूपी ऐसी अमृतमई औषधि बताई है कि जिन्होंने सेवन की, उनका कर्म कलंक मिटा। वे कर्मार्जन से रहित हो निरंजन हुए और उनका सर्व अहंकार ममकार व आर्त भाव मिट गया, उनको अपने आत्मा का सच्चा अनुभव हो गया इसलिये उनको परम शांति व आनन्द का लाभ हुआ। वे अपने अविनाशी ज्ञानादि धन को पागए। परम तृप्त हो गए और परम स्वाधीन बन गए। धन्य हैं श्री संभवनाथ भगवान्! आपके उपदेश से संसारी जीव परम सुखी हुए। इसलिये आप इस दीन संसारी अशरण प्राणी के लिये सच्चे परम परोपकारी निरपेक्ष अकस्मात् वैद्य हैं। आपको बारबार नमस्कार हो। वास्तव में इस संसार का ऐसा ही स्वभाव है। सारसमुच्चय में कुलभद्राचार्य कहते हैं—

कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः। चतुर्गतिभवाम्बोधौ भिन्न नौरिव सीदति ॥३१॥
कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम्। तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम् ॥३२॥

भावार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों से मैला जीव रागी मन वाला होता हुआ चार गतिरूपी संसारसमुद्र में टूटी नाव के समान डूबता हुआ कष्ट पाता है। कषायों के आधीन जीव भयानक कर्मों को बांधता है। उनके फल से यह जीव करोड़ों भवों में कठिन २ दुःख उठाता है।

श्री अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

गलत्यायुर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं। जरा प्रत्यासन्नी भवति लभते व्याधिरुदयम् ॥
कुटुम्बः स्नेहार्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो। मनो जन्मोच्छित्यै तदपि कुरुते नायमसुमान ॥३३॥

भावार्थ—यह आयु गलती जा रही है। देह में सर्व रूप नाश होता जा रहा है। बुढ़ापा निकट आता जाता है, रोग प्रगट हो रहा है, कुटुम्ब स्नेह से दुःखी है या आप

कुटुम्ब के स्नेह से पीड़ित है तो भी ऐसा लोभी व दुर्बुद्धि प्राणी अपना मन इस संसार के नाश के लिये तैयार नहीं करता है।

वास्तव में मोह की विचित्र महिमा है। इसके नाश के लिये तत्त्वज्ञान का अभ्यास व जिनेन्द्र की भक्ति परम कल्याणकारी है।

दशा जग अनित्यं, शरण है न कोई। अहं मम मई दोष, मिथ्यात्व बोई॥
जरा जन्म मरण, सदा दुख करे है। तुही टाल कर्मं, परम शांति दे है॥ १२ ॥

उत्थानिका—और हे प्रभु! आपने क्या किया सो कहते हैं—

शतहृदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (सौख्यं) यह इन्द्रिय सुख (शतहृदोन्मेपचलं) विजली के झलकने मात्र चञ्चल है (तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः) तथा तृष्णामई रोग के बढ़ाने मात्र का ही कारण है। (तृष्णाभिवृद्धिः) यह तृष्णा की बढ़वारी (अजस्रं) निरन्तर (तपति) संताप पैदा करती है (तापः) और यह ताप (तत् आयासयति) इस जगत को अनेक दुःखों की परम्परा से क्लेशित रखता है (इति) ऐसा (अवादीः) आपने उपदेश किया है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने यह बताया है इन्द्रियों के भोग से जो सुख माना जा रहा है वह वास्तव में सुख नहीं है किन्तु दुःख रूप है। जगत में दुःख यदि कोई है तो यह तृष्णा का या इच्छा का ही है। जैसे मृग तृषातुर होकर भटक भटककर पानी न पाकर महान दुःखी रहता है वैसे यह संसारी प्राणी तृष्णा को न शमन करने के कारण क्लेशित रहता है। इन्द्रियों का सुख एक तो विजली के चमत्कार के समान चंचल है—थोड़ी देर मालुम होता है फिर इच्छा के बदलने से शक्ति के अभाव से या योग्य वस्तु की अवस्था बदलने से बन्द हो जाता है। यदि इच्छानुसार भोग्य पदार्थ न रहा व उसने परिणमन न किया व उसका वियोग हो गया तो वह सुख नष्ट हो जाता है। जब कि इस जगत में सर्व ही चेतन व अचेतन वस्तुएँ अपनी अपनी पर्याय से अनित्य हैं और उन्हीं के आधीन इन्द्रिय सुख की मान्यता होती है, तब यह स्वयं सिद्ध है कि यह सुख अत्यंत चञ्चल व नाशवंत है। फिर इस सुख के भोग से तृष्णा मिटने की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है। जितना २ अधिक भोग होगा उतना २ अधिक तृष्णा का रोग बढ़ जायगा। तृष्णा भीतर २ बहुत संताप पैदा करती है। उस ताप से पीड़ित हो, यह प्राणी अनेक प्रकार उद्यम करके क्लेश उठाता है। चाहता है कि तृष्णा मिटे, परन्तु यह नहीं मिटती

है। और शीघ्र ही शरीर को छोड़ना पड़ जाता है। बस चाह की दाह में जलता हुआ ही आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान से मरकर कुगति का पात्र हो जाता है—कुगति में जाकर दुःखी दलिद्री मानव, पराधीन पशु व कीड़ा मकोड़ा व वृक्ष आदि या नारकी हो जाता है और महान् कष्टों को भोगता है। इसलिये यह इन्द्रिय-जनित सुख दुःख का कारण है। सच्चा सुख तो आत्मीक है जो स्वाधीन है तथा अविनाशी है व परम तृप्तिकारक है। कुन्दकुन्द आचार्य श्री प्रवचनसार में कहते हैं—

सपर बाधासहिदं विच्छिन्नं बंधकारणं विसमं। जं इंदिये हि गेज्झं तं सुक्खं दुःखमेव तदा॥

अर्थात्—इन्द्रियों का सुख पराधीन है, बाधा सहित है, नाशवन्त है, बंध का कारण है व आकुलता रूप व संकल्प विकल्प रूप विषम है। जब कि आत्मीक अतीन्द्रिय सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है, अविनाशी है, बंध का नाश करने वाला है व समता रूप है या शान्त रूप निराकुल है। इसलिए इन्द्रिय सुख तो दुःखरूप ही है। तीर्थंकर महाराज ने तो भले प्रकार वस्तु का स्वरूप जानकर ऐसा सत्य प्रकाशमान किया है और यह उपदेश दिया है कि हे जगत के प्राणियो! इन्द्रिय सुख में तन्मय न हो। एक-एक इन्द्रिय के आधीन हुआ प्राणी नष्ट हो जाता है। तब जो पांचों इन्द्रियों का दास होगा उसके नाश होने में क्या सन्देह है? हाथी स्पर्श इन्द्रिय के वश हो पकड़ा जाता है। मछली रसना के वश हो जाल में फंस जाती है। भौंरा नाक के वश हो कमल में बन्द हो प्राण गमाता है। पतंगा आंख के वश हो अग्नि में जलकर मर जाता है। हिरण कर्ण के वश हो पकड़ा जाता है। ज्ञानी को उचित है कि आत्मीक सुख को ही सुख माने। इन्द्रिय सुख में सुखपने की आस्था छोड़ दे। गृहस्थ में रहते हुए जो कुछ इन्द्रियों का भोग हो उसको एक प्रकार आवश्यकता व लाचारी जानकर भोग ले। परन्तु उसमें मोहित न होवे। उस भोग को इच्छा के शमन का क्षणिक उपाय मात्र जाने। कषाय को दमन न कर सकने के कारण ही ऐसा भोग भोगते हुए ज्ञानी रात दिन भावना भाता है कि कब कषाय का बल घटे कि मैं इन भोग सामग्री का त्यागकर वैराग्यवान् साधु हो जाऊं। पहले श्रद्धा ठीक करनी चाहिये, फिर चारित्र धीरे-धीरे सामने आता जायगा। सम्यग्दृष्टी का निःकांक्षित अंग यही सिखाता है कि इस ज्ञानी की श्रद्धा अतृप्तिकारी इन्द्रिय सुख से बिलकुल हट जाती है। आत्मक सुख में ही सुखपने की श्रद्धा जम जाती है यही सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है। सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत् । किमथ परम दुःखं सस्पृहत्वं यदेतत् ॥
इति मनसि विधाय त्यक्तसगाः सदा ये । विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—परम सुख क्या है ? उत्तर यह है कि वह इच्छारहितपना है । परम दुःख क्या है ? उत्तर यह है कि वह इच्छावानपना है । ऐसा मन में समझकर जो मूर्छा त्यागकर जिन धर्म का सेवन करते हैं वे ही मानव पवित्र हैं या पुण्यवान हैं व उनही ने अपना जन्म सफल किया है । धन्य हैं श्री संभवनाथ स्वामी जो आपने ऐसा सत्य स्वरूप बताकर मोही जीवों को जागृत किया है । आपको मैं बार-बार नमन करता हूं । ऐसा भाव श्री समंतभद्राचार्य ने इस श्लोक में झलकाया है ।

भुजंगप्रयात छन्द

खविजली समं चचलं, सुखविषयका । कर वृद्धि तृष्णामई, रोग त्रियका ॥
सदा दाह चितमें, कुतृष्णा बढ़ावे । जगत दुःख भोगे, प्रभू इम बतावे ॥१३॥

उत्थानिका—लोग कहते हैं कि बंध व मोक्ष आदि तत्वों की सिद्धि हे संभवनाथ भगवान् ! आपके ही मत में हो सकती है । जो एकान्त मत हैं उनके यहां नहीं हो सकती—

बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुः, बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४॥

अन्वयार्थ—(बन्धश्च मोक्षश्च) जीव का कर्म पुद्गलों से बन्ध होना तथा जीव का कर्मों से छूट जाना (तयोः हेतुः च) और उन बंध और मोक्ष के कारण भाव अर्थात् मिथ्यात्व आदि बन्ध के कारण और सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के कारण (बद्धश्च मुक्तश्च) और बंधने वाला जीव तथा छूटने वाला जीव (मुक्तेः फलं च) तथा मुक्ति होने का फल अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणों की पूर्ण प्राप्ति ये सब तत्व (नाथ) हे संभवनाथ ! (तव स्याद्वादिने एव) आप स्याद्वाद सिद्धान्त बताने वाले के ही मत में (युक्तं) सिद्ध हो सकते हैं (एकांतदृष्टेः न) जो एकान्त मत वाले हैं उनके यहां ये बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं । [अतः] इसलिये [त्वम् शास्ता असि] आप ही तत्व के यथार्थ उपदेश देने वाले हैं ।

जो पदार्थ को क्षणिक मानते हैं उनके मत में बधने वाला और ही ठहरेगा, छूटने वाला और ही ठहरेगा, बन्ध का कारण कोई और करेगा, बन्ध से मुक्ति किसी और की

होगी। जो सर्वथा नित्य ही पदार्थ को मानते हैं, उनके मत में परिणमन या बदलना नहीं हो सकेगा। जो बंधा है बंधा ही रहेगा जो मुक्त है वही मुक्त रूप ही रहेगा।

भावार्थ—यहां आचार्य ने जैन सिद्धान्त की महिमा वर्णन की है कि श्री तीर्थंकर भगवान ने जगत के पदार्थों को अनेक स्वभाव वाला देखा है और वैसा ही वर्णन किया है। जगत में हरएक द्रव्य का स्वभाव उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। जो ऐसा है यही सत् रूप पदार्थ है। भाव यह है कि हरएक पदार्थ अपने स्वरूप को व अपने गुणों को अपने में सदा बनाये रखता है। न तो द्रव्य का नाश होता है न द्रव्य के गुणों का नाश होता है। इसलिये हर-एक द्रव्य नित्य है, चाहे चेतन हो या अचेतन हो, तो भी हरएक द्रव्य परिणमनशील है। अर्थात् उसमें पर्याय या अवस्था होती रहती हैं। द्रव्य व उसके सर्व गुण सदा अवस्था से अवस्थांतर हुआ करते हैं। जिस समय पुरानी अवस्था का नाश होता है उसी समय नवीन अवस्था का उत्पाद होता है। इसलिये हरएक द्रव्य अनित्य भी है। पर्याय की दृष्टि से द्रव्य अनित्य है। गुण व द्रव्यपने की दृष्टि से द्रव्य नित्य है। जैसे सुवर्ण अपने पीत, भारी आदि गुणों को लिये बराबर बना रहता है, यह उसका नित्यपना है। तो भी उसमें अवस्था बदलती हैं। कुण्डल से कड़ा, कड़े से बाली, बाली से मुद्रिका बनती रहती है। जब कुंडल से कडा बना तो कुण्डल की दशा का नाश हुआ। कड़े की दशा का उत्पाद या जन्म हुआ। तब भी सुवर्ण वही ध्रौव्य है। एक मानव को ज्वर चढ़ा हुआ है, जिस समय ज्वर उतरा उस समय ज्वरपने की अवस्था का नाश हुआ, निरोगता का जन्म हुआ और वह जीव तो बना ही हुआ है। किसी के भाव में क्रोध होरहा है, जब शान्त भाव होता है क्रोध भाव का नाश होता है, तथा आत्मा तो बना ही हुआ है। प्रत्यक्ष पुद्गल के दृष्टान्तों से यह बात समझ में आ जायगी कि हरएक द्रव्य सदा परिणमन किया करता है तो भी सर्वथा नाश नहीं होता है। कपड़ा पुराना पडता है, मकान पुराना होता जाता है, बर्तन पुराना पडता जाता है, शरीर दिन पर दिन पुराना पड़ता जाता है तो भी जिन परमाणुओं से कपड़ा आदि बने हैं वे परमाणु जगत में नित्य हैं—उनका कभी भी विलय न होगा। इसलिये जैन सिद्धान्त पदार्थ को नित्य अनित्य दोनों रूप भिन्न २ अपेक्षा से मानता है और ऐसा ही प्रत्यक्ष प्रगट भी है। जो मतवादी पदार्थ को सर्वथा नित्य मानेंगे उनके मत में अवस्था का बदलना न बन सकेगा तब कोई काम ही न हो सकेगा। न गेहूँ बनेंगे न रोटी बनेंगी न पेट में जाकर रस रुधिरादिक रूप बनेगा। न लकडी चिर सकेगी न उससे कपाट व घन्नी आदि बनेगी न मकान तय्यार हो सकेगा। तथा जो मतवादी पदार्थ को सर्वथा अनित्य या क्षणिक

मानेंगे उनके मत में पदार्थ ठहर ही न सकेगा तब उससे काम ही क्या होगा। यदि सोना हम बाजार से लायें और वह नाश होगया तब हमारा सोना लाना ही व्यर्थ होगा। दोनों ही एकान्त पक्ष मानने से बिलकुल काम नहीं चलेगा। दोनों को ही मानने से सर्व जगत की अवस्था सिद्ध होगी। यदि आत्मा को सर्वथा नित्य माने तो वह फिर एकसा ही रहेगा, वह कभी संसार से मुक्त नहीं हो सकता और जो आत्मा को क्षणिक माने तो वह बंधने वाला नष्ट ही हो जायगा तब बंध से मुक्ति किसकी होगी। बिना नित्य व अनित्य दोनों रूप माने बंध व मोक्ष व उनका उपाय व फल आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकते। यदि जगत में मात्र एक ब्रह्म ही माना जाय व अनेक जीव मान लिये जावें, परन्तु जड़ या अन्य पदार्थ कोई न माना जावे तो सर्व जीव या एक ब्रह्म सदा शुद्ध अपने स्वभाव में मिलेंगे तब संसार व मोक्ष की व उनके उपायों की सर्व कल्पना मिथ्या हो जावेगी। और यदि मात्र जड़ ही जड़ होवे, चेतन कोई न होवे तो भी बंध मोक्षादि बन नहीं सकता, तब तो किसी को कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता कि मैं मलीन हूँ व मुझे शुद्ध होना चाहिये। इसलिये मानना यह पड़ेगा कि महा सत् की अपेक्षा पदार्थ एक है। परन्तु भिन्न २ सत् की अपेक्षा पदार्थ अनेक हैं। जो आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानते हैं उनके मत में भी बंध व मोक्ष की चर्चा व्यर्थ है तथा जो आत्मा को सर्वथा अशुद्ध ही मानते हैं, उनके मत में भी मोक्ष होने की कल्पना व्यर्थ है। जैन सिद्धान्त कहता है कि यह संसारी जीव निश्चयनयसे या द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि से बिलकुल शुद्ध है तथापि कर्मों के संयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। सर्वथा एक बात मानने से कोई भी व्यवस्था धर्म की नहीं हो सकती है। जैसी वस्तु अनेक धर्म या स्वभाव वाली है वैसा ही कथन जैन सिद्धान्त में है। जब जीव और कर्म पुद्गलों को जानेंगे और दोनों में परिणमन शक्ति मानेंगे व विभाग रूप होने की भी शक्ति मानेंगे तब ही यह सम्भव है कि जीवों के राग द्वेषादि भावों के निमित्त से पुद्गलों का कर्म रूप बंध होगा तथा जीवों के वीतराग विज्ञानमय भावों के निमित्त से ही कर्म पुद्गलों का जीव से छूटना होगा। सर्वथा एक बात को मानना और दूसरी बात को न मानना किसी भी तरह वस्तु के स्वभाव को सिद्ध नहीं कर सकता। आप्त मीमांसा में स्वयं स्वामी कहते हैं—

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्। एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥

भावार्थ—जो एक ही धर्म को मानते हैं अर्थात् जिनका आग्रह है कि एक अद्वैत ब्रह्म ही है व मात्र जड़ ही है, व जीव नित्य ही है या अनित्य ही है, शुद्ध ही है या अशुद्ध ही है, इत्यादि उनके मत में शुभ अशुभ भावों का होना व उनसे कर्मों का बंध जाना या

जीव का परलोक होना व मुक्त होना बन ही नहीं सकता है। खेद है कि ऐसे एकान्तवादी अपने आत्मा को न समझने से अपने आपके भी वैरी हैं व दूसरों को ठीक स्वरूप न बताने के कारण वे दूसरों के भी वैरी हैं, अनेक स्वभाव मानने से ही पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष, लोक, परलोक की सिद्धि हो सकती है। इस अनेकांतका मंडन व एकान्त का खण्डन आप्त मीमांसा में व उसकी टीका अष्टशती तथा बड़ी टीका अष्टसहस्री में भले प्रकार किया गया है। श्री पात्र केशरी ने अपने स्तोत्र में एकान्त मत को दूषण देते हुए कहा है—

परेऽपरिणामकः पुरुष इष्यते सर्वथा। प्रमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं स्यात्ततः ।।
कषायविरहान्न चास्य विनिबंधनं कर्मभिः। कुतश्च परिनिर्वृत्तिः क्षणिकरूपतायां तथा।।२१।।

भावार्थ—जो कोई आत्मा को सर्वथा नित्य अपरिणामी मानते हैं उनके मत में प्रमाण प्रमाता प्रमेय, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, स्वामी सेवक, अशुद्ध शुद्ध आदि तत्त्व कुछ नहीं बनेगा और न आत्मा के कभी कर्मों का बंध होगा, क्योंकि वह कभी क्रोधादि कषाय रूप होगा ही नहीं। और जब मोक्ष के योग्य भावों में परिणमन नहीं हो सकेगा तब मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। यही दोष उनके मत में भी आता है जो आत्मा को क्षणिक व अनित्य मानते हैं। जो वस्तु स्थिर नहीं रहती है उसमें कर्ता कर्म आदि कारक या बंध या मोक्ष आदि बिलकुल नहीं बन सकते हैं। इसलिये हे संभवनाथ स्वामी! हमने ऐसा निश्चय करके कि आप ही सच्चे वस्तु तत्त्व के उपदेशदाता हैं आपको पूज्य माना है। और हम आपको ही बार-बार नमस्कार करते हैं।

भुजङ्गप्रयात छन्द

जु है मोक्ष वन्धं, व है हेतु उनका। बंधा अर खुला जिय, फलं जो छुटनका।।
प्रभू स्याद्वादी, तुम्हीं ठीक कहते। न एकांत मतके, कभी पार लहते ।।१४।।

उत्थानिका—स्तुतिकर्ता अपनी लघुता बताते हैं—

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्त्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ।।१५।।

अन्वयार्थ—(शक्रः अपि) इन्द्र भी जो अवधिज्ञान व सर्व श्रुतज्ञान का धारी होता है (पुण्यकीर्त्तेः) निर्मल कीर्तिधारी व पवित्र वाणी वाले (तव) आपकी (स्तुत्यां प्रवृत्तः) स्तुति करने में उद्यम करता हुआ (अशक्तः) असमर्थ हो जाता है (किमु) तब (मादृशः) मेरे समान (अज्ञः) अज्ञानी जो सर्वश्रुत व अवधिज्ञान रहित है कैसे आपकी स्तुति कर

सकता है (तथापि) तो भी (भक्त्या) भक्ति की प्रेरणा से (स्तुतपादपद्मः) आपके चरणों की जो मैं स्तुति करता हूँ सो (मम) मुझे (आर्य) हे गुणों को आश्रय करने वाले परम प्रभु (उच्चैः) अतिशय करके (शिवतातिं) मोक्ष सुख की सन्तान को अर्थात् निरन्तर मोक्ष सुख को (देयाः) प्रदान कीजिये।

भावार्थ—यहां श्री समन्तभद्राचार्य ने प्रगट किया है कि हे संभवनाथ ! आपके आत्मीक व अलौकिक गुण हैं उनकी स्तुति तो बड़े २ इन्द्र भी नहीं कर सकते। जो सर्व श्रुतज्ञान के धारी हैं व अवधिज्ञानी होते हैं उनका अनुभव तो आपको ही हो सकता है, दूसरा अल्पज्ञानी कैसे जान सकता है। जब जान ही नहीं सकता है तो उनका वर्णन ही कैसे किया जा सकता है। फिर मैं जो बहुत अल्प शास्त्र ज्ञान रखता हूं, कैसे आपकी स्तुति कर सकता हूँ। तथापि आपके गुणों में जो मेरा भीतरी अनुराग है उस भाव की प्रेरणा से जो कुछ मैंने कहा है उससे मेरा यही प्रयोजन है कि मेरी भावना उत्तम हो तथा मैं स्वाधीन आत्मीक आनन्दामृत का पान करता रहा करूं। और मुझे कोई कामना नहीं है।

वास्तव में जो सम्यग्दृष्टी होते हैं वे मात्र स्वानुभव की ही चाह रखते हैं, वे संसार के क्षणिक पदार्थों की चाह नहीं रखते हैं। वे स्वात्मानुभव के ही प्रयोजन से श्री जिनेन्द्र की भक्ति करते हैं। परमात्मा के गुणों का मनन परम कल्याणकारी है, उपयोग को निराकुल करने वाला है, यही भाव पात्रकेसरी स्तोत्र में झलकाया है—

जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता। भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम्॥
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्। स्फुटार्थनयपेशलां सुगत संविधास्ये स्तुतिम्॥१॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके गुणों का स्तवन यदि थोड़ा भी किया जावे तो वह सम्पूर्ण कर्मों के नाश के लिये कारण होता है ऐसा समझकर मेरी बुद्धि हुई है कि मैं अति भक्ति से हे सर्वज्ञ ! आपकी स्तुति स्पष्ट अर्थ व युक्ति को लिये हुए करूं।

भुजङ्गप्रयात छन्द

जहां इन्द्र भी हारता गुणकथनमें। कहां शक्ति मेरी तुम्हो थुति करनमें॥
तदपि भक्तिवश पुण्य यश गान करता। प्रभू दीजिये नित शिवानन्द परता॥१५॥

(४) श्री अभिनन्दन जिन स्तुति ।

गुणाऽभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षांति-सखीमशिश्रयत् ।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१६॥

अन्वयार्थ---(गुणाभिनन्दात्) अनन्त ज्ञानादि गुणों का अभिनन्दन करने के कारण से (भवान्) आप (अभिनन्दनः) सच्चे सार्थक अभिनन्दन नामधारी चौथे तीर्थङ्कर हो । आपने (क्षांतिसखीम्) क्षमा रूपी सखी को धरने वाली ऐसी (दयावधूं) अहिंसारूपी वधू को (अशिश्रियत्) आश्रय दिया है । आपने (समाधितन्त्रः) आत्मध्यान रूप धर्मध्यान या शुक्लध्यान का उपाय किया (च) और (तदुपोपपत्तये) उसी समाधि भाव की प्राप्ति के लिये आपने अपने को (द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन) दोनों ही अन्तरङ्ग वहिरंग परिग्रह त्यागरूप निर्ग्रन्थपने के गुण से [अयुजत्] अलंकृत किया ।

भावार्थ---यहां पर आचार्य ने बताया है कि श्री अभिनन्दननाथ ने केवलज्ञानादि गुणों को प्राप्त करके अपने नाम को सच्चा द्योतित किया तथा इस कार्य के लिये प्रभू ने अहिंसा को पूर्णपने अपनाया । भाव अहिंसा को इतनी प्रबलता से धारण किया कि राग द्वेष क्रोधादि कषायों का किंचित् भी आक्रमण अपने आत्मा में न होने दिया । द्रव्य अहिंसा को इतनी सूक्ष्म रीति से पाला कि किसी भी स्थावर व त्रस जीव की हिंसा से परहेज किया । प्रभू ने साधु अवस्था में पृथ्वी देखकर विहार किया । प्रासुक भूमि में दिन के ही प्रकाश में चले । वाहन का सम्बन्ध किया नहीं । रात्रि को भी मौन रहकर एकान्त में ध्यान किया । एक पत्ती को भी वाधा पहुंचाई नहीं, जगत मात्र के जीवों से अत्यन्त प्रेम किया । इसलिए सर्व प्रकार का गृहस्थी सम्बन्धी आरम्भ छोड़ दिया । अपने शरीर की रक्षा के हेतु वही भोजन पान स्वीकार किया जो किसी कुटुम्ब ने अपने लिये बनाया हो, उसी में से जो भाग दिया गया उसे लिया । अपने निमित्त जरा भी आरम्भ नहीं कराया न मनमें ही सोचा कि कोई आरम्भ करे । भिक्षावृत्ति से अचानक जिस गृहस्थ के घर पहुंच गए और उसने भक्ति सहित स्वागत करके हाथ में जो रख दिया उसे ही संतोष पूर्वक ले लिया । और अपने शरीर की स्थिति रखके आत्मध्यान का साधन किया । मुनियों की भिक्षा भ्रामरी वृत्ति कहलाती है । जैसे भ्रमर पुष्पों से रस लेता हुआ उनको किंचित् भी वाधा नहीं पहुंचाता है, वैसे साधु, दातार गृहस्थ को जरा भी वाधा नहीं पहुंचाते हैं । न

वे अपने लिये खास बनाए हुए मकान मण्डप डेरे इत्यादि में ठहरते हैं। जैसे उनको उद्दिष्ट आहार का त्याग होता है वैसे उनको उद्दिष्ट वस्तिका स्थान का त्याग होता है। इसीलिए कि उनके निमित्त कुछ भी हिंसा न हो। श्री मूलाचार में कहा है—

णवकोडी परिसुद्धं दसदोसविवज्जिय मलविसुद्धं। भुंजन्ति पाणिपत्तं परेण दत्तं परघरम्मि ॥८११॥

भावार्थ—मुनि मन वचन कायसे, कृत कारित अनुमोदना के दोष से रहित दश दोष व १४ मलसे रहित दूसरे के घर में दूसरे से दिये जाने पर अपने हाथ के पात्र मे भोजन करते हैं—

गिरिकन्दरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा। ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खु णिसेवेऊ ॥९५०॥

भावार्थ—साधु पर्वत की गुफा, मसानभूमि,शून्य घर (उजाड़ हो व उनके निमित्त न किया गया हो) व वृक्ष के नीचे, ऐसे वैराग्य से पूर्ण स्थानों में ठहरते हैं।

इस अहिंसा की सिद्धि के लिये क्षमा को मुनिगण सहचरी या सखी बनाते हैं। इसका भाव यह है कि लाख कष्ट पाने पर व घोर परीसह व उपसर्ग पड़ने पर भी साधुगण क्रोध भाव को चित्त में नहीं लाते हैं। जहां क्षमा सहित अहिंसा है वहीं मुनिधर्म पलता है। कर्मों का नाश, बिना पूर्ण वीतरागता के नहीं हो सकता है। पूर्ण वीतरागता शुद्धोपयोग मई समाधि भाव मे प्राप्त होती हैं। उसके लिए ममता व इच्छा का त्याग करना होता है। इसीलिये साधुपद में निर्ग्रन्थपन की जरूरत है। जिसमें यह आवश्यक है कि अंतरंग परिग्रह १४ प्रकार व बाह्य परिग्रह १० प्रकार त्याग दिये जावे। क्रोध,मान,माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व ये १४ अन्तरंग परिग्रह हैं। क्षेत्र, मकान, धन, धान्य, चांदी, सुवर्ण, दासी, दास, कपड़ा, वर्तन ये दस बाहरी परिग्रह हैं। निर्ग्रन्थ साधु इसीलिये वस्त्रादि का भी त्यागकर नग्न हो जाते हैं कि वस्त्र सम्बन्धी आरम्भ व परिग्रह न करना पड़े। व शरीर का सुखियापना टले व शरीर को सरदी, गरमी, डांस, मच्छर, लज्जा आदि परीसह शान्त भाव से सहना पड़े व इतना आत्मबल बढ़ जावे कि इन परीसहों के होते हुए भी आत्मा में चित्त एकाग्र रह सके। तथा प्राकृतिक रूप में रहकर वस्त्रों की भी आवश्यकता को मिटा दिया जावे। जहां तक वस्त्र त्याग का पूर्ण भाव न आवे वहां तक जैन चारित्र ग्रन्थों में ग्यारह प्रतिमा तक श्रावक व्रत पालने का उपदेश है। ग्यारहवीं प्रतिमा या श्रेणी में एक शरीर प्रमाण से छोटी चद्दर व लंगोट रखने वाला क्षुल्लक व केवल लंगोट रखने वाला ऐलक कहलाता है। ये दोनों एकाहारी व साधुवत् भिक्षाचारी व संतोषी होते हैं। इन श्रेणियों में धीरे-धीरे वस्त्र का

त्याग बताया गया है। जिससे साधक को शनैः २ शरदी आदि सहने का अभ्यास हो जाता है। मुख को किसी ऋतु में ढका नहीं जाता है। जैसे एक मुख को आदत पड़ जाती है वैसे सब शरीर को पड़ जाती है।

पात्रकेशरी स्तोत्र में मुनिचर्या को बताया है—

जिनेश्वर ! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो। विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः।
अथायमयि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता। न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥४१॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके मत में ऊन का व रुई का वस्त्र व भिक्षा का पात्र रखना साधु के लिये हिंसा के कारण से मना है। जो स्वयं असमर्थ हैं उन्होंने शरीर सुख का कारण समझकर साधु के रखने की कल्पना की है। यदि वस्त्र रखना भी साधु का मोक्ष मार्ग हो जाय तो फिर नग्न होना वृथा ही है, क्योंकि यदि हाथ में वैसे ही फल प्रा जावे तो वृक्ष पर चढ़ना वृथा ही हो जावे।

जो अन्तरंग निर्मोही हैं, सहनशील हैं, वीर हैं, गाढ़ ब्रह्मचर्यादि गुणों के धारी हैं, वे ही साधुपद में उत्कृष्ट धर्मध्यान व शुक्लध्यान साधन करके कर्मों को काटकर अरहन्त होते हैं। श्री अभिनन्दन जिन ने इस ही तरह अर्हत् पद प्राप्त किया।

छन्द स्रग्विनी

आत्म गुण वृद्धि ते, नाथ अभिनन्दना। धर अहिंसा वधू, क्षांति सेवित घना ॥
आत्ममय ध्यानकी, सिद्धिके कारणे। होय निर्ग्रन्थ पर, दोय विधि टारणे ॥१६॥

उत्थानिका—दयावधू को आश्रय करके भगवान ने क्या किया सो इस श्लोक में कहते हैं—

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात्।
प्रभंगुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अचेतने) इस अचेतन जड़ शरीर में (तत्कृतबन्धजेऽपि) व इस जड़ शरीर व जीव के साथ बन्धन होने के कारण जो आत्मा के कर्मों का बंध होता है उनके फल से जो सुख दुःखादि होता है व स्त्री पुत्र आदि का संयोग होता है उनमें भी (मम इदम् इति आभिनिवेशकग्रहात्) ये शरीरादि सब मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, इस मिथ्या अभिप्राय को ग्रहण करके (च) तथा (प्रभंगुरे) नष्ट होने वाले पदार्थों की अवस्थाओं में (स्थावरनिश्चयेन) नित्य बने रहने के असत् निश्चय के कारण (जगत्)

यह जगत (क्षतं) नष्ट हो रहा है अर्थात् जगत के प्राणी कष्ट उठा रहे हैं । उनही के उद्धार के कारण (भवान्) आपने (तत्त्वम्) यथार्थ जीवादि का स्वरूप (अजिग्रहत्) समझाया ।

भावार्थ—यहां पर यह दिखलाया है कि संसार के प्राणी मिथ्यात्व के कारण महान कष्ट भोग रहे हैं। जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसी मान लेना व सच्चे वस्तु स्वरूप पर श्रद्धा न लाना ही मिथ्या दर्शन है । यह शरीर प्रत्यक्ष भिन्न है । जड़ परमाणुओं के मिलने विछुड़ने से बनता विगड़ता रहता है । इससे आत्मा चला जाता है तब वह दग्ध कर दिया जाता है, व गाड़ दिया जाता है तब भी यह मूढ़ जीव इसको अपना मान लेता है । इसमें अहङ्कार की बुद्धि कर लेता है कि मैं गोरा हूँ, सुन्दर हूँ, जवान हूँ, राजा हूं, सेठ हूं, ब्राह्मण हूँ, क्षत्री हूँ, बलवान हूँ । तथा इसी जड़ शरीर के सम्बन्ध से ये संसारी जीव राग-द्वेष मोह करते हैं उनसे कर्मों का बंध होता हैं । कर्मों के उदय से सुख या दुःख की सामग्री प्राप्त होती है या स्त्री पुत्र मित्र सेवकादि का सम्बन्ध होता है, उनमें भी यह अज्ञानी जीव मेरेपने की बुद्धि कर लेता है कि यह ग्राम, नगर, बाग, वस्त्र, आभूषण, धन आदि मेरा है या यह स्त्री, पुत्र, पौत्र, पुत्री, सास, भौजाई, चाचा, ताऊ आदि मेरे हैं । इस तरह के अहङ्कार व ममकार के कारण ऐसा भूल जाता है कि जो शरीर व धन धान्यादि या स्त्री पुत्रादि का संयोग क्षणभंगुर है । या तो वे नाश हो जायेंगे या आपही को मर करके उनका सम्बन्ध छोड़ना पड़ेगा । तो भी यह मूढ़ प्राणी उनको सदा बने रहने का निश्चय किये रहता है । दूसरों को तो देखता है कि अमुक का सम्बन्ध छूटा अमुक मरा परन्तु अपना मरण आने वाला है इसका किञ्चित् भी विचार नहीं करता है । इस मोह-मई मदिरा के नशे में चूर होकर यह अज्ञानी प्राणी कभी भी आत्मा क्या वस्तु है, आत्मा में क्या-क्या अपूर्व गुण भरे हैं, इन सबके जानने की तरफ लक्ष्य न देकर इच्छाओं के दासत्व में उलझा हुआ व उनकी पूर्ति का यत्न करता हुआ न पूर्ति में व पूर्ति होकर छूट जाने से उनके लिये शोक व दुःख मानता हुआ महादीन व आकुलित अवस्था में जीवन बिताकर व पाप व पुण्य बांधकर नाना प्रकार चारों गति की योनियों में बार-बार जन्म पाकर बार-बार कष्ट उठाता हुआ अपना महान बुरा कर रहा है । अहङ्कार व ममकार का स्वरूप तत्वानुशासन में श्री नागसेन मुनि ने बहुत अच्छा कहा है—

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु । आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥१४॥

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः । तत्रात्माभिनिवेशोऽहङ्कारोऽहं यथा नृपतिः ॥१५॥

भावार्थ—जो सदा ही आत्मा से जुदे हैं ऐसे शरीर व स्त्री पुत्रादि में जिनका

सम्बन्ध कर्मों के उदय से हुआ है उनमें अपनेपने का अभिप्राय सो ममकार है। जैसे यह देह मेरी है। तथा जो कर्मों के उदय से होने वाले भाव हैं व जो निश्चय से आत्मा से भिन्न हैं उनमें अपनेपने का मिथ्या अभिप्राय सो अहङ्कार है जैसे मैं राजा हूं इत्यादि।

ऐसे दुःखित जीवों का कल्याण हे अभिनन्दननाथ! आपकी दिव्य ध्वनि द्वारा प्रगट सम्यक् उपदेश से हुआ। आपने समझाया कि यह आत्मा बिलकुल भिन्न है, यह तो अविनाशी शुद्ध राग-द्वेष-मोह-रहित, परम शान्त ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई स्वय परमात्मा देव है, यह कर्मों के द्वारा होने वाले ठाठों से सर्वथा भिन्न है। तथा सच्चा सुख आत्मा में ही भरा है। इसी को श्रद्धान करके सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर व इसी आत्मा का ध्यान करके सम्यक् चारित्र का आराधन कर, तो तू यहां भी सुख शान्ति पावेगा व भविष्य में भी उन्नति करते २ परमात्मा हो जावेगा, संसार के भयानक कष्टों से छूट जावेगा। आपने बताया जैसा सारसमुच्चय में कहा है—

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः। मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

भावार्थ—सम्यक्त्व सहित जीव को निश्चय से निर्वाण का लाभ है परन्तु जो मिथ्यात्वी है उस जीव का सदा ही संसार में भ्रमण रहा करेगा।

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखम्। तच्च कर्म विबन्धाय दुःखदानैकपंडितम् ॥७७॥
रोषे रोषं परं कृत्वा माने मानं विधाय च। संगे संगं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं कुरु ॥१६१॥

भावार्थ—इन्द्रियों से होने वाला सुख सुखसा दिखता है परन्तु सच्चा सुख नहीं है, क्योंकि उससे अनेक दुःख देने में चतुर ऐसे कर्मों का बंध होता है। इसलिए क्रोध को क्रोध में व मान को मान में भिन्न जानकर रखदे व परिग्रह में परिग्रह को छोड़ दे और अपने आत्मा के आधीन आत्मा ही के पास जो सच्चा सुख है उसी का भोग कर।

इस तरह का अपूर्व तत्त्व हे प्रभु! आपने बताया है. इसलिये आपको बार-बार नमस्कार हो।

छन्द स्रग्विनी

तन अचेतन यही, और तिस योगते। प्राप्त सम्बन्ध में, आपपन मानते।
जो क्षणिक वस्तु हैं, थिरपना देखते। नाश जग देव प्रभु, तत्त्व उपदेशते ॥१७॥

उत्थानिका—श्री अभिनन्दननाथ ने किस तरह तत्त्व का स्वरूप बताया सो कहते हैं—

क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।

ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥१८॥

अन्वयार्थ–(क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः) भूख प्यास आदि दुःखों के इलाज करते रहने से अर्थात् भोजन पानादि देकर तृप्त करते रहने से (च) और (इन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः) इन्द्रियों के पदार्थों के द्वारा भोग से उत्पन्न होने वाले अति थोड़े अतृप्तिकारी क्षणिक सुख से (स्थितिः न) इस शरीरधारी की स्थिति शरीर में सदा नहीं रहती और न तृप्त ही होती है [ततः] इस कारण [देहदेहिनो] इस शरीर का व उसके भीतर रहने वाले जीव का [गुणः] उपकार या भला [नास्ति च] बिलकुल नहीं होता है । [इति] अतएव [इद इत्थं] यह जगत् इस तरह का है ऐसा [भगवान्] श्री अभिनन्दननाथ ने [व्यजिज्ञपत्] प्रगट किया व बताया ।

भावार्थ—इस श्लोक में स्वामी समन्तभद्र ने कैसा बढ़िया तत्त्व बताया है, सो विचारने योग्य है । शरीर में शरीरधारी जीव किसी गति में आकर रहता है तब दोनों का ही कुछ उपकार नहीं होता है, किन्तु बुरा होता है । कथा, मोही मिथ्यात्वी जीव की है जिसका अहङ्कार शरीर में है व ममकार शरीर सम्बन्धी पर पदार्थों से है, ज्ञानी वैरागी शरीर से उदासीन महात्मा मुमुक्षु की बात नहीं है । मोही जीव रात दिन भूख प्यास के व तृष्णा के व कामसेवन की चाह के दुःखों को मेटने के लिये जो भोजन पान करता है, मनोज्ञ पदार्थ खाता पीता है, अतर फुलेल लगाता है, नाच गाना देखता सुनता है, अनेक नगर व उपवनों की सैर करता है व मनोहर स्त्रियों का बार २ उपभोग करता है, इन सब इलाजों को करता है परन्तु न भूख न प्यास न तृष्णा न काम चाह कोई भी व्याधि नहीं मिटती है. उधर शरीर पुराना पड़ता जाता है और मोही जीव कर्मों को बांध मैला होता जाता है । इन्द्रियों के पदार्थों से ऐसा थोड़ा व इतना क्षणिक व ऐसा अतृप्तिकारी सुख होता है कि उससे इस मोही संसारी प्राणी को कभी तृप्ति नहीं होती और न उस सुख का यह ही फल होता है कि शरीर व जीव दोनों दीर्घकाल तक टिके रहें । इन क्षणिक भोगों से भला तो कुछ होता नहीं, उलटा बुरा इतना होता है कि तृष्णा का रोग बढ़ जाता है. तीव्र पाप कर्म का बन्ध हो जाता है । जीव को शरीर छोड़ने पर दुर्गति जाना पड़ता है और इस शरीर को जरा से ग्रसित हो निर्बल अशक्त हो अन्त में मिट्टी में मिलना पड़ता है । हा ! कैसी भयानक संसारी प्राणियों की दशा है । इस शरीर के सम्बन्ध से

महान कष्ट जीव को भोगना पड़ता है। अतएव इसका सम्बन्ध कुमित्रवत् त्यागने योग्य है। आत्मा को शुद्ध कर लेना ही उचित है, जिससे देह कभी न मिले और यह सदा के लिये अपने स्वभाव में स्थिति प्राप्त करले और परम तृप्तिकारक स्वात्मानन्द का लाभ करले। ऐसा परमोत्तम उपदेश हे भगवान अभिनन्दननाथ! आपने जीवों को दिखाकर उनका परम कल्याण किया है। ज्ञानी जीव ऐसी भावना भाते हैं जैसा सुभाषित रत्न संदोह में श्री अमितिगति महाराज कहते हैं—

जिनपतिपदभक्तिर्भावना जैनतत्वे विषयसुखविरक्तिर्मित्रता सत्यवर्गे।
श्रुतिशमयमशक्तिर्मूकतान्यस्य दोषे मम भवतु च बोधिर्यावदाप्नोमि मुक्तिम्॥

भावार्थ—जब तक मुक्ति न प्राप्त हो तब तक मेरी भक्ति श्री जिनेन्द्र भगवान के चरणों में रहे, जैनों के यथार्थ तत्त्वों में भावना बनी रहे, इन्द्रिय विषयों के सुखों में वैराग्य रहे, सर्व प्राणी मात्र से मित्रता रहे, शास्त्र विचार, शान्तभाव व संयम में बल लगा रहे, दूसरों के दोष कहने में मौनपना रहे तथा रत्नत्रयमई आत्मज्ञान में मगनता रहे।

छन्द स्रग्वनी

क्षुत् त्रषा रोग प्रतिकार बहु ठानते। अक्ष सुख भोग कर तृप्ति नहिं मानते।
थिर नहीं जीव तन हित न हो दोडना। यह जगत् रूप भगवान विज्ञापना॥१८॥

उत्थानिका—परम दयालु भगवान ने जगत के उपकार के लिये और क्या कहा सो बताते हैं—

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो, भयादकार्येष्विह न प्रवर्त्तते।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत्॥१९॥

अन्वयार्थ-[अतिलोलः अपि जनः] अत्यन्त विषयलोलुपी भी मानव [अनुबन्धदोषतः] परम आसक्ति के वश से जो इस लोक परलोक में दुःख मिलते हैं इस दोष से व [भयात्] राजा के भय से या परलोक में दुःखों के भय से [इह] इस जगत में [अकार्येषु] न करने योग्य चोरी, पर स्त्री गमन आदि खोटे कार्यों में [न प्रवर्तते] नहीं प्रवृत्ति करता है। ऐसा साधारण जनता का वर्ताव रहा करता है तब [इह अपि] इस लोक में भी [अमुत्र अपि] परलोक में भी दोनों में [अनुबंधदोषवित्) विषयाशक्ति के दोष से होने वाले कुफलों को जानने वाला ज्ञानी जीव [कथं] किस तरह [सुखे] इस विषय सुख में [संसजति] संसर्ग करेगा [इति च अब्रवीत्] ऐसा ही आपने उपदेश किया है।

भावार्थ—इस श्लोक में कैसा सुन्दर वैराग्य का उपदेश है। स्वामी समन्तभद्रजी कहते हैं कि जब यह जगत् में देखने में आता है कि एक साधारण मानव भी, जिसके भीतर विषय भोगों की बड़ी ही लोलुपता है ऐसा जानकर कि जो स्वच्छन्द विषयों में प्रवृत्ति करूंगा तो अत्यन्त कष्ट उठाऊंगा, शरीर बिगड़ जायगा, रोग पैदा हो जायगा, पैसे की अधिक चिन्ता होगी, बहुत आकुलता होगी, निन्दा प्राप्त होगी व परलोक में भी पाप का फल भोगूंगा ऐसा समझकर तथा इस भय से कि यदि मैं चोरी, परस्त्री गमन, अन्याय आदि करूंगा तो राजा से दण्ड पाऊंगा व नरकादि में कष्ट भोगूंगा, जो न करने योग्य काम हैं अर्थात् जिनसे लौकिक में निन्दा हो व राज्य से दण्ड मिले व अपना यहां भी बुरा हो व परलोक में भी बुरा हो उनको कभी नहीं करता है। जब एक सामान्य मानव अयोग्य कामों से बच सकता है तब जो ज्ञानी है और जानता है कि विषय सुख में कांक्षा रखने से न तृप्ति होती है न इस शरीर व आत्मा का भला होता है किस तरह वैषयिक सुख में लिप्त होगा? अर्थात् ज्ञानी सदा ही विषय भोगों को विष के समान जान कर उनसे उदास रहेगा। वह तो तत्त्वज्ञान से यह जान गया है कि आत्मिक सुख ही सच्चा सुख है वही यहां भी इस शरीर व आत्मा दोनों को हितकारी है व वही मरण के पीछे भी आत्मा का उपकारी है तब उसे उसी सच्चे आनन्द में प्रीति रहेगी। अमृत को अमृत समझ लेने पर व उसका स्वाद पा लेने पर कौन ऐसा मूर्ख है जो विषवत् विषयसुख में फंसकर अपना उभयलोक का अकल्याण करेगा? ऐसा वस्तु स्वरूप हे भगवान्! आपने बताया है।

सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है—

"भोगा नश्यन्ति कालात् स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोऽपि।
तज्जीवैतान विमुच्य व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया।
स्वातन्त्र्याद्येन याता विदधति मनसस्तापमत्यन्तमुग्रं।
तन्वन्त्येते नु मुक्ताः स्वयमसमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यम् ॥९१३॥

भावार्थ—ये भोग समय पाकर नाश हो जाते हैं उनसे कोई भी उपकार स्वयं नहीं किया जाता है, इसलिये हे जीव! तू धर्मबुद्धि करके आप ही इस विपत्ति व भय के करने वाले भोगों को छोड़ दे। क्योंकि यदि ये स्वतन्त्रता से जायेंगे तो ये मन को अत्यन्त भयानक ताप पैदा करेंगे और यदि छोड़ दिये जायेंगे तो इनके त्याग से अविनाशी पूजनीय अनुपम आत्मीक सुख प्राप्त हो जायगा।

इसलिये ज्ञानी जीव इन क्षणभंगुर विषय भोगों में लिप्त न होकर आत्मकल्याण में अग्रगामी हो जाते हैं।

छन्द स्रग्विनी

लोलुपी भोग जना नहिं अनीती करे। दोष को देख जग, भय सदा उर धरे॥
है विषय मग्नता, दोउ भव हानिकर। सुज्ञ क्यों लीन हो, आप मत जानकर ॥१९॥

उत्थानिका—विषयों में आसक्त होनेसे यहां ही क्या २ दोष होते हैं उन्हें बताते हैं—

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं,ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(स च अनुबन्धः) यह ही इन्द्रिय भोगों में आसक्ति (अस्य जनस्य तापकृत्) इस अति लोलुपी मानव को क्लेश देने वाली है इतना ही नहीं है, किन्तु इससे (तृषोऽभिवृद्धिः) तृषा की बढ़वारी होती जाती है। जितना धन का व स्त्री पुत्रादि का लाभ होता जाता है उतनी २ बांछा बढ़ती जाती है। यदि चाहे हुए पदार्थ नहीं मिलते हैं तो उनको मिलाने के लिये व यदि होते हैं तो उनकी रक्षा आदि के लिये क्लेश की परम्परा बनी ही रहती है। विषयसुख पाकर क्या जीव की स्थिति संताप रहित हो सकती है? उसके लिये कहते हैं कि (सुखतः स्थितिः न च) अल्प सुखों के मिलने पर भी मानव की अवस्था सुखरूप नहीं होती, उसका संताप बढ़ जाता है। (प्रभो) हे श्री अभिनन्दन भगवान्! (यतः) क्योंकि (इति लोकहितं मतं) आपका ऐसा जगत के लोगों का उपकार करने वाला मत है (ततः) इसलिये (भवान् एव) आप ही (सतां गतिः मतः) विवेकी सज्जन पुरुषों के लिये शरणरूप व आराधने व भक्ति करने योग्य माने गए हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्य फिर खुलासा करके और भी दृढ़ करते हैं कि इन्द्रिय विषयों के सुखों में जो मगनता है वह इस लोक व परलोक में क्लेशकारी है। इतना ही नहीं है किन्तु इस जन्म में ही उनको भोगते हुए कभी भी तृप्ति नहीं होती है, उलटी तृष्णा बढ़ती हुई चली जाती है। जैसे अग्नि ईंधन डालने से बढ़ जाती है कभी बुझती नहीं है, वैसे विषयासक्त मानव की इच्छा विषय भोग से दिन पर दिन बढ़ती जाती है। वह सुख व संतोष से रह भी नहीं सकता, विषयों की प्राप्ति के लिए रात दिन उद्यम किया करता है। यदि नहीं मिलते हैं तो महा संतापित रहता है। यदि मिलते हैं तो

उनकी रक्षा व वृद्धि में लगा रहता है, यदि रक्षा करते २ उनका वियोग हो जाता है तो शोक में आकुलित होता है। विषय सुख को सुख मानने वाला कभी भी सुख व शान्ति नहीं पा सकता है। वह बार बार दौड़ २ कर पांचों इन्द्रियों के नाना प्रकार भोगों की तरफ एक को छोड़ दूसरे पर, दूसरे को छोड़ तीसरे पर जाता रहता है, भोगता रहता है, संतोष नहीं पाता है। उधर अपना शरीर पुराना पड़ता जाता है, एक दिन मरण यकायक आ जाता है, तब भी पछताता है कि अमुक भोग न कर सके व भोग सामग्री को देखकर रोता है कि हा! सब छूटी जाती है। क्या करूं ? तब आर्त परिणाम से पशु गति व नरकगति बांधकर दुर्गति में चला जाता है, जहां के कष्टों का पार नहीं है। फिर ऐसा नर जन्म मिलना जिसमें पांच इन्द्रिय व मन हो व विवेक करने की शक्ति हो बहुत कठिन हो जाता है। उसका आत्मा महान दीन हीन दुःखी हो जाता है। धिक्कार है इस विषयासक्ति को, जो यहां भी जन्म भर संताप पैदा करती, है और परलोक में भी क्लेश में डाल देती है, आत्मा का अत्यन्त बुरा करने वाली है। धन्य है हे प्रभु! आपने ऐसा सुन्दर व परम हितकारी सत्य स्वरूप बताकर लोगों को समझाया है कि इस क्षणभंगुर व अतृप्तिकारी विषय सुख में लीन न हो। किन्तु अपने ही आत्मा में जो स्वाधीन आनन्द भरा हुआ है व जिससे तृप्ति होती है व जिसकी उपमा नहीं है ऐसे सुख के लिये यत्न करो। जिस तरह हमने राज्य पाट गृह कुटुम्ब को त्यागकर आत्मीक सुख का लाभ किया उस तरह तुम भी करो। इस परोपकारी उपदेश के देने वाले आप ही सर्वज्ञ वीतरागी प्रभु हैं, ऐसा पहचानकर सज्जन विवेकी पुरुष आपकी ही स्तुति करते हैं व आपकी ही शरण में आते हैं व आपकी ही पूजा करते हैं क्योंकि आप सच्चे तत्त्व के बतानेवाले व उसपर पहुँचानेवाले हैं इसलिये आपकी ही शरण से भक्तको सच्चे तत्त्वका लाभ होगा और वह आपके ही आदर्शको पहुंच जायगा।

सुभाषित—रत्नसंदोह में इन्द्रियसुखके संबंध में कहा है—

> असुरसुरनराणां यो न भोगेषु तृप्तः : कथमपि मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः ॥
> जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्ण-स्तृणशिखरगताम्भः पानतः किं स तृप्येत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो जीव धरणेंद्र, इन्द्र व चक्रवर्ती आदि के भोगों में तृप्त न हुआ वह किस तरह साधारण मानवीय भोगों में तृप्ति पासकता है ? जो समुद्र के जलपान से अपनी तृष्णाको न बुझा सका वह तिनके की नोकपर रक्खे हुए जल के पीने से कैसे तृप्त होगा ?

अग्विनी छन्द ।

है विषयलीनता, प्राणिको तापकार। है तृषा वृद्धिकर, हो न सुखसे बसर ॥
हे प्रभो! लोकहित, आप मत मानके। साधुजन शर्ण लें, आप गुरु मानके ॥२०॥

(५) श्री सुमति तीर्थंकर स्तुतिः ।

अन्वार्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं, स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति, सर्वक्रियाकारकतत्त्व-सिद्धिः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(त्वं) आप सुमतिनाथ (अन्वर्थसंज्ञः) अपने नामके समान यथार्थ अर्थ को रखनेवाले हो। आप (मुनिः) प्रत्यक्ष ज्ञानी हो (सुमतिः) शोभनीक ज्ञानके स्वामी हो (येन) जिसने (स्वयं) अपनेसे ही (सुयुक्तिनीतं) सुन्दर गाढ़ युक्तियों से सिद्ध किया गया जीवादि तत्त्वका स्वरूप (मतं) अंगीकार किया है। अर्थात् प्रमाण व नयसे सिद्ध होनेवाला तत्त्व बताया है (यतश्च) इसी से ही (शेषेषु मतेषु) आपके अनेकांत मतके सिवाय दूसरे एकांत मतों में (सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः नास्ति) सर्व प्रकार की क्रिया तथा सर्व कर्त्ता आदि कारकों के स्वरूप की सिद्धि नहीं होसकती। यदि क्षणिक एकांत पक्षको लें जो यह कहता है कि वस्तु सर्वथा क्षण मात्र में नाश होजाती है तो फिर कार्य होने के क्षण में सर्वथा वस्तु नहीं रह सकती। तब जगत में कोई कार्य नहीं बन सकेगा। हर एक कार्य गधे के सींग के समान होजायगा। यदि नित्य एकांत पक्षको लें, जो जिसमें परिणाम या विकार या बदलना नहीं होसकेगा। उसमें भी आकाश के फूल के समान कार्य व कारण भाव रहेगा।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि—हे सुमतिनाथ! आपका जो सिद्धांत है वह यथार्थ है। क्योंकि न्याय की युक्तियों से वही अबाध सिद्ध होता है। आप तो वस्तु को जैसी है वैसी बताते हैं। वस्तु अनेक स्वभावों को एक काल रखने वाली है इसलिये वह अनेकान्त है। वस्तु किसी अपेक्षा से अस्तिस्वभाव है, किसी अपेक्षा नास्ति स्वभाव है, किसी अपेक्षा एक स्वभाव है किसी अपेक्षा अनेक स्वभाव है। किसी अपेक्षा नित्य स्वभाव है किसी अपेक्षा अनित्य स्वभाव है। ऐसा ही आपने बताया है तब ही आपके मत के अनुसार जगत में कारण कार्य सब बन जाते हैं व कर्ता कर्म करण आदि कारक भी सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु आपके विरुद्ध जो मत हैं जो एक ही स्वभाव या अन्त को सर्वथा

वस्तु में मानने वाले एकान्ती हैं उनके मत में वस्तु का स्वरूप बन ही नहीं सकता। यदि सर्वथा वस्तु को नित्य या सर्वथा अनित्य माने तो क्या दोष होगा उसे स्वामी आप्तमीमांसा में बताते हैं—

पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फल कुतः, बन्ध-मोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥४०॥
क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः। प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥४१॥

भावार्थ—यदि पदार्थ को सर्वथा नित्य माना जावे तो यह आत्मा किसी प्रकार के शुभ भावों को नहीं कर सकेगा। इसमें पुण्य बन्ध के कारण मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव न होंगे न हिंसा असत्य आदि के अशुभ भाव होंगे, जो पाप बन्ध के कारण हैं। न पापों का क्षय होगा, न पुण्य का लाभ होगा। जब क्रिया न होगी तो किस तरह पुनर्जन्म होगा? और वहां क्या सुख दुःख रूप फल होगा? तब न तो कर्म का बन्ध बनेगा और न कर्मों से मुक्ति बनेगी। और यदि पदार्थ को सर्वथा क्षणिक माना जावेगा कि क्षण भर में बिलकुल नाश हो जाता है तो भी पुण्य पाप का कार्य नहीं हो सकेगा। न परलोक सिद्ध होगा न सुख दुःख रूप फल सिद्ध होगा, न प्रत्यभिज्ञान होगा कि यह वस्तु वही है जो पहले थी, न स्मरण होगा। क्योंकि जानने वाला नाश ही हो गया। और न किसी काम को प्रारम्भ ही किया जा सकेगा। और न इसका कोई फल ही मिल सकता है। दोनों ही एकान्त पक्ष मानने से भोजन ही तैयार नहीं हो सकता न क्षुधा मिट सकती है। सर्व वस्तु नित्य पक्ष में एकसी रहेंगी, अनित्य पक्ष में नाश हो जायंगी।

परन्तु श्री जिनेन्द्र भगवान ने बताया है कि वस्तु नित्य और अनित्य दोनों स्वभाव है। जैसा कहा है—

नित्यं तत् प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा। क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥५६॥

भावार्थ—वस्तु नित्य है इस अपेक्षा से कि ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही है जिसे पहले देखा था। यह वही देवदत्त है जिसे पहले देख चुके हैं। यह वही घर है जहां कल बैठे थे। यह ज्ञान अकस्मात् नहीं होता है, किन्तु बराबर चला जाता है। वस्तु अनित्य भी है, क्योंकि काल की अपेक्षा उसमें परिणाम या अवस्था बदल जाती है। जो बालक था वह युवान हो गया है। तब बालकपना नाश हो गया है, युवापना प्रगट है तथापि जिसमें यह अनित्य पर्यायें हुई वह वस्तु नित्य है। ऐसा ही हे भगवन्! आपका मत है। वस्तु एक काल में उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसा कहा है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्। व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादिमत् ॥५७॥

भावार्थ—वस्तु सामान्य रूप से न तो जन्मती है न नाश होती है बराबर चली जाती है यह बात प्रगट है। परन्तु विशेष या पर्याय की अपेक्षा उपजती भी है नाश भी होती है। इस तरह एक ही वस्तु में एक काल उत्पाद विनाश व स्थिरपना पाया जाता है। सामान्य स्वभाव की अपेक्षा स्थिरपना है विशेष की अपेक्षा उत्पत्ति व नाश है। सुवर्ण का कंकरण तोड़कर कुण्डल बनाया गया। सुवर्ण दोनों में सामान्य है सो बना रहता है। विशेष जो कंकरण सो नाश होता है तब कुण्डल विशेष पैदा होता है। हे सुमति-नाथ ! आपका ऐसा गाढ़ व सुन्दर मत है। सो ही हो सकता है, क्योंकि आप केवल-ज्ञानी हैं। आपने यथार्थ जानकर वैसा ही यथार्थ बताया है।

त्रोटक छन्द

मुनि नाथ सुमति सत् नाम धरे। सत् युक्तिमई तुम उचरे ॥
तुम भिन्न मतोंमें नाहिं बने। सब कारज कारक तत्त्व घने ॥ २१ ॥

उत्थानिका—ऐसा जो आपका युक्तिसहित मत है उसीको आगे दिखाते हैं—

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे, तच्छेषलोपोऽपि ततोनुपाख्यम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वं) जीवादि तत्त्व (अनेकं) अनेक स्वभाव रूप है क्योंकि एक जीवमें कभी सुख कभी दुःख कभी बाल कभी कुमार कभी युवान आदि अवस्थाएँ देखनेमें आती हैं। (तदेव च एकं) वही जीवादि तत्व एक रूप भी है क्योंकि अपनी सर्व पर्यायों में वही एक द्रव्य है। (इदं भेदान्वयज्ञानं) यह भेद ज्ञान और अभेद ज्ञान अर्थात् पर्याय की अपेक्षा भिन्न २ पनेका ज्ञान व द्रव्यकी अपेक्षा एकपनेका ज्ञान (सत्यं) सत्य है, वास्तविक है बाधा रहित है (उपचारः) यदि दोनोंमें एकको तो मानोगे व एकको मात्र उपचार व आरोप मात्र व कल्पना मात्र मानोगे, अर्थात् एकरूप तत्व मानने वाले अनेकको उपचार कहें व अनेकरूप मानने वाले एकको उपचार कहें यह उपचार बिना यथार्थ वस्तु स्वरूपके तो (मृषा) मिथ्या ही है। क्योंकि (अन्यतरस्य लोपे) इनमेंसे एक किसी स्वभावका लोप कर देनेसे अर्थात् सर्वथा एकरूप व सर्वथा अनेक रूप माननेसे (तच्छेषलोपः अपि) उस शेष दूसरेका भी लोप हो जायगा। क्योंकि द्रव्य पर्यायके बिना नहीं रहता और पर्याय द्रव्यके विना नहीं रहती। यदि द्रव्यको मानो और पर्यायको न मानो तो दोनोंका अभाव होगा और यदि पर्यायको मानो द्रव्यको न मानो तो दोनों का अभाव होगा (ततः अनुपाख्यं) तब वस्तुका स्वभाव मिट जानेसे वस्तुका कथन भी

नहीं बन सकेगा। इससे यही मत ठीक है कि वस्तु भेद व अभेद उभय स्वरूप एक कालमें हैं। यही हे सुमतिनाथ! आपका यथार्थ मत है।

भावार्थ—इस श्लोक में आचार्य ने बताया है कि हर एक जीव अजीव एक व अनेक रूप है। दोनों ही स्वभाव उसमें हर एक समय में पाए जाते हैं। द्रव्य की अपेक्षा एकरूप है पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप है। द्रव्य पर्याय बराबर साथ पाई जाती हैं, जैसे मिट्टी द्रव्य है उसका घड़ा, प्याला, मटकना आदि अवस्थाएँ बनी। इन अवस्थाओं की अपेक्षा मिट्टी अनेक रूप है परन्तु इन सब में वही मिट्टी है इसलिये मिट्टी की अपेक्षा एक रूप ही है। कोई द्रव्य बिना परिणाम के नहीं रह सकता है। परिणाम समय २ होते रहते हैं कभी सदृश परिणाम होते हैं कभी विसदृश होते हैं, तथापि जिस द्रव्य में परिणाम होते हैं वह द्रव्य बना रहता है। यह जीव निगोद में था वही जीव एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पशु होकर, मानव हुआ और मानव से मोक्षगति में चला गया। यहां भिन्न २ पर्यायों की अपेक्षा जीव अनेक रूप है तथापि द्रव्य वही है, जीव वही है, इसकी अपेक्षा वह जीव एक रूप भी है। सं० टीकाकारने बताया है कि बौद्धों ने तो आजकल यह मान रक्खा है कि तत्त्व पर्याय मात्र है उसको द्रव्य कहना या वही कहना जो पहले था यह मात्र अनादि अविद्या के कारण कल्पना है, इसलिये भेदज्ञान व अनेकता ज्ञान ठीक नहीं है। तथा सांख्यों का ऐसा मानना है कि जीवादि द्रव्य ही वास्तविक है उसमें सुख दुःख आदि की पर्याय वास्तविक नहीं है, उपाधि मात्र ही है। अर्थात् बौद्ध तो एकपने को उपचार व सांख्य अनेकपने को उपचार रूप मानते हैं। इस पर यह अनेकांत का कहना है ये दोनों ही पक्ष एकांत होने से ठीक नहीं है। क्योंकि उपचार वहीं होता है जहां मुख्य न होते हुए किसी प्रयोजन से मुख्य की कल्पना की जावे। जैसे कोई कोई बालक बहुत पराक्रमी है तब उसको देखकर यह कहना कि यह सिंह है। यहां बालक में सिंहपना नहीं है किंतु कोई एक गुणकी सदृशता करने के लिये सिंह की उपमा दी है। परन्तु यह उपचार बालक में बेमतलब नहीं है। इस प्रयोजन से है कि उसमें सिंह के समान साहस है। यह स्त्री चन्द्रमुखी है। स्त्री को चंद्रमुखी कहना इसी प्रयोजन से है कि उसके मुखकी गोलाई व शांति चंद्रमाके समान है। झूठा उपचार नहीं होसकता। यदि बौद्धमत में एकपना व सांख्य के मत में अनेकपना कोई वस्तु ही नहीं है—झूठा ही है। तब उपचार से है यह कहना भी व्यर्थ है। जब हरएक द्रव्य पर्यायों को रखता है और पर्यायें द्रव्य बिना नहीं होती तब यह स्वतः सिद्ध है कि एक द्रव्य अनेक पर्यायों को रखने

से अनेक रूप है। हम यदि द्रव्य को माने, पर्याय को न माने या पर्याय को माने, द्रव्यको न माने तो दोनों ही न रहेंगे। हम यदि सुवर्ण के कंकरण पर्यायको तो मानें परन्तु कहें यह सुवर्ण नहीं है। या कंकरण कुंडल आदिको मात्र सुवर्ण ही कहें, कंकरण कुंडलके आकाररूप पर्यायको न माने तो हमारा कहना व मानना बन ही नहीं सकता है। क्योंकि जब वह सुवर्णका बना हुआ कंकरण है तब सुवर्ण पहले था वही यह सुवर्ण है ऐसा होने से सुवर्ण द्रव्य सिद्ध होजाता है। पहले कुण्डल था अब वही कंकरण है, ऐसा होने से एक ही सुवर्ण में कुण्डल व कंकरण ऐसा अनेकपना सिद्ध होगया। इसलिये एकको न मानने से कोई भी नहीं ठहर सकता है। और जब कोई तत्त्व ही न रहेगा तब उसका कथन ही असंभव होगा इसलिये एक व अनेक उभय रूप वस्तुको मानना यही सत्य है व ऐसा ही हे सुमतिनाथ! आपका मत है। आप्तमीमांसा में भी कहा है—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृतिः। तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया॥ ३६॥

भावार्थ—पदार्थ में भेद व अभेद कहना प्रमाण से सिद्ध है उपचार मात्र व आरोप मात्र नहीं है। एकही में बिना किसी विरोधके भेद व अभेद सिद्ध हैं। वर्णन करते हुए समय एकको ही कह सकते हैं इसलिये किसी को गौण व किसी को मुख्य कहना पड़ता है।

त्रोटक छन्द।

है तत्व अनेक व एक वही, तत्व भेद अभेदहि ज्ञान सही।
उपचार कहो तो सत्य नहीं, इक हो अन ना वक्तव्य नहीं॥ १२॥

उत्थानिका—जैसे जीवादि तत्व द्रव्य पर्याय स्वरूप है ऐसा दिखाया है वैसे वह भाव व अभाव रूप भी है ऐसा बताते हैं—

सतः कथंचित्तदसत्त्वशक्तिः, खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं, स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(सतः) जो कोई सत् रूप विद्यमान आत्मा आदि तत्व है वह अपने स्वचतुष्टयकी अपेक्षा से है, उसी में (कथंचित्) किसी अन्य अपेक्षा से अर्थात् पर चतुष्टय की अपेक्षा से (असत्त्वशक्तिः) असत्ता या अविद्यमानपने की प्रतीति है। वस्तु स्वस्वरूपादि की दृष्टि से अस्तिरूप है वही पर स्वरूपादि की दृष्टि से नास्तिरूप है। वस्तु में अपना वस्तुपना तो है, परन्तु अन्य वस्तुपना नहीं है। जैसे (पुष्पं) फूल (तरुषु प्रसिद्धं) वृक्षों में सिद्ध है, परन्तु (खे नास्ति) आकाश में नहीं है। इसलिये तत्त्व उभयरूप है अस्तिरूप भी

है नास्तिरूप भी है। यदि मात्र अस्ति ही स्वरूप हो, अभावपना स्वरूप न हो तो सर्वथा भावरूप होनेसे परकी अपेक्षा भी भावरूप होजावे। ऐसा हो तो जैसे वृक्ष में फूल है वैसा आकाश में भी होजावे। यह बात प्रतीति में नहीं आ सकती। इससे जो सर्वथा भाववादी व अस्तित्ववादी हैं उनका मत ठीक नहीं है। इसी तरह यदि अभावरूपपना ही वस्तु का स्वरूप माना जावे तो जैसे पर चतुष्टय की अपेक्षा तत्व अभाव रूप है, वैसे स्वचतुष्टय की अपेक्षा अभाव रूप होवे। ऐसा होनेपर जैसे आकाश में पुष्प नहीं होता है वैसा वृक्ष में भी न होवे। सो वह बात प्रतीति में नहीं आ सकती। इस तरह जो सर्वथा शून्यवादी हैं उनका मत भी ठीक नहीं है। (सर्वस्वभावच्युतं) जो तत्व सर्व स्वभावों से रहित हो अर्थात् उसमें अस्तित्व नास्तित्व आदि स्वभाव एक काल में न हो तो वह (अप्रमाण) प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि (स्ववाग्विरुद्धं) उनके ही वचन से विरोध आ जावेगा। यदि मात्र एक अस्तिरूप अर्थात् अद्वैत ही मानेंगे तो प्रमाण करते हुए द्वैत आजायगा और यदि शून्य मानेंगे तो भी प्रमाणित कैसे किया जायगा। और ऐसा एकांत तत्त्व (तवदृष्टितः अन्यत्) आपके अनेकांतमई मत से विरोध रूप है।

भावार्थ—यहां आचार्य ने समझाया है कि हे भगवन्! आपका सिद्धांत यथार्थ वस्तु का स्वरूप बताता है। हरएक जीव आदि पदार्थ अपने स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावकी अपेक्षासे अपनी सत्ता या मौजूदगी रखता है अर्थात् भावरूप या अस्तिरूप है। स्वद्रव्य से प्रयोजन अखंड समुदाय अपने ही गुण व पर्यायों का है। स्वक्षेत्रसे मतलब अपने ही प्रदेश व अपना ही क्षेत्र जिसमें वह पदार्थ है। स्वकाल से मतलब प्रत्येक समय की अपनी अवस्था जो काल द्रव्य के निमित्त से हुआ करती है। स्वभाव से मतलब अपना ही स्वभाव व अपने ही गुण हैं। इन चारों का समुदाय एक पदार्थ है। जैसे जीव द्रव्य का स्वद्रव्य अनन्त गुणादिका समुदाय एक अखण्ड पिंड है। स्वक्षेत्र उसी के असंख्यात प्रदेश हैं। स्वकाल उस जीवकी वर्तमान अवस्था है या पर्याय है। स्वभाव उसके ज्ञानादि गुण हैं। हरएक जीव अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षा से है। या उसमें उसका अस्तित्व या भावपना है तब उसीसमय उसमें अन्य समस्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व कालका अभाव है। इसलिये जीव स्वचतुष्टय की अपेक्षा भावरूप है तब ही पर चतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप है। न वह सर्वथा भावरूप है न वह सर्वथा अभावरूप है। यदि मात्र भावरूप ही माना जायगा तब एक जीवमें किसी का अभाव ही न सिद्ध होगा और यदि अभावरूप ही माना जायगा तो कुछ वस्तु ही न रहेगी।

एक रूप ही माननेसे कोई ऐसा माननेवाला अपने कथनको सिद्ध नहीं कर सकेगा। सर्वथा अद्वैत या एकरूप माननेसे सिद्ध करनेके लिये साधक व साध्य दो कहने पड़ेंगे सो नहीं बनेगा।

सर्वथा शून्य माननेसे तत्व ही न रहेगा। इसलिये यह मानना उचित है कि तत्व भाव अभावरूप है या अस्तिनास्तिरूप है। आप्तमीमांसामें स्वामीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है—

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्। सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥
अभावैकान्तपक्षेऽपि, भावापह्नववादिनाम्। बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधनदूषणम् ॥१२॥
अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि विशेषणत्वात् साधर्म्यं, यथाभेदविवक्षया ॥१७॥

भावार्थ—यदि पदार्थको एकांतसे भावरूप ही माना जावे और अभावपना न माना जावे तो यह दोष होगा—पदार्थ सर्वरूप या विश्वरूप होजायगा। यदि दो रूप होगा तो एकका दूसरेमें अभाव आजायगा तथा वह पदार्थ अनादि अनंत होजायगा, क्योंकि पहले व पीछे कभी किसी तरह उसका अभाव नहीं होसकेगा। फिर तो जगतमें न कोई नया काम बनेगा न पुराना काम बिगड़ेगा। सो ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं है। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मिट्टीसे घड़ेकी पर्याय बनी व घड़ेका अभाव होकर ठीकरे बने। जो गेहूं पहले न थे वे उत्पन्न होगए, गेहूंका अभाव होकर चून होगया। इस तरह पर्यायका अभाव बराबर होता है। तथा जब जीव व जड़ दो द्रव्य हैं बिलकुल पृथक् हैं, तब एक दूसरेमें अभाव मानना ही पड़ेगा। एक द्रव्यकी दो पर्यायें घट व लोटा एक ही कालमें है इसमें भी घटका अभाव लोटामें व लोटाका अभाव घटमें है। ऐसा आपका मत नहीं है। यदि पदार्थको अभावरूप ही माना जावे, भावपना होय ही नहीं तो फिर इसके समझानेके लिये ज्ञान व वचन कुछ न रहेगा, न कोई प्रमाण रहेगा जिससे अपने पक्षका साधन हो व पर-पक्षको दूषण दिया जावे।

इसलिये वस्तु स्वरूप ऐसा मानना उचित है कि जहां व जिस धर्मी पदार्थमें अपने स्वरूपसे अस्तिपना है या भावपना है वहां परकी अपेक्षा नास्तिपना व अभावपना अवश्य है। जहां हमने एक वस्तुको कहा कि यह सुवर्ण है तब सुवर्णका भावपना तब ही होगा जब उसमें सुवर्ण सिवाय चांदी लोहा पीतल आदिका अभावपना है। जैसे जिस पदार्थमें जो जो विशेषण होता है वह अपना विरोधी भी रखता है। जैसे जलमें शीतपना है परन्तु उष्णपना नहीं है। शीतपनेका भाव व उष्णपनेका अभाव है। इसलिये

हे सुमतिनाथ ! कथंचित् सत्, कथंचित् असत् जो वस्तुका स्वरूप आपने कहा है वह ही ठीक है ।

त्रोटक छन्द ।

हे सत्त्व असत्त्व सहित कोई नय, तरु पुष्प रहे न हि व्योम कलप ।
तव दर्शन भिन्न प्रमाण नहीं, स्व स्वरूप नहीं कथमान नहीं ॥२३॥

उत्थानिका—जीवादि तत्त्वों में एक काल सत् असत्पना प्रतिपादन करके व एकांत पक्ष को दूषण देते हुए क्रम से उसी का ही वर्णन करते हैं—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(सर्वथा) सर्व प्रकार से (नित्यं) वस्तु नित्य ही है एकरूप ही रहने वाली है ऐसा एकांत मान लेने से (न उदेति अपैति) न उसमें कोई अवस्था प्रगट हो सकती है न किसी अवस्था का नाश हो सकता है । यदि योग, सांख्य व मीमांसकों के अनुसार तत्व को सर्वथा नित्य ही माना जावे । अर्थात् जैसे वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है वैसे ही वह पर्याय की अपेक्षा भी नित्य कल्पना की जावे तव उत्पत्ति व विनाश संभव नहीं है । आगे की अवस्था का स्वीकार व पिछली अवस्था का नाश हो नहीं सकता । यदि वस्तु में क्रिया व कारक होंगे तो उत्पाद व्यय स्वभाव रहना ही चाहिये परन्तु (अत्र) यहां सर्वथा नित्य मानने से (न च क्रियाकारकं युक्तं) न तो गमन आदि क्रिया हो सकती है न कोई कर्ता कर्म करण आदि कारक ही सिद्ध हो सकते हैं । जो जैसा है वह वैसा ही रहेगा । जो गमन करता होगा वह गमन ही करता रहेगा, जो ठहरा होगा वह ठहरा ही रहेगा । उसने यह काम किया, यह करेगा यह कोई कारक नहीं वनेगा । जैसा सर्वथा नित्य मानने में उत्पत्ति व विनाश नहीं वनता है वैसा ही सर्वथा अनित्य या क्षणिक मानने से भी नहीं बन सकता क्योंकि (असतः जन्म न) जो वस्तु आकाश के फूल के समान है ही नहीं उसका जन्म हो नहीं सकता (सतः नाशः च) और जो पदार्थ है उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता । यदि कोई कहे कि दीपक जल रहा है उसको बुझा दिया जाय तो प्रकाश का सर्वथा नाश हो ही गया उसका समाधान करते हैं कि (दीपः तमः पुद्गलभावतः अस्ति) प्रकाश अंधकार रूप पुद्गल रूप से रहता है । प्रकाश और अंधकार दोनों पुद्गलों की पर्याय हैं । प्रकाश की अवस्था में जो पुद्गल द्रव्य था वही अंधकार के रूप में हो जाता है । मात्र पर्याय पलटती है, पुद्गल नाश नहीं है ।

भावार्थ—इस श्लोक में यह भाव झलकाया है कि सत् पदार्थ का न सर्वथा नाश होता है न असत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धांत अखंड है। तथापि जगत में उत्पत्ति व विनाश तो देखने में आता है। एक दूध से दही बना तब दही की उत्पत्ति हुई, दूध का नाश हुआ। एक सुवर्ण के कुण्डल को तोड़ कर कड़ा बना। तब कुण्डल विनशा, कड़ा बना। ऐसे कार्यों के होने में मात्र अवस्था या पर्याय पलटी है। जिस द्रव्य में अवस्थाएं हुई वह ध्रुव या नित्य है। गोरस में दूध व दही की अवस्थाएं पलटी, गोरस दोनों में है। सुवर्ण में कुण्डल व कड़े की अवस्था पलटी, सुवर्ण दोनों में कायम है। इससे यह सिद्ध है कि कोई वस्तु सर्वथा न नित्य है न अनित्य है। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है वही पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यदि सर्वथा नित्य माना जावेगा तो कोई भी कोई काम न कर सकेगा। तब जगत में कोई भी काम न होगा। सब एकसे ही रहेंगे। जो चलता है वह चलता ही रहेगा, कभी ठहरेगा नहीं। जो ठहरा है कभी चले ही नहीं। जो सूता है वह सूता ही रहेगा, जो जागता है वह जागता ही रहेगा। न रूई का सूत बनेगा न सूत से कपड़ा बुना जायगा, न कपड़े से कोट बनेगा। इसी तरह यदि सर्वथा वस्तु को अनित्य माना जायगा तो नाश के पीछे कुछ भी रहना न चाहिये। सो ऐसा देखने में नहीं आता। यदि कपड़े को जलाया जावे तो राख की उत्पत्ति हो जाती है। यदि मकान को तोड़ा जाय तो लकड़ी ईंट आदि रूप में प्रगट हो जाते हैं। यदि प्रकाश को नाश किया जाय तो अंधकार रूप में हो जाता है। सर्वथा उत्पत्ति व सर्वथा नाश तो किसी का होता ही नहीं। जो पदार्थ होगा उसी में उत्पत्ति अवस्था मात्र की होगी और जब किसी अवस्था की उत्पत्ति होगी तब पहली अवस्था का नाश अवश्य होगा। उत्पन्न होना भी अवस्था का ही है, नाश होना भी अवस्था का ही है। जिसमें ये दोनों बातें होती हैं वह द्रव्य बना रहता है। सर्वथा वस्तु नित्य है व सर्वथा क्षणिक है, दोनों ही बातें सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु नित्य अनित्य उभय रूप है, यह अनेकांत सिद्धांत हे सुमतिनाथ! जो आपका है वही सिद्ध होता है। सामान्य द्रव्य कभी उपजता नहीं, विनशता नहीं, सदा बना रहता है इस कारण तत्त्व नित्य है। उसमें विशेषपना या पर्यायपना होता है इससे रहता वह अनित्य भी है। ऐसा ही स्वामी ने आप्तमीमांसा में भी बताया है—

यदि सत् सर्वथा कार्यं, पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति। परिणामप्रक्लृप्तिश्च, नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥३९॥
यद्यसत्सर्वथा कार्यं, तन्माजनि खपुष्पवत्। नोपादाननियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥४२॥
न सामान्यात्मनोदेति, न व्येति व्यक्तमन्वयात्। व्येत्युदेति विशेषात्ते, सहैकत्रोदयादिसत् ॥५७॥

भावार्थ—यदि सर्वथा सत्रूप या नित्यरूप माना जावे तो जैसे पुरुष व आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है वैसे किसी घट पट आदि कार्य की भी उत्पत्ति न बने। नित्य पक्ष का एकान्त मनन से अवस्था की पलटने की व्यवस्था बन ही नहीं सकती। और यदि सर्वथा वस्तु असत् मानी जावे अर्थात् क्षणिक थी सो नाश होगई ऐसा माना जावे तो भी कोई कार्य नहीं होगा। जैसे आकाश से फूल नहीं होते वैसे घट पट आदि काम न बनेंगे, न यह नियम ही रहेगा कि उपादान कारण के समान कार्य होता है अर्थात् जैसी मिट्टी होगी वैसे उसके बर्तन बनेंगे। सुवर्ण जैसा होगा वैसा कड़ा बनेगा और जब वस्तु क्षणिक मानी जायगी तब यह निश्चय भी नहीं बन सकेगा कि इससे अमुक कार्य हो सकेगा। जब यह निश्चय ही न होगा कि गेहूं से रोटी बन सकेगी तो कौन गेहूँ को खरीदेगा। इसलिये वस्तु न तो सर्वथा नित्य है, न सर्वथा क्षणिक या असत् है। वस्तु नित्य अनित्य रूप है। सामान्य द्रव्य रूप से कोई वस्तु न उपजती न विनशती है क्योंकि द्रव्य सदा बना रहता है, वह अपनी अनन्त पर्यायों में टिका रहता है। विशेष पर्याय रूप से ही द्रव्य में उत्पाद व्यय होता है। इसलिये यह सिद्ध है कि जो सत् द्रव्य है वह एक ही काल उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। पिछली पर्याय का नाश, वर्तमान पर्याय का जन्म सदा ही द्रव्य में होता रहता है। तथापि द्रव्य बना रहता है। यही वस्तु का सच्चा स्वरूप है। शुद्ध द्रव्यों में सदृश व स्वाभाविक पर्यायें होती हैं, अशुद्ध द्रव्यों में विसदृश व औपाधिक पर्यायें होती हैं। द्रव्य पर्याय बिना नहीं, पर्याय द्रव्य बिना नहीं हो सकती है। यही वस्तु स्वभाव है।

त्रोटक छन्द।

जो नित ही हो तो नाश उदय, नहिं हो न क्रिया कारक न सधय।
सत् नाश न हो नहि जन्म असत्, जु प्रकाश गए पुद्गल तम सत्।।२४।।

उत्थानिका—अब आचार्य स्पष्टपने कहते हैं कि जीव अजीवादि पदार्थ सब नित्य अनित्य आदि रूप से अनेक रूप हैं—

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ।।२५।।

अन्वयार्थ—[विधिर्निषेधश्च] विधि अर्थात् अस्तिपना, भावपना या नित्यपना तथा निषेध अर्थात् नास्तिपना, अभावपना या अनित्यपना जीवादि पदार्थों के भीतर [कथंचित्] भिन्न २ अपेक्षाओं से, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों से [इष्टौ] मान्य है, इष्ट है, सिद्ध है। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु सत् या नित्य है, पर्याय की अपेक्षा वस्तु असत् या

अनित्य है। [मुख्यगुणव्यवस्था] एक को मुख्य करना दूसरे को गौण करना ऐसी व्यवस्था [विवक्षया] कहने वाले की इच्छा के अनुसार चलती है। जो जिस समय नित्यपना बताना चाहता है वह नित्य को मुख्य करके कहता है तब अनित्यपना गौण हो जाता है। तथा जो जब अनित्यपना समझाना चाहता है तब नित्यपना गौण हो जाता है। [इति] इस प्रकार [तव सुमतेः] हे सुमतिनाथ भगवान ! आपकी [अयं प्रणीतिः] यह तत्व के प्रतिपादन करने की शैली है। (नाथ) हे नाथ ! (स्तुवतः मतिप्रवेकः अस्तु) मैं गुण की इसीलिये स्तुति करता हूं कि मेरी बुद्धि की उत्कृष्टता होवे। मैं ऐसी भावना करता हूं।

भावार्थ—इस श्लोक में बता दिया है कि स्याद्वाद से वस्तु का स्वरूप यथार्थ बताया जाता है। वस्तु में अस्ति नास्ति, भाव अभाव, नित्य अनित्य ऐसे विरोधी स्वभाव तो पाए ही जाते हैं; परन्तु वे सब भिन्न २ अपेक्षा से होने पर कोई विरोध नहीं रहता है। जैसे किसी मानव को पिता व पुत्र दोनों ही माना जावे, ये दोनों विरोधी सम्बन्ध उस मानव में भिन्न २ अपेक्षा से हैं। वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है व अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, कोई विरोध की बात नहीं है। इसी तरह वस्तु द्रव्य अपेक्षा सदा रहती है इससे अस्तिरूप, भावरूप व नित्य है, वही पर्याय पलटने की अपेक्षा एकसी नहीं रहती है। इससे नास्तिरूप, अभावरूप व अनित्य है। दूसरे को दोनों स्वभाव समझने का मार्ग यही है जैसा कि श्री उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है—"अर्पितानर्पितसिद्धेः" कि जिसको कहना हो उसको मुख्य किया जाय व जिसको न कहना हो उसको गौण कर दिया जाय, यही स्याद्वाद है। स्यात् अर्थात् कथंचित् वाद अर्थात् कहना। वस्तु स्यात् भावरूप है, वस्तु स्यात् अभावरूप है। अर्थात् वस्तु कथंचित् किसी अपेक्षा से द्रव्यार्थिक नय से भाव रूप है वही कथंचित् किसी अपेक्षा से, पर्याय के पलटने की अपेक्षा से अभावरूप है। श्री जिनेन्द्र भगवान की वाणी इसी तरह अनेकांत मत का प्रकाश करती हुई बाधा रहित पदार्थ को यथार्थ बता देती है। जैसा स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है—

वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यम्प्रति विशेषणम्। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ।१०३।

भावार्थ—यह स्यात् एक अव्यय है। यह अव्यय शब्द वाक्यों के भीतर प्रयोग करने से अनेक स्वभाव वाले पदार्थ का प्रकाश करता है। साथ ही किसी एक मुख्य स्वभाव की विशेषता भी करता है। उसके अर्थ की यही घटना है कि अनेक स्वभावों का होना बताते हुए भी एक को मुख्य करता है, अन्य को गौण करता है। हे भगवन् ! आपका यह मत है वैसा ही सर्व केवली व श्रुतकेवलियों का मत है।

यहां पर श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं कि हे सुमतिनाथ ! आपका यह सिद्धान्त पक्का है, अकाट्य है, मानवीय है। इसलिये हम आपको यथार्थ वक्ता मानकर आपकी ही स्तुति करते हैं और यह भावना करते हैं कि जैसा आपका नाम है वैसा ही गुण हमको प्रदान कीजिये अर्थात् आपकी भक्ति व स्तुति करने से मेरे अन्दर जो ज्ञान का आवरण है वह दूर हो और मेरा ज्ञान बढ़ता चला जावे। अन्त में मैं आपके ही समान केवलज्ञानी हो जाऊं।

त्रोटक छन्द

विधि वा निषेध सापेक्ष सही, गुण मुख्य कथन स्याद्वाद यही।
इम तत्त्व प्रदर्शी आप सुमति, थुति नाथ करूं हो श्रेष्ठ सुमति ।।२५।।

---

(६) श्री पद्मप्रभ जिन स्तुतिः

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्त्तिः।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां, पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ।।२६।।

अन्वयार्थ—(पद्मप्रभः) कमल की प्रभा के समान प्रभाधारी ऐसे छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ देव (पद्मपलाशलेश्यः) सफेद कमल के पत्र समान शुक्ल लेश्या के धारी हैं। (पद्मालयालिंगितचारुमूर्तिः) लक्ष्मी ने जिनकी सुन्दर मूर्ति को आलिंगन कर लिया है। आत्मा को तो अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूपी लक्ष्मी व वीतरागतारूपी लक्ष्मी आलिंगन कर रही है, शरीर को पसेव रहितपना, महान रूपपना, १००८ लक्षणपना आदि लक्ष्मी आलिंगन कर रही है ऐसे (भवान्) आप पद्मप्रभ भगवान (प्रभाकराणां) कमलों के विकास के लिये (पद्मबन्धुः इव) सूर्य के समान (भव्यपयोरुहाणां) भव्यरूपी कमलों के प्रसन्न करने के लिये (बभौ) शोभते हुए।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने श्री अरहन्त भगवान की उस समय की शोभा बताई है जब वे तेरहवें सयोग गुणस्थान में समवसरण सहित अपनी दिव्य गंधकुटी में शोभायमान होते हैं। भगवान का शरीर लाल कमल के समान लाल रंग का परम शोभनीक

था तथापि आत्मा में लालपना न था क्योंकि कषायों का सर्वनाश हो चुका था इसलिये परम वीतरागता प्रगट हो चुकी थी। मात्र शुक्ललेश्या थी, क्योंकि अभी तक दिव्यध्वनि व विहार होता था इसमें योगों की प्रवृत्ति थी। इस लेश्या के होते हुए अनन्त पुण्यरूपी शक्ति को लिये हुए साता वेदनीय कर्म का ही आस्रव होता है, जिनकी ध्यानमई मूर्ति अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी से शोभायमान थी। अन्तरंग में तो आत्मानुभूति थी, अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अनन्त चतुष्टय की लक्ष्मी थी। परम वीतरागता व समता ने बड़ी ही शोभा विस्तार कर रक्खी थी। उसी अन्तरंग लक्ष्मी के प्रभाव से बाहर का शरीर भी परमौदारिक कोटि सूर्य के समान १००८ लक्षण युक्त पसीना व मल आदि दोष से रहित परम दीप्ति से जाज्वल्यमान था। बारह सभा में अनेक भव्य जीव कमलवनों के समान बैठे हुए प्रफुल्लित हो रहे थे। भगवान का परम प्रतापशाली व परम शान्त मुख देखकर मन आनन्द से गद्गद् हो रहा था। समवसरण स्थित प्राणियों के मन में कोई वैरभाव शोक, खेद, चिन्ता व दुःख नहीं रहता है। वे समवशरण में प्रवेश करते ही परमानन्द में डूब जाते हैं। और जब भगवान की शान्त मुद्रा का दर्शन करते हैं व दिव्यवाणी सुनते हैं तब तो उनका मन और भी परम सुखरूपी अमृत से भर जाता है। जैसे यहां सूर्य का उदय होता है वहां कमलों के वन फूल जाते हैं इसी तरह उनकी बारह सभाओं में बैठे हुए चार प्रकार के देव व देवियां, मुनि आर्यिका मानव व पशु सर्व ही भव्य जीव धर्म के पिपासु परम प्रफुल्लित हो रहे थे। इस तरह भगवान की अपूर्व शोभा हो रही थी। वास्तव में आत्मा के गुणों की अपूर्व महिमा है। यह सब आत्मध्यान का ही प्रताप था जिससे यह अपूर्व पुण्य उदय में आरहा है। भगवान के तो किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। परन्तु पुण्य कर्म स्वयं फलित होकर यह शोभा प्रकाश कर रहा है। पात्रकेशरी स्तोत्र में भी अरहन्त के शरीर की शोभा इस तरह बताई है—

प्रशांतकरणं वपुर्विगतभूषणं चाऽपि ते। समस्तजनचित्तनेत्रपरमोत्सवत्वं गतम्॥
विनाऽऽयुधपरिग्रहाज्जिन ! जितास्त्वया दुर्जयाः। कषायरिपवो परंन तु गृहीतशस्त्रैरपि ॥१७॥

भावार्थ—हे प्रभु ! आपके शरीर पर कोई आभूषण नहीं है तथापि आपके भीतर परम शान्ति झलक रही है, सर्व इन्द्रियों की शोभा शान्तरूप है व दूसरों को भी शान्त करने वाली है। आपकी वीतराग छवि को देखकर सर्व जनों को चित्त में परम प्रमोद हो रहा है। आपने बिना किसी शस्त्र के हे जिन ! अत्यन्त दुर्जय कषायरूपी शत्रुओं को सर्वथा जीत लिया है जिनको बड़े २ शस्त्रधारी योद्धा भी नहीं जीत सकते।

मुक्तादाम छन्द

पद्म प्रभ पद्म समान शरीर, शुचि लेश्याधर रूप गम्भीर ।
परमश्री शोभित मूर्ति प्रकाश, कमल सूरजवत् भव्य विकाश ॥२६॥

उत्थानिका—यहां कोई शंका करता है कि प्रभु के यथावत् पदार्थों का ज्ञान न होने से व मुक्त हो जाने से वचन का व्यापार संभव न होने से उनका उपदेश प्रमाण कैसे माना जावे उनका समाधान करते हैं—

बभार पद्मां च सरस्वतीं च,भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां, सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः ॥२७॥

अन्वयार्थ—(भवान्) आपने (प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः) मोक्ष रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के (पुरस्तात्) पहले अर्थात् अरहन्त अवस्था में जब शरीर होता है (पद्मां च) अनन्तज्ञानादि लक्ष्मी को तथा (सरस्वतीं च) दिव्य ध्वनि को भी और (समग्रशोभां सरस्वतीं एव) सर्व शोभा से परिपूर्ण समवसरण आदि विभूति को या क्षुधा आदि १८ दोष रहितपने को (बभार) धारण किया था । (विमुक्तः) और जब आप मोक्ष हुए तब (ज्वलितां) सदा प्रकाशरूप निर्मल (सर्वज्ञलक्ष्मीं) अनन्तज्ञानादि विभूति को धारण किया था ।

भावार्थ—यहां पर यह दिखलाया है कि श्री पद्मप्रभ का नाम सार्थक है । जैसे यह प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी कमल में रहती है या यह वर्णित है कि लक्ष्मी कुमारिका देवी शिखरी पर्वत के कुण्ड पुण्डरीक नाम के कमलवत् द्वीप में रहती है उसी तरह यहां पर बताया है कि श्री पद्मप्रभ जिनकी शोभा कमलवत् थी सदा ही लक्ष्मी को धारण करते थे । जब तक आप मोक्ष न हुए और अरहन्त परमात्मा रहे तब तक आपने अनन्तज्ञानादि अन्तरंग चतुष्टय रूपी लक्ष्मी को धारण किया व बाह्य में समवसरणादि विभूति को व क्षुधादि दोषरहितपने को व सर्व पदार्थों को यथार्थ कहने में समर्थ ऐसी दिव्य वाणी को धारण किया । इस कारण आपने जो कुछ कथन किया सो सत्य प्रमाणीक कथन किया । क्योंकि जो सर्व पदार्थों को जानता होगा उसके किसी तरह का अज्ञान नहीं हो सकता है । तथा आपने मोह का पहले ही नाश कर दिया था इसलिये आप में राग-द्वेष व कोई स्वार्थ रहा ही नहीं जिससे असत्य कहा जा सके । जो वीतराग है उसके कोई राग-द्वेष सम्भव नहीं है । जो रागी व द्वेषी होता है वही अयथार्थ कह सकता है । आप क्योंकि परम वीतराग व सर्वज्ञ थे तथा मोक्ष होने के पहले शरीर सहित थे, तब ही आपकी दिव्यवाणी

भव्य श्रोताओं के पुण्य के उदय से तथा आपके नाम कर्म के उदय के कारण वचन योग व काय योग का व्यवहार मौजूद था, इस कारण प्रकाश हुई, वह किसी तरह अप्रमाणिक नहीं कही जा सकती है। शरीर त्याग के पहले ही आप परमात्मा हो गए। इससे यह भी दिखलाया है कि बिना शरीर के वाणी का प्रकाश जो पुद्गलमय है, किसी भी तरह संभव नहीं है। अमूर्तीक, शरीर रहित परमात्मा से वाणी का प्रकाश नहीं हो सकता है–शरीरधारी ही प्रगट कर सकता है। इसलिये शंकाकार की शङ्का का समाधान हो जाता है।

फिर जब भगवान् शरीर को भी त्यागकर व सर्व अघातिया कर्मों से भी छूटकर मुक्त हुए व सिद्ध हुए तब भी लक्ष्मी का त्याग आपने नहीं किया। सर्वज्ञपना रूपी लक्ष्मी को सदा ही आलिंगन किये रहे। बाहरी समवसरणादि शोभा व वाणी का प्रकाश जिनके होने में अघातिया कर्म का उदय कारण था, नहीं रहे। परन्तु स्वाभाविक लक्ष्मी जो अनन्त ज्ञानादिमय थी वह तो आत्मा के साथ बनी रही। अर्थात् अरहन्त अवस्था में आप सर्वज्ञ वीतराग व हितोपदेशी थे, अब सिद्ध अवस्था में आप सर्वज्ञ वीतराग तो रहे ही। हितोपदेशीपना जो कर्मों के उदय से था वह न रहा।

पात्रकेशरी स्तोत्र में अरहन्त का स्वरूप कहा है–वाणी की प्रमाणता बताई है—

नहीन्द्रियधिया विरोधि न च लिंगबुद्धया वचो। न चाप्यनुमतेन ते सुनयसप्तधायोजितम्॥
व्यपेक्षपरिशंकनं वितथकारणादर्शनादतोपि भगवंस्त्वमेव परमेष्ठितायाः पदम्॥११॥

भावार्थ—हे भगवान! आप ही अरहन्त परमेष्ठी के पद को धारण करने वाले हैं क्योंकि आपका वचन ऐसा प्रमाणीक है कि वह न तो इन्द्रियज्ञान से बाधित होता है और न अनुमान प्रमाण से खण्डित होता है और न परस्पर आगम से विरोध पाता है। आपका वचन यथार्थ सप्तभंग रूपी नयों के द्वारा सिद्ध हो जाता है तथा आपके वचनों से शंका की जरूरत नहीं है क्योंकि आपमें असत्य भाषण के कारण जो अज्ञान व राग द्वेष मोह हैं वे नहीं हैं। आप सर्वज्ञ वीतराग हैं—

मुक्तादाम छन्द

धरत ज्ञानादिरिद्धि अविकार, परम ध्वनि चारु समवसृत सार।
रहे अरहन्त परम हितकार, धरी बोध श्री मुक्ति मंझार॥२७॥

उत्थानिका—अरहन्त अवस्था में हे भगवान! आपकी शरीर की प्रभा कैसी शोभती हुई सो कहते हैं।

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते, बालार्करश्मिच्छविराऽलिलेप ।
नराऽमराकीर्णसभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ।।२८।।

अन्वयार्थ—(ते प्रभोः) हे पद्मप्रभ ! आप इन्द्रादि के स्वामी हैं आपके (बालार्क-रश्मिच्छविः) प्रातःकाल के बाल सूर्य की किरणों के समान चमकने वाली लाल रंग के (शरीररश्मिप्रसरः) शरीर की किरणों के विस्तार ने (पद्माभमणेः शैलस्य प्रभा स्वसानुं वत्) मणि के लाल पर्वत की ज्योति अपनी कटनी में फैल जाती है इस तरह [नरामराकीर्णसभां मनुष्य और देवों से भरी हुई बारह सभा को [आलिलेप] व्याप्त कर लिया अर्थात् बारह सभा में आपके शरीर की लाल ज्योति इस तरह फैल गई जैसे बाल सूर्य की किरणें जगत में फैल जाती हैं ।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने भगवान के शरीर की प्रभा का अच्छा चित्र खींचा है । पद्मप्रभ भगवान का देह रक्तवर्ण का था । परमौदारिक होने से वह अत्यन्त प्रभावशाली व कोटि सूर्य की दीप्ति को भी मन्द करने वाला था । समवसरण में बारह सभा गंध कुटी के चारों तरफ लगी हैं । उनमें देव, मनुष्य, पशु आदि सब विराजमान हैं । भगवान के शरीर से निकली हुई परम शांत लाल किरणें उन सब सभा निवासियों पर इस तरह फैल गई जैसी बाल सूर्य की शांत किरणें फैल जाती हैं । जैसे प्रातःकाल का सूर्य तापकारी नहीं होता है किन्तु बहुत ही रमणीक भासता है, इसी तरह भगवान के शरीर की दीप्ति शांत थी—आतापकारी न थी । दूसरी उपमा यह दी है कि जैसे पद्मराग मणि का पहाड़ हो तो उसकी चमक चारों तरफ किनारों पर फैल जाती है उसी तरह प्रभु के शरीर की द्युति चारों तरफ फैल गई । यद्यपि इस श्लोक में मात्र शरीर की ही स्तुति है, केवली भगवान के आत्मा की स्तुति नहीं है तथापि यह स्तुति व्यवहार नय से केवली भगवान की ही है । क्योंकि ऐसा सुन्दर प्रभावशाली देह का होना व उसमें परम शांति का झलकना उस शरीर के भीतर रहने वाले केवल ज्ञानी वीतराग परमात्मा का ही प्रभाव है । अन्य साधारण मानव के ऐसी शरीर की दीप्ति संभव नहीं है ।

तत्वानुशासन में नागसेन मुनि कहते हैं—

प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसंपूर्णोदग्रविग्रहं । आकाशस्फटिकांतस्थज्वलज्ज्वालानलोज्ज्वलम् ।।१२७।।
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् । परमात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निःश्रेयसाप्तये ।।१२८।।

भावार्थ—अरहंत भगवानका संपूर्ण दिव्य शरीर प्रभामई लक्षणसे पूर्ण रहता है, जैसे जलती हुई अग्निकी ज्वाला किसी स्फटिकके भीतर रखदी जाय वैसे आकाशके

भीतर प्रभुका शरीर देदीप्यमान है। जगतके सब तेजोंमें उत्तम तेज व जगतकी सब ज्योतियोंमें उत्तम ज्योतिको प्रकाश करनेवाले परमात्मा अर्हंतका ध्यान मोक्षकी प्राप्तिके लिये करे।

मुक्तादाम छन्द

प्रभू तन रश्मिसमूह प्रसार, बाल सूर्यसम छवि धरतार।
नर सुर पूर्ण सभामें व्यापा, जिम गिरि पद्मराग मणि तापा।।२८।।

उत्थानिका—ऐसे अरहंत भगवान क्या एक ही स्थानपर रहे या उन्होंने विहार किया सो बताते हैं—

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं, सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो, भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै।।२९।।

अन्वयार्थ—(त्व) आपने (पातितमारदर्पः) कामदेवके घमण्डको चूर्ण कर डाला व आप [सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः पादाम्बुजैः] एक हजार पत्रधारी सुवर्णमई कमलोंके भीतर अपने चरणकमलोंसे चलते हुए [नभस्तलं पल्लवयन् इव] आकाशके प्रदेशोंमें मानों कमलके पत्तोंकी शोभाको विसारते हुए [भूमौ] इस आर्यक्षेत्रमें [प्रजानां भूत्यै] प्रजाके कल्याणके लिये [विजहर्थ] विहार करते हुए।

भावार्थ—यहां भी अरहंत अवस्थाका ही कथन किया है। तीर्थंकर भगवान भव्य जीवों के पुण्य के उदयसे आर्यक्षेत्रमें विहार करते हैं उस समय आकाश द्वारा गमन होता है, तब इन्द्र भक्तिसे पन्द्रह पन्द्रह कमलों की १५ पंक्तियां चरणोंके नीचे रखता जाता है। ये कमल सुवर्णमई १००० पत्तोंके धारी विकसित होते हैं उनके मध्यमें ही भगवानके चरणकमल जो लालवर्णके थे चलते हुए ऐसी शोभाको दिखला रहे थे मानों आकाशमें लाल-कमलके पल्लव ही छारहे हैं-भगवानके चरणोंकी लाली सुवर्णपर पड़ती हुई ऐसी मनोहरता बता रही थी। जहां जहां भगवानका विहार हुआ वहां वहां समवसरण इन्द्रादि देव रच देते थे। प्रभुकी दिव्यध्वनिका प्रकाश होता था जिससे भव्यजीवोंका अज्ञान अंधकार मिट जाता था व उनको मोक्षमार्गका उपदेश मिलता था। जैनी सम्यग्दृष्टि अनेक श्रावक व अनेक मुनि होते थे-वास्तविक तीर्थंकरपना व धर्मप्रचारपना होरहा था। धन्य हे प्रभु! आपके प्रतापसे बहुतसे जीवों ने अपना परम कल्याण किया। आपका विहार स्वयंके लाभके लिए नहीं किंतु जीवोंके परम हितार्थ हुआ।

आप्तस्वरूप में कहा है:—

यस्य वाक्यामृतं पीत्वा भव्या मुक्तिमुपागताः। दत्तं येनाभयं दानं सत्त्वानां स पितामहः।। ३६।।

भावार्थ–जिस तीर्थंकरके वचनामृतका पान करके भव्यजीव मुक्तिको प्राप्त हुए, जिसने सर्व प्राणियों को अभयदान दिया, सोही सच्चा पितामह तीर्थंकर है। वास्तव में तीर्थंकर धर्म तीर्थका प्रचार करके परम हितका सम्पादन करते हैं।

मुक्तादाम छन्द।

सहसपत्र कमलों पर विहरे, नभ में मानो पल्लव प्रसरे।
कामदेव जेता जिनराजा, करत प्रजाका आतम काजा ॥२९।

उत्थानिका—आचार्य स्तुति करते हुए अपना लघुपना बताते हैं—

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं, नाऽऽखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः।
प्रागेव मादृक्किमुताऽतिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—[आण्खडलः]इन्द्र जब [गुणाम्बुधेः] गुणके समूह [तवर्षेः] आप परम ऋषिके [विप्रुषम् अपि] गुणके एक अंश मात्रको भी [अजस्रं] निरन्तर[स्तोतुं अलं न] स्तवनके करने के लिये समर्थ न हुआ तब [प्रागेव मादृक्] मैं तो पहले ही से असमर्थ हूं। मेरे समान अल्पज्ञानी आपकी कैसे स्तुति कर सकता है। [किमुत] परन्तु [अतिभक्तिः] आपमें जो मेरी परम भक्ति है वही [मां बालं] मुझ बालक सम तुच्छ ज्ञानी को [इदं इत्थ] आप ऐसे हैं व इस प्रकार हैं ऐसा [आलापयति] स्तवन करने के लिये प्रेरणा करती है।

भावार्थ—यहां पर श्री समंतभद्राचार्य बताते हैं कि हे परमात्मन्! श्री पद्मप्रभ स्वामी! आपके भीतर जो अपूर्व गुण हैं उनका कोई कथन कर ही नहीं सकता। सौधर्मादि इन्द्र जो सर्वश्रुतज्ञानकी शक्ति रखते हैं वे भी जब निरन्तर उद्यम करके आपके गुणके एक अंश मात्र को भी स्तुति न कर सके तब मेरे जैसा पूर्ण श्रुतज्ञान रहित अल्पज्ञानी आपकी स्तुति कैसे कर सकता है? आप तो गुणोंके समुद्र हैं, इन्द्र तो एक बूंदको भी नहीं ग्रहण कर सकता तब मेरे में क्या शक्ति है जो मैं गुण समुद्रको स्पर्श भी कर सकूं? परन्तु हे भगवन्! आपके गुणों में जो गाढ़ श्रद्धा है व उससे उत्पन्न हुआ जो तीव्र भक्तिभाव है वही मुझे चैन नहीं लेने देता और बार २ प्रेरित करता है कि मैं कुछ वर्णन करूं सो मैं इतना ही आलापता हूँ कि आप ऐसे हैं व यह हैं। मैं स्तुति तो आपकी कर ही नहीं सकता। ऐसा मैं इसीलिये करता हूँ कि मेरा भाव आपकी तरफ अटका रहे जिससे यह वीतराग भगवानकी छायामें रह कर वीतरागरूप होजावे। मैं भवातापका

सताया हुआ हूँ। आप भवातापको शमन करके परम शांत होगए हैं। मुझे भी आत्म शांतिकी चाह है इसलिये आपकी शरणमें आया हूं। आपसे लव लगाई है जो चाहे सो बकता हूं। मेरा प्रयोजन यही है कि मैं परम शांतिको पाकर सुखी होजाऊं। वास्तवमें ज्ञानीजन निरन्तर वीतराग भावकी ही भावना करते हैं। श्री पद्मनन्दि मुनि सिद्धस्तुतिमें कहते हैं—

सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं ते एव दृग्बोधने। सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं तन्मे प्रियं नेतरत्॥
इत्यालोच्य दृढ त एव च मया चित्ते धृताः सर्वदा। तद्रूपं परम प्रयातु मनसा हित्वा भवं भीषणम्।२८।

भावार्थ—सिद्ध स्वरूप ही एक सुगति है वही सुख है वे ही दर्शन ज्ञान हैं। सिद्धों के सिवाय और कोई भी मुझे प्रिय नहीं है। ऐसा विचार कर मैंने उनको ही दृढ़ता से अपने मनमें सदा धारण किया है, जिससे मैं इस भयानक संसार को मनसे त्यागकर उसी परम सिद्ध स्वरूपको प्राप्त होजाऊं।

मुक्तादाम छन्द।

तुम ऋषि गुणसागर गुणलव भी, कथन न समरथ इन्द्र कर्मा भी।
हूं बालक कैसे गुण गाऊं, गाढ भक्ति से कुछ कह जाऊं॥ ३०॥

---

(७) श्री सुपार्श्व जिन स्तुति

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः॥३१॥

अन्वयार्थ—(यत् आत्यंतिकं स्वास्थ्यं) जो अत्यन्त अविनाशी अपने आत्मस्वरूप रूप हो जाता है। अर्थात् कर्मादिमल से छूटकर अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्वामी होकर आत्मानन्द में नित्य मग्न रहता है (एषः पुंसां स्वार्थः) यही सच्चा जीवों का प्रयोजन है, यही उद्देश्य है व होना चाहिये (परिभंगुरात्मा भोगः न) क्षणभंगुर इन्द्रिय सुखों का भोग उद्देश्य नहीं होना चाहिये (तृषोऽनुसङ्गात्) क्योंकि भोगों के भोगने से तृष्णा की वृद्धि होती जाती है। (च तापशांतिः न) तथा जो चाह की दाह है वह शान्त नहीं होती है। (इति इदम) ऐसा वस्तु का स्वरूप (भगवान्) परम ज्ञानी व परम पूज्य

(सुपार्श्वः) सप्तम तीर्थंकर सर्व ओर परम शोभा को रखने वाले श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर (आख्यत्) वर्णन किया है।

भावार्थ—यहां पर यह बताया है कि सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर ने जगत के प्राणियों को वस्तु का सच्चा स्वरूप बताया है। इस लोक में जगत के प्राणियों का ध्येय सुख शांति पाना है। सब जीव मात्र सुख शान्ति चाहते हैं। पशु, पक्षी, कीट, मानव कोई भी दुःख व क्लेश नहीं चाहते हैं। जहां शांति होती है वहां पशु भी आकर बैठ जाते हैं। कोई मानव भी क्रोधादि महीं चाहता है—जब दुःखादि हो जाते हैं तब क्लेशित होता है—पीछे पछताता है। वह सुख शांति कहीं अन्य स्थान में नहीं मिल सकती है, वह हरएकको आत्माके स्वभावमें है। जो आत्मा आत्मस्थ हो जाते हैं, जो स्वानुभव करते हैं स्वरूप मग्न होते हैं, उनहीको सुख शांतिका लाभ होता है। जितना जितना आत्मस्वरूपमें तल्लीनपना है उतना उतना आनंद होता है व वीतरागताका लाभ होता है। अत्यन्त व अविनाशी स्वरूपकी मग्नता तब ही होती है जब कर्मोंके बंधनोंसे छूटकर मुक्त होजावे, अपने पूर्ण ज्ञानादि गुणोंका लाभ करले, फिर सदा ही स्वरूपानंदका अपूर्व लाभ होगा। न कभी ताप होगा न चिंता होगी, न कोई खेद होगा, न कोई वियोग होगा, न कभी नाश होगा। इसलिये सर्वका यही ध्येय उचित है कि आत्मिक स्थिरता प्राप्त हो। यही उद्देश्य सच्चा है। जो इन्द्रियके भोगोंका प्रयोजन रक्खा जायगा और उनहीके लिये तपस्या व धर्म कर्म व प्रयत्न किया जायगा तो वह असत्य उद्देश्य है। क्योंकि इन्द्रिय भोगोंके पदार्थ एकरूप सदा साथ नहीं रह सकते—वे क्षणभंगुर हैं। बड़े २ चक्रवर्ती आदिके भोग भी नाश होजाते हैं व उन्हें स्वयं ही छोड़ना पडता है। दूसरे उनके भोग करते रहनेसे और अधिक तृष्णा बढ़ती जाती है। जिस अंतरंग चाहको मिटानेके लिये इन्द्रिय भोग किये जाते हैं वह चाह किसी तरह बुझती नहीं है। अग्निमें ईंधन डालने से जैसे आग बढ़ती जाती है वैसे भोग करते २ तृष्णा बहुत प्रचण्ड होती जाती है—कभी भी मनका आताप शांत नहीं होता है। सहस्रों व लाखों वर्षों तक व सागरों तक भोग किया जाय फिर भी तृप्ति नहीं होती है। अंत में जब मरने लगता है तब पछताता है व वियोग से आर्त्तध्यान करके दुर्गति में चला जाता है। ऐसा यथार्थ वस्तुका स्वरूप बताकर हे भगवन्! आपने जीवों का परम कल्याण किया है। आप परम प्रतापी ऐश्वर्यशाली अंतरंग ज्ञानादि लक्ष्मी व बहिरंग समवसरणादि लक्ष्मी से शोभायमान हैं। आपके कथन की सत्यता की प्रशंसा नहीं की जा सकती है। इस श्लोक में आचार्य ने संकेत किया है कि हम सबको धर्मका सेवन आत्मिक सुखशांति के हेतु से ही करना योग्य है, भोगों के

हेतु करना मूर्खता है, उल्टा और अधिक दुःखों में अपने को पटकने का उपाय है। जो वस्तु नाशवंत है व तापवृद्धि कारक है उसे चाहना नितांत नादानी है। वह अविनाशी सुखशांतिमई अवस्था है उसी की ही भावना रखकरके धर्म का साधन करना चाहिये। श्री पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश में ठीक ही कहा है—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं। अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहिःस्थितेः। जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥
आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं। न चासौ खिद्यते योगी वहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥
अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्। तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

भावार्थ—शरीर व भोगादि सब पर हैं, उनमें ममत्व करना दुःख ही का कारण है। आप स्वयं आत्मा ही है उसीसे ही सुख होता है। इसलिये महात्मा लोग आत्मा ही के हित के लिए व आत्मारूप रहने के लिए उद्यम करते हैं। क्योंकि जो आत्मानुभव में लीन होते हैं तथा व्यवहार के प्रपंच से बाहर रहते हैं उन योगियों को योग के बल से कोई अपूर्व अकथनीय परमानन्द होता है। वही आनन्द अतिशय रूप से कर्म के ईंधन को निरन्तर जलाता रहता है। उस आनन्द में ही मग्न रहने से वह योगी बाहरी दुःख उपसर्ग पड़ने पर भी उनकी तरफ कुछ भी ध्यान न देता हुआ खेद को नहीं प्राप्त होता है। इसलिये अज्ञान से दूर उस महान ज्ञानमई आत्मज्योति का ही प्रश्न करना चाहिये। उसी की चाह करनी चाहिये, उसी का ही अनुभव करना चाहिये। यही मोक्ष के इच्छुकों का व स्वाधीनता प्रेमियों का कर्तव्य है।

सारसमुच्चय में कुलभद्राचार्य कहते हैं—

भुक्त्वाप्यनन्तरं भोगान् देवलोके यथेप्सितान्। यो हि तृप्ति न सम्प्राप्तः स किं प्राप्स्यति सम्प्रति ॥७५॥
वरं हालाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनम्। न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदम् ॥७६॥
इन्द्रियप्रभवं सौख्य सुखाभासे न तत्सुखं। तच्च कर्मविबंधाय दुःखदानैकपंडितं ॥७७॥

भावार्थ—देवलोक में यथेच्छित इन्द्रिय भोगों को बराबर भोगते रहने से जो तृप्त न हुआ वह वर्तमान के तुच्छ भोगों से क्या तृप्त होगा? वास्तव में हालाहल विष पीलेना ठीक है, उससे इसी शरीर का नाश है परन्तु इन्द्रिय भोगरूपी विष का खाना ठीक नहीं है, क्योंकि वह अनन्त जन्मों में दुःख देने वाला है। इन्द्रिय भोग से होने वाला सुख सुखसा दीखता है वह यथार्थ सुख नहीं है, उससे कर्मों का बंध होता है, वह तो दुःख देने में अति प्रवीण है।

छन्द चौपाई। (१६)

जय सुपार्श्व भगवन हित भाषा, क्षणिक भोग की तज अभिलाषा।
तप्त शांत नहि तृष्णा बढ़ती, स्वस्थ रहे नित मनसा सधती ॥३१॥

उत्थानिका— भगवान ने मात्र इन्द्रिय सुख का ही स्वरूप नहीं बताया किन्तु शरीर का भी स्वरूप बताया सो कहते हैं—

अजंगमं जंगमनेययन्त्रं, यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च, स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः।३२।

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (अजंगमं) बुद्धि पूर्वक न चलने योग्य हाथी घोड़े आदि का खिलौना (जंगमनेययंत्रं) कोई चलाने वाले के द्वारा काम करने लगता है (तथा) वैसे ही (शरीरम्) यह जड़ शरीर स्वयं बुद्धि पूर्वक क्रिया नहीं कर सकता है परन्तु (जीवधृतं) चेतन स्वरूप जीव के द्वारा धारा हुआ है। उस जीव की ही प्रेरणा से चलना बैठना सोना आदि काम करता है। (बीभत्सु) फिर यह शरीर अति घिनावना है या कुरूप है (पूति) दुर्गंधमय है (क्षयि) नाशवंत है (च तापकं) और वह दुःखों का कारण है [अत्र] इस शरीर में [स्नेहः वृथा] अनुराग करना निष्फल है। [इति हितं] ऐसी हितरूपी शिक्षा [त्वं] आपने [आख्यः] कही है।

भावार्थ—इस श्लोक में शरीर का सच्चा स्वरूप बताया गया है कि यह शरीर जड़ है क्योंकि जड़ पुद्गल के परमाणुओं के बने हुए आहारक वर्गणारूप स्कंधों से बना हुआ है। इसमें स्वयं समझ करके काम करने की शक्ति नहीं है। जब तक इसमें जीव बना रहता है तब तक ही यह उठता बैठता, चलता, फिरता, खाता, पीता, बात करता व नाना प्रकार की क्रियाएँ करता है। उन सब क्रियाओं के होने में अंतरंग जीव के उपयोग की प्रेरणा रहती है। या जीव की योग शक्ति की प्रेरणा रहती है। कर्मबंध सहित जीव में योग और उपयोग ही नाना प्रकार कार्य करते हैं। जैसा समयसार में कहा है—

जीवो ण करेदि घड णेव पडं णेव सेसगे दव्वे। जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥१००

भावार्थ—जीव स्वयं न तो घड़ा बनाता है, न कपड़ा, न अन्य द्रव्यों को बनाता है। उसमें जो कर्मों के उदय से योग का व उपयोग का परिणमन है वे ही घड़े आदि के उत्पन्न होने में निमित्त हैं। इन योग व उपयोग का कर्ता व्यवहार से जीव कहा जाता है। जब तक यह अशुद्ध जीव शरीर में रहता है सब क्रिया मन वचन काय की दिखलाई पड़ती है। जब यह जीव छोड़ के चला जाता है तब यह शरीर बिलकुल जड़ मिट्टी के

समान अचेतन ही रह जाता है। फिर यह शरीर अत्यन्त कुरूप है, घिनावना है, ऊपर से यदि एक चमड़ा उठा दिया जावे तो कोई अपने शरीर को भी स्वयं नहीं देख सकेगा, हाड़ का पिंजरा महा भयानक सा दीख पड़ेगा। यदि न भी उठावें तो भी यह अति सुन्दर रूपवान शरीर भी बहुत शीघ्र कुरूप हो जाता है। यदि इसे रोग आजावे, वृद्धावस्था आजावे व भूख प्यास से सताया हुआ हो व क्रोधादि से व्यथित हो तो यह देखने योग्य नहीं रहता। यह दुर्गन्ध से भरा है। नाक, कान, आंख, मुख, नीचे के द्वार व रोमों से सर्व तरफ दुर्गन्धमय मैल ही को बाहर निकालता है। जल पुष्पमाल चन्दन वस्त्र आदि भी स्पर्श पाकर अपवित्र हो जाते हैं। यह स्वयं अपवित्र है व जिसे २ वह अपने शरीर पर धारण करता है उसे २ वह अपवित्र बना देता है। फिर यह आयु कर्म के आधीन है व इस कर्म भूमि के पामर मानवों का देह तो अकाल मरण के आधीन है। विदित नहीं कि किस समय नाश हो जावे अर्थात् प्राण रहित हो जावे। ऐसा होने पर भी जब तक इसका सम्बन्ध है तब तक यह ताप को करने वाला है। इसी के ही निमित्त से भूख, प्यास, गर्मी, शरदी आदि की बाधायें सताती हैं जिनसे आकुलित हो बहुत यत्न करना पड़ता है। यह जब कुछ भी बिगड़ जाता है जीव को बेचैनी हो जाती है। जितना संसार में कष्ट है वह सब शरीर के निमित्त से है। शरीर के उपकारी के वियोग पर शोक होता है। शरीर को हानि पहुंचाने वाले पर द्वेष होता है। यह शरीर ही रागद्वेष का मूल कारण है और रागद्वेष ही कर्म बन्ध के कारण हैं और कर्म बन्ध संसार में भ्रमण के कारण हैं। ऐसा यह शरीर किसी भी तरह स्नेह करने योग्य नहीं है। इससे भीतरी प्रेम करना वृथा है, क्योंकि यह टिकने वाला नहीं है। प्रेम तो उससे करना चाहिये जो थिर हो व सुखदाई हो। दुःखदायक अथिर व अपवित्र वस्तु से राग करना मूर्खता है। बुद्धिवान को चाहिये कि जब तक शरीर है तब तक इसमें राग न करके मात्र इसको स्वास्थ्ययुक्त रखके इससे जो कुछ आत्महित है सो कर लेना योग्य है—उसमें आज कल न करना चाहिये। क्योंकि इसके छूटने का कुछ भी भरोसा नहीं है।

ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं—

अजिनपटलगूढं पंजरं कीकसानाम्। कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ़ गाढ़म्॥
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं। कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम्॥१३॥

भावार्थ—यह शरीर चमड़े के परदे से ढका है भीतर यह हाड़ों का पिंजरा है,

बिगड़ी हुई पीप की दुर्गन्ध से पूर्ण है। काल के मुख में बैठा रहता है तथा रोग रूपी सर्पों का घर है। ऐसा शरीर मानवों के लिये प्रीति योग्य नहीं है।

हे भगवन् सुपार्श्व ! आपने ऐसी हितरूप शिक्षा देकर जगत के प्राणियों को आत्महित में लगाया है, शरीर का मोह छुड़ाया है।

छन्द चौपाई

जिम जड़ यन्त्र पुरुष से चलता, तिम यह देह जीव धृत पलता।
अशुचि दुःखद दुगन्ध कुरूपी, यामें राग कहा दुःखरूपी ॥३२॥

उत्थानिका-हे भगवन् ! जब आपने ऐसी हितकारी शिक्षा दी तब फिर आपके वचन सुनकर सर्व ही जन शरीरादि से वैराग्यवान होकर अपना आत्महित क्यों नहीं करते हैं ?-

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ-(इय) यह (भवितव्यता) देव या कर्मों का तीव्र उदय (अलंघ्यशक्तिः) ऐसा है कि इसकी शक्ति का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इसका अनुमान कैसे हो कि कर्म का उदय या दैव कोई वस्तु है ? उसके लिये कहते हैं। (हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा) इसका चिह्न यह है कि कोई भी कार्य सुख दुःख या इष्ट सामग्री की प्राप्ति अप्राप्ति होती है उसमें दो कारणों की आवश्यकता है। अन्तरंग कारण कर्म का शुभ व अशुभ उदय है व बाहरी कारण उसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का सम्बन्ध है। यदि शुभ कर्म सहाई न हो तो कार्य नहीं भी होता है, इसलिये कहते हैं कि (कार्येषु) कार्यों के करने के लिये (संहत्य) सहकारी कारण मिलाने पर (अहंक्रियार्त्तः जन्तुः) अहङ्कार से आतुर मानव (अनीश्वरः) असमर्थ हो जाता है अर्थात् जिसको अहङ्कार है कि मैं कार्य कर ले जाऊंगा वह कभी २ सफलता नहीं पाता है (इति साधु अवादीः) ऐसा आपने यथार्थ उपदेश दिया है।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि इस जगत में जब इन्द्रिय सुख विरस है—शरीर अपवित्र व क्षणभंगुर है तब कर्म का उदय भी बलवान रहता है। यह वास्तव में कर्म ही के उदय का कारण है जो इच्छित इन्द्रियों के भोग परिश्रम करने पर भी नहीं

मिलते व होते हुए भोग नष्ट हो जाते हैं। तथा शरीर की नाना प्रकार रचना भी कर्म के उदय से होती है व शरीर का त्याग होना भी आयु कर्म के क्षय के आधीन है। यह तीव्र कर्म का उदय है, तीव्र मिथ्यात्व का उदय है, जिससे यह अज्ञानी प्राणी समझाए जाने पर भी प्रतीति में नहीं लाता है। जिस किसी को इतना अहङ्कार हो कि मैं अवश्य कार्य कर ले जाऊंगा, दैव व पुण्य पाप कोई चीज नहीं है उसी के बहुत से कार्य कारण कलाप मिलाने पर भी सफल नहीं होते हैं। तब वह बिलकुल असमर्थ हो जाता है। उस समय अवश्य दैव का स्मरण होता है। जगत में ऐसे बहुत से कार्य हैं जिनमें विघ्न आ जाता है। एक सेठ ने यह विचार किया कि मैं अपने पुत्र को चतुर बनाकर व उसको गृही धर्म में लगाकर फिर मैं घर को छोड़ दूंगा। उसने अपने पुत्र को सब तरह ठीक बनाया। जब वह युवान होगया यकायक पुत्र रोगाक्रान्त हो मर गया। सेठ इस भावी कर्म के उदय को रोक न सका।

एक आदमी अपने पास धन को बहुत सम्हाल से रक्खे हुए यात्रा कर रहा है। यकायक कभी गाफिल हो जाता है,चोर उसका धन निकालकर ले जाते हैं। क्या यह हानि पाप कर्म के उदय से नहीं हुई ? अवश्य हुई। एक ही भूमि में आसपास खेती होती है किसी की फलती है,किसी की नहीं फलती है। एक ही बाजार में एक ही तरह की दूकानें हैं, कहीं अधिक बिककर अधिक लाभ होता है, कहीं कम बिककर कम लाभ होता है। शरीर की भोजनपानादि से भले प्रकार सम्हाल करते हुए भी यकायक कोई शरदी गरमी हवा का कारण बन जाता है कि जिससे शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। और देखते २ शरीर छूट जाता है। अपने सम्बन्धियों का वियोग व अपनी सम्पदा का वियोग कोई नहीं चाहता है परन्तु जगत में वियोग हो जाता है। आगे के श्लोक में स्वयं आचार्य इसी बात को बतायेंगे। वास्तव में कर्म अवश्य है। यदि कर्म न हों तो आत्मा अशुद्ध ही न पाया जावे,न इसके क्रोधादि विकार हों न इसके अज्ञान हों। तथा सबके काम सिद्ध ही हो जाने चाहिये। क्योंकि ऐसा नहीं होता है इससे यह सिद्ध है कि अदृष्ट या दैव या पुण्य पाप अवश्य है। हरएक कार्य के लिये बाहरी व अन्तरंग कारण की जरूरत पड़ती है। बाहरी कारण के मिलाने के लिये पुरुषार्थ किया जाता है, तब अन्तरंग कारण यदि अनुकूल होगा तो कार्य की सफलता होगी, प्रतिकूल होगा तो कार्य असफल हो जायगा। जगत में जितना कर्मों के क्षयोपशम से ज्ञान व आत्मबल प्रगट होता है उसको पुरुषार्थ कहते हैं। यह कर्मों के हटने से है, उदय से नहीं है। इस ज्ञान और आत्मबल से हरएक कार्य को

विचार पूर्वक करना चाहिये, यह तो हरएक मानव का कर्तव्य है, फिर उसमें सफलता व असफलता कर्मों के उदय के अनुकूल है। यह बात हमारी बुद्धिगोचर नहीं है कि सफलता ही होगी या असफलता। इसीलिये स्वामी समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में कहा है—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

भावार्थ—जो काम हमारे बिना विचार किये हुए ही हो जाते हैं, अर्थात् दुःख सुख आदि अबुद्धि पूर्वक हो जाते हैं उनमें अपने ही पूर्व कृत पुण्य पाप कर्म के फल का कारण मुख्य है और पुरुषार्थ गौण है। तथा जहां बुद्धिपूर्वक विचार करके काम किया जाता है उसमें जो जो इष्ट या अनिष्ट हो जाता है उसमें मुख्यता पुरुषार्थ—की है, गौणता दैव की है। वास्तव में हरएक कार्य दो कारणों से होता है—पुरुषार्थ और दैव से। कहीं पर पुरुषार्थ की मुख्यता है जहां विचार पूर्वक काम होता है। कहीं पर दैव की मुख्यता है जहां कुछ विचार भी नहीं किया गया था। किसी के मरण का किसी को विचार भी नहीं था, यहां अबुद्धि पूर्वक मरण हुआ। इसमें मुख्यता आयु कर्म के क्षय की है गौणता बाहरी कारण की भी है। शरीर यन्त्र बिगड़ने में कोई बाहरी कारण अवश्य बना है। जहां हमने बहुत विचार पूर्वक कोई काम किया और वह जैसा विचारा था वैसा हो गया, उसमें मुख्यता पुरुषार्थ की कही जाती है। परन्तु गौणता से पुण्य का उदय भी कारण है। इस तरह आचार्य ने संसारी प्राणी को हरएक कार्य की सफलता में असमर्थ भी बताया है। तीव्र मिथ्यात्व का उदय होता है तब उपदेश नहीं लगता है। परन्तु मन्द मिथ्यात्व के उदय में उपदेश असर भी कर जाता है। ऐसा स्वरूप भवितव्यता का जानकर हमें कभी भी प्रमादी न होना चाहिये। यहां दैव का स्वरूप मात्र बताया है। दैव के आधीन मात्र आलसी होकर बैठे रहने का संकेत नहीं है।

छन्द चौपाई

यह भवितव्य पटल बल धारी, होय अशक्त अहं मतिकारी।
दो कारण बिन कार्य न राचा, केवल यत्न विफल मत साचा ॥३३॥

उत्थानिका—उसी भवितव्यता की सामर्थ्य को ही दिखाते हैं—

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो, वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(मृत्योः) मृत्यु से (बिभेति) यह प्राणी डरता रहता है (ततः मोक्षः न अस्ति) परन्तु उस मरण से छुटकारा नहीं होता है। यह कर्मोदय का ही तीव्र प्रताप है (नित्यं) सर्वदा (शिवं) कल्याण को या मुक्ति को (वांछति) चाहता रहता है (अस्य लाभः न) परन्तु कर्मों के उदय के ही कारण से उस कल्याण का या मोक्ष का लाभ नहीं होता है। (तथापि) तो भी (बालः) अज्ञानी प्राणी (भयकामवश्यः) मरणादि से भय व सुखादि की अभिलाषा के आधीन हुआ (स्वयं) अपने आप (मुधा) वृथा ही (तप्यते) दुःखी हुआ करता है (इति अवादीः) ऐसा आपने उपदेश दिया है। जो बुद्धिमान दीर्घदर्शी है वह यह समझकर कि दैव की प्रतिकूलता से ही इष्ट कार्य नहीं सिद्ध होता है, उस दैव या कर्मों को क्षय करने के लिए निरन्तर धर्म का यत्न करता रहता है। धर्म की वृद्धि से ही सर्व इष्ट कार्य की सिद्धि होती है।

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! आपने वस्तु स्वरूप ठीक २ बताया है। कर्मोदय की तीव्रता या दैव या भवितव्यता का प्रमाण आपने प्रगट रूप से यह बता दिया है कि सर्व ही प्राणी साधारणता से यही चाहते हैं कि हम सदा जीवित रहें। हमारा कभी मरण न हों। परन्तु वे ऐसा कोई अलौकिक पुरुषार्थ नहीं कर सकते जिससे वे मरणको टाल सकें, करते तो बहुत प्रयत्न हैं; औषधि, मंत्र, तंत्र आदि बहुत कुछ करते हैं; परन्तु मरणकी होनहार को बिलकुल ही नहीं टाल सकते। यह शक्ति तो किसी में नहीं है। इन्द्र जो महा बलवान है वह भी आयुकर्म के क्षयसे समयको टाल नहीं सकता। चक्रवर्ती जो महान् निधियों के स्वामी हैं उनको भी समय पर मरना ही पड़ता है। यह अमिट भवितव्यता का प्रगट दृष्टांत है। दूसरा यह है कि बहुधा जन यह चाहते हैं कि हम संसार से एकदम छूट जावें, हमारी मुक्ति होजावे तो हम जन्म-मरण-रोग-शोक वियोग के दुःखों से रहित होजावें, परन्तु चाहने पर भी अपना छुटकारा नहीं कर सकते, मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि लौकिक पुरुषार्थ से कोई संसार से छूटकर मुक्त नहीं होसकता। कर्मों का उदय या दैव उसको नवीन नवीन गतियों में फंसा देता है। यह भी दैव की शक्ति का प्रगट दृष्टांत है। अथवा हरएक प्राणी सुख चाहता है, भला चाहता है कि न मैं रोगी हूं, न दलिद्री हूं, न बूढ़ा हूं, न असमर्थ हूं, किन्तु सदा ही इच्छित भोगों को भोगता रहूं। मेरे सुख में कभी भी विघ्न न आवें परन्तु कर्मोदय की तीव्रता के होने से ऐसा अपना हित कर नहीं सकता। रात दिन ही सुख में विघ्न पाता है व इच्छित हित हाथ नहीं आता है। यह क्या कर्म की तीव्रता का प्रगट उदाहरण नहीं है? ऐसा जानते हुए भी जो अज्ञानी हैं, वस्तु के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, वे निरंतर मरण

से भयभीत रहते हैं और सुख की इच्छा किया करते हैं। जो बात अपने लौकिक पुरुषार्थ मात्र के आधीन नहीं है जिसमें कर्मों के उदय की भी आवश्यकता है उसके लिये दुःखी होते हुए वृथा ही कष्ट पाते हैं—मन को संतापित रखते हैं। जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हैं वे जानते हैं कि हमारा यह जीवन आयु कर्म के उदय के आधीन है। हम आयु कर्म की स्थिति को बिलकुल ही बढ़ा नहीं सकते। इसलिये जब आयु क्षय होगी हमें यह शरीर छोड़ना पड़ेगा व दूसरा धरना पड़ेगा। इसलिये हमको मरण से कभी भय न रखना चाहिये। जिसके समय को हम टाल ही नहीं सकते, उससे भय करना मूर्खता है और न हमें रातदिन वैषयिक सुखों की चिन्ता ही करनी चाहिये। वे भी पुण्य कर्म के उदय के आधीन हैं। दूसरे ने इन्द्रियों के विषय हमारे चाहने से ही हमारे साथ नहीं ठहरते हैं। जो स्त्री पुत्र मित्रादि चेतन पदार्थ हैं वे अपने अपने कर्मों के आधीन हैं। हम चाहते भी रहें कि वे न मरें व वे रोगी न हों व उनका वियोग न हो, परन्तु जब उनका कर्म उदय होजाता है वे मर जाते हैं, रोगी होजाते हैं, परदेश चले जाते हैं। जो अचेतन पदार्थ है, वे भी नाशवंत हैं। घर, उपवन, वस्त्र, आभूषण सब जीर्ण होते जाते हैं। हमारा पुण्य क्षीण होगा तब उनका सम्बन्ध भी नहीं रह सकेगा। ऐसा कर्मों का विचित्र नाटक जानकर वे ज्ञानी वृथा न तो मरने से डरते हैं न भोगाभिलाष से तपते हैं किन्तु निरन्तर धर्म पुरुषार्थ का सच्चे भाव से पालन करते हैं। यह रत्नत्रयमई जिनधर्म ही है जिसके प्रताप से यह प्राणी सर्व कर्मों को नाशकर मरण से छूट जाता है और नित्य मुक्ति को पालेता है—जन्म मरणादि क्लेशों से सदा के लिये अलग हो जाता है। धर्म ही ऐसा पुरुषार्थ है जिसके कारण से पापों का क्षय होता है, पुण्य का लाभ होता है। तब लौकिक दुःख कम होजाते हैं व लौकिक साताकारी सामग्री प्राप्त होजाती है। यह धर्म ही जीव का परम हितकारी है। ज्ञानी जीव सदा ही निशंक रहकर निर्वांछक रहकर आत्मानंद का भोग करते हुए परम धर्म से अपना हित करते रहते हैं। वे स्याद्वाद नयसे विचारते रहते हैं कि भावितव्यता भी है और पुरुषार्थ भी है। हमें तो योग्य पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम मोक्षका करते ही रहना चाहिये। सफलता तब ही होगी जब देव अनुकूल होगा, जब सिद्धि का समय आजायगा व अन्तराय कर्म विघ्नकारक न रहेगा।

दैवके सम्बन्धमें सुभाषित रत्नसंदोहमें श्री अमितिगति आचार्य दिखलाते हैं—

भवितव्यता विधाता कालो नियतिः पुराकृतं कर्म। वेधा, विधिस्वभावो भाग्यं दैवस्य नामानि ॥३४४॥

अन्यत्कृत्यं मनुजश्चिंतयति दिवा निशं विशुद्धधिया-वेधा विदधात्यन्यत् स्वामी च न शक्यते धर्तुं ॥३६२।

नरवरसुरवरविद्याधरेषु लोके न दृश्यते कोऽपि। शक्नोति यो निषेद्धुं मानोरिव कर्मणामुदयः ॥३६९॥

भावार्थ—भवितव्यता, विधाता, काल, नियति, पूर्वकृत कर्म, वेधा, विधिस्वभाव, भाग्य, दैव ये सब शब्द एकार्थवाची हैं। यह मानव निर्मल बुद्धिसे रात दिन किसी अन्य ही कार्यकी चिंता किया करता है परन्तु कर्मोका उदय कुछ अन्य ही आगे लादेता है, नहीं समर्थ कोई है जो इसे रोक सके। इस लोकमें न तो चक्रवर्ती, न इन्द्र, न विद्याधर कोईमें भी यह शक्ति नहीं है कि जो तीव्र कर्मोंके उदयको रोक सके। जैसे सूर्यका उदय व अस्त अपने आधीन नहीं है वैसे कर्मोंका उदय या नाश अपनी चाहना पर नहीं है।

एक धर्म पुरुषार्थ तो अवश्य मन्द कर्मोका क्षय कर सकता है व पुण्यका लाभ करा सकता है, विना धर्मके तो कोई भी दैवके आक्रमणसे बचानेवाला नहीं है। इसलिये पुरुषार्थका एकांत मत मिथ्या है, ऐसा समझना ही संतोषका कारण है।

छन्द चौपाई।

डरत मृत्युसे तदपि टलत ना, नित हित चाहे तदपि लभत ना।
तदपि मूढ़ भय वश हो कामी, वृथा जलत हिय हो न अकामी ॥२४॥

उत्थानिका—जिसके उपदेशमें त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्वोंका यथार्थ कथन है वही प्रमाणीक होता है। क्या श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्! आपका वचन ऐसा ही है? इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं—

**सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता, मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता, मयापि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ॥२५॥**

अन्वयार्थ—(भवान्) हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! आप ही (सर्वस्य तत्त्वस्य) सर्व ही त्यागने लायक व ग्रहण करने लायक तत्त्वोंके (प्रमाता) संशयादि दोषसे रहित ज्ञाता हैं व (माता बालस्य इव हितानुशास्ता) जैसे माता बालकको हितकारी शिक्षा देती है उसी तरह आप भव्यजीवोंको जो अज्ञानी हैं, हितकारी तत्त्वकी शिक्षा देते हैं (गुणावलोकस्य जनस्य नेता) व आप ही सम्यग्दर्शनादि गुणोंके खोजी भव्यजीवको यथार्थ मार्गको दिखानेवाले हैं। इसीलिये (अद्य) आज (मया अपि) मेरेसे भी (भक्त्या परिणूयते) आप भक्तिपूर्वक स्तुति किये गए हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें दिखाया है कि हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! मैं आज आपकी भक्ति से प्रेरित हो जो स्तुति कर रहा हूं उसमें कारण यही है कि आप ही स्तुति करने

योग्य प्रमाणीक आत्मा हैं। आप सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं क्योंकि आपने ज्ञानावरण दर्शनावरण व अन्तराय का नाश कर डाला है, इसलिये सर्व ही तत्त्वों को आप यथार्थ जानते हैं। आप ही पहचानते हैं कि क्या त्यागने योग्य है व क्या ग्रहण करने योग्य है। आपने मोह कर्म का सर्वथा क्षय कर डाला है इससे आपमें पूर्ण वीतरागता है। आपमें कोई राग द्वेष व स्वार्थ सम्भव नहीं है जिससे आप अन्यथा कहें, इसलिये आपने यथार्थ उपदेश दिया है। जिस तरह माता बालक को समझाती है उसकी भलाई का मार्ग बताती है उसको दुःख व हानि से बचने की शिक्षा देती है उसी तरह आपने सर्व प्राणी मात्र का कल्याणकारक उपदेश दिया है। फिर जो अति निकट भव्य जीव हैं, मोक्ष मार्ग पर चलना चाहते हैं उनके आप ही पथ प्रदर्शक हैं वे आपके ही चरित्र का अनुकरण करते हुए आपके समान हो जाते हैं। आप पूर्ण आनन्दमई हैं, निर्विकार हैं, सर्वज्ञ हैं, परम हितोपदेशी हैं। यह प्रमाणीक पूजने योग्य देव का लक्षण हो सकता है। श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे प्रभु ! यह बात मैंने आपके प्रमाणीक वचनों से निश्चय कर ली है। आपका उपदेश ऐसा ही है जैसा वस्तु स्वरूप है। वस्तु नित्य, अनित्य, एक. अनेक आदि अनेक स्वभाव रूप है ऐसा आपने प्रतिपादन किया है। इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी, क्षणिक व तापवर्द्धक हैं व भवभ्रमण के कारण हैं। ऐसा ही आपने बताया है।

राग द्वेष मोह बन्ध के कारण हैं। वीतरागमई आत्मा की अनुभूति व रत्नत्रयमई एकाग्र परिणति बन्ध की नाशक है। शक्ति की साधिका है व सुख शान्ति की सीढ़ी है। इसी भेद विज्ञान पूर्वक स्वानुभव से मुझे झलकता है सो ही आपने बताया है। कर्मों का उदय व बन्ध होता है। तथापि धर्म पुरुषार्थ कर्मों का विध्वंश कर सकता है यह सब सच्चा तत्त्व आपने बताया है। जैसी जैसी मैं परीक्षा करता हूँ आपके उपदेश की सत्यता पाता हूँ व मैं यदि कुछ भी आपके बताए हुए मार्ग पर अटल रहता हूँ, मुझे सुख शान्ति मिलती है, इसलिये मुझे निश्चय है कि आप ही यथार्थ आप्त हैं, वक्ता हैं व इन्द्रादि देवों से व गणधरादि से भी नमन करने योग्य हैं।

आप्तमीमांसा में स्वयं स्वामी समन्तभद्राचार्य अपनी परीक्षा प्रधानता को भले प्रकार बताते हैं स्वामी कहते हैं—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

भावार्थ—भवितव्यता, विधाता, काल, नियति, पूर्वकृत कर्म, वेधा, विधिस्वभाव, भाग्य, दैव ये सब शब्द एकार्थवाची हैं। यह मानव निर्मल बुद्धिसे रात दिन किसी अन्य ही कार्यकी चिंता किया करता है परन्तु कर्मोंका उदय कुछ अन्य ही आगे लादेता है, नहीं समर्थ कोई है जो इसे रोक सके। इस लोकमें न तो चक्रवर्ती, न इन्द्र, न विद्याधर कोईमें भी यह शक्ति नहीं है कि जो तीव्र कर्मोंके उदयको रोक सके। जैसे सूर्यका उदय व अस्त अपने आधीन नहीं है वैसे कर्मोंका उदय या नाश अपनी चाहना पर नहीं है।

एक धर्म पुरुषार्थ तो अवश्य मन्द कर्मोंका क्षय कर सकता है व पुण्यका लाभ करा सकता है, बिना धर्मके तो कोई भी दैवके आक्रमणसे बचानेवाला नहीं है। इसलिये पुरुषार्थका एकांत मत मिथ्या है, ऐसा समझना ही संतोषका कारण है।

छन्द चौपाई।

डरत मृत्युसे तदपि टलत ना, नित हित चाहे तदपि लभत ना।
तदपि मूढ़ भय वश हो कामी, वृथा जलत हिय हो न अकामी ॥३४॥

उत्थानिका—जिसके उपदेशमें त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वोंका यथार्थ कथन है वही प्रमाणीक होता है। क्या श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्! आपका वचन ऐसा ही है? इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं—

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता, मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता, मयापि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ॥३५॥

अन्वयार्थ—(भवान्) हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! आप ही (सर्वस्य तत्त्वस्य) सर्व ही त्यागने लायक व ग्रहण करने लायक तत्त्वोंके (प्रमाता) संशयादि दोषसे रहित ज्ञाता हैं व (माता बालस्य इव हितानुशास्ता) जैसे माता बालकको हितकारी शिक्षा देती है उसी तरह आप भव्यजीवोंको जो अज्ञानी हैं, हितकारी तत्त्वकी शिक्षा देते हैं (गुणावलोकस्य जनस्य नेता) व आप ही सम्यग्दर्शनादि गुणोंके खोजी भव्यजीवको यथार्थ मार्गको दिखानेवाले हैं। इसीलिये (अद्य) आज (मया अपि) मेरेसे भी (भक्त्या परिणूयते) आप भक्तिपूर्वक स्तुति किये गए हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें दिखाया है कि हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! मैं आज आपकी भक्ति से प्रेरित हो जो स्तुति कर रहा हूं उसमें कारण यही है कि आप ही स्तुति करने

भीतर झलकनेवाले व (चंद्रप्रभं) चंद्रमाके समान प्रभाधारी ऐसे आठवें श्री चंद्रप्रभ भगवान को (वन्दे) मैं समन्तभद्र नमस्कार करता हूँ।

भी श्री चंद्रप्रभ नामकी सार्थकता बताई है। यद्यपि भगवानकी नकी प्रभा या चमक चंद्रमा तुल्य थी तथापि चंद्रमा उनके द्रमा के रंगमें कुछ दोष झलकता है, पर चंद्रप्रभ भगवानमें । शरीर भी शुक्ल था व अंतरंग भाव लेश्या भी वीतरागता त परम शुक्ल थी। चंद्रमा तो कमती बढ़ती उद्योत करता तु यह सदा ही केवलज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित थे। चंद्रमा हैं परन्तु इस अद्भुत दूसरे चंद्रमाको कर्मोंका आवरण नहीं का आवरण कर सकते हैं—ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका । चन्द्रमा तो राहू के द्वारा ग्रसित होता है परन्तु इस अनुपम चन्द्रमा न रूप कषाय भाव के बन्ध को बिलकुल मिटा दिया है जो वीतरागमय ो मल दिया करता था। उस चन्द्रमा को तो मूर्ख अज्ञानी ही चन्द्रमा को तो बड़े २ इन्द्रादि देव भी नमन करते हैं। देवों का ही इन्द्र है। यह परमात्मामई चन्द्रमा बड़े २ नी विकासरूप ऐसे अरहन्त पद में सुशोभित श्री मैं मन वचन काय से नमस्कार करता हूँ। हो मेरा आत्मा भी है परन्तु जहां तक मैं हूं तब तक मैं परम आदर्श रूप श्री र उनकी भक्ति करता रहता हूँ व को और कषायों को जीतकर ज्ञान में नित्य प्रकाशमान व

—

वपूत्त ोन च मनस्कृता व्यावृतिः ॥
च केवलाभ्युदितदिव्यसच्चक्षुषा ॥६॥

हनीयादि कर्मों का नाश कर दिया है

भावार्थ—हे जिनेन्द्र आप ही दोष रहित हैं क्योंकि आपका वचन युक्ति व आगम से विरोध रूप नहीं है। आपका मत प्रसिद्ध प्रमाण से बाधा को नहीं पाता है इसलिये विरोध रहित है। आपके मत रूपी अमृत से जो बाहर हैं व सर्वथा एकान्तवादी हैं और हम यथार्थ वक्ता हैं-इस अभिमान से दग्ध हैं-उनका मत प्रमाण से बाधा को प्राप्त हो जाता है।

श्री अमितिगति सुभाषित में कहते हैं—

भावाभावस्वरूपं सकलमसकलं द्रव्यपर्यायतत्त्वं। भेदाभेदावलीढं त्रिभुवनभवनाभ्यंतरे वर्तमानम्॥
लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलं लोकते यस्य बोधस्त मुक्तिकामा भवनमिदं भावयन्त्वाप्तमत्र॥६४७।

भावार्थ—जिस परमात्मा अर्हंतका ज्ञान तीन लोकके भीतर रहे हुए पदार्थों को भाव अभावरूप, एक व अनेकरूप, द्रव्य व पर्याय स्वरूप, भेद व अभेदरूप देखने में मल रहित परम निर्मल है व लोक अलोकका जाननेवाला है, उसी देव आप्तको मुक्तिके चाहने वाले संसाररूपी घरको तोड़ने के लिये ध्याते हैं।

छन्द चौपाई।

सर्व तत्वके आप हि ज्ञाता, मात बालवत् शिक्षा दाता।
भव्य साधुजन के हो नेता, मैं भी, भक्ति सहित थुति देता॥ ३५॥

(८) श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर स्तुतिः।

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं, चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं, जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम्॥३६॥

अन्वयार्थ—(चंद्रमरीचिगौरं) चंद्रमाकी किरण समान शुक्लवर्ण के धारी, (जगति द्वितीयं चंद्रं इव) जगतमें एक दूसरे ही अपूर्व चंद्रमाके समान (कांतम्) केवलज्ञानमई दीप्तिसे प्रकाशमान (महताम् अभिवन्द्यम्) महान् इन्द्रादि द्वारा पूजनेयोग्य, (ऋषीन्द्रं) गणधर देवोंके स्वामी, (जिनं) कर्मोंको जीतनेवाले (जितस्वांतकषायबन्धम्) तथा अपने

भीतर झलकनेवाले व (चंद्रप्रभं) चंद्रमाके समान प्रभाधारी ऐसे आठवें श्री चंद्रप्रभ भगवान् तीर्थंकर को (वन्दे) मैं समन्तभद्र नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—यहां भी श्री चंद्रप्रभ नामकी सार्थकता बताई है। यद्यपि भगवानकी उपमा चंद्रमासे दी है कि उनकी प्रभा या चमक चंद्रमा तुल्य थी तथापि चंद्रमा उनके समान कोई वस्तु न था। चंद्रमा के रंगमें कुछ दोष झलकता है, पर चंद्रप्रभ भगवानमें बिलकुल साफ शुक्लपना था। शरीर भी शुक्ल था व अंतरंग भाव लेश्या भी वीतरागता रूप व कषायकी कालिमा रहित परम शुक्ल थी। चंद्रमा तो कमती बढ़ती उद्योत करता व उदय व अस्त होता है परन्तु यह सदा ही केवलज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित थे। चंद्रमा को मेघ आच्छादित कर लेते हैं परन्तु इस अद्भुत दूसरे चंद्रमाको कर्मोंका आवरण नहीं रहा है न कर्म अब आत्माका आवरण कर सकते हैं—ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका सर्वथा नाश हो गया है। चन्द्रमा तो राहू के द्वारा ग्रसित होता है परन्तु इस अनुपम चन्द्रमा ने उस भाव कर्म रूप कषाय भाव के बन्ध को बिलकुल मिटा दिया है जो वीतरागमय आत्मस्वभाव को मलीन दिखला दिया करता था। उस चन्द्रमा को तो मूर्ख अज्ञानी ही नमस्कार करते हैं परन्तु इस अपूर्व चन्द्रमा को तो बड़े २ इन्द्रादि देव भी नमन करते हैं। वह चन्द्रमा तो मात्र ज्योतिषी देवों का ही इन्द्र है। यह परमात्मामई चन्द्रमा बड़े २ गणधरादि मुनियों का स्वामी है। सदा ही विकासरूप ऐसे अरहन्त पद में सुशोभित श्री चन्द्रप्रभ भगवान आठवें वर्तमान तीर्थंकर को मैं मन वचन काय से नमस्कार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि श्री चन्द्रप्रभ भगवान के समान ही मेरा आत्मा भी है परन्तु जहां तक मैं कर्मों के जाल में फंसा हूँ व कषाय भाव से ग्रसित हूं तब तक मैं परम आदर्श रूप श्री चन्द्रप्रभ भगवान को अपने हृदय मन्दिर में धारण कर उनकी भक्ति करता रहता हूँ व उनका अनुकरण करता रहता हूँ कि जिससे मैं भी कर्मों को और कषायों को जीतकर उनही के समान जिन, महान, पूजनीय व वंदनीय व परम ज्ञान में नित्य प्रकाशमान व परम निराकुल हो जाऊं।

पात्रकेशरी स्तोत्र में अरहन्त की महिमा बताई है—

परिक्षपितकर्मणस्तव न जातु रागादयो। न चेन्द्रियविवृत्तयो न च मनस्कृता व्यावृतिः॥
तथापि सकलं जगद्युगपदञ्जसा वेत्सि च। प्रपश्यसि च केवलाभ्युदितदिव्यसच्चक्षुषा॥६॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! क्योंकि आपने मोहनीयादि कर्मों का नाश कर दिया है

इसलिये आपके कभीभी रागादिक दोष नहीं होतेहैं। केवलज्ञानका प्रकाश होजाने से आपके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं रहा है, इसी से न इन्द्रियों का व्यापार है न मन की संकल्प विकल्प रूप चञ्चल क्रिया है। तथापि आप केवलज्ञानमई दिव्य चक्षु से सर्व विश्व को एक साथ जानते व देखते हो। आपकी महिमा अपार है।

भुजङ्गप्रयात छन्द

प्रभू चन्द्रसम शुक्ल वर वर्णधारा। जगत नित प्रकाशित परम ज्ञानधारी॥
जिनं जितकषायं महत् पूज्य मुनिपति। नमूं चन्द्रप्रभ तू द्वितिय चन्द्र जिनपति॥३६॥

उत्थानिका—और कैसे श्री चन्द्रप्रभ भगवान् हैं—

यस्यांगलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं, तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।
ननाश बाह्यं बहुमानसं च, ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम्॥३७॥

अन्वयार्थ—(तमोरेः रश्मिभिन्नं तमः इव) जैसे सूर्य की किरणों के द्वारा अन्धकार छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है इसी तरह (यस्य अंगलक्ष्मीपरिवेपभिन्नं बाह्यं तमः) अपने शरीर के प्रभामण्डल के द्वारा छिन्न-भिन्न किये गए बाहरी अन्धकार को जिन्होंने (ननाश) नाश कर डाला है (च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नं बहुमानसं) और जिन्होंने शुक्लध्यानमई अद्भुत दीपक के प्रभाव से अति गहरा अन्तरंग का अज्ञान अंधकार भी नष्ट कर डाला है ऐसे चन्द्रप्रभ को मैं नमन करता हूँ।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि चन्द्रमा तो आपकी उपमा के लायक नहीं है, कदाचित् सूर्य तो होगा, उसके लिए आचार्य कहते हैं कि सूर्य भी आपके सामने कुछ नहीं है। सूर्य की किरणें जब फैलती हैं तब ही बाहर का अंधेरा मिटता है। जब किरणें अस्त हो जाती हैं तब फिर अंधेरा फैल जाता है। सूर्य सदा के लिए प्रकाशित नहीं रहता परन्तु आप हे चन्द्रप्रभ ! अद्भुत सूर्य हो जो सदा ही प्रकाशित रहते हो। इसीलिये आपके परमौदारिक शरीर की प्रभा का मण्डल ऐसा तेजस्वी है कि उसके द्वारा सदा ही बाहरी अन्धकार दूर रहता है। आपके सामने बाहरी अन्धकार कभी आ नहीं सकता है। सूर्य को रात्रि का तम ग्रस लेता है, आपको कोई तम नहीं छा सकता है। क्योंकि आपने ऐसा ही नाश कर दिया है जो फिर आपके सामने आ ही नहीं सकता। सूर्य तो मात्र बाहरी अन्धकार कुछ देर के लिये हटाता है परन्तु अन्तरंग में तो वह अज्ञानी है, उसे बहुत ही

अल्पज्ञान है। भीतर उसके केवलज्ञानावरण का पूर्ण अन्धेरा व्याप्त है जिसे वह दूर नहीं कर सकता। परन्तु धन्य हैं आप। आपने ऐसा शुक्लध्यानमई व आत्म समाधि रूप नित्य प्रकाश रहने वाला दीपक जला दिया है जिससे सर्व अज्ञान का अंधकार सदा के लिए नाश हो गया है, पूर्ण केवलज्ञान का प्रकाश हो गया है। अन्तरंग बहिरंग सर्व तम के नाश करने वाले अद्भुत सूर्य के समान जगत का सूर्य क्या बराबरी रख सकता है ? कुछ भी नहीं। इसलिये हे चन्द्रप्रभ भगवान ! आप इस सूर्य से कहीं अधिक परम अद्भुत सूर्य हो। इसीलिये मैं आपको बार २ नमन करता हूँ।

श्री पद्मनन्द मुनि धम्मरसायण में कहते हैं—

लोयालोयविदण्हू तम्हा णामं जिणस्स विण्हूत्ति। जम्हा सीयलवयणो तम्हा सो वुच्चए चंदो ॥१२६॥

भावार्थ—जिनेन्द्र को विष्णु इसीलिये कहते हैं कि वे लोक अलोक सर्व के जानने वाले हैं, क्योंकि भगवान के वचन अति शीतल हैं, शान्तिदाता हैं। अतएव भगवान ही सच्चे चन्द्रमा कहे जाते हैं।

भुजङ्गप्रयात छन्द

हरें भानुकिरणें यथा तम जगत का, तथा अंग भामंडलं तम जगत का।
शुकलध्यान दीपक जगाया प्रभू ने, हरा तम कुबोधं स्वयं ज्ञानभूने ॥ ३७ ॥

उत्थानिका—श्री जिनेन्द्र का उपदेश सुनकर मतवादी अपने पक्ष के अहंकार से रहित होगए ऐसा कहते हैं—

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता, वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा,गजा यथा केशरिणो निनादैः ॥३८॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (केशरिणः) सिंह की (निनादैः) गर्जना से (मदार्द्रगण्डाः) मद से अपने अपने कपोलों को भिगोए हुए (गजाः) हाथी (विमदा) मद रहित (बभूवुः) हो जाते हैं वैसे [यस्य] इस चन्द्रप्रभ भगवान के [वाक्-सिंहनादैः] वचन रूपी सिंहनाद से [स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः] अपने पक्ष की उत्तमता के अहङ्कार से लिप्त [प्रवादिनः] अन्य मत वाले [विमदाः बभूवुः] अहङ्कार रहित होगए।

भावार्थ—यहां पर अरहन्त भगवान की दिव्य ध्वनि का महात्म्य वर्णन किया है।

क्योंकि भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं इसके लिये उनकी वाणी से वे ही तत्व प्रकाशित हुए जो यथार्थ हैं। तत्त्व अनेकान्त स्वरूप है, एक ही स्वभाव को रखने वाला नहीं है। हरएक द्रव्य किसी अपेक्षा नित्य है किसी अपेक्षा अनित्य है। किसी अपेक्षा भाव रूप है किसी अपेक्षा अभाव रूप है। हरएक द्रव्य सदा से सत् रूप है। न कभी बना न बिगड़ेगा। तथापि उसमें पर्याय बदलती रहती हैं। इसलिए वह अनित्य या असत् रूप भी है। आपके वचनों को सुनकर व बुद्धि से विचार कर यही प्रतीति होती है कि आप वही बता रहे हैं जैसा कुछ वस्तु स्वभाव है। तब बड़े २ एकान्त मतवादी जिनको इस बात का अहङ्कार था कि हमारा मत यथार्थ है, हम ठीक मार्ग पर चल रहे हैं जिनमें से कोई पदार्थ को सर्वथा एक ही मानते थे कोई सर्वथा अनेक ही मानते थे, कोई सर्वथा सत् ही मानते थे, कोई सर्वथा असत् ही मानते थे, कोई आत्मा को सर्वथा शुद्ध व अकर्ता ही मानते थे, कोई उसे सर्वथा अशुद्ध व कर्ता ही मानते थे। इत्यादि भिन्न-भिन्न एक ही स्वभाव को लेकर चलने वाले मत थे वे अपनी भूल को समझकर अपना अहङ्कार छोड़ देते हैं और सरल होकर आपके मत के अनुयायी हो जाते हैं। उनका अहङ्कार उसी तरह भाग जाता है जिस तरह वन में बड़े २ मदोन्मत्त हाथी विचरते हों, परन्तु जब वे सिंह की गर्जना सुनते हैं तो मद रहित हो जाते हैं और छिपकर बैठ रहते हैं।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में भगवान की वाणी को ऐसा ही अपूर्व समझकर नमस्कार किया है—

परमागमस्य वीजं निषिद्धजात्यंधसिंधुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।२०।।

भावार्थ—मैं अनेक स्वभावों को बताने वाली अनेकान्त वाणी को इसीलिए नमन करता हूँ कि यह परमागम का बीज है अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ झलकाने के लिए परम उच्च साधन है तथा जिसने एकान्तवादियों को अनेकान्तवादी बना दिया है। जैसे जन्म के अंधे हाथी ... न जानते ... पूंछ को पकड़कर उतने ही भाग को हाथी मानते, कोई सूंड़ ... उतने ह ... मानते, कोई एक टांग पकड़कर उसे ही हाथी मानते, इस ... के पूर्ण ... र थे, जब किसी हाथी के देखने वाले समझाए जाते ... जानकर अपने अज्ञान का अहङ्कार छोड़ ... विरोध दिखता है उस सब आपकी व।

विरोध को मेटने वाली है। ऐसी वाणी के वक्ता आप श्री चन्द्रप्रभ भगवान सच्चे आप्त हैं। इसलिये आपको मैं नमन करता हूँ।

भुजङ्गप्रयात छन्द

स्वमत श्रेष्ठता का धरैं मद प्रवादी, सुनें जिन वचन को तजें मद कुवादी।
यथा मस्त हाथी सुनें सिंह गर्जन, तजें मद तथा मोह का हो विसर्जन ॥

उत्थानिका—और भगवान कैसे थे सो कहते हैं—

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः, पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः ।
अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः, समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो चन्द्रप्रभ भगवान (अद्भुतकर्मतेजाः) सर्व प्राणियों को एक साथ अपनी अपनी भाषा में समझाने के लिए आश्चर्यकारी कार्य के तेज को रखने वाले हैं व (अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः) जो अनन्त ज्योति स्वरूप अविनाशी विश्व को एक साथ देखने को समर्थ ऐसे केवलज्ञान के स्वामी हैं (समंतदुःखक्षयशासनः) तथा जिनका शासन व उपदेश समस्त दुःखों का क्षय करने वाला है, परम सुखमई मोक्ष को देने वाला है, ऐसे भगवान (सर्वलोके) इस सर्व तीन लोक में (परमेष्ठितायाः पदं बभूव) उत्कृष्ट पद के धारी श्री अरहन्त परमेष्ठी हुए।

भावार्थ—यहां पर श्री अरहन्त भगवान के अरहन्त पद का महात्म्य वर्णन किया है। तीन लोक में जितने बड़े २ इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती राजा प्रसिद्ध हैं वे सब आपको परमेष्ठी मानते हैं, क्योंकि आप ऐसे पद में विराजमान हैं जिसको कोई कर्मों के फन्दों में पड़े हुए संसारी जीव नहीं प्राप्त हैं। आपने संसार में आत्मा को मलीन व निर्बल रखने वाले चार घातिया कर्मों का नाश कर डाला है। इसलिए न कोई आपमें अज्ञान है, न मोहादि कषाय भाव है, जिनमें प्रायः सर्व जगत् के कर्मबद्ध प्राणी ग्रसित हैं। आप इसी कारण परमोच्च अरहन्त परमात्मा हैं। फिर आपका तेज ऐसा प्रभावशाली है कि आपकी दिव्यध्वनि जब प्रगट होती है उसमें ऐसा पदार्थों का प्रकाश होता है जिससे सुनने वाले अनेक देव मानव व पशु अपनी २ भाषा में मतलब समझ जाते हैं और पदार्थों का सच्चा स्वरूप पाकर अपना अज्ञान व मोह मिटाते हैं, तथा धर्मामृत से सिंचित हो परम तृप्त हो

अनाद्यविद्यामयमूर्छितांगं, कामोदरक्रोधहुताशतप्तम् ।
स्याद्वादपीयूषमहौषधेन, त्रायस्व मां मोहमहाहि-दष्टम् ।। ३१ ।।

भावार्थ—अनादिकाल के अज्ञानरूपी रोग से मेरा आत्मा मूर्छित होरहा है, व इच्छा मेरे भीतर भरी हुई है तथा क्रोध की अग्नि से तप रहा हूं । मुझे मोहरूपी महान् सर्प ने काट रक्खा है । उसका विष चढ़ा हुआ है सो हे स्वामी ! स्याद्वाद वाणीरूपी अमृत की महान् औषधि पिलाकर मेरी रक्षा करो ।

भुजंगप्रयात छद ।
तुही चन्द्रमा भविकुमुदका विकासी, किया नाश सब दोष मल मेघराशी ।
प्रगट सत् वचनकी किरण माल व्यापी, करो मुझ पवित्रं तुही शुचि प्रतापी ।।

(९) श्री पुष्पदंत तीर्थंकर स्तुतिः ।

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं, प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना, नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ।।४१।।

अन्वयार्थ—(सुविधे) हे सुविधि अर्थात् शोभनीक चारित्र के पालने वाले श्री पुष्पदंतनाथ भगवान् (त्वया) आपने (स्वधाम्ना) अपने केवलज्ञानरूपी तेज से यथार्थ जानकर [तत्त्वं] जीवादि वस्तुओं के स्वभाव को [एकांतदृष्टिप्रतिषेधि] एकांत दर्शन का निषेधक अर्थात् अनेकांत दर्शन का पोषक [तदतत् स्वभावम्] तत् तथा अतत् स्वरूप अर्थात् किसी अपेक्षा से किसी स्वरूप है, दूसरी अपेक्षा से उस स्वरूप नहीं है ऐसा [प्रमाणसिद्धं] तथा जो प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध है [प्रणीतं] वर्णन किया है । [त्वदन्यैः] आपसे अन्य जो सर्वज्ञ वीतराग नहीं हैं उन्होंने [एतत्] इस प्रकार तत्व का [समालीढ़पदं न] स्वाद या अनुभव नहीं प्राप्त किया है ।

भावार्थ—यहां श्रीपुष्पदंत तीर्थंकरका दूसरा नाम सुविधि कहकर उसकी सार्थकता बताई है कि जैसा प्रभुका नाम है वैसे ही उनमें गुण है । सुविधि शब्द बताता है कि जिसमें सु अर्थात् शोभनीय विधि अर्थात् क्रिया अनुष्ठान या चारित्र हो तथा दूसरा अर्थ यह भी होसकता है कि जिसने शोभनीक व उत्तम व यथार्थ विधि अर्थात् मोक्षप्राप्तिकी विधिको या वस्तुके स्वरूपको बताया हो । इसी बातका विस्तार करते हुए स्वामी कहते

हैं कि जिस तरह तत्त्वका वर्णन आपने किया है वही यथार्थ है। यदि कोई निष्पक्ष होकर उस तत्त्वकी परीक्षा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणरूपी तराजूसे करेगा तो उसको सिद्ध होजायगा कि आपका कथित तत्त्व ही यथार्थ है तथा आपके विरुद्ध जिन लोगोंने किसी प्रकारका तत्त्व कहा है वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता है। आप सर्वज्ञ हैं इसलिये आपने अपने दिव्य व अनन्त ज्ञानके बलसे वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा जाना तथा वैसा कहा। परन्तु जो विचारे सर्वज्ञ नहीं हैं अल्पज्ञ हैं, जो त्रिकालगोचर वस्तु की पर्यायों के ज्ञानसे अनभिज्ञ हैं उनसे तत्त्वका स्वरूप यथार्थ कहते न बने तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आपका प्रतिपादित तत्त्व अनेकान्त स्वरूप है। अर्थात् हरएक वस्तु अनेक धर्म या स्वभावों को रखनेवाली है, वह एकांतरूप नहीं है। अर्थात् एक ही स्वभाववाली नहीं है। इसीसे जिनके मतमें वस्तु एक स्वभाववाली ही है, अर्थात् भाव स्वरूप ही है, या अभाव स्वरूप ही है, नित्य ही है, या अनित्य ही है, एक रूप ही या अनेक स्वरूप ही है उनका दर्शन मानने योग्य नहीं भासता है, परन्तु आपका दर्शन वस्तु के स्वरूपको जैसा है वैसा बताता है। अर्थात् यह कहता है कि वस्तु एक ही समय में किसी अपेक्षा से जब भाव स्वरूप है तब ही दूसरी अपेक्षासे अभाव स्वरूप है, जब किसी अपेक्षा से नित्य स्वरूप है तब दूसरी अपेक्षा से अनित्य स्वरूप है। किसी अपेक्षा से एक स्वरूप है तब दूसरी अपेक्षा से अनेक स्वरूप है। इत्यादि अनेक धर्मरूप वस्तुको बताया है। सो ही प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध होता है इसलिये आप ही मेरे द्वारा पूजनीय हैं। स्वामीने आप्तमीमांसा में स्वयं कहा है कि वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं, उनके वर्णन में एककी प्रधानता तब दूसरे की गौणता होती है जैसा कहा है–

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः। अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषांतानां तदंगता ॥ २२ ॥

भावार्थ—हर एक धर्म या पदार्थ अनंत धर्म या स्वभावों को हर समय रखनेवाला है। तथा हरएक धर्म या स्वभाव में भिन्न २ ही अर्थ हैं। एक स्वभाव दूसरे स्वभावसे भिन्न रूप है। इसीलिये जब उनमें से एक किसी को मुख्य करके वर्णन करेंगे तब ही दूसरे स्वभाव जिनका कथन एकसाथ नहीं होसकता गौण होजायेंगे क्योंकि एक ही काल में उनको एकसाथ कहने की शक्ति वचन में नहीं है। तथापि वस्तु तो अनेकांत स्वरूप ही है, वह एकांतरूप कदापि नहीं है।

पद्धरी छंद।

हे सुविधि! आपने कहा तत्त्व, जो दिव्यज्ञान से तत् प्रतत्त्व।
एकांत हरण सप्रमाणसिद्ध, नहिं जान सकें तुमसे विरुद्ध ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—ऐसा अनेकांत तत्त्व कैसा है उसे बताते हैं—

तदेव च स्यान्न तदेव च, स्यात्तथा प्रतीतेस्तव तत्कथंचित् ।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च, विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ।।४२।।

अन्वयार्थ—(तव) आपके मतमें (तदेव च स्यात्) जीवादि वस्तु अपने स्वरूपसे है भी (तदेव च न स्यात्) तथा परके स्वरूपसे नहीं भी है (तत् कथंचित् तथा प्रतीतेः) ऐसा पदार्थ सर्वथा अस्ति नास्ति स्वरूप या सत् या असत्रूप या भाव अभावरूप नहीं है, किन्तु किसी भिन्न २ अपेक्षा से है । स्व-स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है । अर्थात् वस्तु में अस्तिपना या भावपना या सत्पना है उसी समय पर-स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है । अर्थात् वस्तु में नास्तिपना, या अभावपना या असत्पना है । ऐसा वस्तुका भाव अभावरूप स्वभाव प्रमाण से प्रतीति में आरहा है । (विधेः च निषेधस्य) इस विधि और निषेधका या अस्तित्व नास्तित्वका (अत्यन्तं अन्यत्वम् न, न च अनन्यता) पदार्थके साथ सर्वथा न तो भेदपना है और न सर्वथा अभेदपना है (शून्यदोषात्) सर्वथा भेद या अभेद मानने से वस्तुके शून्य या नाश होनेका दोष आजायगा । अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वभाव वस्तुके हैं. सो वस्तुमें दोनों हरसमय रहते हैं । यदि ऐसा मानें कि अस्तित्वपना वस्तु से अलग रहता है । तब अस्तित्व के बिना वस्तु रह नहीं सकती—उस वस्तुका अभाव हो जायगा व अस्तित्व स्वभाव भी निराधार नहीं रह सकता । हरएक स्वभाव या गुण किसी वस्तुमें ही रहेगा, भिन्नता मानने से अस्तित्वका अभाव होगा । और यदि नास्तित्व को बिलकुल वस्तुसे भिन्न मानें तो सर्व वस्तु मिलकर एक होजायगी । नास्तित्व धर्म वस्तुमें रहता है तब ही वस्तुका वस्तुपना झलकता है कि वस्तु पर स्वरूप न होकर अपने स्वरूप से है । तथा नास्तित्व धर्म भी आधार बिना कहां रह सकेगा, उसका भी अभाव होजायगा । यदि ऐसा मानें कि सर्वथा अस्तित्व व नास्तित्व धर्मका वस्तु में अभेद ही है तब भी नहीं बनेगा । सर्वथा अस्तित्वका व नास्तित्वका अभेद मानने से यह कहा भी न जाकेगा । न समझा जासकेगा कि वस्तु नहीं है । तथा यदि पदार्थ में सर्वथा दोनों का अभेद मानें तो दो विरोधी धर्म बिना अपेक्षा के वस्तुका अभाव ही कर डालेंगे ।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि वस्तु अनेकान्त स्वरूप है । एकान्त स्वरूप मानने से बहुत दोष आयगा । हरएक वस्तु में अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म किसी किसी अपेक्षा से है, एक अपेक्षा से कहना तो ठीक न होगा । जीव द्रव्य हैं क्योंकि जीव में जीव का द्रव्य, जीव का क्षेत्र, जीव की पर्याय, जीव का भाव जीव में है तब ही उसमें अजीव

का अभाव है अर्थात् जीव द्रव्य में अजीव का द्रव्य, अजीव का क्षेत्र, अजीव की पर्याय, अजीव का स्वरूप नहीं है। इस तरह जीव का अभाव अजीव में, अजीव का अभाव जीव में यथा जीव का भाव जीव में व अजीव का भाव अजीव में मानने से ही जीव अजीव दोनों पदार्थ सिद्ध होते हैं। इसलिये स्याद्वाद वाणी कहती है कि स्यात् जीवः अस्ति अर्थात् किसी अपेक्षा से अर्थात् अपने द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा जीव में अस्तिपना या जीव का जीवपना है तथा स्यात् नास्ति जीवः अर्थात् किसी अपेक्षा से अर्थात् अजीव की अपेक्षा से जीव में नास्तिपना है अर्थात् अजीव जीव में नहीं है। ऐसा ही वस्तु का यथार्थ स्वभाव है।

अब कहते हैं कि अस्तित्व स्वभाव का जीव के साथ सर्वथा भेद मानोगे, अर्थात् अस्तित्व से भिन्न जीव है, तो यह दोष आयगा कि सत्ता के बिना जीव है, यह प्रतीति भी कैसी होगी। तथा सत्ता स्वभाव बिना द्रव्य के आधार के कहां रह सकेगा? अर्थात् ऐसा मानने से जीव का व सत्ता का दोनों का ही अभाव हो जायगा। सत्ता और जीव द्रव्य में संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भेद है। परन्तु प्रदेश की अपेक्षा भेद नहीं है। इसलिए सत्ता का कथंचित् भेद कथंचित् अभेद मानना ही ठीक होगा। यदि नास्तित्व धर्म जीव द्रव्य से सर्वथा भेद माने तो नास्तित्व धर्म छूट जाने से उस जीव में अजीव का अभाव नहीं सिद्ध होगा तब जीव अजीव एक हो जायेंगे। तथा विना आधार के नास्तित्व धर्म भी नहीं रह सकेगा।

अब यदि यह मानें कि अस्तित्व धर्म का जीव के साथ सर्वथा अभेद है। तब स्वभाव व स्वभाववान बिलकुल एक होने से स्वभाव या स्वभाववान का भेद कहा ही न जा सकेगा। इसी तरह यदि नास्तित्व धर्म भी जीव के साथ एक हो जायगा तब भी नास्तित्व स्वभाव का और जीव का भेद नहीं कहा जायगा तथा जब अपेक्षा विना दोनों स्वभाव वस्तु में रह जायेंगे तब अस्तित्व में नास्तित्व आने से कुछ भी वस्तु न रहेगी। वस्तु की शून्यता हो जाएगी। जैसे हमने एक बाक्स में १०) रक्खे फिर १०) निकाल दिये तब वहां कुछ भी न रहा। न तो अस्तित्व नास्तित्व से कभी एक हो सकते हैं क्योंकि दो भिन्न २ स्वभाव हैं और न पदार्थ से अस्तित्व व नास्तित्व सर्वथा एक हो सकते हैं। वस्तु स्वरूप यही मानना पड़ेगा कि जीवादि द्रव्यों में कथंचित् अस्तित्व है व कथंचित् नास्तित्व है। स्व-स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है पर-स्वरूप की अपेक्षा नास्तित्व है, दोनों ही धर्म भिन्न २ अपेक्षा से हैं, ये दोनों धर्म धर्मी में हैं, प्रदेशपने की अपेक्षा से जहां धर्मी है वहां ही यह दोनों धर्म हैं परन्तु नाम व लक्षणादि की अपेक्षा से धर्म व धर्मी में भेद है।

हरएक पदार्थ में विधि व निषेधपना अपेक्षा से है सो ही श्री समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में कहा है—

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः। साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१६॥

भावार्थ—जिस किसी विशेष वस्तु को शब्द से कहेंगे वह तब ही सम्भव है जब उसमें विधेय अर्थात् अस्तित्व व प्रतिषेधि अर्थात् नास्तित्व दोनों हों। वह वस्तु अपने स्वरूप से अस्तित्व है, परस्वरूप से नास्तित्व है अर्थात् जहां अस्तित्व है वहां नास्तित्व है, भिन्न २ अपेक्षा से है, सर्वथा नहीं। जैसे साध्य का धर्म वह हेतु भी है अहेतु भी है। अग्निपना साधने में धूम का हेतु हेतु है, वही धूमपना हेतु जलपना के साधने में अहेतु है। उधर धूम में हेतुपना अग्नि के लिये है, तब ही अहेतुपना जल के लिए है।

वस्तु में उसके स्वभाव में सर्वथा न तो भेद है न सर्वथा अभेद है। किसी अपेक्षा से भेद व अभेद दोनों हैं, ऐसा ही स्वामी आप्तमीमांसा में बताते हैं—

सञ्ज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः। प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

भावार्थ—द्रव्य व गुण में या स्वभाव में संज्ञा संख्या के भेद से व अपने २ लक्षण के भेद से व प्रयोजन के भेद से परस्पर भेद है,परन्तु सर्वथा भेद नहीं है। क्योंकि जहां द्रव्य है वहीं गुण हैं व उसके स्वभाव हैं। दृष्टान्त में जीव में ज्ञान गुण है, जीव का नाम भिन्न है, ज्ञान का नाम भिन्न है यह तो नाम भेद हुआ, जीव की संख्या अन्य प्रकार है, ज्ञान की संख्या अन्य प्रकार है, जीव का लक्षण चेतना अर्थात् दर्शन और ज्ञान उभयरूप है। ज्ञान का लक्षण मात्र जानना है। जीव का प्रयोजन सुख व शान्ति पाना है। ज्ञान का प्रयोजन मात्र जानना है व अज्ञान का मेटना है। इस तरह संज्ञा, संख्या, लक्षण व प्रयोजन इन चार की अपेक्षा तो गुण व गुणी में व स्वभाव व स्वभाववान में भेद है परन्तु प्रदेश की अपेक्षा भेद नहीं है, क्योंकि जहां जीव है वहीं ज्ञान है। इसीलिये यह कहना ठीक है कि सत्ता व असत्ता का वस्तु के साथ कथंचित् भेद है व कथंचित् अभेद है,सर्वथा भेद व सर्वथा अभेद नहीं है। इस तरह इस श्लोक में एक तो यह सिद्ध किया कि वस्तु में सत्ता या असत्ता दोनों स्वभाव रहते हैं। तथा इन स्वभावों का वस्तु से किसी अपेक्षा भेद है व किसी अपेक्षा अभेद है।

पद्धरी छन्द

है अस्ति कथंचित् और नास्ति, भगवन तुझ मतमें यह तथास्ति।
सत् असत्मई भेदरू अभेद, हैं वस्तु बीच नहिं शून्य वेद ॥४२॥

उत्थानिका—इस तरह भाव रूप अभाव स्वरूप होने से तत्त्व उस रूप है भी और उस स्वरूप नहीं भी है ऐसा दिखाकर अब कहते हैं कि नित्य व अनित्यपने की दृष्टि से भी तत्त्व तत् अतत् स्वभाव है—

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरंगनिमित्तनैमित्तकयोगतस्ते ॥४३॥

अन्वयार्थ—(नित्यं) जीवादि वस्तु नित्य है, अविनाशी है ऐसी (तदेव इति प्रतीतेः) प्रतीति इसीलिये होती है कि यह वही है जो पहले थी। यह देवदत्त वही है जो पहले बालक था (न नित्यं) वही वस्तु नित्य नहीं है, क्षणिक है (अन्यत् प्रतिपत्तिसिद्धेः) यह बात इसलिए सिद्ध है कि यह अन्य है ऐसी भी प्रतीति होती है। यह देवदत्त अब युवान है पहले बालक था। बाल्यावस्था इसकी नष्ट होगई। तब आपके मत में [तद् विरुद्धं न] एक ही वस्तु को एक ही काल में नित्य व अनित्य कहना किसी तरह विरोध रूप नहीं है [बहिः अंतरङ्गनिमित्तनैमित्तकयोगतः] बाहरी कारण जो निमित्त कारण और अंतरंग कारण जो उपादान कारण इसके अनुसार ही जगत में कार्य होता है उससे ऐसा ही सिद्ध होता है।

भावार्थ—अब बताते हैं कि जैसे यह जीव व अजीव कोई भी वस्तु हो वह अपने स्वरूपादि की अपेक्षा अस्तिरूप है पर-स्वरूपादि की अपेक्षा नास्तिरूप है, वैसे ही वह द्रव्य की दृष्टि से नित्य स्वरूप है तथा पर्याय पलटने की अपेक्षा अनित्य स्वरूप है। नित्य व अनित्य दोनों ही स्वभाव वस्तु में हर समय पाये जाते हैं। ऐसा न हो तो कोई वस्तु जगत में रहती हुई कोई काम की नहीं हो सकती है। जैसे सुवर्ण की मुद्रिका बनाई फिर तोड़कर कुण्डल बनवाया, फिर तोड़कर बाली बनवाई, फिर तोड़कर कण्ठी बनवाई, फिर तोड़कर कड़ा बनवाया। ऐसे उस एक ही सोने की भिन्न २ अवस्था हुईं व नाश हुईं। परन्तु सोना जो मूल द्रव्य था वह नाश नहीं हुआ। यह बराबर प्रतीति में आ रहा है कि वही सोना है जो पहले मुद्रिका की अवस्था में था। यह प्रत्यभिज्ञान नाम का मतिज्ञान

हरएक बुद्धिमान को होता है। इसी से सिद्ध है कि वस्तु नित्य स्वरूप है। द्रव्य वही रहा यद्यपि पर्याय पलटी। जब हमारी दृष्टि अवस्था के फेरबदल पर जाती है तब यह प्रतीति में आता है कि यह अब कड़ा है पहले कण्ठी थी, उससे पहले बाली थी। अवस्था इसकी नाश होती गई,पैदा होती गई। इसी से इसमें अनित्यता भी है। यह बात सिद्ध है। द्रव्य का स्वभाव ही यह है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हो। हर समय हरएक द्रव्य में पूर्व पर्याय का व्यय या नाश तथा उत्तर पर्याय की उत्पत्ति या उदय तथा दोनों आगे व पीछे की पर्यायों में वही रहना यह ध्रुवपना बना ही रहता है। द्रव्य सदा ही परिणमनशील है। शुद्ध द्रव्यों में शुद्ध सदृश पर्यायें व अशुद्ध द्रव्यों में अशुद्ध विसदृश पर्यायें होती रहती हैं। कोई भी द्रव्य न सर्वथा नित्य ही रहता है न सर्वथा क्षणिक रहता है। किसी मानव के भाव में अहङ्कार था, जब वह नष्ट होकर उसकी मृदु भाव या विनय भाव आया तब अहङ्कार का नाश हुआ व मृदुता का जन्म हुआ परन्तु जिस भाव में हुआ वह वही है। जिस आत्मा में हुआ वह वही है। यदि कोई वस्तु बिलकुल सर्वथा नित्य ही हो तो वह पर्याय में न पलटने के कारण बेकार हो जावे। कौन बाजार से चावल खरीद कर लावे यदि उसकी भात पर्याय न बन सकती हो। और यदि वस्तु सर्वथा क्षणिक ही हो तो जो वस्तु ठहर ही नहीं सकती, तुर्त ही बिलकुल नाश हो जाती है, तो कौन बाजार से चावल लावे? वे तो भात बनकर रह ही नहीं सकते, वह तो नाश हो जायेंगे। इस तरह यदि एकान्तरूप वस्तु हो तो वह न तो रह सकती है न उससे कोई काम ही लिया जा सकता है। सो ऐसा नहीं है। उपादान कारण व निमित्त कारण से बराबर काम जगत में हुआ करता है। हरएक पर्याय मूल अपने उपादान कारण के अनुकूल होती है. उसमें निमित्त कारण दूसरा सहायक होता है। सुवर्ण की डली से बाली बनी है। इसमें उपादान कारण सुवर्ण है। वह जिस तरह का है वैसी ही बाली बनी है। उसके बाली की सूरत में आने में सहायक कारण भी हैं, जिन्हों के कारण से वह डली बाली की सूरत में आई। उपादान कारण नित्यपने को झलकाता है कि यह वही है। निमित्त कारण से पर्याय का पलटना सिद्ध है। मोटे २ दृष्टान्तों में निमित्त कारण प्रगट होता है, हरएक पदार्थ की पर्याय पलटने में कई निमित्त कारण हो सकते हैं—सर्व विश्व के पदार्थों की पर्याय पलटने के लिए साधारण निमित्त कारण काल द्रव्य है। विशेष निमित्त और भी यथा सम्भव होते हैं। चावल को निमित्त मिला अग्नि, हवा, पानी का तब वे ही भात की सूरत में आ गए। तब यही प्रतीति में आता है कि चावलपना नाश हो गया भात बन गया, इसलिए चावलपना अनित्य है तथापि यह बराबर झलकता है कि चावल ही का भात हुआ। यदि चावल का

द्रव्य नित्य न होता तो भात को सूरत में न आता। ऐसा नित्य व अनित्यपना एक ही समय हरएक वस्तु के भीतर मौजूद है,इसलिए वस्तु अनेकान्त स्वरूप है। यही हे भगवन्! आपका दर्शन है तथा इसमें कोई विरोध नहीं आता है। स्वयं स्वामी आप्तमीमांसा में कहते हैं—

कार्योत्पादः क्षयो हेतुर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्। न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

भावार्थ—वास्तव में जब जब जो कार्य बनता है वह अपने कारण के क्षय बिना नहीं बनता है यह नियम है। तब कारण कार्य पृथक् २ प्रगट होते हैं। परन्तु वे कारण व कार्य दोनों ही अपनी जाति आदि की स्थिरता के कारण से भिन्न नहीं हैं, वे ही हैं। जब हम मूल उपादान कारण के स्वभाव पर दृष्टि डालते हैं तो वही हैं, ऐसा ध्रुवपना दिखता है। जब पर्याय पर दृष्टि डालते हैं तो भिन्नपना या अनित्यपना दिखता है। यदि अपेक्षा को न मानो तब नित्य व अनित्यपना आकाश के फूल के समान हो जायगा। ऐसा सच्चा वस्तु का स्वभाव हे जिनेन्द्र! आपने ही बताया है।

पद्धरी छन्द

यह है वह ही है नित्य सिद्ध, यह अन्य भया यों क्षणिक सिद्ध।
नहि है विरुद्ध दोनों स्वभाव, अन्तर बाहर साधन प्रभाव ॥४३॥

उत्थानिका—यद्यपि वस्तु अनेकान्त स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है तथापि आगम से तो एकान्त स्वरूप ही सिद्ध होगी। इस शंका का निराकरण करते हैं-

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः ॥४४॥

अन्वयार्थ—(अनेकं च एकं पदस्य वाच्यं) अनेक तथा एक पद का वाच्य अनेक व एकपना है। अर्थात् शब्द व पद वाचक हैं, उनसे जो पदार्थ प्रगट होता है वह वाच्य है। वस्तु एक तथा अनेक रूप है। ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि वस्तु सामान्य विशेष रूप है (प्रकृत्या) यह शब्दों के स्वभाव से ही अर्थ का बोध होता है (वृक्षा इति प्रत्ययवत्) जैसे वृक्ष शब्द के कहने से यह निश्चय होता है कि वृक्षों में वृक्षपना सामान्य है, तथापि विशेषपना भी है अर्थात् वृक्ष बहुत से हैं, वे बम्बूल, आम, अनार आदि अनेक विशेष प्रकार के हैं। (आकांक्षिणः) जो सामान्य और विशेषपने में से किसी एक धर्म को कहना चाहता

है वह (स्यात् इति निपातः वैं) स्यात् ऐसा अवयव पद जोड़ के प्रगटपने कहता है। जिससे यह सिद्ध होता है कि किसी अपेक्षा से वस्तु एक रूप है ऐसा कहने से वस्तु अनेक रूप भी है, ऐसा भी सुनने वाले को गौणता से ज्ञान होता है, मुख्यता से एक स्वरूप का ज्ञान होता है। स्यात् शब्द का यह नियम है कि वह जिसको प्रधान करके बताता है उसका तो नाम लेता है तब दूसरे धर्म को गौणता से बताता है (गुणानपेक्षे अनियमे अपवादः) यदि गौण धर्म की अपेक्षा न हो ऐसा अनियमित हो तो बाधा रूप हो अर्थात् अपेक्षा बिना ज्ञान ठीक न हो। अपेक्षा के नियम से सब ठीक हो जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में बताया गया है कि जैसा वस्तु का अनेकान्त रूप स्वभाव है वैसा वचनों से व आगम से भी सिद्ध है। जैसा आगम ने कहा कि वस्तु एक तथा अनेक रूप है, तब इन पदों से बोध होगा कि जीवादि पदार्थ सामान्य विशेष रूप है। जीव द्रव्य अपेक्षा सामान्य है, व एक है,विशेष अपेक्षा विशेष है व अनेक रूप है। जीव चेतना लक्षण वाले हैं, ऐसा जीव सामान्य का बोध होते भी विशेष का भी संकेत होता है कि जीव विशेष २ रूप हैं। कोई मानव है,कोई पशु है, कोई पक्षी है। अथवा जीव सामान्य से जीव द्रव्य का बोध होता है। वही जीव अपने अनेक गुण व पर्यायों की अपेक्षा अनेक रूप है, ऐसा बोध होता है। यहां वृक्षादि का दृष्टान्त दिया है। वृक्ष शब्द जब वृक्ष सामान्य को बताता है तब वह यह भी झलकाता है कि वृक्ष विशेष भी होते हैं। आम, खजूर, संतरे व अनार आदि के। इससे यह बात यहां बताई है कि वस्तु एक व अनेक रूप है व सामान्य विशेष रूप है, ऐसा ही आगम कहता है। शिष्य को समझाने के लिये जो प्रवीण पुरुष उद्यम करता है वह इस तरह कहता है—स्यात् एकं स्यात् अनेकं। स्यात् शब्द किसी अपेक्षा विशेष को बताता है कि सामान्य की अपेक्षा वस्तु एकरूप है व विशेष की अपेक्षा वस्तु अनेक रूप है। स्यात् शब्द के प्रयोग का ऐसा नियम है कि जिसका नाम लिया जावे उसको मुख्य करता है व जिसका नाम न लिया गया उसको गौण करता है। यदि ऐसा नियम न हो व गौण की अपेक्षा न हो तब तो बाधा आवे। स्यात् शब्द न जोड़ा जावे तब अपेक्षा बिना भ्रम रहे कि किस अपेक्षा से एकरूप है व किस अपेक्षा से अनेक रूप है। स्यात् शब्द सब बाधा को मेट देता है। प्रवीण पुरुष आपस में बात करते हुए स्यात् शब्द न भी बोलें तब भी परस्पर समझ जाते हैं कि इस अपेक्षा से यह वाक्य कहा गया है। जैसे—यह कहा जावे कि जीव अविनाशी है। तब प्रवीण श्रोता समझ जाते हैं कि स्यात् जीवजीव अविनाशी है। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से जीव अविनाशी है पर्याय की अपेक्षा

से नहीं है, और जब कहा जाता है कि जीव क्षणभंगुर है तब भी विवेकी यही समझते हैं कि पर्याय की अपेक्षा जीवन क्षणभंगुर है, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं। ऐसा ही स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा। तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०६॥

भावार्थ—विधि या निषेध वाक्य कहने से अर्थ विशेष का नियम किया जाता है। जैसे 'स्यात् अस्ति घटः' यह वाक्य बताता है कि किसी अपेक्षा से घट में घट का अस्तित्व है। यह स्यात् गौणता से घट में पर की अपेक्षा नास्तित्व का बोध कराता है। इसी तरह "स्यात् नास्ति घटः" मुख्यता से घट में नास्तित्व का बोध व गौणता से अस्तित्व का बोध कराता है। वस्तु सामान्य विशेष रूप है वा अस्ति नास्तिरूप है। इसके विरुद्ध यदि सर्वथा वस्तु को एक रूप या अनेक रूप कहें तो वस्तु का वस्तुपना ठीक न प्रगट हो। इसलिये हे प्रभु! आपका अनेकान्त स्वरूप आगम द्वारा भी सुगमता से प्रतिपादित होता है।

पद्धरी छन्द

पद एकानेक स्ववाच्य तास, जिम वृक्ष स्वतः करते विकास।
यह शब्द स्यात् गुण मुख्यकार, नियमित नहिं होवे वाच्यकार ॥४४॥

उत्थानिका—इस तरह पद का अर्थ कहकर अब वाक्य का अर्थ कैसा करना चाहिए सो कहते हैं—

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं, जिनस्य ते तद् द्विषतामपथ्यम्।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां, ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(इदं हि वाक्यं) जैसे शब्द से प्रतीति होती है वैसे ही वाक्य भी (गुणप्रधानार्थं) गौण व मुख्य के प्रयोजन को बताता है। स्यात् शब्द से अलंकृत वाक्य होता है इसलिये वह जिस बात को स्पष्ट कहता है उसे मुख्य करता है जिसे उस समय वक्ता नहीं कहता है उसका गौणपने ज्ञान श्रोता को हो जाता है। (ते जिनस्य) आप जिनेन्द्र से (द्विषताम्) जो विरोध रखने वाले दर्शन हैं उनको (तत् अपथ्यम्) यह आपका एकान्त खण्डन व अनेकान्त मण्डन रूप वाक्य इष्ट नहीं है अर्थात् वे न समझकर उल्टा विरोध करते हैं (ततः) इसी कारण से आपका वाक्य यथार्थ वस्तु स्वभाव को झलकाने वाला है (तव साधोः पादपद्मम्) आप मोक्ष के साधक श्री पुष्पदन्त भगवान के चरण-

कमल (जगदीश्वराणां) जगत के ऐश्वर्यधारी इन्द्र, चक्रवर्ती, धरणेन्द्र आदि से (अभिवन्द्य) बार २ वन्दने योग्य हैं (मम अपि) और मुझ समन्तभद्र से भी इसीलिए वंदनीय हैं।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि जैसे पहले श्लोक में वृक्ष शब्द सामान्य व विशेष दोनों ही वस्तु के स्वभाव का द्योतक है वैसे ही आपकी स्याद्वादवाणी के जो वाक्य हैं वे भी अनेक धर्म स्वरुप पदार्थ को बताने वाले हैं। जैसे यह कहा जाय कि 'स्यात् वस्तु नित्यं।' यह वाक्य बताता है कि किसी अपेक्षा से अर्थात् सामान्य गुणों की व द्रव्य की प्रतीति की दृष्टि से पदार्थ अविनाशी रहता है उसी समय वह वाक्य यह भी बुद्धिमान के भीतर ज्ञान कराता है कि पर्याय पलटने की अपेक्षा वस्तु अनित्य है। यदि पक्षपात छोड़कर देखा जायगा तो वस्तु नित्य व अनित्य रूप हरएक समय में झलकेगी। न तो वह सर्वथा नित्य है न वह सर्वथा अनित्य है। यही आपका सच्चा दर्शन है व ऐसा ही आपके वाक्यों से प्रगट है। इसीलिये आपका वचन परम माननीय है। जो दर्शन वस्तु को एकान्तरूप ही मानते हैं अर्थात् कोई सर्वथा नित्य व कोई सर्वथा अनित्य व कोई मात्र सामान्य व कोई मात्र विशेषरूप इत्यादि रूप ही कहते हैं उनको यह स्याद्वाद मत पथ्य नहीं होता है। वे सहन नहीं करके उल्टा विरोध करते हैं और यह कहते हैं कि यह तो संशय वाद है। व उसी को नित्य व उसी को अनित्य कहना विरोधरूप है। वे यथार्थ दृष्टि से देखते नहीं। यदि देखें तो उनको अपना एकान्तमत छोड़ना पड़े। इस एकान्त के मोह से अनेकान्त को ठीक २ समझने की कोशिश तो करते नहीं उल्टा विरोध करते हैं। तथापि श्री समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि आपके अपूर्व वाक्यों से ही मोहित होकर आपको जगत के नायक इन्द्रादिदेव नमस्कार करते हैं। और मैं भी इसीलिये आपको नमन करता हूँ। धन्य हैं स्वामी! आप ही यथार्थ वक्ता हैं। श्रीवादिराज मुनि जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं—

> कुतस्त्यो विरोधादिदोषावकाशो, ध्वनिः स्यादिति स्वादहो यत्प्रकाशः।
> इतीत्थं वदन्ति प्रमाणादरिद्रं भजेह जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रं ॥५॥

भावार्थ—मैं जगत के प्राणियों के रक्षक श्री जिनेन्द्र भगवान का भजन करता हूँ जिनकी ध्वनि से स्याद्वाद नय के द्वारा वस्तु का प्रकाश है, उसमें कोई विरोध संशय आदि दोषों की जरा भी जगह नहीं है। जिनका वचन प्रमाणभूत है। उसमें यथार्थ प्रमाण का दारिद्र नहीं है।

पद्धरी छन्द

गुण मुख्य कथक तव वाच्य सार, नहिं पचत उन्हें जो द्वेष धार ।
लखि प्राप्त तुम्हें इन्द्रादिदेव, पदकमलन में मैं करहुं सेव ॥ ४५ ॥

(१०) श्री शीतलनाथ स्तुतिः ।

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो, न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः, शमांबुगर्भाः शिशिरा विपश्चितां ।।४६।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते मुनेः) आप प्रत्यक्ष ज्ञानी श्री शीतलनाथ भगवान की (शमाम्बुगर्भाः) वीतरागमई जलसे भरी हुई व (अनघवाक्यरश्मयः) पाप रहित निर्दोष वचन रूपी किरणें (विपश्चितां) भेदज्ञानी जीवों को (यथा शिशिराः) जैसी शीतल या सुख शान्ति देने वाली होती हैं वैसी (चन्दनचन्द्ररश्मयः) चन्दन तथा चन्द्रमा की किरणें (शीतलाः न) संसार-ताप हरण करने वाली व सुख शान्ति देनेवाली नहीं हैं (न गांगम् अम्भः) न गंगा का पानी शीतलता देता है (न च हारयष्टयः) और न मोतियों की मालाएं ही शीतलता दे सकती हैं ।

भावार्थ–यहां भी कवि ने यही बताया है कि हे श्री शीतलनाथ भगवान् ! आपका नाम भी यथार्थ अर्थ को झलकाने वाला है । आप यथार्थ में स्वयं शीतल हो और दूसरों को भी शीतल करने वाले हो । आपने अनादिकाल से होते हुए मोह व अज्ञान के ताप को जड़मूल से दूर करके परम वीतरागता प्राप्त कर ली है । आपका आत्मा परम शीतल हो गया है । साथ में अनन्त सुख की प्रगटता होगई है जिससे कभी आपके पास दुःख, शोक, खेद, भय, चिन्ता, क्रोधादि विभाव भाव या कोई प्रकार की इच्छा आदि विकार कभी फटकते ही नहीं हैं । आपके भीतर जैसी शीतलता भरी हुई है उसको स्पर्श करके जो आपके सम्यग्ज्ञानमई निर्दोष व अखण्डित व प्रमाणीक तथा मोक्ष मार्ग प्रदर्शक वचन निकलते हैं उनमें भी ऐसी शीतलता होती है कि जो सुनने वाले भव्य जीव विवेकी हैं व विचारवान हैं व तत्व के समझने की शक्ति रखते हैं, उनको ऐसा विदित होता है कि मानो परम अमृत की वर्षा से वे सिंचित होरहे हैं । वाणी के सुनते २ उनके हृदय का संसार ताप-तृष्णा का

दाह सब शान्त हो जाता है। वे ऐसी अपूर्व शीतलता को पा लेते हैं कि वैसी शीतलता उनको वह चन्दन नहीं देता है जिसको वे अपने शरीर पर मलते हैं, न चन्द्रमा की किरणें देती हैं जो रात्रि को उनके ऊपर पड़ती हैं, और न गङ्गा नदी का जल ही दे सकता है और न मोतियों की मालाएं ही दे सकती हैं। इन सब दृष्टान्तों को देकर बताया है कि जगत में जितने भी शीतल जड़मई पदार्थ हैं वे मात्र शरीर के ऊपर का ताप भले ही हरलें व ठण्डक देवें, परन्तु उनमें आत्मा के भीतर का आताप हरण करने की शक्ति नहीं है, न आत्मीक सुख शान्ति देने की ताकत है। यह शक्ति तो आपके वचनरूपी किरणों में ही है। इसी से आप वास्तव में अपूर्व चन्द्रमा हैं। आपके समान शीतल पदार्थ कोई नहीं है। इसी से आप सच्चे ही शीतलनाथ हैं। वास्तव में सच्चे आप्त का यही स्वरूप है। आप्तस्वरूप में कहा है—

येन जितं भवकारणसर्वं मोहमलं कलिकाममलं च।
येन कृतं भवमोक्षसुतीर्थं सोऽस्तु सुखाकर तीर्थं सुकर्ता ॥ ६१ ॥

भावार्थ—जिसने संसार के कारणीभूत सर्व मोह मल को व मलीन काम रूपी मल आदि दोषों को जीत लिया है व जिसने संसार से छुड़ाने वाले सच्चे तीर्थ का प्रतिपादन किया है वही सुख की खान धर्मरूपी तीर्थों के यथार्थ कर्ता तीर्थंकर होते हैं—

छन्द श्रग्विनी

तव अनघ वाक्य किरणें, विशद ज्ञानपति। शान्त जल पूरिता, शम करा सुष्टुमति ॥
है तथा शम न चन्दन, किरण चन्द्रमा। नाहिं गङ्गा जलं, हार मोती शमा ॥४६॥

उत्थानिका—जिस भगवान की ऐसी वचन किरणें हैं उन्होंने क्या किया था सो कहते हैं—

सुखाऽभिलाषाऽनलदाहमूर्च्छितं, मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं,यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहं ॥४७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (भिषक्) वैद्य (मंत्रगुणैः) मंत्रों के उच्चारण व जपन व स्मरण के गुणों से (विषदाहमोहितं) सर्प के विष से संतापित होकर मूर्छा को प्राप्त (स्वविग्रहं) अपने शरीर को विष रहित कर देता है वैसे (त्वं) आपने (सुखाभिलाषा-

नलदाहमूर्छितं) इन्द्रिय विषय सुख की तृष्णा रूपी अग्नि की जलन से मोहित व हेय या उपादेय के विवेक से शून्य [निजं मनं] अपने मन को [ज्ञानमयामृताम्बुभिः] आत्मज्ञानमई अमृत के समान जल की वर्षा से [व्यदिध्यपः] शान्त कर दिया।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि श्री शीतलनाथ भगवान के वचनों में अपूर्व शीतलता होने का कारण यह था कि प्रभु का आत्मा प्रभु के प्रयत्न से ही उन्नतिशील बना था। इस संसार में जैसे और जीव भ्रमण कर रहे हैं वैसे प्रभु का आत्मा भी भ्रमण कर रहा था और मिथ्यात्व के विष से मूर्छित था। मिथ्यात्व ऐसा भयानक विष है कि जिससे मूर्छित हुआ प्राणी रात्रि दिन संसार के इन्द्रियजनित सुख की इच्छा की दाह से जलता रहता है। उस दाह की शान्ति के लिये जिस शरीर में जब तक रहता है तब तक प्रयत्न किया करता रहता है। इच्छित पदार्थों का भोग भी कर पाता है तब भी तृष्णा की आग को न बुझाकर उल्टा बढ़ा लेता है। अन्त में चाह की दाह में ही जलता हुआ मरता है। और रौद्रध्यान से नर्कगति में पहुंच जाता है कभी आर्त परिणाम होते हैं। वर्तमान स्त्री पुत्रादि धनादि के छूटते हुए भाव शोकाकुल हो जाते हैं तब मरकर पशुगति में चला जाता है। कदाचित् विषय वांछा के ही अभिप्राय से पुण्यबन्ध के लोभ से कठिन कठिन तपस्या भी करता है व मुनि धर्म का आचरण भी पालता है। आत्मज्ञान व आत्मानन्द शून्य द्रव्य लिङ्ग में मग्न रहता है। उससे निदान करता हुआ कभी देव या मानव भी हो जाता है। परन्तु वहां भी मिथ्यात्व का संस्कार नहीं छूटता हुआ जीव को सदा ही विषयसुख की तृष्णा में भी जलाया करता है। इस तरह आपका जीव इस संसार में चारों गति में भ्रमण करता हुआ महान् कष्ट भोग रहा था। तब आपने किसी समय इस मिथ्यात्व के विष के हटाने की औषधि प्राप्त कर ली।

अर्थात् आत्मानुभव रूपी निश्चय सम्यग्दर्शन का लाभ कर लिया जिसमें सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र भी गर्भित है। इस स्वात्मज्ञान के अनुभव से जो आत्मानन्द का लाभ हुआ, जो अपूर्वज्ञानामृत की धारा बही उसका पान करतेहुए आपने उस मिथ्यात्व के विषको सर्वथा निकालके फेंक दिया। आप क्षायिक सम्यक्त्वी होगए। परम तत्वज्ञानी महात्मा होगए। आप उसी तरह स्वस्थ हो गए जिस तरह कोई प्रवीण मन्त्र ज्ञाता वैद्य अपने शरीर पर चढ़े हुए सर्प के विष को विष निवारक मन्त्रों के प्रयोग से उतार कर स्वस्थ हो जाता है। सार समुच्चय में कहा है—

मिथ्यात्वं परमं बीजं, संसारस्य दुरात्मनः । तस्मात्तदेव मोक्तव्य, मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ।।५२।।
सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाण संगमः । मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ।।४१।।

भावार्थ—मिथ्यात्व ही इस दुःखमय संसार का भारी बीज है। इसीसे जो मोक्ष का सुख चाहता है उसे उचित है कि इसे त्याग देवें। जो सम्यक्त्वका धारी है वह निश्चय से निर्वाण पावेगा, मिथ्यादृष्टि जीव का संसार में सदा ही भ्रमण रहेगा।

छन्द श्रग्विनी

अक्ष सुख चाह की आग से तप्त मन, ज्ञान अमृत सुजल सींच कीना शमन ।
वैद्य जिम मंत्र गुण से करे शांत तन, सर्व विष की जलन से हुआ वेयतन ।।४७।।

उत्थानिका—कोई शङ्का करता है कि जिस तरह श्री शीतलनाथ भगवान ने सत्य मोक्ष मार्ग पर चलकर अपने मन के सर्व संताप को शान्त किया वैसे सर्व लोग भी क्यों नहीं शान्ति का लाभ करते हैं—

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया, दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः ।
त्वमार्य्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवाऽऽत्मविशुद्धवर्त्मनि ।।४८।।

अन्वयार्थ—(प्रजाः) जगत की साधारण प्रजा [स्वजीविते] अपने इस जीवन को बनाए रखने की [च कामसुखे] और इन्द्रियों के सुख भोगने की [तृष्णया] तृष्णा से पीड़ित होकर [दिवा] दिन में तो]श्रमार्ताः] नाना प्रकार परिश्रम करके थक जाती हैं व [निशि] रात्रि होने पर [शेरते] सो जाती है। परन्तु [आर्य] हे श्री शीतलनाथ तीर्थंकर ! [त्वम्] आप तो [नक्तं दिवं] रात दिन [अप्रमत्तवान्] प्रमाद रहित होकर [आत्मविशुद्धवर्त्मनि] आत्मा को शुद्ध करने वाले मोक्ष मार्ग में (अजागरः एव) जागते ही रहे ।

भावार्थ—शिष्य की शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जगत के साधारण मानव दिन रात आकुलता और तृष्णा में फंसे हुए शान्ति के मार्ग का कभी सेवन ही नहीं करते हैं। उनके भीतर यह तृष्णा सदा ही बनी रहती है, कि हमारा यह जीवन सदा चलता रहे, हमको कोई खानपान का कष्ट न हो तथा हम पांचों इन्द्रियों के अनेक प्रकार इच्छित भोगों को भोगते रहें। इस भाव से दिन भर पैसा कमाने के यत्न में लगे

रहते हैं। सवेरा होते ही कोई शस्त्र कर्म की आजीविका में, कोई लिखने के काम में, कोई कृषि काम में, कोई व्यापार में, कोई नाना प्रकार की कारीगरी करने में, कोई गांव जाकर पैसा लाभ करने में, कोई सेवा करने में लग जाते हैं। इस तरह सारे दिन घोर परिश्रम करके थक जाते हैं। जब रात्रि होती है तब थके मांदे होकर सो जाते हैं। प्रयोजन यह है कि जगत के मानव प्रमाद ही में अपने जीवन के सर्व समय को बिता देते हैं। शिशु वय में तो खेलकूद में लग जाते हैं। कुमार वय में पेट के लिये उद्योग हुनर चाकरी आदि सीखने में तन्मय रहते हैं। युवावय में दिन रात पैसा कमाकर विषयभोग करने में व निद्रा लेने में बिताते हैं। वृद्धवय में निर्बल शिथिल हो दवाई दरमत करते हुए जीने की तृष्णा में घबड़ाए हुए दिन निकाल देते हैं। कभी भी अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने के लिये उद्यम नहीं करते हैं। यदि कदाचित् गृहस्थ व त्यागी का धर्म भी पालते हैं तो पुण्य बन्ध के लिये व अपना लौकिक इष्ट प्रयोजन सिद्ध करने के लिये आत्मिक सुख शान्ति के मार्ग को न तो पहचानते हैं न उसके लिये थोड़ी देर भी प्रयत्न करते हैं। इस तरह मिथ्या दृष्टि जन अपना जीवन मोक्ष मार्ग से विमुख चलकर यों ही बिता देते हैं। परन्तु हे परम भव्य श्री शीतलनाथ भगवन्! आपने तो प्रमाद को बिलकुल हटा दिया. दिनरात आप तो आत्मा के शुद्ध करने वाले मोक्षमार्ग में ही जागते रहे। दिन में भी आत्मध्यान किया, व तत्व विचार किया, मौन सहित रहे। मात्र आहार के लिए भी मौन सहित गए व जो कुछ मिला संतोष से लेकर लौट आये। फिर तत्व विचार में ही मग्न रहे। रात्रि को भी आत्मध्यान में ही बिताया। आपने तो रात्रि दिन आत्मानुभवरूप मोक्ष मार्ग में व उसके साधक व्यवहार मोक्ष मार्ग में चलकर घोर परिश्रम किया। कभी भी बे-खबर न हुए। इसीसे मोक्ष मार्ग को साधते हुए भी सुख शान्ति का लाभ किया, और जब घातिक कर्म का नाश कर आप अरहन्त परमात्मा हुए तब पूर्ण शान्ति व अनन्त सुख में सदा के लिए मग्न हो गए। आपके जो सच्चे सम्यग्दृष्टी भक्त हैं वे भी आपका अनुकरण करके सुख शान्ति को पा लेते हैं। कोई साधु पद में रहकर उद्यम करते हैं कोई गृहस्थ में ही रहकर आत्मानुभव के उद्देश्य से ही जीवन बिताते हैं। धर्म साधन के लिए समय निकालते हुए ही अर्थ व काम पुरुषार्थ में न्याय पूर्वक वर्तते हैं। वास्तव में हर एक मानव को कभी भी आत्मकार्य में प्रमादी न होना चाहिये। सार समुच्चय में कहा है—

चिरं गतस्य संसारे बहुयोनिसमाकुले। प्राप्ता सुदुर्लभा बोधिः शासने जिनभाषिते ॥२९७॥
अधुना तां समासाद्य संसारच्छेदकारिणीम्। प्रमादो नोचितः कर्तुं निमिषमपि धीमता ॥२९८॥

भावार्थ—अनेक योनियों से भरे हुए इस संसार में अनादि से भ्रमण करते हुए जिनेन्द्र भाषित धर्म का ज्ञान मिलना बहुत कठिनता से होता है। अब उस संसार नाशक मार्ग को पाकर बुद्धिमान को एक क्षण भी प्रमाद करना उचित नहीं है।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा। येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥३१४॥

भावार्थ—इसलिये आत्मा को नित्य ही निर्मल ज्ञानरूपी जल से स्नान कराना चाहिये, जिससे यह जीव जन्म जन्मान्तर में पवित्रता को प्राप्त करले।

स्रग्विनी छन्द

भोग की चाह अर चाह जीवन करे, लोक दिन श्रम करे रात्रि को सो रहे।
हे प्रभू आप तो रात्रि दिन जागया, मोक्ष के मार्ग को हर्षयुत साधिया ॥ ४८ ॥

उत्थानिका—तृष्णा से ठगाये हुए प्राणी और क्या २ करते हैं सो कहते हैं—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया, त्रयीं प्रवृत्तिं शमधीरवारुणत् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(केचन तपस्विनः) कोई आत्मश्रद्धान रहित तपस्वी जन (अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया) पुत्रादि, धनादि व परलोक के सुख की तृष्णा से पीड़ित होकर (कर्म कुरुते) धर्म आदि व तप आदि कर्म करते हैं (पुनः) परन्तु (भवान्) आप (शमधीः) शान्त बुद्धि रखने वाले वीतरागी ने तो (जन्मजराजिहासया) अनादि काल से चले आए हुए जन्म जरा मरण के दूर करने के उद्देश्य से (त्रयीं प्रवृत्तिं) मन वचन काय की प्रवृत्ति को (अवारुणत्) रोक दिया और मात्र स्वात्मानुभव रूप रत्नत्रय भोग में तन्मय होगए।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव जो धर्म का अनुष्ठान भी करते हैं तो उसमें यही इच्छा रखते हैं कि इसके फल से पुत्र की प्राप्ति हो जावे व परलोक में स्वर्गादि के सुख प्राप्त हो जावें। इसलिये उन अज्ञानियों का धार्मिक क्रियाकाण्ड व उनका किया हुआ नाना प्रकार का काय का क्लेश मात्र संसार का बढ़ानेवाला व आकुलता को देने वाला तथा आत्मिक शीतलता से शून्य संतापमय ही होता है। परन्तु धन्य हैं श्री शीतलनाथ भगवान्! आपने तो इस जन्म जरा मरण रूप संसार का संहार करने का ही बीड़ा

उठाया और परिणामों में परम निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रताप से उत्कृष्ट शान्त भाव को धारण किया व कषायों को और नाना प्रकार क्रियाकाण्ड के साधक रूप मन वचन काय की क्रिया को ही रोक दिया अर्थात् अपने उपयोग को मन वचन काय की प्रवृत्ति से निरोध कर उसे एक आत्मा में ही तन्मय कर दिया और इसी पुरुषार्थ से संसार के कारण-भूत कर्मों का नाश किया और अनन्त सुख से पूर्ण वीतरागता का लाभ कर लिया। वास्तव में जो आत्मा के हितकर्ता होते हैं वे एक आत्मध्यान का ही पुरुषार्थ करते हैं। आत्मध्यान ही परमानन्द का दाता है। सार समुच्चय में कहा है--

आर्त्तरौद्रपरित्यागात् धर्मशुक्लसमाश्रयात्। जीव प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतम्।।२२६।।

भावार्थ---आर्त व रौद्र ध्यान के त्याग करने से व धर्म तथा शुक्लध्यान के आश्रय करने से यह जीव अनन्त व अविनाशी आनन्दमई निर्वाण को पा लेता है।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिच्छेदनम। जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ।।२२५।।

भावार्थ---जो ममता रहित होकर अपने ही आत्मा में रमण करते हैं, उनको संसारवास का छेदक परम उत्कृष्ट सुख सदा अनुभव में आता है।

स्रृग्विणी छन्द

पुत्र धन और परलोक की चाहकर, मूढजन तप करें आपको दाहकर।
आपने तो जरा जन्मके नाश हित, सर्व किरिया तजी शान्तिमयभावहित ।।

उत्थानिका---भगवान के तुल्य अन्य अज्ञानीजन भी हो सकते हैं उसके लिये समाधान में कहते हैं--

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः,क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः।
ततः स्वनिश्रेयसभावनापरै-र्बुधप्रवेकैर्जिन ! शीतलेड्यसे ।।५०।।

अन्वयार्थ---(जिन शीतल) हे श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र ! (क्व) कहां तो [त्वम्] आप [उत्तमज्योतिः] परमोत्कृष्ट ज्ञान के धारी तथा [निर्वृतः] परम सुखी और [क्व] कहां (ते परे) आपसे भिन्न दूसरे [बुद्धिलवोद्धव-क्षताः] थोड़ी सी बुद्धि के गर्व से नाश होने वाले। बहुत बड़ा अन्तर है। [ततः] इसीलिये [स्वनिः श्रेय-

सभावनापरैः] अपने मोक्ष सुख की प्राप्ति की भावना में तत्पर [बुधप्रवेकैः] ज्ञानी गणधरादि साधुजन व सम्यग्दृष्टि मानव [ईडयसे] आपको ही पूजते हैं व आपकी ही स्तुति करते हैं व आपका ही ध्यान करते हैं ।

भावार्थ—यहां यह बतलाया है कि पूजने योग्य वही हो सकता है जो सर्वज्ञ हो तथा जो पूर्ण वीतरागी व आनन्दमई हो । जो रागद्वेष से रहित होगा उसी का आत्मा वीतराग होकरके मोह से स्वच्छ होगा, तब उसके ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म का तथा अन्तराय कर्म का नाश हो जाता है तब ही वह पूर्ण व अनन्त व अविनाशी सहज स्वभाव रूप केवलज्ञान को प्राप्त हो जाता है तथा वही पूर्ण सुखी भी हो जाता है । वही अरहन्त अवस्था में शरीर सहित होने से अपनी वाणी का प्रकाश कर सकता है । उसकी वाणी में जो पदार्थों का प्रकाश होता है वह यथार्थ ही होगा, क्योंकि जो सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को व उनके सर्व गुणों को जानेगा वह कभी असत्य नहीं कह सकता है । तथा वीतरागी होगा, वह निःस्वार्थी होगा, वह जानकर कभी अन्यथा न कहेगा । इसीलिये श्री अरहन्त का उपदेश हुआ कि मोक्षमार्ग यथार्थ है व जीवों को परमानन्द का दाता व उनको शुद्ध करनेवाला है । यहां स्वामी कहते हैं कि कहां तो ऐसे श्री शीतलनाथ भगवान हैं, कहां उनसे विरुद्ध वे जो अल्प ज्ञानधारी होकर अपनी कल्पना से धर्म का स्वरूप बताते हैं और वह प्रमाण में नहीं उतरता है न उससे एक बुद्धिमान विचारशील को संतोष होता है, तब निष्पक्ष विचारशील बड़े-बड़े भेदज्ञानी पुरुष गणधरादि व अन्य साधु व अन्य तत्त्वज्ञान प्रेमी गृहस्थ किस तरह संतोष पा सकते हैं व किस तरह आपको छोड़कर दूसरे को यथार्थ व कल्याणकारी वक्ता मान सकते हैं ? अर्थात् कभी भी नहीं मान सकते । इसलिये स्वामी कहते हैं कि जैसे महान गणधरादि पुरुषों ने आपकी स्तुति की है वैसे मैं भी आपकी ही स्तुति करता हूं । आपके विना मुझे अन्य वक्ता में संतोष नहीं होता है । श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्न संदोह में आप्त का स्वरूप बताते हैं—

वांछत्यङ्गी समस्त सुखमनवरतं कर्मविध्वंसतस्त-
च्चारित्रात्स्यात्प्रबोधाद् भवति तदमलं स श्रुतादाप्ततस्तत्,
निर्दोषात्मा सदोषा जगति निगदिता द्वेषरागादयोऽत्र ।
ज्ञात्वा भक्त्यै सदोषान् विकलितविपदे नाश्रयन्त्यस्ततन्द्राः ॥६४२॥

भावार्थ—हरएक संसारी प्राणी पूर्ण सुख को चाहता है । वह पूर्ण सुख कर्मों के नाश से ही होता है । कर्मों का नाश चारित्र पालन से होगा । सम्यक् चारित्र, सम्यग्ज्ञान

से होगा। वह सम्यग्ज्ञान निर्मल श्रुत अर्थात् शास्त्र से होगा। शास्त्र का यथार्थ प्रकाश आप्त से होगा। आप्त दोष रहित होना चाहिये। वे दोष जगत में राग द्वेष मोहादिक कहे गये हैं। ऐसा जानकर जो पुरुषार्थी व अप्रमादी जीव हैं उनको उचित है कि वे सर्व दुःखों से रहित मुक्ति की प्राप्ति के लिये रागादि दोष सहित देवों का आश्रय न करें किन्तु वीतरागी प्रभु का ही शरण लेवें।

स्त्रग्विणी छन्द

आप ही श्रेष्ठ ज्ञानी महा हो सुखी, आपसे जो परे बुद्धि लव मद दुःखी।
याहिते मोक्ष की भावना जे करें, संतजन नाथ शीतल तुम्हें उर धरें ॥५०॥

(११) श्री श्रेयांशजिन स्तुतिः।

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः, श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(भवान्) आप (श्रेयान् जिनः) श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र (अजेयवाक्यः) बाधा रहित व प्रमाणीक तथा माननीय ध्वनि को प्रकाश करने वाले हैं। आप (इमाः प्रजाः) इन भव्य जीवों को [श्रेयसि वर्त्मनि] मोक्ष मार्ग में (श्रेयः) कल्याणमय धर्म को (शासत्) उपदेश करते हुए (अस्मिन् भुवनत्रये) इस तीन लोक में (एकः) एक अपूर्व ही (चकासे) शोभते हुए (यथा) जिस तरह (वीतघनाः) बादलों से रहित (विवस्वान्) सूर्य्य विश्व में एक अद्भुत रूप से प्रकाशित होता है।

भावार्थ—यहां श्री श्रेयांसनाथ की स्तुति करते हुये उनके नाम के अनुसार ही गुणों का वर्णन कर रहे हैं। प्रभु ने विषय कषाय व कर्म सब जीत लिये, इससे जिन नाम सार्थक किया तथा अपने आपको परमात्मपद में स्थापित करके अपना परम कल्याण किया, इससे श्रेय नाम को स्थापित किया। इतना ही नहीं, आपने जगत के भव्य प्राणियों को जो आपके समवसरण की शरण में आये ऐसा कल्याणकारी मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया जिससे वे भी उस पर बाधा रहित चलकर परमात्म पद को प्राप्त कर सके।

आपका उपदेश ऐसा बाधा रहित हुआ कि किसी प्रमाण में व युक्ति में शक्ति नहीं है कि उसका खंडन कर सके व उसमें दोष निकाल सके। क्योंकि आप तो सर्वज्ञ वीतराग हैं। जैसे जगत में वह सूर्य जिसके ऊपर से मेघों का आवरण हट जाता है एक अकेला ही बड़े ही तेज को प्रकाश करता हुआ सर्व प्रजा को ऐसा मार्ग बताता है कि जिससे बुद्धिमान लोग अपना काम सुगमता से करते हैं। आंख वाले प्राणी मार्ग देखकर चलते फिरते हैं। खाई खंदक कूए बावड़ी में गिरते नहीं हैं। सर्व जगत का बड़ा हित होता है वैसे ही आपके जब चार घातिया कर्मों का आवरण हट गया तब आप बाहर में कोटि सूर्य से भी अधिक तेज को धरे हुए व अंतरंग में अत्यन्त निर्मल व अपूर्व केवलज्ञान की दीप्ति को धारण करते हुए बिना किसी सहायता के स्वयं प्रत्यक्ष सब कुछ जानते हुए तथा दूसरों को अपने दिव्य वचनों से मोक्ष मार्ग बताकर उनका परम हित करते हुए—जैसे सूर्य के प्रकाश बिना मानव अंधकार में कष्ट पाते हैं वैसे आपके यथार्थ मोक्षमार्ग के उपदेश बिना जगत के प्राणी कुमार्ग से बचकर सुमार्ग पर नहीं चल सकते हैं और संसार में भ्रमण कर दुःख उठाते हैं। धन्य हैं प्रभु! आप ही सच्चे श्रेय या श्रेयांश जिन हैं। आप्तस्वरूप में अरहंत की स्तुति में कहा है—

शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं। प्राप्तं मुक्तिपद येन स शिवः परिकीर्तितः ॥२४॥
सुप्रभातं सदा यस्या केवलज्ञानरश्मिना। लोकालोकप्रकाशेन सोऽस्तु भव्यदिवाकरः ॥४२॥

भावार्थ—अरहंत भगवान ही सच्चे शिव हैं, क्योंकि उन्होंने अविनाशी व शांतिमय व परम कल्याण रूप व सुखमई निर्वाणरूप मुक्ति पद को प्राप्त कर लिया है तथा वे ही सच्चे सूर्य हैं जिनके लोक अलोक को प्रकाश करने वाले केवलज्ञान की किरणों के फैलने से अज्ञान का अन्धकार मिट गया और सम्यग्ज्ञान का प्रभात हो गया।

छन्द मालिनी।

जिनवर हितकारी वाक्य निर्बाधधारी। जगत जन सुहितकर मोक्षमारग प्रचारी।
जिम मेघ रहित हो सूर्य एकी प्रकाशै। तिम तुम या जगमें एक अद्भुत प्रकाशै॥

उत्थानिका—भगवान ने कैसा उपदेश दिया सो कहते हैं—

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः, प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम्।
गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतु, र्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥५२॥

अन्वयार्थ—(ते) आपके दर्शन में (विधिः) स्व स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्तिपना (विषक्तप्रतिषेधरूपः) पर स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिपना धर्म के साथ जुड़ा हुआ है ऐसा जो पदार्थों का अस्ति नास्तिरूप एक काल में झलकने वाला ज्ञान है सो (प्रमाण) प्रमाण का विषय होने से प्रमाण कहलाता है। [अत्र] इन दोनों अस्तित्व व नास्तित्व धर्मों में से [अन्यतरत्] किसी एक को वक्ता के अभिप्राय से (प्रधानं) मुख्य करने वाला (अपरः गुणः) और दूसरे को गौण या अप्रधान करने वाला (नयः) एक देश व एक ही स्वभाव को कहने वाला नय है। वह नय (मुख्य नियामहेतुः) इन अस्तित्व व नास्तित्व दोनों धर्मों से किसी एक को मुख्य करके बताने के नियम का साधक है। (सः दृष्टांत-समर्थनः) और वह नय दृष्टांत का समर्थन करने वाला होता है अर्थात् जो धर्म वक्ता दूसरे को दिखाना चाहता है उसका स्वरूप ठीक २ दर्शानेवाला है। या जो दृष्टांत दिया जाय उसे प्राप्त करता है।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि आपका धर्मोपदेश व तत्वोपदेश प्रमाण और नय के द्वारा जगत के जीवों से समझा जाता है। वस्तु अस्ति नास्तिरूप है या विधि निषेधरूप है। कोई पदार्थ कभी भी इन दोनों धर्मों से शून्य नहीं हो सकता है। जहां अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से वस्तु का अस्तित्व है वहां पर के द्रव्य क्षेत्र काल भाव से पर वस्तु का नास्तित्व है। इन दोनों धर्मों को एक साथ बताने वाला प्रमाण है। यद्यपि दोनों धर्म एक साथ ही वस्तु में हैं परन्तु शिष्य को एक एक धर्म सुगमता से समझाने के लिये जो मार्ग शब्द द्वारा ग्रहण किया जाता है वह नय है। नय का यह स्वरूप है कि वह एक धर्म को मुख्यता से बताता है तब दूसरे को गौण कर देता है। सुननेवाले शिष्य को भले प्रकार भासित हो जावे इसलिये जब वह वक्ता अलग अलग करके एक एक धर्म को समझाता है—वह कहेगा "स्यात् अस्ति" तब समझने वाला समझ जायगा कि किसी अपेक्षा से अस्तिपना वस्तु में है, अर्थात् स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्तिपना है। यहां स्यात् यह बताता है कि इसमें और भी धर्म हैं। जब वक्ता फिर कहता है कि 'स्यात् नास्ति' तब शिष्य समझता है कि वस्तु पर-द्रव्य से काल भाव की अपेक्षा नास्ति-रूप है। 'स्यात्' शब्द बताता है कि सर्वथा नास्तिरूप नहीं है उसमें अस्तिपना भी है। शिष्य को दृढ़ करने के लिये फिर वक्ता कहता है "स्यात् अस्ति नास्ति।" किसी अपेक्षा से इसमें दोनों ही धर्म हैं, अस्ति भी है, नास्ति भी है। हैं तो दोनों धर्म एक काल में परन्तु शब्दों में शक्ति नहीं है इसलिये वक्ता कहता है "स्यात् अवक्तव्यं" किसी अपेक्षासे

अर्थात् शब्दों में दोनों ही धर्मों को एक काल कहने की शक्ति नहीं है इस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य भी है तथापि वस्तु में दोनों ही धर्म तो हैं। इसे फिर भी दृढ़ करने के लिये अवक्तव्य के तीन भेद करके समझाता है "स्यात् अस्ति अवक्तव्यं च" स्यात् नास्ति अवक्तव्यं च" "स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यं च" यद्यपि एक समय में कहने की शक्ति न होने से वस्तु अवक्तव्य है तथापि अस्ति स्वभाव सहित जरूर है या नास्ति स्वरूप सहित जरूर है या अस्ति नास्ति स्वभाव सहित जरूर है। उसी को स्याद्वाद नय या सप्तभंगी नय कहते हैं। इससे नय एक एक धर्म के स्वरूप को भले प्रकार समर्थन कर देता है। नय वह द्वार मात्र है जिससे एक एक धर्म को भिन्न २ करके समझाया जा सके। शिष्य जब नयों के द्वारा समझ लेता है तब उसका ज्ञान भी प्रमाणरूप हो जाता है। वह अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनों धर्मों को एक काल ही रखने वाला पदार्थ है, ऐसा ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

पंचाध्यायी में कहा है—

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात्।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७६ ॥

भावार्थ— नय भी ज्ञान विशेष है, प्रमाण भी ज्ञान विशेष है। दोनों में विषय विशेष की अपेक्षा से भेद है। वास्तव में ज्ञान की अपेक्षा से दोनों में कोई भेद नहीं है।

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योऽन्यतमः।
सोऽप्यपरस्तदपर इह निखिल विषयः प्रमाणजातस्य ॥ ६८० ॥

भावार्थ—प्रमाण और नय में विशेष भेद इस प्रकार है। द्रव्य के अनन्त गुणों में से कोई सा एक विवक्षित अंश नय का विषय है। वह अंश तथा और भी सब अंश अर्थात् अनन्त गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाण का विषय है। यह नय दृष्टान्त का समर्थन करनेवाला है। जैसा किसी ने कहा घट है तो यह समर्थन करता है कि अपने स्वरूप चतुष्टय से घट है। पर स्वरूप चतुष्टय से नहीं है।

छन्द मालिनी।

है विधिमय वस्तु और प्रतिषेध रूपं, जो जाने युगवत् है प्रमाण स्वरूपं।
कोई घर मुख्य अन्य को गौण करता, नय अंश प्रकाशी पुष्ट दृष्टान्त करता॥

उत्थानिका—ऐसा नय का स्वरूप जो दृष्टांत का समर्थक हो किसके मत में है उसे कहते हैं—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो, गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथारिमित्राऽनुभयादिशक्तिर्द्वयावधेः कार्यकरं हि वस्तु ।।५३।।

अन्वयार्थ---(ते) हे श्रेयांशनाथ भगवान् ! आपके मत में (निरात्मकः न) वस्तु अनेक धर्मों से रहित नहीं है। वस्तु में अनेक स्वभाव होते हैं उनमें से (विवक्षितः) जिसको कहने की इच्छा होती है। वह (मुख्यः इति इष्यते) मुख्य करके नय के द्वारा कहा जाता है तथा (अविवक्षः अन्यः गुणः) जिसको प्रधान करके कहने की इच्छा नहीं होती है उसको गौण या अप्रधान कर दिया जाता है (तथा) वस्तु तो दोनों ही स्थानों को रखने वाली होती है। [अरिमित्रानुभयादि शक्तिः] इसका दृष्टान्त देते हैं कि एक देवदत्त है वह एक ही समय में किसी का शत्रु होने से शत्रुपना व किसी का मित्र होने से मित्रपना व किसी का शत्रु या मित्र कोई न होने से उदासीनपना इत्यादि अनेक स्वभावों को रखने वाला है उनमें से किसी एक बात को एक समय में प्रयोजनवश कहा जायगा। जैसे यह रामचन्द्र का शत्रु है, यह दुर्गादत्त का मित्र है। हमारा तो न यह शत्रु है न मित्र है। [वस्तु द्वयावधेः कार्यकरं हि] हरएक पदार्थ दो विरोधी स्वभावों को रखता है तब ही वह कार्यकारी है व प्रयोजन सिद्ध कर सकता है।

भावार्थ---यहां पर दिखलाया है कि हरएक वस्तु एक काल में अनेक स्वभावों को रखने वाली होती है, वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप है, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप है, द्रव्यार्थिक नय से नित्य है, पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। अभेद नय से एक है भेद नय से अनेक है,इत्यादि। तब अनेक धर्म स्वरूप जानना प्रमाण का विषय है। उसी वस्तु को एक एक स्वभाव करके समझाने के लिये नय काम देता है। यह नय जब नित्यपने को मुख्य करके समझायेगा तब अनित्यपना गौण हो जायेगा। जब अनित्यपने को समझायेगा तब नित्यपना गौण हो जायगा। तथापि वस्तु तो नित्य व अनित्य दोनों स्वभाव रखती हैं। यदि वस्तु को ऐसा नहीं माने तो वह कुछ काम ही नहीं कर सकती है। यदि सर्वथा नित्य मानें तो अवस्था न बदलने से कोई काम नहीं बनाएगी। यदि सर्वथा अनित्य माने तो एकदम नष्ट हो जायगी, ठहर ही न सकेगी, तब उससे काम ही क्या लिया जायगा। वस्तु में अनेक स्वभाव हो सकते हैं उसका दृष्टान्त बिलकुल प्रगट है। एक देवदत्त खड़ा है। सामने से १०-२०आदमी आरहे हैं। उनमें से जो उसका शत्रु है वह देवदत्त को शत्रु की दृष्टि से शत्रु देखता है। जो देवदत्त का उपकारी है वह उसे मित्र की

दृष्टि से मित्र देखता है। जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है वे उसको उदासीन भाव से उसी समय देखते हैं। देवदत्त में शत्रु, मित्र, व अनुपम रूपपना एक ही काल में है यह प्रमाण का विषय है। नय एक-एक को एक काल में प्रकाश करेगा। जब उसे शत्रुपना दिखलाना होगा तब अन्य दोनों धर्मों को गौण करके कहना होगा कि यह रामचन्द्र का शत्रु है। जब मित्रपना दिखलाना होगा तब कहेगा यह दुर्गादत्त का मित्र है इत्यादि। आप्तमीमांसा में स्वामी नय का स्वरूप बताते हैं—

सधर्मेणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः। स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥१०६॥

भावार्थ—यह नय जिस किसी एक धर्म को सिद्ध करता है उसे ही उसी ही धर्म की अपेक्षा बिना किसी विरोध के सिद्ध करता है तथा स्याद्वाद रूप श्रुतज्ञान से प्रगट किये हुए पदार्थ के एक एक अंश को या स्वभाव को दिखलाने वाला नय है—अनेक स्वभावों को बताने वाला प्रमाण है, एक स्वभाव को झलकाने वाला नय है।

छन्द मालिनी

वक्ता इच्छा से मुख्य इक धर्म होता, तब अन्य विवक्षा बिन गौणता माहि सोता ॥
अरिमित्र उभयबिन एक जन शक्ति रखता, है तुझ मत द्वैतं कार्य तव अर्थ करता ॥५३॥

उत्थानिका—शिष्य कहता है कि जब दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है यह कहना ठीक नहीं है। दृष्टान्त से कोई प्रयोजन नहीं निकलता। इसका समाधान करते हैं—

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे, साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामदृष्टं, त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥५४॥

अन्वयार्थ—(उभयोः विवादे) वादी तथा प्रतिवादी दोनों के बीच में किसी बात की सिद्धि में झगड़ा होने पर (दृष्टान्तसिद्धौ) दृष्टान्त का निर्णय हो जाने पर (साध्यं प्रसिद्ध्येत्) साध्य की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् जब दृष्टान्त वादी प्रतिवादी दोनों को मान्य होता है तब वादी जिसे सिद्ध करना चाहता है उसे प्रतिवादी मान लेता है [यत् सर्वथा एकान्तनियामदृष्टं] जिनका मत सर्वथा एक धर्मरूप ही वस्तु को मानने वाला है उनके मत में (तु तादृक् न अस्ति) तो वैसा सिद्ध होना कठिन है। उनको दृष्टान्त समर्थन नहीं कर सकेगा। परन्तु [त्वदीयदृष्टिः अशेषे विभवति] आपका अनेकान्त मत

सर्व ही बातों को प्रगट कर सकता है अर्थात् आपके मत को मानते हुए हेतु व दृष्टान्त सर्व बन सकेगा।

भावार्थ---यहाँ पर यह बताया है कि जब वादी किसी बात को किसी नय से प्रतिवादी को सिद्ध करना चाहता है तब ऐसा दृष्टान्त भी देता है जिससे प्रतिवादी को मान्य होजावे। तथा यह दृष्टान्त ऐसा होता है जिसको दोनों ही मानते हैं। जैसे यह कहा गया कि इस शरीर में जीव है, क्योंकि यहां इन्द्रियां जान रही हैं। जहां २ जीव नहीं होता है वहां २ जानने का काम नहीं होता है। जैसे काठ का पुतला। क्योंकि काठ का पुतला नहीं जानता है इसलिये जीव रहित जड़ है। तथा जहां देखना स्वाद लेना आदि क्रियायें हो रही हैं वह जीव सहित है, जैसे हम तुम। यहां काठ के पुतले का दृष्टान्त वादी प्रतिवादी को मान्य है कि वह जड़ है। यही उदाहरण जीव की सिद्धि करने के लिये साधक पड़ा। यह उदाहरण तब ही बन सका जब काठ के पुतले में भाव तथा अभाव दो स्वभाव माने गए। काठ के पुतले में जड़त्व का भाव है तब ही जीवत्व का अभाव है। यदि भाव व अभाव न मानकर मात्र एकान्त ही माना जावे तो कभी दृष्टान्त दिया ही नहीं जा सकता। हरएक दृष्टान्त किसी साधन में सहायक है तब ही दूसरे के लिये बाधक है। जैसे कहा कि पर्वत पर अग्नि है क्योंकि धुआं दिख रहा है, जैसे रसोई घर में अग्नि। यह दृष्टान्त दोनों को मान्य है व अनुभव है कि रसोईघर में धुआं जब होता है तब अग्नि अवश्य होती है। तथा यह दृष्टान्त जब पर्वत पर अग्नि सिद्ध करने के लिये साधन है तब सरोवर में जल है इसके सिद्ध करने के लिये साधन नहीं है। जो मत वस्तु में एक ही धर्म मानते हैं उन मतों से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है, दृष्टान्त भी नहीं बन सकता है; क्योंकि वस्तु अनेक धर्मरूप है ही। हे श्रेयांसनाथ ! आपका मत ही यथार्थ वस्तु को सिद्ध कर सकता है। यदि कोई वस्तु को अद्वैत ही माने, एकरूप ही माने, भेद वास्तविक न माने तो वह अपने पक्ष को सिद्ध ही नहीं कर सकता। जैसा आप्तमीमांसा में कहा है---

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद्विना सिद्धिः द्वैतं वांङ्मात्रतो न किम्। २६॥

भावार्थ---अद्वैत की सिद्धि जब किसी साधन से करने लगेंगे तब ही अद्वैत नहीं रहेगा। क्योंकि साधन व साध्य का द्वैत सामने आ जायगा। यदि साधन के बिना ही सिद्धि कहोगे--साधन नहीं कहोगे तो वचन मात्र से द्वैत ही को क्यों न मान लिया जावे ? इसलिये वस्तु का स्वभाव एकरूप मानने से ही कुछ काम न चलेगा, वस्तु द्वैत व अद्वैत

दोनों रूप है। सत्ता सामान्य की अपेक्षा वस्तु अद्वैतरूप व एकरूप है वही वस्तु द्रव्यादि भेद, गुण, पर्यायभेद इत्यादि की अपेक्षा अनेकरूप व द्वैतरूप हैं। बिना अनेकान्त के सत्य का प्रतिपादन ही नहीं बन सकता।

मालिनी छन्द

जब होय विवाद सिद्ध दृष्टान्त चलता। वह करता सिद्धो जब अनेकान्त पलता।
एकांत मतों मे साधना होय नाही। तब मत है साचा सर्व सधता तहां ही ।।५४।।

उत्थानिका—शङ्काकार कहता है कि एकान्त का निषेध होने पर ही अनेकान्त की सिद्धि हो सकती है कि हरएक वस्तु अनेक धर्मों से प्राप्त है। परन्तु एकान्त का निषेध कैसे किया जायगा ? इसका समाधान करते हैं—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि,र्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट्, ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवाऽर्हः ।।५५।।

अन्वयार्थ—(एकांतदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः) वस्तु सर्वथा भाव रूप ही है या अभावरूप ही है, नित्यरूप ही है या अनित्यरूप ही है इत्यादि अभिप्राय को रखने वाला जो एकांतमत उसका निषेध हो जाना या उसके निषेध की सिद्धि (न्यायेषुभिः) न्याय के बाणों से हो जाती है। अर्थात् अनेकान्त नयके प्रतिपादन से एकान्त का निषेध हो जाता है। हे प्रभु ! आपका ज्ञान प्रमाण है वही सच्चा बाण है। इसी अनेकांतमई आत्म-पदार्थ का अनुभव रूप ज्ञान के बाणों से आपने (मोहरिपुं निरस्य) मोहरूपी शत्रु को नाश करके और फिर ज्ञानावरणादि तीन अन्य घातिया का संहार करके (कैवल्यविभूतिसम्राट् असि स्म) आप केवलज्ञानरूपी विभूति के धर्म चक्रधारी तीर्थंकर सम्राट होगए (ततः) इसी कारण से (त्वम) आप (मे स्तवार्हः) मेरे द्वारा स्तुति करने योग्य [अर्हन् असि] अरहन्त हो।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि अनेकांत मत ही एकांत के निषेध के लिये बाण है। जब अनेकांत नयसे अर्थात् स्याद्वाद से ही अनेकांत स्वरूप वस्तु का साधन होता है तथा एकांत से हो नहीं सकता तब अनेकांत ही एकांतमत का निराकरण करने वाला है। यदि कोई वस्तु को सर्वथा भावरूप ही कहे तो उसका खण्डन अनेकांत कर देता है कि वस्तु अपने निज स्वरूप से तो भावरूप है वहीं पर-स्वरूप की अपेक्षा अभावरूप भी है।

यदि वस्तु में पर का अभाव न माना जायगा तो अपना सद्भाव भी नहीं माना जा सकता। कहा है—

"अस्तित्वं प्रतिषेधेन अविनाभाव्येकधर्मणि ।"

अर्थात्—एक पदार्थ में अस्तित्व व नास्तित्व दोनों स्वभाव अवश्यमेव वास करते हैं। हरएक वस्तु सर्वथा नित्य मानी जावे या सर्वथा अनित्य मानी जावे तो सिद्ध नहीं होती। वस्तु नित्य अनित्य दोनों रूप अपने गुण पर्यायों की अपेक्षा से है, ऐसा ही सिद्ध होता है। बस, अनेकांत की सिद्धि ने ही एकांतमत का निराकरण कर दिया। हे प्रभु ! आपही का ऐसा सच्चा मत है। आपने इसी तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप निर्णय किया और इसी निर्णय रूप प्रमाण ज्ञान से अर्थात् जिन आत्मा का यथार्थ अनुभव करने से जो आत्मज्ञान के बाण चलाये उन्हींसे सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षयकर डाला। फिर क्षीण मोह में अंतर्मुहूर्त स्थिति करके शेष तीन घातिया कर्मों का भी क्षय कर डाला और आप केवलज्ञानी अरहन्त परमात्मा होगए। जब तक आत्मा का अनेकांत रूप से यथार्थ ज्ञान नहीं होगा तब तक उसका यथार्थ ध्यान नहीं होगा। और यथार्थ ध्यान हुए बिना गुणस्थानों के द्वारा आत्मा की उन्नति न होगी।

वास्तव में केवलज्ञान के लिये श्रुतज्ञान ही साधन है। भाव श्रुतज्ञान ही स्वात्मानुभव है। यही बाण मोह का नाश करने वाला है। क्योंकि आपने स्वयं सत्य मोक्षमार्ग पाया और उससे अपना उद्धार किया। इसलिये मैं भी आपकी तरह जब अपना उद्धार करना चाहता हूं तब मुझे आपकी ही शरण ग्रहण करके आपही का गुणानुवाद करना चाहिये। जिससे मैं भी सच्चे आत्मध्यानरूपी बाणों से मोह का नाश करके परमात्मा हो सकूं। ज्ञानलोचनस्तोत्र में कहते हैं—

अद्वैतवादौघनिषेधकारी, एकांतविश्वासविलासहारी।
मीमांसकस्त्वं सुगतो गुरुश्च, हिरण्यगर्भः कपिलो जिनोऽपि ॥ २ ॥

भावार्थ—आपही यथार्थ अद्वैतवादों के समूह को निषेध करने वाले हैं। एकान्त श्रद्धान के विलास को हरने वाले हैं। इसलिये आपही सच्चे मीमांसक हैं, सुगत हैं, गुरु हैं तथा हिरण्यगर्भ हैं, कपिल हैं तथा जिन हैं। अर्थात् पूज्यनीयपना आपही में सिद्ध होता है; क्योंकि आपही अनेकांतमय पर्याय के प्रकाशक हैं।

छन्द मालनी

एकांत मतों के चूर्ण करता तिहारे, न्यायमई वाण मोहरिपु जिन सहारे।
तुम ही तीर्थंकर केवल ऐश्वर्य धारी, ताते तेरी ही, भक्ति करनी विचारी ॥

---

(१२) श्री वासुपूज्य स्तुतिः

शिवासु पूज्योऽभ्युदय क्रियासु, त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयापि पूज्योऽल्पधियामुनीन्द्र ! दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥५६॥

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र) हे गणधरदेवादि मुनियों के स्वामी ! (त्वं) आप (वासुपूज्यः) वसुपूज्य क्षत्री राजा के पुत्र बारहवें तीर्थङ्कर श्री वासुपूज्य स्वामी (शिवासु अभ्युदयक्रियासु) शोभनीक गर्भ जन्म तप आदि कल्याणकों की क्रियाओं में [पूज्यः] पूजे गये हो [त्रिदशेन्द्रपूज्यः] और इन्द्रादि देव व बड़े २ महान सम्राटों से पूज्यनीय हो तव (मया अल्पधिया) मुझ तुच्छ बुद्धि समन्तभद्र से भी (पूज्यः) पूज्यनीक हो (दीपार्चिषा) दीपक की ज्योति से (किं) क्या (तपनः) सूर्य (पूज्यः न) पूजा नहीं जाता है।

भावार्थ—यहां भी श्री वासुपूज्य के नाम का सार्थकपना दिखाया है कि जगत में ऐसा कोई पुण्यात्मा, जिसके गर्भ जन्म तप ज्ञान व निर्वाण कल्याणकों में (इन्द्रादि देवों ने) महान उत्सव किये हों, आपही एक तीर्थङ्कर देव है। आपको बड़े-बड़े गणदेव आदि साधु, देवों के इन्द्र, मानवों के स्वामी राजा आदि सर्व ही परम पूज्यनीक समझकर पूजते हैं। इसीलिये कि आप अलौकिक परमात्मा या अरहन्त पद को पहुंच गए हो। आप सर्व दोषों से रहित सर्वज्ञ वीतराग होगए हैं। श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि मैंने भी आपको ही पूज्यनीक जाना है, क्योंकि आप ही सूर्य के समान परम प्रतापी केवलज्ञानमई अमिट प्रकाशके धारी हैं। तथापि मेरी पूजा जगतमें हास्यका हेतु हो सकती है; क्योंकिमैं तो बहुत ही अल्पबुद्धि हूँ, मैं किस तरह आपका गुण स्तवन करके पूजा कर सकता हूँ, तथापि भक्ति के वश करता ही हूं। जैसे रूढ़ि में लोग सूर्य को देवता मानके पूजते हैं तब दीपक लाकर उससे आरती उतारते हैं। जो दीपक की लौ अति तुच्छ होती है, जरासी पवन की प्रेरणा

से बुझ जाती है, वह भी जब सूर्य की भक्ति कर सकती है तब मैं आपकी भक्ति करलूं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

वास्तव में श्री तीर्थङ्कर अरहन्तदेव ही पूज्यनीय हैं। जैसा पात्रकेशरी स्तोत्र में कहा है--

न लुब्ध इति गम्यते सकलसंगसन्यासतो। न चापि तव मूढ़ता विगतदोषवाग्यद् भवान्॥
अनेक विधरक्षणादसुभृतां न च द्वेषिता। निरायुधतयाऽपि च अपगतं तथा ते भयम् ॥१२॥

भावार्थ--हे भगवन्! आप ही पूज्यनीय हैं क्योंकि आपने सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया है। इसलिए आपको कभी किसी ही परवस्तु में लोभ या राग नहीं हो सकता है। तथा आपके वचन पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित हैं इसलिए आपमें अज्ञानता बिलकुल नहीं है। तथा आपने अनेक प्रकार से मन वचन काय से पूर्णपने जगत के प्राणियों की रक्षा की है, आपसे किसी को कष्ट नहीं पहुंचता है इसलिए आपमें द्वेषपना बिलकुल नहीं है। न आपको किसी तरह का भय है, क्योंकि आपके पास कोई शस्त्र नहीं है। इसलिए आपमें ही सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशोपना के लक्षण मिलते हैं जो एक देव में होने चाहिए।

छन्द

तुम्हीं कल्याण पंच में पूज्यनीक देव हो, शक्र राज पूज्यनीक वासुपूज्य देव हो।
मैं भी अल्पधी मुनीन्द्र पूज आपकी करूं, भानुके प्रपूज काज दीपकी शिखा धरूं॥

उत्थानिका--भगवान् की पूजा से भगवान को क्या लाभ होगा? इस शंका का उत्तर आचार्य देते हैं--

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवांतवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

अन्वयार्थ-- (नाथ) हे प्रभु (वीतरागे त्वयि) आप वीतराग हैं इसलिए आपकी (पूजया) पूजा करने से आपको (अर्थः न) कोई प्रयोजन नहीं है। (विवांतवैरे) आप वैर रहित हैं इसलिए (निन्दया न) आपकी निन्दा करने से भी आपको कोई प्रयोजन नहीं है (तथापि) तो भी (ते पुण्यगुणस्मृतिः) आपके पवित्र गुणों का स्मरण [नः]

हमारे (चित्तं) मनको [दुरितांजनेभ्यः] पापरूपी मैलों से [पुनाति] पवित्र कर ही देता है ।

भावार्थ--यहां यह बात दिखलाई है कि जब हे वासुपूज्य स्वामी ! आप बिलकुल राग द्वेष शून्य हैं तब हम यदि आपकी पूजा करें तो आप कुछ भी प्रसन्न होकर हमको कुछ नहीं देंगे, फिर हम आपकी पूजा ही क्यों करें व महान पुरुष भी आपकी क्यों पूजा करते हैं ? इसका समाधान यह है कि वास्तव में प्रभु तो वीतराग हैं, उनको कोई मतलब नहीं है कि कोई भक्ति करो, या पूजन करो या स्तवन करो । हमारी भक्ति उनके आत्मा में हमारे प्रति रागभाव उत्पन्न नहीं करा सकती है और यदि कदाचित् कोई आपसे विमुख होकर आपकी निन्दा करे तो आपमें उसपर द्वेषभाव नहीं उत्पन्न हो सकता । क्योंकि आपने क्रोधादि कषायों का तो नाश ही कर दिया है । फिर स्तुतिकर्ता व निन्दाकर्ता को क्या फल होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि जो भगवान के पवित्र गुणों का स्मरण करेगा उसका भाव पवित्र हो जायगा, वीतरागी के स्तवन से वीतराग हो जायगा । तब रागद्वेष मिटाने से पापों का क्षय होगा व अतिशयरूप पुण्य का बन्ध होगा, जो साताकारी संयोगों में प्राप्त करेगा । तथा जो निन्दा करेगा उसका भाव द्वेष से पूर्ण होकर बुरा हो जायगा । वह अपने भावों से पाप का बन्ध कर लेगा । आप तो न किसी पर राग करते हैं न द्वेष करते हैं । तथापि आपके भक्त तो मोक्षमार्ग पर चलकर भवसागर से पार हो जाते हैं व जो आपकी निन्दा करते हैं वे स्वयं पाप बांधकर भवसागर में गोता लगाते रहते हैं । इसलिये आपकी पूजा तो मेरे लिए परम हितकारी ही है । जैसे शास्त्र स्वयं कुछ ज्ञान नहीं देते, परन्तु पढ़ने वाला प्रेमी उसमें से ज्ञान का विकास करही लेता है । उसी तरह आपका दर्शन पूजा स्तवन भक्त का परम हित करता है, उसे पवित्र बना देता है । यही भाव पात्रकेसरी स्तोत्र में झलकाया है--

ददात्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि । क्षिपस्य कुपितोऽपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ ॥
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुद्ध्यते यद् भवान् । न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमान् ॥८॥

भावार्थ--जो आपकी स्तुति करते हैं उन पर आप प्रसन्न हुए बिना ही उनको अनुपम सुख देते हैं व जो आपकी निंदा करते हैं उन पर क्रोध न करते हुए आप उन्हें दुर्गति में पटक देते हैं । हे भगवन् ! तो भी आपके परमेष्ठी पद में कोई विरोध नहीं आता है । क्योंकि आप वीतराग स्वभाव में लवलीन रहते हैं । न क्रोध करते हैं न प्रसन्न होते

हैं। वे स्तुतिकर्ता व निंदाकर्ता स्वयं ही अपने परिणामों से अच्छा या बुरा फल पा लेते हैं।

छन्द।

वीतराग हो तुम्हें, न हर्ष भक्ति करसके; वीत द्वेष हो तुम्हीं, न क्रोध शत्रु हो सके।
सार गुण तथापि हम कहें महान भाव से, हो पवित्र चित्त हम हटें मलीन भाव से ॥५७

उत्थानिका--अब शंका करते हैं कि आपको जो अष्ट द्रव्य का आरम्भ करके पूजते हैं उनको तो अवश्य कुछ पाप का बंध होता ही होगा इसका समाधान करते हैं-

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य, न दूषिका शीत शिवाम्बुराशौ ।५८॥

अन्वयार्थ--[त्वा पूज्यं जिनं] आप पूजने योग्य जिन भगवान की [अर्चयतः] पूजा करते हुए [जनस्य] किसी भक्तजन को (बहुपुण्यराशौ) बहुत पुण्य का ढेर प्राप्त होता है उसमें (सावद्यलेशः) आरम्भ जनित पाप का कुछ अंश (दोषाय अलं न) भक्त को दोषी नहीं बना सकता है (शीतशिवाम्बुराशौ) जिस समुद्र में ठंडा व सुखदाई जल भरा है उसमें (विषस्य कणिका) विष की एक कणी [दूषिका न] जल को विषमई नहीं कर सकती है।

भावार्थ--हे जिनेन्द्र ! जो भक्तजन आपकी द्रव्य पूजा करते हैं अर्थात् भावों को जोड़ने के लिये सुन्दर पूजा के उपकरण व जल चंदनादि सामग्री एकत्र करते हैं व गा बजाकर तन्मय होकर आपकी स्तुति करते हैं, तब इन पूजा सम्बन्धी आरम्भ करते हुए जो कुछ एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा होती है वह इतनी अल्प है कि नाम मात्र है। परन्तु उस आरम्भ के द्वारा जो पूजा करते हुए भावों की विशुद्धि होती है व उससे जो समय समय महान् पुण्य का बन्ध होता है वह तो एक समुद्र के समान होता है। जहां कोटि गुणा लाभ हो व कुछ हानि हो तो बुद्धिमानों को वह कार्य गुण रूप ही भासता है दोष रूप नहीं। वे अटूट लाभ के लिये कुछ हानि सह करके भी वर्तन करते हैं। पूजा के आरम्भ में यत्नाचार से दया भाव से वर्तन करते हुए त्रस जन्तुओं की हिंसा का तो अल्प भी पाप नहीं होता है। सचित्त जल को अचित्त करते हुए व जल से सामग्री धोते हुए आरम्भ जनित एकेन्द्रियों की हिंसा का अत्यन्त अल्प पाप बंधता है। वह इतना कम

है जैसे शीत मिष्ट जल के समुद्र में यदि एक विष की कणी डाली जावे तो वह उस जल को विषमई नहीं कर सकती है—उसमें समा जायगी। इसी तरह वह अति अल्प पाप महापुण्य वंध के सामने कुछ भी गिनती में नहीं है। जो लोग गृहस्थ होकर भी आरम्भी अहिंसा के भय से द्रव्य पूजा नहीं करते हैं वे अपना महान अलाभ करते हैं; क्योंकि मात्र भाव पूजा में मन अधिक काल तक जुड़ नहीं सकता है। जैसे विना बाजे का साथ हुए गवैये का मन देर तक गाने में नहीं जुड़ सकता है इसी तरह विना द्रव्यादि सामग्री का आलम्वन हुए मन देर तक भक्ति में नहीं लग सकता है। तब वह समय जो द्रव्य पूजा के द्वारा भक्ति करने में जाता वह घर में व दुकानादि में जाकर विशेष आरम्भ जनित कार्यों में लग जाता है। तब अधिक पाप का वन्ध होता है उसी समय को यदि वह द्रव्य पूजा में लगाता तो अत्यन्त अल्प पाप के साथ बहुत अधिक पुण्य का लाभ करता। गृहस्थ का जितना व्यवहार धर्म है वह आरम्भी हिंसा से खाली नहीं है। तथापि वह हिंसा हिंसा के हेतु से नहीं है, मात्र विशेष किसी प्रयोजन के लिये है जो प्रयोजन उस आरम्भ के विना होना अशक्य है। जैसे धर्म साधन, सामायिक पाठ, स्वाध्याय, पूजा भक्ति करने के लिये मन्दिर व उपाश्रय व धर्मशाला वनाना व सरस्वती भवन तैयार कराना व पाठशाला का मकान बनवाना व मकान में वेठने को पाटा, चौकी, फर्श, चटाई, आसन लाना विछाना, व शास्त्र रखने को चौकी वनवाना, शास्त्र लिखना लिखाना, मुद्रित कराना आदि २ ये सव आरम्भ हैं। उनमें कुछ न कुछ आरंभी हिंसा होती है। परन्तु धर्म साधन विशेष होता है, परिणामों की उज्ज्वलता का विशेष कारण होता है। इसलिये हर एक वुद्धिमान को करना ही उचित है। गृहस्थ का मन इतना वैराग्यमय नहीं है कि वह मात्र साधु के समान सामायिक करके देर तक परिणामों को उज्ज्वल रख सके। उसे चंचल मन को रोकने के लिये पूजा, पाठ, स्वाध्याय व सामायिक सर्व ही कार्य वताए गए हैं जिससे विशेष लाभ हो। गृहस्थ व्यापारी होता है, जैसे व्यापार में थोड़ा पैसा खर्च करके विशेष लाभ उठाया जाता है वैसे गृहस्थ धर्म में थोड़ा आरम्भ करके भी विशेष लाभ उठाया जाता है। जो थोड़ी हानि के भय से विशेष लाभ नहीं लेते हैं उनको मूर्ख व कायर व आलसी कहा जता है। इसलिये श्री जिनेन्द्र की द्रव्य पूजा भक्तों के भावों को उन्नति रूप करने में अत्यन्त सहायक है। इसलिये दोषरूप नहीं है। किन्तु परम गुणकारी है। जिनको एकेन्द्रियों की आरम्भ जनित हिंसा का त्याग नहीं है वे ही पूजा की सामग्री का निमित्त मिलाते हैं। आरम्भ जनित हिंसा के सर्वथा त्यागी हैं वे वहुत उदासीन रहते हैं। वे व्यापारादि के भी त्यागी होते हैं। वे मात्र भाव पूजा में ही अपने परिणामों

को ऊँचा बना सकते हैं। यहां आचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तजनों की द्रव्य पूजा उनके लिये गुणकारी है। अतएव कर्तव्य है। श्री अमितगति महाराज सुभाषित-रत्नसंदोह में गृहस्थ का धर्म बताते हैं--

विचित्रशिखराधारं विचित्रध्वजमण्डितम्। विधातव्यं जिनेन्द्राणां मन्दिरं मन्दिरोपमम् ॥८७३॥
यावत्तिष्ठति जैनेन्द्र मन्दिर धरणीतले। धर्मस्थिति कृता तावज्जैनसौधविधायिना ॥८७५॥
यः करोति जिनेन्द्राणां पूजनं स्तवनं नरः। स पूजामाप्य नि.शेषां लभते शाश्वतीं श्रियम् ॥८७७॥

भावार्थ—विचित्र शिखर सहित ध्वजा मंडित परम सुन्दर मन्दिर श्री जिनेन्द्र बिराजमान करने के लिये बनवाना चाहिये। जब तक पृथ्वी में जिन मन्दिर रहेगा तब तक मन्दिर के बनवाने वाले ने धर्म का मानों झंडा ही गाड़ दिया है। जिन मन्दिर में जो कोई भक्तजन अभिषेक व पूजन करता है वह स्वयं पूजा का पात्र होकर परम्परा अविनाशी लक्ष्मी को पा लेता है।

छन्द।

पूजनीक देव आप पूजते सुचावसे। बांधते महान पुण्य जन विशुद्ध भावसे॥
अल्प अघ न दोषकर यथा न विष कणा करे। शीत शुचि समुद्र नित्य शुद्ध ही रहा करे॥५८॥

उत्थानिका—शंकाकार कहते हैं कि मुनियों के पास तो सामग्री होती नहीं है वे जिनेन्द्र की पूजा कैसे करेंगे? इसका समाधान करते हैं—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते–र्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूत–मभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥५९॥

अन्वयार्थ—(यत् बाह्यं वस्तु) जो बाहरी अक्षत पुष्पादि पदार्थ हैं वह [गुण-दोषसूतेः] पुण्य तथा पाप भाव की उत्पत्ति का [निमित्तं] निमित्त कारण है। [अध्यात्मवृत्तस्य] जो अंतरंग अपने शुभ व अशुभ भावों में वर्त रहा है उसके [अभ्यंतरमूलहेतोः] पुण्य पाप बंध के अंतरंग मूल शुभ व अशुभ भावरूपी कारण के लिये [तत् अंगभूतं] वह बाहरी पदार्थ मात्र सहकारी कारण हैं। [अभ्यंतरं केवलं अपि ते अलं] आपके मत में तो वास्तव में अंतरंग शुभ व अशुभ भाव मात्र ही पुण्य व पाप बंध करने को समर्थ हैं।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि जीवों के अंतरंग परिणाम ही पुण्य तथा पाप बंध के मुख्य या मूल कारण हैं। तथा बाहरी पदार्थ शुभ व अशुभ परिणामों के होने में मात्र सहकारी कारण हैं। बंध तो भावों से ही होगा। गृहस्थों का मन अति चंचल होता है। इसलिये उनके मन को अन्य बाहरी कार्यों से रोकने के लिये यह आवश्यक है कि बाहरी पदार्थों का आलम्बन हो। निमित्त बड़ा बलवान होता है। जहां जैसा बाहरी निमित्त होता है वैसा परिणाम हो जाता है तथा एक कार्य के लिये अनेक निमित्तों की आवश्यकता होती है। गृहस्थ के मन में भक्ति उत्पन्न करने के लिये जिन मन्दिर का स्थान, ध्यान मई प्रतिमा, व जल चंदनादि आठ द्रव्य, पूजा के उपकरण व गाने बजाने का सामान इत्यादि वे सर्व पदार्थ सहकारी कारण हैं. इनके होते हुए यदि पूजा करने वाला उपयोग को लगावे तो भक्ति के भाव जागृत कर सकता है व बढ़ा सकता है। और महान पुण्य का लाभ कर सकता है परन्तु जिसका उपयोग ही पूजा की तरफ नहीं है उसके लिये बाहरी पदार्थ मात्र पुण्य बंध का कारण न होगा। जिसके चित्त में यह झुकाव है कि मैं अपने भावों को उज्ज्वल करूं, उसके भावों को चढ़ाने के लिये जल चन्दनादि द्रव्य बड़े उपयोगी सहकारी पड़ते हैं। इनके निमित्त से भिन्न २ भावनाओं को भाता हुआ गृहस्थ पूजा करके भावों की निर्मलता प्राप्त कर सकता है। जब वह जलादि चढ़ाता है तब यह भावना करता है कि जन्म जरा मरण रोग के निवारण हेतु जल चढ़ाता हूं, भव के आताप को दूर करने के लिये चन्दन चढ़ाता हूं। अक्षय गुणों की प्राप्ति के लिये अक्षत चढ़ाता हूं इत्यादि। पूजा करने के प्रारम्भ में जो भाव में भक्ति-भाव थोड़ा होता है वह सामग्री चढ़ाकर व देर तक पूजा में जुड़ जाने से बहुत बढ़ जाता है। यद्यपि परिणामों के पलटने के लिये व भावों को विशुद्ध करने के लिये बाहरी वस्तु निमित्त कारण है तथापि आपका दर्शन तो यही है कि प्रधान हेतु अंतरंग कारण है। इसलिये मुनियों को जल चन्दनादि सामग्री के बिना भी यह शक्ति है कि वे आपकी भक्ति कर सकें। क्योंकि उनका मन अन्य कार्य में—धनादि व परिग्रहादि की चिन्ता में नहीं रहता है। वे तो निरन्तर ध्यानाशक्त हैं। उनके लिये तो एकान्तवास, परिग्रह त्याग व तीव्र वैराग्य का सामान यही सब बाहरी निमित्त हैं जिनसे उनका परिणाम श्री जिनेन्द्र की भक्ति में तल्लीन हो जाता है। उनके लिये द्रव्य पूजा की जरूरत नहीं है परन्तु गृहस्थों को इसलिये जरूरत है कि उनके लिये अनेक उल्टे पाप रूप आकर्षण हैं जिनसे बचने के लिये बाहरी सामग्री आदि का निमित्त भावों के बढ़ाने में प्रबल

विमित्त कारण है। श्री जिनेन्द्र का दर्शन भिन्न २ अपेक्षा से ही कहा गया व समझा गया परम कल्याणकारी होता है।

आत्मानुशासन में श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं—

परिणाममेवकारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः। तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

भावार्थ—परिणाम को ही मुख्यता से पुण्य तथा पाप बंध का कारण आचार्यों ने कहा है इसलिये पाप भाव का नाश व पुण्य भाव का लाभ करना उचित है।

छन्द।

वस्तु बाह्य है निमित्त पुण्य पाप भाव का, है सहाय मूलभूत अन्तरग भाव का।
वर्तता स्वभाव में उसे सहायकार है, मात्र अन्तरंग हेतु कर्म बंधकार है ॥५९॥

उत्थानिका—यह सब भिन्न २ अपेक्षा से कथन जैन मत में ही घटता है ऐसा कहते हैं—

बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवाऽन्यथा मोक्ष-विधिश्च पुंसां, तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

अन्वयार्थ—(ते) आपके मत में [इयं] यह [बाह्येतरोपाधिसमग्रता] बाहरी और अंतरंग कारण की पूर्णता [कार्येषु] कार्यों के सम्पादन करने में (द्रव्यगतः स्वभावः) द्रव्य में प्राप्त हुआ स्वभाव है [पुंसां] संसारी जीवों के लिये [मोक्षविधिः च] मोक्ष का उपाय भी [अन्यथा नैव] बाहरी और अन्तरंग दोनों साधनों के सिवाय अन्य रूप से नहीं हो सकता। [तेन] इसीलिये [त्वं] आप [ऋषिः] परम ऋद्धि से सम्पन्न परम प्रभु [प्रधानाम्] गणधर देव आदि बुद्धिमानों के लिये [अभिवन्द्यः] नमस्कार करने के योग्य हैं।

भावार्थ—श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे वासुपूज्य भगवान्! आपने यथार्थ वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा बताया है इसीलिये गणधरदेव आदि बड़े २ महान साधु व विद्वान आपको ही मन, वचन, काय से नमस्कार करते हैं।

आपने यह बहुत ही यथार्थ बताया है कि हरएक द्रव्य से कार्य तब ही बन

सकता है जब बाहरी व अन्तरंग कारण हों अर्थात् जब निमित्त व उपादान दोनों कारणों की पूर्णता हो । यही हर एक द्रव्य के द्वारा काम होने का वस्तु स्वभाव है । मिट्टी में घट बनने की शक्ति है, मिट्टी घट के लिये उपादान या अन्तरंग कारण है तब चाक आदि बाहरी सहायकों की पूर्णता निमित्त कारण है । दोनों कारणों के बिना घट नहीं बन सकता है । कपड़ा शुद्ध करना है, उपादान कारण स्वयं कपड़ा है, निमित्त कारण मसाला व मलने वाला है । दोनों कारण होने पर ही कपड़ा स्वच्छ होगा । कपड़े में उजले होने की शक्ति है तब ही निमित्त कारण मदद दे देता है । कोयले में उजले होने की शक्ति नहीं हैं । इसलिये उनके लिये बाहरी मसाला निरर्थक होगा । तथा बाहरी मसाला न हो मात्र मैला कपड़ा हो तो भी वह कपड़ा साफ नहीं हो सकता है । उपादान व निमित्त के बिना कोई परिणमन या पर्याय या काम हो ही नहीं सकता, इसलिये तो आपके जैन सिद्धान्त में यह बताया है कि जीव व पुद्गलों के मुख्य चार कार्यों में चार मुख्य द्रव्य सहकारी कारण हैं । उनके हलन चलन में धर्म द्रव्य, उनकी स्थिति में अधर्म द्रव्य, उनके अवकाश पाने में आकाश द्रव्य, उनके पर्याय पलटने में काल द्रव्य निमित्त हैं ।

जब ऐसा नियम है कि दो कारणों के बिना कार्य नहीं होता है तब मोक्षप्राप्ति के लिये भी दोनों ही कारणों की आवश्यकता है सो ही आपने बताया है कि अन्तरंग कारण तो परिणाम हैं, शुद्ध भाव है, उनकी प्राप्ति के लिए वे सर्व कारण निमित्त हैं जो शुद्ध भाव में साधक हैं अर्थात् शुद्ध भाव में बाधक परिग्रह व आरम्भ की चिन्ता है व इन्द्रिय विषय का सम्बन्ध है व गृहस्थ का वास है । इसीलिये आपने बताया है कि जो सर्व परिग्रह त्यागकर व एकान्तवासकर चिन्ता छोड़कर वैराग्य के निमित्तों में रहकर अभ्यास करेगा उस ही के कर्म संहारक शुक्लध्यान उत्पन्न होगा । गृहस्थों के लिये भाव शुद्धि में निमित्त कारण श्री जिनेन्द्र की मूर्ति का दर्शन व अष्टद्रव्य से पूजन बड़ा भारी प्रबल निमित्त कारण है । जब भक्ति का निमित्त गृहस्थी मिलाएगा और साथ में अपने भावों को जोड़ेगा तो उसे अवश्य शुद्धभाव या यथासंभव विशुद्धभाव की प्राप्ति होगी । वीतराग सर्वज्ञ की पूजा एक ज्ञानवान भक्त के हृदय में वीतरागता मिश्रित शुभभाव को उत्पन्न करती है । इसी से जितने अंश वीतरागता होती है उतने अंश कर्मों की निर्जरा हो जाती है । जितने अंश शुभ रागभाव होता है उतने अंश महान पुण्य का बंध हो जाता है । अतएव अपने भावों की शुद्धि के लिये निमित्त कारणों का सम्बन्ध अवश्य मिलाना

योग्य है। यह आपका यथार्थ मत निर्बाध सिद्ध होता है। जो सिद्धान्त एकान्त हैं उनके मत में उपादान व निमित्त कारणों की सार्थकता नहीं बनती है, किन्तु अनेकान्त में ही बनती है। यदि वस्तु को मात्र भावरूप ही माना जाय तो उसकी पर्याय जो पहले अभावरूप थी वह न उत्पन्न होनी चाहिये। यदि सर्वथा अभावरूप माना जाय तो शून्यता का प्रसंग आता है किन्तु भावाभावरूप मानने से ही काम चलता है कि द्रव्य की अपेक्षा वस्तु सदा से भावरूप है, पर्याय के बदलनेकी अपेक्षा या अन्य द्रव्यों की अपेक्षा वस्तु अभाव रूप है। वस्तु को सर्वथा नित्य मानने से भी कार्य नहीं हो सकता, सर्वथा अनित्य मानने से भी नहीं हो सकता। जो दर्शन वस्तु को उभय रूप मानता है वहीं कार्य हो सकता है। द्रव्य का स्थिर रहते हुए पर्याय का पलटना ही कार्य है। द्रव्य जब नित्य हुआ तब पर्याय अनित्य हुई। जीव नित्य है, तब ही वह संसारी से सिद्ध हो सकता है तथा संसार अवस्था अनित्य है तब ही वह बदलकर सिद्ध अवस्था हो जाती है। इस तरह पदार्थ को जो अनेक धर्मरूप मानता है ऐसा जो हे वासुपूज्य भगवान ! आपका सिद्धान्त है उसी में द्रव्य का यथार्थ स्वभाव कथित है व उसी में ही मोक्ष का मार्ग बन सकता है, अतएव आप ही बुद्धिमानों के द्वारा वन्दनीय हैं।

ऐसा ही स्वामी ने आप्तमीमांसा में दिखलाया है---

पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभाव: फलं कुतः। बंधमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायक॥४०॥

भावार्थ---जिनके आप स्वामी नहीं हैं अर्थात् जो अनेकान्त को न मानकर मात्र एकांत को ही मानते हैं उनके मत में पुण्य बन्ध करने वाली व पाप बंध करानेवाली क्रिया नहीं हो सकती है। जब क्रिया नहीं हो सकती तब उसका फल परलोक व सुख व दुःख नहीं बन सकता है, न वहां कर्मों का बंध सिद्ध होगा न वहां मोक्ष होगा; क्योंकि सर्वथा नित्य मानने से वस्तु में परिवर्तन तो होगा ही नहीं तब ये सब कार्य न बनेंगे। यदि सर्वथा अनित्य मानेंगे तब भी कुछ कार्य न होगा। जो पाप करेगा वह तो नाश ही हो जायगा तब फल कौन भोगेगा ? इत्यादि ।

छन्द

बाह्य अंतरंग हेतु पूर्णता लहाय है। कार्यसिद्ध तहां होय द्रव्यशक्ति पाय है ॥
और भांति मोक्षमार्ग होय ना भवीनिको। आपही सुवंदनीक हो गुणी ऋषीनको ॥६०॥

(१३) श्री विमलनाथ स्तुतिः

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया, मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः,परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ।। ६१ ।।

अन्वयार्थ—(यः एव नित्यक्षणिकादयः नयाः) जो यह नित्य अनित्य सत् असत् आदि एकांतरूप दृष्टियें हैं वे (मिथोऽनपेक्षाः) परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा न रखती हुई अर्थात् सर्वथा एकान्त व स्वतन्त्र रहती हुई (स्वपरप्रणाशिनः) अपने को व दूसरों को नाश करने वाली हैं। अथवा न कहने वाले का भला करने वाली हैं न समझने वाले का भला करने वाली हैं। परन्तु (ते मुनेः विमलस्य) आप प्रत्यक्षज्ञानी व सर्व दोषरहित विमलनाथ भगवान के दर्शन में (ते एव) वे ही नित्य अनित्य आदि दृष्टियें (परस्परेक्षाः) एक दूसरे की अपेक्षा रखती हुई (स्वपरोपकारिणः) अपना व दूसरों का उपकार करती हुई (तत्त्वं) तत्व स्वरूप या यथार्थ हैं।

भावार्थ--यहां यह बताया है कि दुर्नय मिथ्या होते हैं व सुनय सत्य होते हैं। नय उसे ही कहते हैं जो किसी अपेक्षा से वस्तु के एक स्वभाव को झलकावे तब ही उसमें अन्य स्वभाव हैं इसका सर्वथा निषेध न करे। जैसे यह कहा कि "स्यात् नित्यं" इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी अपेक्षा से वस्तु नित्य है तब अन्य अपेक्षा से अन्य रूप भी है। हरएक नय का कथन अपेक्षा सहित होता है। यदि सर्वथा ही एकांत से नयवाद को स्वतन्त्र मान लिया जावे अर्थात् सर्वथा नित्य ही वस्तु है अथवा सर्वथा अनित्य ही वस्तु है, तब न नित्य की सिद्धि है और न अनित्य की सिद्धि है, दोनों का ही नाश है; क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही एक ही नित्य व अनित्यरूप है। जो वस्तु को नित्य ही मान लेते हैं उनका भी नाश ही होगा; क्योंकि वे संसार से मुक्त नहीं हो सकते। तथा जो अनित्य ही मानते हैं उनका भी नाश होगा; क्योंकि वे रहेंगे ही नहीं। तथा जिनको वे ऐसा उपदेश करते हैं उनका भी बिगाड़ ही होगा। परन्तु हे विमलनाथ भगवान! आपका सिद्धांत ऐसा प्रौढ़ है कि उसके अनुसार नयों का स्वरूप मानने से सबका कल्याण होता है। हरएक नय दूसरे नय की अपेक्षा रखता है। जहां नित्यपना है वहां अनित्यपना अवश्य है। नित्य अनित्य की अपेक्षा रखता है अनित्य नित्य की अपेक्षा रखता है। ये दोनों सर्वथा स्वतन्त्र बन ही नहीं सकते। क्योंकि दोनों ही विरोधी धर्म को रखने वाले पदार्थ हैं। पर्याय की पलटने की अपेक्षा

वस्तु अनित्य है ऐसा मान लेने से नित्य व अनित्य दोनों धर्मों की सत्ता सिद्ध होती है। अपेक्षा न मानो व सर्वथा नित्य ही मानो या सर्वथा अनित्य ही मानो तो दोनों ही स्वभावों का खण्डन होजाता है। परन्तु अपेक्षा सहित मानने से दोनों ही धर्म बाधा रहित टिकते हैं। तथा जो भिन्न २ अपेक्षा से दोनों धर्म मानते हैं उनका भी हित होता है। वे स्वयं मोक्षमार्ग साधन कर सकते हैं तथा जिनको समझाया जाता है वे भी ठीक समझकर अपना हित कर सकते हैं। इसलिये विमलनाथ ! आपका ही तत्त्व मल रहित निर्दोष है। इसी बात को स्वामी ने आप्तमीमांसा में बताया है--

> अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तुद्वयहेतुतः। तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥
> सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथक् द्रव्यादिभेदतः। भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥

भावार्थ--एकत्व व अनेकत्व ये दो स्वभाव परस्पर अपेक्षा बिना सिद्ध नहीं हो सकते, दोनों ही वस्तु-धर्म न रहेंगे यदि सर्वथा माने जावे। क्योंकि वस्तु सामान्य विशेष रूप है। यदि विशेष नहीं है तो सामान्य कहां रहेगा और यदि सामान्य नहीं है तो विशेष कहां रहेगा। आम के वृक्ष में वृक्षपना सामान्य आम की विशेषता सहित है, इसी तरह आम की विशेषता में वृक्षपना सामान्य है। एक ही वस्तु समान धर्म रखने से सामान्य है वही विशेष धर्म रखने से विशेष है। हरएक द्रव्य सदा बना रहता है यही उसकी सत्ता सामान्य है तथा हरएक द्रव्य पर्याय सहित या विशेष सहित होता है यही उसका भिन्न २ पना व अनेकपना या विशेषपना है, जैसे साधन साध्य आदि से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। सत्ता की समानता सर्व विश्व में होने से सर्व विश्व एकरूप है,वही द्रव्य की गुण की पर्याय की भिन्नता से अनेकरूप है। जैसे जो असाधारण साधन होता है वह साध्य से भेदरूप भी है व अभेदरूप भी है। जीव उपयोग लक्षण है। यहां उपयोग साधन जीव में ही मिलता है इसलिए अभेद है। परन्तु नाम व लक्षण की अपेक्षा भेद है। जीव में उपयोग के सिवाय और भी गुण हैं,उपयोग उनमें से एक गुण है। इसलिए परस्पर अपेक्षा सहित भिन्न२ नय परम हितकारी हैं। अन्यथा भ्रमरूप है, कुतत्व हैं, कार्यकारी नहीं है—अनेकान्त स्वरूप सिद्धान्त ही हितकारी है।

भुजङ्गप्रयात छन्द

नित्यत्व अनित्यत्व नयवाद सारा, अपेक्षा बिना आपपर नाशकारा।
अपेक्षा सहित है स्वपर कार्यकारी, विमलनाथ तुम तत्त्व ही अर्थकारी ।।

उत्थानिका—यदि नित्यपना अनित्यपना की अपेक्षा रखेगा व अनित्यपना नित्यपने की अपेक्षा करेगा तब सर्व नय सर्व की अपेक्षा करेंगे। तब अमुक नय के द्वारा समझने योग्य पदार्थ अमुक है इस अवस्था का लोप हो जायगा। उसका समाधान करते हैं—

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये, समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम् ।
तथैव सामान्यविशेषमातृका, नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (एकशः कारकम) एक एक कारण उपादान कारण या सहकारी कारण (अर्थसिद्धये) किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए (शेषं स्वसहायकारकम समीक्ष्य) अपने सिवाय दूसरे को अपना सहकारी कारण की अपेक्षा मानके वर्तता है। अर्थात् उपादान कारण को अपने योग्य सहकारी कारणों की व सहकारी कारणों को अपने योग्य उपादान कारण की आवश्यकता है (तथैव) वैसे ही (सामान्यविशेषमातृका नयाः) सामान्य धर्म तथा विशेष धर्म को प्रगट करने वाले नय भी (गुणमुख्यकल्पतः) एकको मुख्य दूसरे को गौण कहने की अपेक्षा से (तव इष्टा) आपके मत में माननीय हैं।

भावार्थ—शिष्य की शंका का समाधान यह है कि जहां जिस वस्तु में जो धर्म सम्भव है उन्हीं को बताने वाले नय हैं। नयों की प्रवृत्ति बिना नियम के स्वच्छन्द नहीं होती है। यहां दृष्टान्त दिया है कि हरएक कार्य की उन्नति के लिये उपादान व निमित्त दो कारणों की आवश्यकता होती है। मात्र एक अकेले से काम नहीं हो सकता है। यदि मात्र सुवर्ण ही हो और सहायक कारण न हो तो भी कड़ा कुण्डल आदि नहीं बन सकता और जो मात्र सहायक कारण मसाला व शस्त्र आदि हों परन्तु उपादान कारण सुवर्ण न हो तब भी सुवर्ण का कड़ा कुण्डल नहीं बन सकता है। इसलिये उपादान को निमित्त की व निमित्त को उपादान की जरूरत है। जैसे यह व्यवस्था नियमित है वैसे ही नयों का कथन है। वस्तु में सामान्य धर्म द्रव्य की अपेक्षा से है वही विशेष धर्म पर्याय की अपेक्षा से है, वस्तु तो सामान्य विशेषात्मक है। एक को मुख्य दूसरे को गौण करके समझाया जाता है तबही नय की आवश्यकता पड़ती है। दोनों धर्मों को एक साथ न कहा जा सकता न समझाया जा सकता है। जब सामान्य को समझाते तब विशेष गौण हो जाता है। जब विशेष को समझाते तब सामान्य गौण हो जाता है। वस्तु जैसी नियमरूप स्वभाव से है वैसा ही बतलाना नयों का काम है। ऐसा आपका सिद्धान्त हे विमलनाथ भगवान! परम हितकारी है। ऐसा ही स्वामी ने आप्तमीमांसा में बताया है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकांततास्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुनोऽर्थकृत् ॥१०८॥

भावार्थ—नित्य अनित्य आदि अनेक धर्म यदि मिथ्या हों तो मिथ्या धर्मों का समूह भी मिथ्या हो। परन्तु आपके मतमें मिथ्यैकांतता का दोष नहीं होता है; क्योंकि जो नयों का कथन बिना अपेक्षा हो तो मिथ्यामई एकांत का दोष आवे। अर्थात् तब ही वस्तु एकांशी ही सर्वथा सिद्ध हो,जो कि बात असत्य है,परन्तु यदि नयों का कथन अपेक्षा सहित हो तो वह बिलकुल वस्तु स्वरूप है व यथार्थ है तथा वे नय अवश्य प्रयोजन भूत हैं। अर्थात् अनेक स्वभावमई पदार्थ को सिद्ध करने वाले हैं। स्यात् शब्द का प्रयोग न हो या कथंचित् का भाव न हो और सर्वथा सामान्य रूप ही या सर्वथा विशेष रूप ही पदार्थ को माना जाय तो सर्व ही कथन मिथ्या होजावे। क्योंकि वस्तु तो सामान्य विशेषरूप है।

भुजङ्गप्रयात छन्द

यथा एक कारण नहीं कार्य करता, सहायक उपादान से कार्य सरता।
तथा नय कथन मुख्य गौण करत हैं, विशेष वा सामान्य सिद्धी करत है॥

उत्थानिका—यहां कोई शंका करते हैं कि सामान्य व विशेष धर्मों की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है तब नय किस तरह उन धर्मों को बताने वाले होंगे? उसी का समाधान करते हैं—

परस्परेक्षाऽन्वयभेदलिङ्गतः, प्रसिद्ध-सामान्यविशेषयोस्तव।
समग्रताऽस्ति स्व-परावभासकं, यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि-लक्षणम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(तव) आपके मतमें (परस्परेक्षाऽन्वयभेदलिङ्गतः) परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से जो सामान्य तथा विशेष का ज्ञान होता है इसी से ही (प्रसिद्धसामान्य-विशेषयोः) भले प्रकार सिद्ध होने वाले सामान्य तथा विशेष धर्मों की (समग्रता) पूर्णता या वर्तमानता एक वस्तु में (अस्ति) है (यथा) जैसे [भुवि] इस जगत में [बुद्धिलक्षणम्] ज्ञानस्वरूप [प्रमाणं] जो प्रमाण है वह [स्वपरावभासकं] अपने और पर को दोनों को झलकाने वाला है।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि हरएक वस्तु में सामान्य तथा विशेष दोनों ही स्वभाव एक ही समय में विद्यमान हैं। यह बात ज्ञान से सिद्ध होती है। जब हम यह जानते

हैं कि यह वही है जो पहले थी तब तो इस अभेदपने के ज्ञान से यह वस्तु सामान्य है, वही है, द्रव्यरूप दूसरी नहीं है ऐसा सिद्ध होता है। और जब हम यह जानते हैं कि यह दूसरी दशा में दिखती है, इसकी पर्याय पहले कुछ और थी अब कुछ और हो गई है. तब इस भेदपने के ज्ञान से यह सिद्ध होता है कि यह वस्तु विशेषरूप है, पर्याय स्वरूप है। इस तरह सामान्य तथा विशेष दोनों ही स्वभाव एक ही वस्तु में हरएक समय सिद्ध होते हैं परन्तु ये दोनो धर्म एक दूसरे की अपेक्षा से ही कहे जाते हैं। अर्थात् जहां सामान्य धर्म होगा वहां विशेष की अपेक्षा रहेगी, जहां विशेष होगा वहां सामान्य की अपेक्षा रहेगी। इन दोनों धर्मों के परम मैत्री है, कभी पदार्थ से अलग हो ही नहीं सकते। यह वस्तुस्वभाव है। 'गुण-पर्ययवत् द्रव्यं' द्रव्य का गुण व पर्यायपना स्वभाव ही है–गुण सहभावी रहता है इसलिये सामान्य है। पर्याय क्रमवर्ती होती है इसलिये विशेष है। दोनों में से एक को न मानेंगे तो वस्तु की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। दोनों धर्मों का एक जगह रहना विरोधरूप नहीं है। जैसे हमारे ज्ञान में जब कोई मतिज्ञान झलकता है अर्थात् घटज्ञान व पटज्ञान होता है तब यही अनुभव होता है कि मैं घट को जानता हूं। अर्थात् वह मतिज्ञान अपने को भी जान रहा है और पर को भी जान रहा है। अर्थात् हरएक प्रमाणज्ञान स्व और पर दोनों को प्रकाश करने वाला होता है। प्रमाण का लक्षण ही परीक्षामुख में यही कहा है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं।

वही प्रमाण है जो ज्ञान अपने को और अपूर्व व अनिश्चित पदार्थ को भी निश्चित करे।

जैसे दीपक स्वपर-प्रकाशक है वैसे ज्ञान भी स्वपर-प्रकाशक है। जैसे ज्ञान में स्व और पर दोनों को जानने की शक्ति एक साथ रह सकती है,विरोध नहीं आता है,वैसे हरएक वस्तु में सामान्य तथा विशेष धर्म रहते हैं, विरोध नहीं आता।

पंचाध्यायी में कहा है—

स विभक्तो द्विविधः स्यात् सामान्यात्मा विशेषरूपश्च।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात् स्वभावोऽथ गुणो हि परभावः॥ ३८॥

भावार्थ—पदार्थ दो प्रकार का है–सामान्य तथा विशेषरूप, उनमें से जिसको कहने की मुख्यता होगी वह मुख्य हो जायगा। और जिसकी अपेक्षा न होगी वह भाव गौण हो जायगा।

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत्।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यै रुच्यते विशेषश्च ॥ २८२ ॥

भावार्थ——वही सत् पदार्थ सत्ता की सामान्यता से बिना भेद के एकरूप ही सदा झलकता है, उसी में जब द्रव्य गुण पर्याय आदि के भेद किये जाते हैं तब वही विशेषरूप कहा जाता है। वस्तु सामान्य विशेषरूप भिन्न २ अपेक्षा से है और वैसा ही उसका स्वरूप झलकता है।

अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्ष का नयाः सम्यक।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥ ५९० ॥

भावार्थ—नय बिना अपेक्षा के मिथ्या होते हैं वे ही अपेक्षा सहित सत्य होते हैं। वस्तु में सामान्य और विशेष का अविनाभावीपना है। जहां सामान्य धर्म है वहां विशेष है जहां विशेष है वहां सामान्य है। उन दोनों की सिद्धि भिन्न २ अपेक्षा से होती है।

भुजङ्गप्रयात छन्द

हरएक वस्तु सामान्य और विशेषं अपेक्षा कृत भेद अभेद सुलेखं।
यथा ज्ञान जगमें वही है प्रमाण, लखे एकदम आपपर तुम बखानं ॥ ६३ ॥

उत्थानिका——शिष्य शङ्का करता है कि विशेष्य तथा विशेषण किसे कहते हैं। आचार्य समाधान करते हैं——

विशेष-वाच्यस्य विशेषणं वचो, यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते,विवक्षितान्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥

अन्वयार्थ——यहां यह बताते हैं कि वस्तु में सामान्य तथा विशेष दो धर्म मौजूद हैं। जब सामान्य वाच्य होगा तब विशेष धर्म उसका विशेषण होगा। जब विशेष वाच्य होगा तब सामान्य विशेषण होगा। दोनों का रहना एक वस्तु में अवश्य होगा। (यतः यत् विशेष्यं च विनियम्यते) जिससे जिस विशेष्य का नियम किया जाता है वह (वचः) वचन (विशेष्यवाच्यस्य) विशेष्य जो वाच्य है अर्थात् जिसको खास करके बताना है उसका (विशेषणं) विशेषण होता है। (तयोः च सामान्यं अतिप्रसज्यते) विशेषण तथा विशेष्य

दोनों में ही सामान्यपने का अति प्रसङ्ग आ जायगा, तो उसका उत्तर यह है कि नहीं आयगा (स्यात् इति विवक्षितात्) स्यात् या कथंचित् की अपेक्षा से (अन्यवर्जनम्) दूसरे अविवक्षित् अर्थात् जिसको कहने की अपेक्षा नहीं है उसका निषेध हो जायगा [ते] यह आपका मत है।

भावार्थ—यहां पर दृष्टान्त से समझना चाहिये कि जैसे हमने सर्प को देखा और कहा कि यह सांप है, तब यह वचन और पदार्थों से सर्प को भिन्न करता है व अपना ज्ञान कराता है। तब औरों से भिन्न करने वाला जो भाव वह तो विशेष हुआ। तथा सर्पपना सांप में सामान्य है। बहुत से सर्प भी सर्प होते हैं, इसलिये यहां सर्पपना विशेषण रहा। अर्थात् सर्प में दूसरे पदार्थों की भिन्नता है। इसलिये विशेषपना है व सर्पपना बहुत से सर्पों में है इसलिये सामान्यपना है। दोनों ही धर्म मौजूद हैं। यहां कहने वाले का मतलब इस वाक्य में कि 'सर्प है' यह था कि वह सर्प की जाति विशेष को बतावे कि यह सर्प है और कुछ नहीं है। इसलिए यह विशेष हुआ। तब ही उसमें सामान्यपना भी है, क्योंकि सर्प अनेक होते हैं। यहां सामान्य विशेषण हुआ और विशेष्य विशेष हुआ। और जैसे हमने कहा कि यह सर्प काला है। यहां उसी सर्प में कालापन बताया है और सफेद आदिपना नहीं बताया है,इसलिए कालापना विशेष हुआ तथा सर्प सामान्य विशेषण हुआ कि सर्पोंमें से यह सर्प काला है। जहां कालापन विशेष है वहां सर्पपना सामान्य भी है। परन्तु कहने वाले के मत में कालापना विशेष्य को बताना है। तब सर्पपना सामान्य उसका विशेषण होगया कि कालापन वह जो इस सांप में है यह अभिप्राय कहने वाले का है। यहां फिर कोई कहेगा कि जो विशेष है वही सामान्य होगया व जो सामान्य था वह विशेष होगया तो उसका समाधान यह है कि कहने वाले की जो अपेक्षा होती है उससे कोई विरोध नहीं आ सकता, वह अपने वचनों से ही जिसे वह कहना चाहता है नियमित कर देता है। स्यात् शब्द इसलिए लगाया जाता है कि जिस अपेक्षा से कहा जाय उसी अपेक्षा से समझा जाय। यह सर्प काला है इसमें स्यात् शब्द लगा हुआ है कि यह सर्प काला है इस अपेक्षा से कि इसका बाहरी दिखने वाला अङ्ग काला है, इसके दांत भी काले ही हैं यह अभिप्राय नहीं होता है। वह सर्प सर्वथा काला है यह मतलब नहीं है। प्रयोजन कहने का यही है कि अनेकांत मत में निर्बाध सर्व वचन सिद्ध हो सकते हैं, एकान्त मत में नहीं हो सकते। जो वस्तु को सर्वथा सामान्य मानेंगे उनके मतमें व जो सर्वथा विशेष मानेंगे उनके मतमें कथन बनेगा ही नहीं—हरएक वस्तु सामान्य व विशेषरूप है। दोनों सामान्य तथा विशेष धर्म वस्तु में हैं ऐसा मानने से ही ठीक वस्तु समझ में आयगी। जब हमने कहा कि जीव है। यहां जीवपना बताना विशेष्य है कि यह जीव है अन्य कोई नहीं है। तब इससे यह

भी प्रगट है कि जीवपना जीवों में सामान्य धर्म है। अर्थात् जीव में जीवपना और अजीव पदार्थों की अपेक्षा विशेष है. परन्तु अन्य जीवों की अपेक्षा सामान्य है। अथवा जीव है इस वाक्य में अस्तित्वपना सामान्य है तथा जीवपना विशेष है। अर्थात् जगत में अनेक पदार्थों की सत्ता है। उनमें से जिसमें जीवपना है वह पदार्थ विशेष है। या हमने कहा कि यह जीव मानव है। इस वाक्य में मानवपना बताना विशेष है तब जीवपना सामान्य विशेषण है कि अनेक जीवों में यह जीव मनुष्य है। यहां भी स्यात् शब्द जुड़ा हुआ है चाहे कहें या न कहें। यह जीव मनुष्य है। यह वचन सर्वथा कहने से मिथ्या होगा,यह सदाकाल मनुष्य नहीं रहता है। परन्तु इस समय इसका शरीर मनुष्याकार है या यह मनुष्यपने की चेष्टा कर रहा है इसलिये यह मनुष्य है। यह जीव है यहां भी स्यात् शब्द है कि यह जीवपने की अपेक्षा से जीव है अजीवपने की अपेक्षा से नहीं है। इस तरह हरएक वाक्य किसी अपेक्षा से कहा जाता है, उस वाक्य में जिस किसी धर्म को मुख्य किया जाता है वह वाच्य होकर विशेष हो जाता है दूसरा धर्म जो उस वस्तु में है वह विशेषणरूप रहता है। वस्तु सामान्य विशेषरूप ही है ऐसा अभिप्राय अनेकान्त मत का है सो ही यहां प्रकट किया है।

स्वामी ने आप्तमीमांसा में भी वचन का यह लक्षण बताया है—

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरंकुशः। आह च स्वार्थसामान्यं,तादृग्वाच्यं खपुष्पवत् ॥१११॥

भावार्थ—वचन का स्वभाव यह है कि वह जिस कथन को मुख्य करना चाहता है उसको तो स्पष्ट कहता है और दूसरे भाव को जो उससे विरुद्ध हो उसको निराकरण करने में स्वच्छन्द रहता है। जैसे कहा कि घट है. इस वचन ने घट का अस्तित्व तो बताया तब यह पटादि नहीं है यह भी बताया। अर्थात् वचन स्व-वाच्य को बताता है पर-वाच्य का निषेध करता है. इसलिए वचन अनेकांत होता है। यदि कोई कहे कि वचन सामान्य को ही बताता है किसी विशेष को नहीं बताता है तो ऐसा कहना आकाश के पुष्प के समान होगा; क्योंकि विशेष के बिना सामान्य है ही नहीं न ऐसा वचन ही हो सकता है। पदार्थ सामान्य विशेषरूप हैं।

(नोट) इस श्लोक का भाव जैसा समझ में आया वैसा लिखा है भाव बहुत गम्भीर है, यदि कुछ अन्यथा समझा हो तो विद्वज्जन विचार करके व मूल श्लोक को व उसकी संस्कृत टीका को विचार करके ठीक करलें व मुझे क्षमा करें।

भुजगप्रयात छन्द।

वचन है विशेषण उसी वाच्य का हो, जिसे वह नियम से कहे अन्य नाही।
विशेषण विशेष्य न हो अति प्रसगं, जहां स्यात् पद हो न हो अन्य संगं॥

उत्थानिका—स्यात् शब्द का फल बताते हैं—

नयास्तव स्यात्पद-सत्य-लाञ्छिता, रसोपविद्धा इव लोह-धातवः।
भवन्त्यभिप्रेत-गुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणिता हितैषिणः।

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (तव) आपके द्वारा बताई हुई (स्यात्पदसत्य-लांछिताः नयाः) स्यात् पद मई सत्य लक्षण से चिह्नित जो नय हैं वे (रसोपविद्धाः लोहधातवः इव) रस से पूर्ण लोह धातु के समान (अभिप्रेतगुणाः भवंति) अभिप्राय को सिद्ध करनेवाली हैं (ततः) इसलिये (हितैषिणः आर्याः) आत्महितको चाहनेवाले गणधरादि देव (भवन्तं प्रणतः) आपको ही नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—जैसे लोहा रसादि से मिलने पर या रसादि द्वारा सिद्ध किये जाने पर सुवर्ण रूप हो जाता है वैसे आपके द्वारा हे विमलनाथ ! बताये हुए अनेक नय या भिन्न भिन्न अपेक्षा से हरएक धर्म का कथन मोक्षहितैषी जीव को मोक्ष साधन में पदार्थों का सत्यस्वरूप निर्णय कराने के लिये बड़ा ही उपयोगी पड़ता है। आपका नय द्वारा कथन इसीलिये उपयोगी है कि उसमें स्यात् पद का सत्य चिह्न लगा हुआ है। स्यात् पद बताता है कि वस्तु किसी अपेक्षा से इस रूप है, सर्वथा इस रूप नहीं है। यदि स्यात्पद नहीं होवे तो बिना अपेक्षा के यह नय प्राणी को मिथ्या व एकांतमार्ग बतानेवाला होकर उसका अहित ही करे। जैसे बिना रसादि के मिले लोहा लोहा ही रहेगा—कभी सोना नहीं बन सकता, वैसे बिना स्यात्पद के नयवाद मात्र वचन विलास ही रहेगा, कभी भी सत्य वस्तु के स्वरूप को नहीं बता सकता है। वस्तु का स्वरूप ही अनेकान्त है, उसी को द्योतित करनेवाला यह स्यात्पद है। इसको न लगाया जावे तो वस्तु एक धर्मरूप ही ठहरती है, जो वस्तु का स्वरूप नहीं है। जैसे वस्तु स्यात् नित्यं, वस्तु स्यात् अनित्यं, इन दो नयरूप वाक्यों ने यह सिद्ध कर दिया कि वस्तु द्रव्यार्थिकनय से नित्य है तब वही वस्तु पर्यायार्थिकनय से अनित्य है या सामान्य की अपेक्षा नित्य है, विशेष की अपेक्षा अनित्य है। यही वस्तु का स्वरूप है। यदि स्यात् को निकाल डालें और कहें कि वस्तु नित्य ही है

या अनित्य ही है। अर्थात् या तो यह कहें कि वस्तु सर्वथा नित्य ही है या यह कहें कि वस्तु अनित्य ही है तो दोनों ही एकान्त असत्य ठहरेंगे, क्योंकि ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु सदा बनी रहकर भी काम किया करती है—परिणमन किया करती है। इसलिये वह नित्य व अनित्य उभयस्वरूप है। हे विमलनाथ भगवान्! आप स्वयं विमल हैं, दोषरहित हैं, तब आपका कहा हुआ पर्याय का स्वरूप व उसके प्रतिपादन का स्याद्वादमय भाग दोनों ही परम माननीय, प्रमाणसिद्ध व आत्महितकारी हैं। जब हम अपने को नित्य मानेंगे तब ही मोक्ष का उपाय कर सकेंगे। उसी समय यदि हम संसार पर्याय का नाश मानेंगे तो ही हम इसके नाश का उपाय कर सकेंगे। मोक्ष अवस्था में भी हम सदा बने रहेंगे। हम नित्य रहेंगे ऐसा मानेंगे तब ही हम मोक्ष का उपाय करेंगे। तथा हम मोक्ष में भी अकार्यकारी न होंगे। हम वहां नित्य अपने स्वभाव पर्याय में परिणमन करते रहकर नवीन २ अद्भुत आत्मानन्द का भोग करेंगे, अर्थात् स्वभाव पर्याय की अपेक्षा अनित्य रहेंगे तब ही हम मोक्ष पाना हितकर समझेंगे। इस तरह यथार्थ वस्तु स्वभाव के समझ लेने से ही मोक्ष का प्रयत्न बन सकेगा व हम मोक्ष पा सकेंगे। इसलिये आपके द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादनय का सिद्धान्त परम कल्याणरूप है ऐसा ही समझकर बड़े २ महान ऋषि आपको ही मन वचन काय से सदा नमस्कार करते हैं।

स्याद्वाद ही अनेकान्त साधक है ऐसा आप्तमीमांसा में भी कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किं वृत्तचिद्विधिः। सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

भावार्थ—यह स्याद्वाद ही सर्वथा एकान्त को हटानेवाला है कि भिन्न २ अपेक्षा से वस्तु को बतानेवाला है। यही सात प्रकार से कहा जाता है इसी से हेय उपादेय का ज्ञान होता है। यही मुख्य गौण कथन से सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग करनेवाला है।

भुजङ्गप्रयात छन्द।

यथा लोह रसबद्ध हो कार्यकारी, तथा स्यात् सुचिह्नित सुनय कार्यकारी।
कहा आपने सत्य वस्तु स्वरूपं, मुमुक्षू भविक वन्दते आप रूपं ॥६५॥

(१४) अथ अनन्तनाथ स्तुतिः ।

अनन्तदोषाऽऽशयविग्रहो ग्रहो, विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता, त्वया ततो भूर्भगवाननन्तजित् ।।

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (त्वया) आपने (चिरं) अनादिकाल से (हृदि) अन्तःकरण में (विषंगवान्) सम्बन्ध किये हुये व (अनन्तदोपाशयविग्रहः) अनन्त राग, द्वेष, मोह आदि दोषों के अभिप्राय को रखनेवाले चित्तरूपी शरीरधारी (मोहमयः ग्रहः) मिथ्यात्वमई पिशाच को (तत्त्वरुचौ प्रसीदता) तत्त्व रुचि में या सम्यग्दर्शन में प्रसन्नता के लाभ से (जितः) जीत लिया (ततः) इसीलिये (अनन्तजित् भगवान प्रभुः) आप अनन्त जो मिथ्यात्व उसको जीतनेवाले सच्चे अनन्तनाथ भगवान हो गये ।

भावार्थ—यहां भी कवि ने नाम द्वारा भाव प्रकाश करके श्री अनन्तनाथ १४ वें तीर्थंकर की स्तुति की है । जिसका अन्त न हो जो अनन्तकाल से चला आया हो उसे मिथ्यात्व कहते हैं । यह पिशाच के समान इस संसारी आत्मा के भीतर बैठा हुआ है । इसका नाम अनन्त इसलिये भी है कि अनन्त प्रकार की शक्ति को रखनेवाले अनेक तरह के रागद्वेष मोह भावों का प्रचार उस मिथ्यात्त्व के कारण होता है । यह पिशाच जब भीतर रहता है तब इन्द्रिय विषय व कषायों की पुष्टिपर ही दृष्टि रहती है, सांसारिक क्षणिक व अतृप्तिकारी सुख ही सुख भासता है, आत्मीक सच्चे सुख का पता ही नहीं होता । तब जैसे पिशाच गृसित प्राणी उन्मत्तवत् न करने योग्य चेष्टाएं करता है वैसे यह मोही जीव अन्याय मिथ्यात्व व अभक्ष्य सेवन में लिप्त रहता है । शरीर के भीतर मोह करके स्त्री पुत्रादि व सम्पत्ति के सम्बन्ध को ही अपना ऐश्वर्य मानता है । उनके वियोग से अपने को दरिद्री व दुःखी कल्पना करता है । रात दिन विषयभोग की तृष्णा में जलता रहता है । ढूंढ़ २ कर पांचों इन्द्रियों के विषयों को सेवने के लिये बारबार भागता है । जैसे मृग वन में पानी के लिये भ्रम से भटकता रहता है, परन्तु अपनी प्यास को शमन न करके उलटा बढ़ा लेता है और अन्त में तड़फ तड़फकर मर जाता है, इसी तरह यह मोही जीव विषय भोग की तृष्णा को विषय भोग करते हुए भी शमन नहीं करके उलटा बढ़ा लेता है, एक दिन मरण कर जाता है । तीव्र रागद्वेष मोह में

पाप कर्म बांधकर दुर्गति का लाभ करता है। वहां भी तृष्णा आताप से ही जलता हुआ जीवन विताता है। इस तरह अनन्तकाल से इस मिथ्यात्वरूपी पिशाच ने हे अनन्तनाथ! आपकी आत्मा को भी सता रखा था। परन्तु आप बड़े वीर थे, आपने सच्चे स्वपर तत्त्व को पहचाना, अपने आत्मा को मोह पिशाच से भिन्न जाना, और यह अनुभव कर लिया कि यह आत्मा तो अनन्तज्ञान सुख वीर्य का धनी स्वभाव से परमात्मा रूप ही है। इस स्वानुभव से आपने अपने भीतर जो आत्मिक आनन्द प्राप्त किया उसके वल से आपने इस मिथ्यात्व को जीत लिया। वास्तव में जब सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है तव उसके साथ ही स्वानुभव होता है। और तब ही आत्मिक आनन्द का अपूर्व स्वाद आता है। आपने तो उस मोह पिशाच को ऐसा भगा दिया और परम निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया कि फिर वह कभी आपके पास आ नहीं सकता। आप बहिरात्मा से महात्मा या अन्तरात्मा होगये, आपने अनन्त नामधारी मिथ्यात्व को जीत लिया। इसीलिये आप सच्चे अनन्तनाथ होगये।

पंचाध्यायी में कहा है—

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः। प्रशांते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ३८५ ॥

भावार्थ——दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जीव को मूर्छा रहा करती है तथा चित्त ठिकाने नहीं रहता है, तव भ्रम बुद्धि हो जाती है, सत्य को असत्य व असत्य को सत्य मानता रहता है। जब उस दर्शन मोह का क्षय हो जाता है तब मूर्छा का भी नाश हो जाता है और यह जीव अनन्तकाल से चले आए रोग से छूटकर निरोगी हो जाता है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः। सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥४०२॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के भीतर वह आत्मानुभव जो आत्मा का ही ज्ञान विशेष है सम्यक्त्व के साथ ही जागृत हो जाता है। इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। जहां सम्यक्त्व है वहीं आत्मानुभुति होगी, जहां आत्मानुभूति होगी वहीं सम्यक्त्व होगा। सम्यक्त्व के होते ही शुद्ध आत्मा का स्वाद आ जाता है। और तव उसको इन्द्रिय सुख की भावना मिट जाती है। जिसने यथार्थ सुख को पाया है वह क्षणिक इन्द्रिय सुख में सुखपने की बुद्धि कैसे कर सकता है?

तदत्यक्षसुखं मोहान् मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति । नृङ्मोहस्य तथा पाकः शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥४ ४

भावार्थ—उस अतीन्द्रिय आत्मीक सुख को मोह के कारण मिथ्यादृष्टी नहीं चाहता है, क्योंकि दर्शन मोह के पाक से ऐसी शक्ति ही नहीं पैदा होती है, वह तो वैषयिक सुख को ही मानता है,सम्यक्त्व के होते ही बुद्धि पलट जाती है ।

पद्धरी छन्द

चिर चितवासी मोही पिशाच, तन जिस अनन्त दोषादि राच ।
तुम जीत लिया निज रुचि प्रसाद, भगवन अनन्त जिन सत्य वाद ॥६६॥

उत्थानिका—उसको जीतकर फिर आपने क्या किया ?

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनाम-शेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथदुर्मदाऽऽमयं,समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—(भवान्) आपने (प्रमाथिनां) आत्मा के स्वभाव को कलुषित करने वाले ((कषायनाम्नां द्विषतां नाम) कषाय नाम वैरियों के नाम मात्र को [अशेषयत्] नाश कर डाला और साथ ही [विशोषणं] आत्मा को सुखाने वाले व संतापित करने वाले [मन्मथदुर्मदामय] कामदेव के खोटे मदरूपी रोग को [समाधिभैषज्यगुणैः] आत्मध्यान रूपी औषधि के गुणों से [व्यलीनयत्] शमन कर डाला–बिलकुल लोप कर डाला । इस तरह वीतरागी होकर आप [अशेषवित्] सर्वज्ञ परमात्मा होगए ।

भावार्थ—इस श्लोक में दिखलाया है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकरके आपने संतोष नहीं मान लिया । सम्यक्त्व होने के पीछे भी कामदेव का दर्प रहता है जिसके कारण लाचार होकर सम्यग्दृष्टी को भी ब्रह्मघाती अब्रह्म में फंसना पड़ता है । यह काम का दर्प आत्मा के शांत ब्रह्मभाव को सुखाता है–उसको अशांत कर देता है । तथा क्रोध मान माया लोभ ये चार वैसे भी पीछा नहीं छोड़ते । ये चारों वैरी आत्मभाव को सदा मैला करते हुए सम्यग्दृष्टी आत्मा को भी अपने स्वात्मानुभव में बाधक हो जाते हैं। उनके कारण सम्यक्त्वी को भी राज्यपाट करना पड़ता है । परिग्रह का संचय करना पड़ता है । अभिमानवश शत्रुओं को विजय करना पड़ता है । युद्ध के लिये भी उद्यत होना पड़ता है । लौकिक कार्य

में साधकों से राग करना पड़ता और बाधकों से द्वेष करना पड़ता है। इसीलिये तीर्थंकर सरीखे क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव भी जब तक काम-भावका तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम गृहस्थावस्था ही में रहकर आत्मध्यान के प्रताप से नहीं कर पाते तब तक दीर्घकाल तक भी गृहमें धर्म अर्थ व काम पुरुषार्थ को साधते। जब आत्मध्यान के प्रताप से अब्रह्म भाव को व गृह में फंसाने वाली कषाय को जीत लिया जाता है तब गृहस्थ का त्यागकर साधु का निर्ग्रन्थपद धारण किया जाता है जिससे कि कामभाव व कषायभाव के मूलक मोहनीय कर्म का जड़मूल से नाश किया जाय। गृहवास में वह उपाय पूर्णपने नहीं हो सकता। हे प्रभु ! आपने भी ऐसा ही किया। बहुत समय तक गृह में रहे, फिर नग्न दिगम्बर साधु होकर एकाग्र हो धर्मध्यान व शुक्लध्यान का ऐसा दृढ़ अभ्यास किया कि उस ध्यान की वह्नि से मोह का क्षय कर डाला। जब विषय कषाय भाव के उत्पन्न कराने वाली जड़ सर्वथा कट गई और आप क्षीणमोहगुणस्थान में एकत्ववितर्क शुक्लध्यान में लीन हुए फिर तो आपने एक अंतर्मुहूर्त की आंच से ही ज्ञानावरण,दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म को नाश कर डाला और एकदम से केवलज्ञानसूर्य का प्रकाश कर डाला। फिर तो आप सर्वज्ञ परमात्मा अरहन्त पूज्यनीक क्षुधातृषादि अठारह दोषरहित शरीर में रहते हुए भी अरहन्त परमात्मा होगए। धन्य हैं प्रभु ! आपने अपने पुरुषार्थ से ही आत्मा का कल्याण किया।

वास्तव में जब तक अपनी स्वाधीनता पूर्णपने को प्राप्त न हो तब तक पुरुषार्थी को पुरुषार्थ करना ही चाहिये। मात्र शत्रु के पहचानने से काम नहीं चलता, उसका जड़मूल से नाश करे बिना उससे रक्षा नहीं हो सकती। आप इसीलिये केवल श्रद्धावान होकर ही नहीं बैठे रहे किन्तु चारित्र का पुरुषार्थ जारी रक्खा तब ही आप सफल हुए। इसीलिये ही स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है कि सम्यक्त्व के पीछे भी चारित्र को पालना ही चाहिये। कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

भावार्थ—दर्शन मोहरूपी अन्धकार के चले जाने पर तथा सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाने पर व सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधुजन रागद्वेष को नाश करने के लिए चारित्र को पालते हैं। वही चारित्र पुरुषार्थ है। अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में कहा है कि—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वं ।
यत्तस्मादविचलन स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

भावार्थ—विपरीत अभिप्राय को हटाकर व भले प्रकार अपने आत्मस्वरूप का निश्चय कर जो अपने स्वरूप से चलायमान न होना अर्थात् उसी में स्थिर होना सो ही पुरुषार्थ की सिद्धि का अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

पद्धरी छन्द

कलमपकारी रिपु चव कषाय, मन्मथमद रोग जु तापदाय।
निज ध्यान औषधी गुण प्रयोग, नाशे हूवे सर्ववित् सयोग ॥ ६७ ॥

उत्थानिका—कामदेव के रोग होने पर भोगादि की इच्छा होना सम्भव है, तब निराकुल ध्यान कैसे किया जायगा और जब ध्यान निराकुल स्थिर न होगा तब काम-रोग का नाश कैसे हो सकेगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी,त्वया स्वतृष्णासरिदाऽऽर्य! शोषिता।
असंगघर्मार्कगभस्तितेजसा, परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(आर्य) हे साधु (त्वया) आपने (परिश्रमाम्बुः) खेदरूपी जल से भरी हुई व (भयवीचिमालिनी) भय की तरङ्गों की माला को रखने वाली ऐसी (स्वतृष्णा-सरित्) अपने भीतर जो तृष्णारूपी नदी थी उसको (असंगघर्मार्कगभस्तितेजसा) अन्तरङ्ग वहिरङ्ग सर्व परिग्रह का संन्यास रूप ज्येष्ठ आषाढ़ के सूर्य की किरणों के तेज से (शोषिता) सुखा डाला (ततः) इसी कारण से (तावकम) आपको (परं) उत्कृष्ट (निर्वृतिधाम) अनन्त ज्ञानादिरूप मोक्षमई तेज प्राप्त होगया।

भावार्थ—यहां यह वताया है कि इन्द्रिय विषयों की इच्छारूपी नदी या तृष्णारूपी नदी जो संसारी जीवों के भीतर वहा करती है उसमें खेदरूपी जल सदा भरा रहता है-जैसे खारी जल की भरी नदी का जल तृप्तकारी नहीं होता है, प्यास को बुझाता नहीं है, खेद को उत्पन्न करता है वैसे यह तृष्णा भोगों के भोगने से तृप्ति नहीं लाती है, उल्टा खेद व आकुलता को अधिक उत्पन्न कर देती है। इष्ट विषय की पुनः पुनः प्राप्ति का खेद रहता है, तथा वियोग होजाने पर खेद बढ़ता है, जब तक प्राप्त नहीं होता है आकुलता रहती है,

प्राप्त हुए पीछे फिर वियोग होने पर खेद होता है। भोगते २ तृष्णा बढ जाती है तब नए नए विषयों के लिए महान प्रयास करना पड़ता है। तृष्णा के वशीभूत हो घोर परिश्रम भी करना पड़ता है। अनेक प्रकार के आरम्भों में व देश परदेश में गमन में उपयुक्त होना पड़ता है इसीलिए कहा है कि जहां तृष्णा है वहां सदा ही परिश्रम है व खेद है व चिन्ता है तथा जैसे नदी में तरंगें उठा करती हैं वैसे तृष्णारूपी नदी में भय की तरंगें सदा रहती हैं। इष्ट पदार्थों को कोई बिगाड़े नहीं, कोई रोगादि न हो, मरण न हो, चोर चोरी न कर ले जाय, मरण के पीछे नरकादि न हो, कोई अकस्मात् न हो जाय इत्यादि इहलोक परलोकादि सात तरह के भय से निरन्तर अन्तरङ्ग पीड़ित रहता है। ऐसे खेद व भय से भरी हुई तृष्णारूपी नदी को अपने वीतरागमई तीव्र ध्यानरूपी तेज से सुखा डाला। जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ के मास में सूर्य की किरणें बहुत तेज होती हैं, उनसे बड़ी २ नदियों का जल सूख जाता है, इसी तरह अपने आत्मध्यानरूपी सूर्य की किरणों का तेज फैलाया जिससे तृष्णा को जला डाला। तृष्णा की उत्पत्ति का कारण परिग्रह है। इसलिये आपने संन्यास धारण करके अन्तरंग बहिरंग दोनों ही प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि नौ कषाय ये १४ प्रकार अन्तरंग परिग्रह व क्षेत्र मकान वस्त्रादि १० प्रकार बाहरी परिग्रह का त्याग कर दिया, सर्व पर-वस्तु से ममता हटाई। आत्मीक आनन्द का श्रद्धान किया। इन्द्रिय सुख दुःख रूप है ऐसी आस्था जमाई। अपने आत्मा के ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणों को ही अपना धन जाना। अपनी आत्मानुभूति तियाको ही रमने योग्य अपनी अर्द्धांगिनी माना। जगत में परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है ऐसा परम त्यागभाव धारण किया और एकान्त में निवासकर धर्मध्यान व शुक्लध्यान की उत्कृष्टता को पाकर तृष्णा के मूलभूत मोहनीय कर्म को और फिर ज्ञानवरणादि कर्म को संहार कर डाला और परम उत्कृष्ट केवलज्ञानादि का तेज प्राप्त कर लिया, जो तेज मोक्षावस्था में सदा ही बना रहता है। परिग्रह ही आकुलता का मूल है। आपने परिग्रह को त्यागकर ही ध्यान किया। इसीलिये निराकुल ध्यान के द्वारा तृष्णा का अंश मात्र भी बाकी नहीं रक्खा। ज्ञानार्णवजी में संग-त्याग को तृष्णा के जीतने के लिए आवश्यक बताया है-

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रंथिर्दृढ़ी भवेत्।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शांतये ॥ २० ॥

भावार्थ—परमाणु मात्र भी परिग्रह की मूर्छा से मोह की गांठ दृढ़ हो जाती है।

जब तृष्णा बढ़ती है तो उसकी शान्ति समस्त जगत के पदार्थों से भी नहीं हो सकती। इसलिए साधुपद में परिग्रह का त्याग आवश्यक कहा है।

सर्वसङ्गपरित्यागः कीर्त्यते श्रीजिनागमे ।
यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः ॥ २२ ॥

भावार्थ—श्री जिनागम में सर्व परिग्रह का त्याग बताया गया है। जो इससे विरुद्ध कहे कि परिग्रह सहित भी ध्यान की उत्तमता हो सकेगी वह हीन भाव वाला अपना व परका घात करने वाला है। इसलिये संयमी ऐसा होता है—

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा । सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः ॥२४॥

भावार्थ—जो संयमी परिग्रह त्यागी है वह चाहे निर्जन वनमें रहे चाहे जनसमुदाय में आवे व साता में रहे या असाता में रहे वह सर्वत्र मोह से बद्ध नहीं होता है। आपने परिग्रह का त्यागकर दिया इसीलिए आपने तृष्णा का विजय किया, यह अभिप्राय है।

पद्धरी छन्द

है खेद अम्बु भयगण तरंग, ऐसी सरिता तृष्णा असंग।
सोखी अभंग रविकर प्रताप, हो मोक्ष तेज जिनराज आप ॥ ६८ ॥

उत्थानिका—शङ्काकार कहता है कि भगवान की जो स्तुति करते हैं उनको वे लक्ष्मी देते हैं, जो निन्दा करते हैं उनको दरिद्रता देते हैं तब जिनराज में और फलदाता व कर्तारूप ईश्वर में क्या अन्तर रहा? उसका समाधान करते हैं—

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते, द्विषन् त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि, प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे जिनेन्द्र (त्वयि सुहृत्) आपमें जो भक्तिवान होता है अर्थात् परम प्रेम से जो आपके गुणों को स्मरण करता है वह (श्रीसुभगत्वम्) लक्ष्मी के वल्लभपने को अर्थात् अनेक ऐश्वर्य सम्पदा को (अश्नुते) प्राप्त करता है (त्वयि द्विषन्) व जो आपसे द्वेष करता है, आपकी निन्दा करता है ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव (प्रत्ययवत्) व्याकरण

के नियमानुसार प्रत्यय के लोप के समान (प्रलीयते) नाश को प्राप्त होजाता है—दुर्गति में दुःख उठाता है। (भवान्) आप तो (तयोः अपि) उन दोनों पर भी (उदासीनतमः) अत्यन्त ही उदासीन रहते हैं। आप तो जरा भी उन पर राग व द्वेष नहीं करते हैं (इदं तव इहितम्) यह आपकी चेष्टा [परं चित्र] बड़ी ही आश्चर्यकारी है ।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि वीतराग सर्वज्ञ भगवान अपने आत्मीक आनन्द में मगन रहते हैं, उनका आत्मा स्वरूप की स्थिति से किंचित् भी विचलित नहीं होता है। जगत में अनेक भव्यजीव तो आपकी बड़ी ही भक्ति करते हैं-खूब पूजा करते हैं और यह देखने में आता है कि वे लक्ष्मीवान व ऐश्वर्यवान हो जाते हैं तथा जो कोई अज्ञानी आपको नहीं पहचानते हैं वे आपकी निन्दा भी करते है उनको जगत में क्लेश हुआ ऐसा जानने में आता है। आप तो भक्त पर प्रसन्न होते नहीं, निन्दा करने वाले पर अप्रसन्न होते नहीं फिर यह क्या कारण है जो गुणानुवाद गाते हैं वे सुखी होते हैं व जो निन्दा करते हैं वे दुःखी होते हैं। इसका मर्म यह है जैसाकि श्री जिनेन्द्र भगवान ने बताया है। अपने अपने भावों के अनुसार संसारी जीव पुण्य तथा पाप बांधते हैं। जब भक्तिरूप शुभोपयोग होता है तब पुण्यकर्म का मुख्यता से बन्ध होता है, जब सच्चे धर्म व धर्म के नायक व धर्म के आदर्श से द्वेष होता है तब परिणाम में अशुभोपयोग हो जाता है—उससे पाप का बंध होता है। यह वैज्ञानिक नियम है कि जब गर्मी होगी तब पानी का भाप अवश्य वन जायगा। वैसे ही जब जीव के भीतर अशुद्ध भाव होंगे तब कर्म का बंध अवश्य होगा, चाहे कोई चाहे या न चाहे। इसी तरह जब कर्मों का उदय बाहरी निमित्तों के अनुकूल आता है तब सुख व दुःख की सामग्री का सम्बन्ध प्राप्त हो जाता है। इसी तरह जैसे भोजन व औषधि व रोगिष्ट पदार्थ उदर में स्वयं पक करके निरोगता व सरोगता का फल दिखलाते हैं या मादक पदार्थ भीतर जाकर ध्यान को बावला कर देते हैं इसी तरह कर्म स्वयं पककर उदय आते हैं तब सुख तथा दुःख मोहके कारणसे अनुभवमें आता है। यह वस्तुका स्वभाव है। खेती करनेसे स्वयं पकती है,पाप पुण्य बंधनेके पीछे स्वयं पककर फल दिखलाते हैं। इसतरह संसारीजीव आपही कर्ता तथा भोक्ता होरहे हैं। भगवान जिनेन्द्र पूर्ण वीतराग हैं। वे न किसीको सुख देते हैं न दुःख देते हैं तथापि उनकी भक्ति करनेसे हम अपना परम लाभ उठा लेते हैं। प्रभु मात्र उदासीन रहते हैं,हम उनको अपनी सेवा के कार्य में निमित्त मान लेते हैं तथा वे बड़े भारी प्रबल निमित्त हो जाते हैं जिससे हम परम पुण्य का बंध करलेते हैं। उसीके फल से यहां व परलोक में ऐश्वर्य का लाभ करते हैं। कोई ईश्वर परमात्मा हमको सुख तथा दुःख नहीं

देता है। ऐसा यदि मानोगे कि कोई ईश्वर सुख देता है तो वह ईश्वर बड़ा प्रपंची हो जायगा तथा वह रागद्वेषी होकर संसारी आत्मा के समान हो जायगा। सो जो कोई वीतराग नित्यानन्दमई परमात्मा होता है वह बिलकुल समभाव में रहता है। कोई प्रशंसा करो तो प्रसन्न नहीं होता, कोई निन्दा करो तो अप्रसन्न नहीं होता। आप तो ऐसे ही परम उदासीन परमात्मा हैं। तथापि हम तो अपना हित आपसे कर ही लेते हैं। यही एक आश्चर्यकारी बात बाहर से मालूम पड़ती है परन्तु वस्तु स्वभाव की अपेक्षा से यह एक साधारण नियम है। जैसे शास्त्र पढ़के हम स्वयं ज्ञान करलेते हैं वैसे जिनेन्द्र की पूजन करके व उनकी स्तुति करके हम स्वयं पुण्य बांधकर या वीतराग आत्मीक भाव बढ़ाकर अपना परम हित कर लेते हैं।

श्री नागसेन मुनि ने तत्त्वानुशासन में कहा है—

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः। अनन्तशक्तिरात्मा यं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये। तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥ १९७॥

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्वपुर्धृतिः। यत्प्रशस्तमिहान्यच्च तत्तद् ध्यातुः प्रजायते ॥ १९८ ॥

भावार्थ—जो पुरुष उपदेश पाकर समाधान चित्त हो आत्मा का ध्यान करते हैं उनको यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा मुक्ति व भुक्ति दोनों देता है। अरहन्त या सिद्ध का स्वरूप ध्यान में लेकर जो ध्यान करते हैं, यदि वे तद्भव मोक्षगामी हुए तो वे कर्म काट कर मोक्ष चले जाते हैं और यदि ऐसे न हुए तो महान पुण्य अपने विशुद्ध भावों से बांध लेते हैं जिससे उनको जगत के भीतर इन्द्र व चक्रवर्ती आदि के भोग प्राप्त हो जाते हैं। जो सच्चे प्रेम से ध्यान करते हैं उनके ज्ञान की वृद्धि होती है। उनको पुण्य के बंध होने से आगामी लक्ष्मी, दीर्घ आयु, आरोग्य, संतोष, बलवानपना, शरीर सुन्दरता, धैर्य व और भी जो जो अच्छी २ वस्तुयें हैं सो सब मिल जाती हैं। परिणामों की अपूर्व महिमा है। यह जीव अपने ही परिणामों से अपना बुरा कर लेता है व अपने परिणामों से अपना भला कर लेता है-परपदार्थ मात्र निमित्त कारण है—

पद्धरी छन्द

तुम प्रेम करें वे धन महंत, तुम द्वेष करें हों नाशवन्त।
तुम दोनों पर हो वीतराग, तुम भारत हो अद्भुत सुहाग ॥ ६९ ॥

उत्थानिका—यदि भगवान उदासीन होकर भी स्तुति किये जाने पर स्तुतिकर्त्ता को विशेष फल प्राप्ति में कारण हैं तब हम क्या भगवान का महात्म्य वर्णन कर सकते हैं।

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम, प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने !
अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि, शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ॥७०॥

अन्वयार्थ—(महामुने !) हे महामुनि (त्वम् ईदृशः तादृशः) आप ऐसे हैं वैसे हैं (इति अयं) यह जो कुछ (अल्पमतेः मम प्रलापलेशः) मुझ अल्प बुद्धि का कथन है वह (अशेषमाहात्म्यम) आपके सम्पूर्ण महात्म्य को (अनीरयन् अपि) न कह सकता हुआ (अमृतांबुधेः संस्पर्श इव) अमृतमई समुद्र के स्पर्श मात्र से जैसे सुख होता है वैसे (शिवाय) मोक्ष सुख देने में निमित्त है।

भावार्थ—जैसे अमृत से भरे हुए समुद्र के स्पर्शन मात्र ही से प्राणी को सुख होता है उसमें अवगाहन होने की तो बात ही क्या है, उसी तरह मैं अल्प बुद्धि हूं, आपके सर्वगुणों का यथावत् ज्ञान करने को असमर्थ हूँ तोभी जो कुछ मैं टूटे फूटे शब्दों में आपके गुणानुवाद का एक अंश मात्र करता हूं उससे तो मेरा कल्याण ही होगा। यह मैं उसी तरह प्रतीति रखता हूं। क्योंकि आपने ही बताया है कि मुख्य श्रद्धा व रुचि है। मैं तुच्छ ज्ञानी होकर आपमें जो अपनी गाढ़ श्रद्धा रखता हूं कि आप ही सच्चे पूज्य परमात्मा हैं, आप ही वीतराग सर्वज्ञ हैं, आप परम उदासीन हैं तथापि जो आपकी श्रद्धा करते हैं उनके परिणाम निर्मल हो जाते हैं ऐसा जानकर मैं आपकी भक्ति में लगा हुआ हूं। मुझे विश्वास है कि हे महामुनि ! आपकी भक्ति मोक्षमार्ग में प्रेरित करनेवाली है, आपकी भक्ति संसार समुद्र में तारने के लिये नौका के समान है। आपकी भक्ति भक्तवंत को तुर्त ही आनन्द को देनेवाली है। आपकी भक्ति आत्मा में अपूर्व साहस बढ़ानेवाली है। आपकी भक्ति पाप के मैल को काटनेवाली है। इस तरह विश्वास करके मैं आपकी भक्ति करता हूं। वास्तव में आप तो गुण के समुद्र हैं, आपकी महिमा तो वचन अगोचर है। जो आपके समान ही प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं वे ही आपकी महिमा को जान सकते हैं या चार ज्ञान के धारी गणधर मुनि कुछ एक अंश मात्र पता पा सकते हैं। मैं तो अल्पमति व श्रुतज्ञान का धारी हूं। मैं कैसे आपके गुणों का अंश भी समझ सकता हूं ? ज्ञान न होते हुए भी मुझे विश्वास है कि आपकी स्तुति मेरे आत्मा के लिये परम सुखदाई होगी।

भावार्थ—यहां धर्मनाथ भगवान का अर्हंतपद में तीर्थङ्करपने का महात्म्य प्रगट किया है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा मेघ पटलादि से व राहु के विमान आदि से किसी तरह आच्छादित न होता हुआ तथा चारों तरफ अनेक नक्षत्र व तारागणों से वेढ़ा हुआ आकाश में अद्‌भुत रमणीक शोभा को फैलाता है, उसी तरह हे भगवन्! आप इन्द्र द्वारा निर्मित समवसरण के भीतर पूर्ण ज्ञान और शान्ति के समुद्र अद्‌भुत चन्द्रमा प्रकाशमान होते हुए, आपके चारों तरफ बारह सभाएं लगी हैं उनमें देवतागण व अनेक मानवगण भव्यजीव बैठे हुए व आपकी तरफ ध्यान लगाए हुए वास्तव में नक्षत्र व तारागणों की उपमा विस्तार रहे हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी इन चार प्रकार देवों की बहुत ही सुन्दर देवियां चार सभाओं में विराजित हैं। अन्य चार सभाओं में ये ही चार तरह के देव रत्नमई मुकुटों को दैदिप्यमान करते हुए तिष्ठे हैं। एक सभा में साधुगण अपनी वैराग्यमई मुद्रा से शान्ति का सागर विस्तार रहे हैं। एक सभा में सर्व आर्यिका एवं श्राविकाएँ बड़ी ही भक्ति व विनय से मौन बैठी हुई भगवान की वाणी के सुनने की प्रतीक्षा कर रही हैं। एक सभा में सर्व मनुष्य भव्य जीव अपने जन्म को कृतार्थ मानते व बारबार श्री जिनेन्द्र का शान्त मुख अवलोकन करते हुए विराजित हैं। एकसभा में सिंह, व्याघ्र, हिरण, बैल, गाय, मोर, तोते, काग, हाथी, मुरगे, घोड़े, बकरे, ऊँट, सर्प आदि पन्चेंद्रिय सैनी पशु अपनी अशुभ तिर्यंच गति से रक्षा पाने के लिये व भगवान का दर्शन करके अपना नीचपना टलता जानते हुए बड़े ही निर्वैर भाव से एकचित्त हो काष्ठ की बनी मूर्तियों के समान निश्चल तिष्ठ रहे हैं। मुख्य साधु श्री गणधर देव तो आपके निकट ही हैं। इस तरह की शोभा आप ऐसे तीर्थङ्करों की भक्ति में ही इन्द्र करता है। आपही के द्वारा अद्‌भुत ऐसी वाणी प्रगट होती है जिसको सर्व पशु पक्षी, मानव, देव अपनी २ भाषा में समझ जाते हैं। ऐसे पूर्ण परमात्मा धर्मरूपी चन्द्रमा का दर्शन हमको सदा लाभ हो। ऐसी भावना स्वामी समन्तभद्रजी ने की है। पात्र केशरी स्तोत्र में कहा है—

सुरेन्द्रपरिकल्पितं वृहदनर्घ्यसिंहासनं। तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोलसच्चामरम्॥
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता। न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते॥६॥

भावार्थ—इन्द्र ने जो समवसरण की रचना की है उसमें आपके विराजने का महान व अमूल्य सिंहासन अद्‌भुत शोभा दे रहा है, भवाताप निवारण से रक्षा करने के चिह्न रूप तीन छत्र खूब दैदीप्यमान हैं, चौसठ चमर देवों द्वारा ढ़रते हुए मानो निर्मल

गंगा नदी ही आपकी सेवा दोनों तरफ से कर रही है। आपने तीन लोक के प्राणियों को वशमें कर लिया है, वे सब बड़े २ पुरुष व नारियां आपके पास आकर एकत्र होगये हैं। इतनी सामग्री का संगम होते हुए आप पूर्ण तरह से वीतराग हैं—असंग हैं। क्या ही उपमा रहित अपूर्व उदासीनता है! परिग्रह और अपरिग्रह दोनों का संग अन्य किसी साधु में नहीं हो सकता परन्तु यह आपकी ही आश्चर्यकारी महिमा है जो दोनों ही बातें एक साथ चमक रही हैं।

सृग्विणी छन्द।

देव मानव भविकवृन्दसे सेवितं, बुद्ध गणधर प्रपूजित महाशोभितं।
जिस तरह चन्द्रमा नभ सुनिर्मल लसे, तारका वेष्ठित शांतिमय हुलसे। ७२।

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि सिंहासनादि विभूति के होते हुये आपके वीतरागता कैसे हो सकती है व आप हरिहरादि से विशेष क्यों हैं इसी का समाधान करते हैं—

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुरः ॥७३॥

अन्वयार्थ—[भवान्] आप [प्रातिहार्यविभवैः] सिंहासनादि आठ प्रातिहार्यों की विभूति से [परिष्कृतः] शृंगारित हो तथापि [देहतः अपि] शरीर से भी आप [विरतः अभूत्] विरक्त हो। आप [नरामरान्] मानव व देवों को [मोक्षमार्गम्] रत्नत्रयमई मोक्ष मार्ग का [अशिषन् अपि] उपदेश करते हुये भी [शासनफलैषणातुरः न] अपने उपदेश के फल की इच्छा से जरा भी आतुर न हुए।

भावार्थ—सिंहासन, छत्र, चमर, शरीर प्रभा मण्डल, दुन्दुभि बाजों का बजना, पुष्पों की वृष्टि होना, अशोक वृक्ष का निकट होना तथा दिव्यध्वनि का प्रकाश इन आठ प्रातिहार्यों से आप शोभायमान हैं तथापि आपका राग इन पदार्थों में नहीं है। क्योंकि आपने मोह कर्म का तो बिलकुल क्षय कर डाला है, आप तो पूर्ण वीतराग हैं। आपको अपने शरीर ही का कुछ राग नहीं है। तब और पर कैसे हो सकता है? यह आपकी अद्भुत वीतरागता है। इन्द्र अपनी भक्ति से समवसरण की रचना करता है। आपको

उससे कोई प्रयोजन नहीं है और परिग्रह का सम्बन्ध तबही होता है जब राग सहित भाव हो। सो आपके असम्भव है। आपकी सारी चेष्टा ही इच्छा रहित भव्य जीवों के पुण्य उदय की प्रेरणा से व आपके शरीरादि नामकर्म के उदय से होती रहती है। आपका विहार होता है। वाणी का प्रकाश होता है। तथापि आपके कुछ भी राग नहीं होता है। आपकी वाणी से सच्चा मोक्षमार्ग भी प्रकाशित होता है। तथापि आपके भीतर यह चिंता व आकुलता व अभिमान नहीं होता है कि हमारे उपदेश से कोई भव्यजीव सुधरें। आपको न उपदेश देने की इच्छा है न उपदेश के फल पाने की इच्छा है। आपतो परम वीतराग हैं। बहुधा अल्पज्ञानी उपदेशकगण उपदेशदेकर तुर्त यह चाहते हैं कि इसका कुछ फल हुआ या नहीं। यदि कोई तुर्त फल न हुआ तो उपदेश देना निरर्थक समझ बन्द कर देते हैं। यह बड़ी भूल है। जैसे किसान खेत में पानी सींचता है,बीज बोता है,यह भी जानताहै,विश्वास रखता है कि फल समय पाकर अवश्य लगेंगे। यदि अन्तराय का उदय न हुआ। उसीतरह दाताको साम्यभाव से सच्चा धर्मोपदेश देना चाहिये। तुर्त फल की आशासे आतुर न होना चाहिये। जैसे बीज यदि पृथ्वी में जमेगा और विघ्न बाधाओं से बचेगा तो अवश्य फलदाई होगा,इसी तरह यदि उपदेश श्रोताओं के दिलोंमें जमेगा और उनका तीव्र मिथ्यात्व कषाय बाधक न होगा तो वे अवश्य सफल होंगे, मोक्षमार्ग को पाकर अपना हित करेंगे। साम्यभाव से उपदेश यथार्थ करना ही वक्ता का उद्देश्य है। फल के लिए कभी आकुलित न होना चाहिये।

आप्तस्वरूप में कहा है—

केवलज्ञानबोधेन बुद्धवान् स जगत् त्रयम्। अनन्तज्ञानसंकीर्णं तं तु बुद्धं नमाम्यहम्॥३६॥

भावार्थ—जिसने केवलज्ञान रूपी बोध से तीन जगत के प्राणियों को ज्ञान प्रदान किया है उस अनन्तज्ञान से परिपूर्ण बुद्ध आप्त को नमस्कार करता हूं।

सृग्विनी छन्द

प्रातिहारज विभव आपके राजती। देह से भी नहीं रागता छाजती॥
देव मानव सुहित मोक्षमग कह दिया। होय शासनफलं यह न चितमें दिया॥७३॥

उत्थानिका—यदि आप शासन के फल से आतुर न भए तो आपने किसलिये विहारादि किया उसका समाधान करते हैं—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ।। ७४ ।।

अन्वयार्थ—(तव मुनेः) आप प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं । आपकी (कायवाक्यमनसः प्रवृत्तयः) मन, वचन, काय को प्रवृत्तियां (चिकीर्षया) आपकी करने की इच्छापूर्वक (न अभवन्) नहीं हुई (न) (भवतः प्रवृत्तयः) आपकी चेष्टायें (असमीक्ष्य) अज्ञान पूर्वक हुई । (धीर) हे धीर ! [तावकम् ईहितम् अचिन्तम्] आपकी क्रिया का चितवन नहीं हो सकता, आपका कार्य अचिन्त्य है ।

भावार्थ--तीर्थङ्कर भगवान के मोहका सर्वथा नाश होगया है इसलिए उनके आत्मा रूपी समुद्र को रागद्वेष की कल्लोलें आघात नहीं पहुंचा सकती है, किंचित् इच्छा नहीं हो सकती है । तो भी अरहन्त अवस्था में जो मन वचन काय के योगों का हलन चलन होता है वह कर्मों के उदय का कारण है । आपके स्वयं तीर्थङ्कर नाम कर्म का, विहायोगति नाम कर्म का, स्वर नाम कर्म का, शरीर नाम कर्म का उदय है; इन कर्मों की अन्तरङ्ग प्रेरणा से और बाहर में भव्यजीवों के पुण्य के उदय की प्रेरणा से आपका विहार होता है व आपका उपदेश होता है । तथा द्रव्य मन का परिणमन होता है । भाव मन जो सकल्प विकल्प रूप है वह आपके पास बिलकुल नहीं है, क्योंकि मतिज्ञान व श्रुतज्ञान का भी अभाव है, मन द्वारा विचार करने की जरूरत नहीं है । जब वहां केवल केवलज्ञान सूर्य का प्रकाश है तब अल्पज्ञान की कोई जरूरत नहीं है । हरएक कार्य के होने में या तो कर्मों का उदय मात्र कारण होता है या उसके साथ पुरुष की इच्छा भी कारण होती है । आपके इच्छा होना तो असम्भव है । परन्तु चार अघातीय कर्मों का उदय विद्यमान है जो बराबर अपना काम कर रहे हैं। नाम कर्म के कारण से ही मन, वचन काय के योगों का हलन चलन होता है । आयु कर्म से शरीर में स्थिति है । गोत्रकर्मसे उच्चपना प्रगट है । वेदनीय कर्म से समवसरणादि विभूति का संयोग है । प्रायः देखा जाता है कि हरएक मानव में मन वचन काय की प्रवृत्तियें बिना इच्छा के भी हो जाती हैं । एक मानव मनमें संकल्प करके बैठा है कि मैं सामयिक करूंगा तथापि बिना चाहे अनेक विचार मनमें उठ जाते हैं । रात्रि को सोते २ वचन निकल जाते हैं । बड़बड़ाना हो जाता तथा बिना चाहे श्वास चला करता है । शरीर में भोजन का पाचन होता है रस, रुधिर, मांस, वीर्य आदि बनता है। इन्द्रियों में पुष्टता हो जाती या बिना चाहे रोगादिक हो जाते हैं । केश काले से सफेद हो

जाते हैं। जिधर जाने की नित्यप्रति आदत हो उधर बिना चाहे भी गमन हो जाता है। रात्रि दिन अनगिनती शरीर की क्रियायें हमारी बिना इच्छा के हो जाती हैं। इसी तरह पुद्गल की शक्तिसे अनेक क्रियायें बिनाकेवली भगवानके होजाती हैं। सर्वज्ञके भीतर त्रिकाल व त्रिलोक का ज्ञान है, इसलिए अज्ञानपूर्वक कोई क्रिया नहीं होती। वे सब जानते हैं क्या होरहा है, परन्तु उन क्रियाओं के करने की पहले इच्छा करें, फिर क्रिया हो,यह क्रम अनतबल धारी केवली में आवश्यक नहीं है। हम अल्पज्ञानी अल्पबली हैं, हमारे विचार में तीर्थङ्कर को महिमा नहीं आ सकती है। तो भी तीर्थङ्कर की प्रवृत्ति कर्मों के उदय होने के कारण असम्भव नहीं है, यह पूर्णपने निश्चित है।

तीर्थंकर का स्वरूप अनगारधर्मामृत में पं० आशाधर भी कहते हैं—

यो जन्मान्तरतत्त्वभावनभुवा बोधेन बुद्ध्वा स्वयं।
श्रेयो मार्गमपास्य घातिदुरितं साक्षादशेषं विदन्॥
सद्यस्तीर्थकरत्वपवित्रमगिरा कामं निरीहो जगत्।
तत्त्वं शास्ति शिवार्थिभिः स भगवानाप्तोत्तमः सेव्यताम्॥१५।२

भावार्थ—जिसने पूर्वजन्म के आत्मतत्त्व की भावना के द्वारा होने वाले ज्ञान से स्वयं मोक्षमार्ग को जाना और ध्यान के बल से सर्व घातिया कर्मों का नाश करके साक्षात् सर्व पदार्थों को जान लिया और तीर्थंकर नाम विशेष पुण्यकर्म के उदय से प्रगट हुए अपनी वाणी के द्वारा बिना इच्छा के ही जगत को सच्चे तत्त्व का उपदेश किया वही भगवान सर्व से श्रेष्ठ आप्त परमात्मा है। मोक्षार्थियों को उनही की सेवा करनी उचित है।

सृग्विणी छन्द

आपकी मन वचन कायकी सब क्रिया। होय इच्छा बिना कर्मकृत यह क्रिया।
हे मुने ज्ञान बिन हैं न तेरी क्रिया। चित नहीं करसकै भान अद्भुत किया॥ ७४॥

उत्थानिका—जैसे दूसरे मनुष्यों की काय आदि की प्रवृत्ति इच्छा पूर्वक देखी जाती है वैसे भगवान के भी होनी चाहिये,ऐसा कहने वाले का समाधान करते हैं—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमाऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः॥ ७५॥

अन्वयार्थ–[यतः] क्योंकि आपने [मानुषीं प्रकृतिं] साधारण मनुष्य के स्वभाव को [अभ्यतीतवान्] उल्लंघन कर लिया है। तथा [देवतासु अपि] जगत के सब देवों में भी आप पूज्य हैं [नाथ] हे नाथ! (तेज) इस कारण से आप (परम देवता असि) सर्वोत्कृष्ट देव हैं (जिनवृष) हे धर्मनाथ जिनेन्द्र! (श्रेयसे) मोक्ष के लिये (नः प्रसीद) हम लोगों पर प्रसन्न हूजिये।

भावार्थ–यहां यह बताया है कि हे श्री धर्मनाथ भगवान! आप साधारण मनुष्य नहीं रहे, आप तो परमात्म पद में होगए, आपकी क्रिया साधारण मानवों से नहीं मिल सकती है। साधारण मानव मति, श्रुतज्ञानी व अल्पबली, इन्द्रिय द्वारा काम करने वाले, दिनरात इच्छावान् कषाय ग्रसित होते हैं। आप पूर्ण केवलज्ञानी हो, अनन्तबली हो, अतीन्द्रिय ज्ञान से काम करने वाले हो, दिनरात इच्छा रहित हो, कषाय को चूर्ण करके परम वीतराग हो। आप तो योगियों के भी ईश्वर हो। बड़े-बड़े योगी आत्मध्यान के बल से अनेक ऋद्धि सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। आत्मध्यान की ऐसी ही कोई अपूर्व महिमा है। तब आपमें यदि इच्छा बिना आपके योग द्वारा कुछ क्रियायें हों व आप साधारण मानवों के समान बिना भोजनपान किये व निद्रा लिए सदा ही जागृत रहें व स्वरूप मस्त रहे तो इसमें कोई अर्थ नहीं है। आपके लाभांतराय कर्मका नाश होगया है इसलिए आपके शरीर को पुष्टिकारक आहारक वर्गणा का नित्य आपके शरीर में प्रवेश होती है जिससे आपके शरीर की स्थिति रहती है। आप अनन्त बली हैं, आपको यह निर्बलता कभी मालूम नहीं हो सकती है कि हम भूखे हैं। आप स्वरूप में सन्मुख होरहे हैं इसलिये आप ग्रास चलाकर खाने का उपयोग ही नहीं कर सकते हैं। न भिक्षावृत्ति करके साधु के समान गोचरी को जा सकते हैं। इन हीन क्रियाओं की आपके लिए कोई जरूरत नहीं है। आप जब बारहवें गुणस्थान में थे तब ही शरीर के धातु उपधातु बदलकर शुद्ध स्फटिक समान व कर्पूर के समान होगए व आपका शरीर इतना हलका होगया कि सदा ही आकाश में अन्तरीक्ष रहता है। उसको आधार की जरूरत नहीं है। आपको महिमा योगियों से भी अगाध है। जगत में चार प्रकार के देव हैं वे सबही आपको पूजते हैं। आप तो मनुष्यों की बात क्या देवताओं से भी अधिक हैं। आपमें देवताओं के समान भी कभी भूख प्यास नहीं लगती है, न आपके कण्ठ में अमृत झरने से तृप्ति होती है। फिर सब देवता चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से अधिक नहीं पा सकते, आप तो तेरहवें सयोग केवली जिन गुणस्थान में है। देवताओं का मरण होता है, आप तो जन्म मरण को जीत चुके हैं, आप तो मोक्षरूप हैं। इसलिए आप

नाराच छन्द ।

परम प्रताप धर जु शांतिनाथ राज्य बहु किया । महान शत्रु को विनाश सर्व जन सुखी किया ॥
यतीश पद महान धार दया मूर्ति बन गए । आप ही से आपके कुपाप सब शमन भए ॥७६॥

उत्थानिका—भगवान ने राज्य अवस्था में जैसी विजय की वैसी ही विजय साधु पद में की, ऐसा कहते हैं ।

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण, जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय, महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥७७॥

अन्वयार्थ—(यः नृपः) जिस महाराज ने (शत्रुभयंकरेण चक्रेण) शत्रुओं को भयदाई चक्र के प्रताप से (सर्व-नरेन्द्रचक्रम्) सर्व राजाओं के समूह को (जित्वा) जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था (पुनः) पश्चात् साधुपद में (समाधिचक्रेण) आत्मध्यान रूपी चक्र से (दुर्जयमोहचक्रम्) जिसका जीतना कठिन है ऐसे मोह के चक्र को (जिगाय) जीत करके (महोदयः) महानपने को प्राप्त किया ।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि जो लौकिक कार्यों में वीर होता है वही परमार्थ में भी वीर होता है । श्री शांतिनाथ ने भरतक्षेत्र की छः खण्ड पृथ्वी सुदर्शन चक्र रूपी दिव्य शस्त्र के प्रभाव से वश की और चक्रवर्ती पद का निःकंटक राज्य किया । बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं पर अपना आधिपत्य जमाया था । वही सम्राट जब वैराग्यवान हुए तब साधुपद में प्रमाद भाव त्यागकर निश्चल हो ऐसा एकाग्र आत्मध्यान किया कि जिसके प्रताप से अनादिकाल से चले आए हुए व संसार में जीव को भ्रमण का मूल कारण ऐसे मोह रूपी शत्रु का संहार कर डाला । प्रभु क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए और दसवें गुणस्थान के अन्त में मोह का एक परमाणु भी अपने साथ शेष नहीं रखा । मोह का नाश होते ही और कर्मों की सेना तुर्त जीत ली जाती है । एक अन्तर्मुहूर्त क्षीण मोह नाम बारहवें गुणस्थान में विश्राम करके प्रभु के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का भी एक साथ क्षय कर डाला और तेरहवें सयोग केवली जिन गुणस्थान में पहुंच कर परमात्मा हो गए । वास्तव में वीतराग विज्ञानमय ध्यान में अपूर्व शक्ति है । बड़े २ पाप ध्यान से गल जाते हैं । इस ध्यान में वह शक्ति है जो अन्तर्मुहूर्त तक लगातार हो जावे तो उतनी ही देर में यह जीव केवलज्ञानी हो सकता है ।

तत्त्वानुशासन में कहा है—

ध्यातोर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगाय मुक्तये । तद् ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ।।१९७।।

भावार्थ—अर्हंत व सिद्ध रूप से अपने आत्म का ध्यान करे और वह तद्भव मोक्ष-गामी हो तो वह ध्यान मुक्ति देता है नहीं तो उस ध्यान के होते हुए जो महान पुण्य बन्ध होता है उससे दूसरे भव्य जीव को अनेक भोगों की प्राप्ति होती है ।

नाराच छन्द ।

परम विशालचक्रते जु सर्व शत्रु भयकरं, नरेन्द्र के समूह को सुजीत चक्रधर वरं ।
हुए यतीश आत्मध्यान चक्र को चलाइया । अजेय मोह नाश के महाविराग पाइया ।।७७।।

उत्थानिका—सराग व वीतराग अवस्था में भगवान् ने कौनसी लक्ष्मी पाई सो कहते हैं—

राजश्रिया राजसु राजसिंहो, रराज यो राजसुभोगतन्त्रः ।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो, देवाऽसुरोदारसभे रराज ।।७८।।

अन्वयार्थ—[यः राजसिंहः] जो परम प्रतापशाली राजसिंह [राजसुभोगतन्त्रः] राजाओं के महा मनोहर भोगों के भोगने में स्वाधीन होते हुए [राजसु] राजाओं के मध्य में [राजश्रिया] चक्रवर्ती पदों की लक्ष्मी से (रराज) शोभते हुए (पुनः) फिर जब आपने मोह नाश करके केवलज्ञान पाया तब (आत्मतंत्रः) अपने स्वरूप में मगन होते हुए आप (देवासुरोदारसभे) सुर असुरों की बड़ी सभा के भीतर, (अर्हन्त्यलक्ष्म्या) अर्हन्त-पद की लक्ष्मी से (रराज) शोभते हुए ।

भावार्थ—यहां पर भी शांतिनाथ भगवान की वीरता को झलकाया है कि स्वामी जब चक्रवर्ती पद में थे तब आप नौनिधि, चौदह रत्न के स्वामी थे । निःकंटक व पूर्ण स्वतंत्रता से न्याय पूर्वक पांच इन्द्रियों के भोगों को भोगते थे । उस समय राजाओं की सभा लगती थी तब बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा आपकी विनय करते हुए विराजते थे । उनके मध्य में आप सिंहासन छत्रादि राज्य विभूति के विराजित होते हुए बड़ी ही शोभा को विस्तारते थे । जब आपने अपने ध्यान रूपी सुदर्शन चक्र के प्रताप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय इन चार कर्मों का क्षय किया तब आप परम स्वाधीन

होगए। आपको आत्मीक आनन्द की विभूति के निरन्तर भोगने में कोई भी विघ्न नहीं बाकी रह गया, बस आप स्वतन्त्रता से आत्म रस के पान में नित्य ही मग्न होते भए। आपकी अद्‌भुत वीतरागता व केवलज्ञान महिमा से मोहित हो इन्द्रादिक देवों ने समवसरण की रचना की, उसमें सिंहासन छत्र चमरादि आठ प्रातिहार्य व अनेक शोभा तीर्थंकर पद की द्योतक रची। बारह सभाएं भी बनादी। अपूर्व शोभा से मोहित हो सर्व ही देव–कल्पवासी, भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी तथा अन्य मानव पशु सब ही बिना किसी भय व संकोच के आते भए और सभाओं में बैठते भए। उन सबके मध्य में आप अर्हंत-पद की लक्ष्मी से विभूषित हो अपूर्व शोभा विस्तारते हुए। वास्तव में अर्हंतपद की महिमा वचन अगोचर है। आप्तस्वरूप में कहा है—

शुद्धस्फटिकसंकाश स्फुरन्तं ज्ञानतेजसा। गणैर्द्वादशभिर्युक्तं ध्यायेदर्हन्तमक्षयं ॥५६॥
कल्याणातिशयैराढ्यो नवकेवललब्धिमान्। समस्थितो जिनो देवः प्रातिहार्यपतिः स्मृतः ॥५८॥

भावार्थ—जिसका शरीर शुद्ध स्फटिक के समान प्रकाशमान है, ज्ञान रूपी तेज जिनके भीतर झलक रहा है, जिनका आत्मा अविनाशी है, जो बारह सभाओं से युक्त हैं ऐसे अर्हंत का ध्यान करो, जो अनेक अतिशयों से विराजित है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्र इन नव केवल लब्धियों से विभूषित हैं, जो पूजनीय जिनेन्द्र देव प्रातिहार्य सहित समभाव में स्थित हैं, उनका ध्यान करो।

नाराच छन्द।

राजसिंह राज्यकीय भोग या स्वतन्त्र हो। शोभते नृपों के मध्य राज्य लक्ष्मि तन्त्र हो॥
पायके अर्हंत लक्ष्मि आपमें स्वतन्त्र हो। देव नर उदार सभा शोभते स्वतन्त्र हो॥७८॥

उत्थानिका—और भी सराग व वीतराग अवस्था में भगवान ने क्या किया—

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं, मुनौ दयादीधिति–धर्मचक्रम्।
पूज्ये मुहुः प्रांजलि देवचक्रं, ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिस शांतिनाथ भगवान में (राजनि) राज्य अवस्था में (राजचक्रं) राजाओं का समूह (प्रांजलि अभूत) हाथों को जोड़े हुए सामने खड़ा

रहता था, (मुनौ) साधु अवस्था में (दयादीधितिधर्मचक्रम्) दयामईकिरणों का धारी रत्नत्रयमई धर्मरूप चक्र वश होगया । (पूज्ये) पूजनीय अरहन्त पद में (देवचक्रं) देवों का समूह (मुहुः) बार २ हाथ जोड़े हुए उपस्थित रहा तथा (ध्यानोन्मुखे) चौथे शुक्ल ध्यान को ध्याते हुए (ध्वंसिकृतान्तचक्रम्) चार अघातिया कर्मों का समूह नाश होकर मोक्षरमा आपके सामने खड़ी होगई ।

भावार्थ—यहां पर श्री शांतिनाथ भगवान की अपूर्व महिमा का वर्णन किया है । शांतिनाथ भगवान ऐसे प्रतापशाली थे कि जीवनभर सदा ही स्वाधीन व दूसरों से पूजनीक रहे । जिस समय आप चक्रवर्ती थे उस समय आपकी सभा में राजाओं के समूह हाथ जोड़े खड़े रहते थे । जब आप मुनि हुए तब अहिंसामई रत्नत्रय धर्म ने आपका स्वागत किया । अर्थात् आपने मुनिपद का चारित्र बहुत ही उत्तम प्रकार से पाला । मन, वचन, काय से अहिंसा धर्म को पालते हुए न तो क्रोधादि कषायों से अपने आत्मा को मलीन किया और न किसी जीव के प्राणों की अरक्षा में प्रमाद किया । सांगोपांग मुनिधर्म को पाला । उस समय के वीतराग ध्यान के प्रभाव से जब हे प्रभु ! आप पूज्यनीक अरहन्त हुए और समवसरण में विराजे तब देवों का समूह आपके सामने बार-बार आकर हाथ जोड़े नमस्कार करके खड़ा रहा । और जब आपने मोक्ष लक्ष्मी के लेने के लिए व्युपरतक्रियानिवर्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान आराधन किया तब उसके प्रभाव से आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार शेष अघातिया कर्मों को भी नाश किया, तब मोक्षलक्ष्मी स्वयं प्रभु के सामने आकर उपस्थित होगई । इस श्लोक में कवि ने प्रभु के जीवन का अच्छा वर्णन कर दिया है । प्रभु ने धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ साधन कर लिये, राज्य करते हुए चक्रवर्ती व कामदेव पद में सर्व से अधिक उत्कृष्ट अर्थ व काम पुरुषार्थ साधा । मुनि पद में सर्वोत्कृष्ट धर्म साधा, केवली-पद में मोक्ष को भी सिद्ध कर लिया । आपके इस कथन से यह शिक्षा मिलती है कि हरएक बुद्धिमान मानव को इस संसार के क्षणिक भोगों में लुब्धायमान न होना चाहिये । किन्तु आत्मा के अविनाशी सुख पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे यह आत्मा सदा के लिए परम सुखी व स्वाधीन हो जावे । फिर कभी जन्म मरण के प्रपंच में न पड़े । सार समुच्चय में कहा है—

संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम् । सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥ २२८ ॥

भावार्थ—उन ही मानवों का जीवन धन्य है जो इस असार संसार से चित्त में

वैराग्य धरते हैं–जो मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख के इच्छुक हैं व जो सर्व परिग्रह के त्यागी हैं।

नाराच छन्द

चक्रवर्ति पद नृपेन्द्र चक्र हाथ जोडिया। यतीश पदमें दयार्द्र धर्मचक्र वश किया।
अरहन्त पद देव चक्र हाथ जोड नत किया। चतुर्थ शुक्लध्यान कर्म नाश मोक्ष वर लिया ॥ ८० ॥

उत्थानिका–स्तुतिकार स्तुति के फल को चाहना करते हैं–

स्वदोषशान्त्याविहितात्मशान्तिः, शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै, शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(भगवान् शान्तिः जिनः) परम ऐश्वर्यवान इन्द्रादि से पूज्य श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र (स्वदोषशांत्या विहितात्मशांतिः) आपने अपने रागादि दोषों को क्षय करके अपने आत्मा में पूर्ण वीतरागता प्राप्त की है। (शरणं गतानाम् शांतेः विधाता) व जो आपकी शरण में जाते हैं उनको आपके द्वारा शांति प्राप्त हो जाती है (शरण्यः) आप सर्व रक्षकों में परम शरण हैं (मे) मुझे [भवक्लेशभयोपशान्त्यै भूयात्] संसार से व दुःखों से व सर्व भयों से रक्षित होने में निमित्त कारण हूजिये।

भावार्थ—श्री समन्तभद्राचार्य ने श्री शांतिनाथ भगवान का नाम सार्थक करते हुए स्तुति करके अपने कल्याण की भावना की है। भगवान का नाम वास्तव में शांतिनाथ है। जैसे परम शीतल क्षीरसागर के पास जो जाता है वह शान्ति पाता है, आताप मिटाता है, उसका मन प्रफुल्लित हो जाता है, उसी तरह शांतिनाथ भगवान स्वयं सुखशांति के सागर हैं क्योंकि आपने अपने आत्मध्यान के बल से सर्व रागद्वेषादि दोष निकालकर फेंक दिये जो आत्मशान्ति में बाधक थे। आपने पूर्ण वीतरागता व पूर्ण स्वाभाविक आनन्द प्राप्त कर लिया। तीन लोक में यदि कोई ऐसी शरण ढूंढ़े जहां जानेसे उसका भव आताप मिटे तो वह आप ही हैं। आपके सिवाय कोई भी पूर्ण वीतराग नहीं है, जिसकी उपासना से पूर्ण वीतरागता का आदर्श मिल सके। तब जो कोई देव, मानव या पशु आपकी शरण में आता है, आपका ध्यान करता है, आपकी पूजा करता है, आपका स्तवन करता है, आपका नाम जपता है, उन सबको स्वयं शान्ति मिल जाती है। आप तो स्वयं वीतराग हैं, किसी

भक्त पर प्रसन्न नहीं होते परन्तु परिणामों के भीतर से रागादि मैल हटाने के लिये व वैराग्य भाव जागृत करने के लिए आपका गुण स्मरण व नाम जपने व आपकी शांत मुद्रा का दर्शन ये सब निमित्त कारण हैं। जैसे शीतल समुद्र के स्वयं बिना चाहे भी जो उस समुद्र के तट पर जाता है उसको शान्ति मिल जाती है। उसी तरह आपके बिना चाहे हुए भी सच्चे भक्तों को स्वयं सुख शान्ति मिल जाती है। मैं भी चाहता हूँ कि आपका गुण स्तवम करनेसे मेरायह रागद्वेष मोहरूप संसारका अन्त होजावे। तब उनके निमित्त से जो कर्मों का बन्ध होता था सो न होवे तथा कर्मों के उदय से जो जन्म मरण रोग शोक इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगादि के क्लेश होते हैं सो न होवें व मेरा भय भी सर्व चला जावे, मुझे अपने अविनाशी आत्मा की पक्की पहचान हो जावे। मैं उसी में विश्रान्ति लूं जिस आत्मा को कोई भी भय नहीं है जो कि किसी के द्वारा भी स्वभाव का त्याग नहीं कर सकता है। आत्मा में विश्रान्ति पाकर परम सुखी रहूँ यही भावना श्री समन्तभद्राचार्य ने की है। ज्ञानलोचनस्तोत्र में श्री वादिराजजी कहते हैं—

हिंसाऽक्षमादिव्यसनप्रमादकषायमिथ्यात्वकुबुद्धिपात्रम्।
व्रतच्युतं मां गुणदर्शनोनं पातुं क्षमः को भुवने विना त्वाम्॥ ३२ ॥

भावार्थ—हे प्रभु! मैं हिंसा, असहनशीलता, द्यूतादि व्यसन, प्रमाद, क्रोधादि कषाय, मिथ्यात्व व कुबुद्धि का पात्र हूं। सम्यग्दर्शन गुण से भी शून्य हूं, ऐसे मुझ पापी की इस लोक में आपके बिना और कौन रक्षा करने को समर्थ है।

नाराच छन्द

रागद्वेष नाशि आत्म शांति को बढ़ाइया। शरण जु लेय आपकी वही सु शांति पाइया।
भगवन् शरण्य शांतिनाथ भाव ऐसा है सदा। दूर हों संसार क्लेश भय न हो मुझे कदा॥ ८० ॥

---

(१७) कुन्थुनाथ स्तुतिः

कुंथुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः कुंथुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्त्तयसि स्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः॥

विषयों को भोगते ही क्यों है ? इसका समाधान किया है कि यह भोग शरीर के कष्ट को कुछ देर के लिये हरने के लिये निमित्तकारण पड़ जाते हैं,क्षणिक सुख देते हैं । जैसे किसी को रसनेंद्रिय के विषय में किसी भोज्य पदार्थ के खाने की इच्छा हुई । अब जब वह मिल जाती है तो कुछ आकुलता कुछ देर के लिये मिट जाती है परन्तु अन्तरंग की तृष्णा का शमन नहीं होता है, वह तो जितना जितना भोग भोगा जाता है उतनी २ बढ़ती ही जाती हैं । एक दीर्घकाल की आयु भर यदि एक चक्रवर्ती मनोहर विषयभोग करता रहे तो भी वह कभी भी तृप्ति नहीं पाएगा । यदि मरण का समय आ जावे तो भी चाह की दाह में जलता हुआही मरण करेगा । ऐसा वस्तु स्वरूप हे प्रभु ! आपने अपने क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जान लिया । तब यही उचित समझा कि तृष्णारूपी रोग जिस मोहनीय कर्म के निमित्त से होता है उस मोहनीय कर्म का नाश किया जावे । बस, आपने तपस्या करने के लिये साधुपद धारण किया और जिनके सेवन से उलटा कष्ट बढ़े उनका दूर से ही त्याग कर दिया । सारसमुच्चय में कहा है—

अग्निना तु प्रदग्धानां शमोस्तीति यतोऽत्र वै ।
स्मरवन्हिप्रदग्धानां शमो नास्ति भवेष्वपि ॥ ६२ ॥

भावार्थ—आग से जला हुआ मनुष्य तो यहां ठण्डक पा भी सकता है परन्तु काम की अग्नि से जले हुए प्राणियों को भव-भव में भी शान्ति नहीं मिलती है ।

छन्द त्रोटक

तृष्णाग्नि दहत नहिं होय शमन, मन इष्ट भोगकर होय बढ़न ।
तन ताप हरण कारण भोगं, इम लख निजविद् त्यागे भोगं ॥ ८२ ॥

उत्थानिका—विषयों को त्याग आपने क्या किया सो कहते हैं—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥८३॥

अन्वयार्थ—[त्वं] आपने [परमदुश्चरं] परम कठिन [बाह्यं तपः] अनशनादि बाहरी तप [आध्यात्मिकस्य तपसः] आत्मीक ध्यानरूपी तप की वृद्धि के लिये [आचरन्] पालन किया । [कलुषद्वयम् ध्यान] दो मलीन ध्यानों को अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यानों

को [निरस्य] दूर करके [उत्तरस्मिन् अतिशयोपपन्ने ध्यानद्वये] दूसरे दो उत्तम ध्यानों में अर्थात् धर्म और शुक्लध्यानों में [ववृतिषे] वर्तन किया।

भावार्थ—साधुपद में कुंथुनाथ भगवान ने जो उपवास, ऊनोदर, रसत्याग, वृत्ति-परिसंख्यान, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश इन बाहरी तपों को बहुत ही कठिन रूप से इसीलिये पालन किया कि अन्तरंग तप की वृद्धि हो। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः अन्तरंग तप हैं। इनमें मुख्य तप आत्मध्यान है। जितना अधिक शरीर का सुखियापना हटाया जाता है व शरीर से ममता छोड़ी जाती है उतना ही अधिक उपयोग आत्मा के ध्यान में जुड़ता है। आपने आर्त रौद्र इन दो खोटे ध्यानों को कभी नहीं किया, क्योंकि वे संसार के कारण हैं और परिणामों को कलुषित रखने वाले हैं। इनको त्यागकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक तो धर्म ध्यान का आराधन किया फिर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो शुक्लध्यान का सेवन किया। शुद्धोपयोग का लाभ इन ध्यानों से होता है जिससे अद्भुत वीतरागता पैदा होती है, जिससे मोह का क्षय किया जाता है। ध्यान का मुख्य हेतु मोह का नाश है जब मोह का नाश होगया तब फिर अन्य कर्म तो स्वतः एक अंतर्मुहूर्त में ही गिर जाते हैं। यहां यह दिखलाया है कि मुनिपद धारने का हेतु आत्म ध्यान की वृद्धि करना है। आत्मध्यान के होते हुए जो आत्मा में अपूर्व आनन्द भरा है उसका स्वाद आता है और जिस समय आत्मानन्द का स्वाद आता है वही वह समय है जब कर्मों का नाश होता है। इष्टोपदेश में कहा है–

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेधनमनारतम्। न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः॥ ४८॥

भावार्थ—यही आत्मानन्द ही निरन्तर कर्मों के ईंधन को जला देता है। तब ऐसा आत्मानंद में मगन योगी बाहर दुःखों के पड़ने पर भी उन पर ख्याल न करता हुआ खेद को नहीं पाता है।

छन्द त्रोटक

बाहर तप दुष्कर तुम पाला, जिन आतम ध्यान बढ़े आला।
द्वय ध्यान अशुभ नहिं नाथ करे, उत्तम द्वय ध्यान महान धरे॥ ८३॥

उत्थानिका—ध्यान में वर्तन करके क्या किया सो कहते हैं–

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतिश्चतोस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य्यः।
विभ्राजिषे सकलवेदविर्धेविनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ।।

अन्वयार्थ–[चतस्रः स्वकर्मकटुकप्रकृतिः] अपने आत्मा के साथ बंधी हुई चार ज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियों को [हुत्वा] क्षय करके [रत्नत्रयातिशयतेजसि] सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के महान तेज से [जातवीर्यः] अनन्तवीर्य को रखने वाले [सकलवेदविधेः विनेता] सम्पूर्ण ज्ञान की विधि के प्रकाश करने वाले आप [विभ्राजिषे] शोभते हुए [यथा] जैसे [व्यभ्रे] मेघों से रहित [वियसि] आकाश में [दीप्तरुचिः विवस्वान्] तेजस्वी सूर्य शोभता है।

भावार्थ—शुक्लध्यान के बल से प्रभु ने ,पहले मोहनीय कर्म का नाश किया जो सर्व कर्मों के बंध का मूल है फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन को भी क्षय कर डाला। जिस रत्नत्रयधर्म के प्रताप से घातिया कर्मों को नाश किया वह रत्नत्रय महान अतिशय को प्राप्त होगया। क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान व यथाख्यात चारित्र आपके प्रकाश होगया। आप अनन्त बली होगये। अरहन्त पद में आपने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा पदार्थों का स्वरूप बताया उन्हीं को सुनकर गणधरादि ने द्वादशांगरूप आगम की रचना की। अर्थात् आजकल जो जिनवाणी प्रकाशित है इसके मूलकर्ता आप ही हो। आपने विहार करके अनेक जीवों का कल्याण किया। आप कोटि सूर्य की प्रभा से भी अधिक प्रभावान् निर्मल दिशा में शोभते भए, जिस तरह मेघों से रहित आकाश में तेजस्वी सूर्य शोभता है। ध्यान की महिमा अपूर्व है। ध्यान के बल से ही अनादिकाल के चले आये हुए कर्मरूपी पर्वत चूर्ण कर दिये जाते हैं। ध्यान के बल से अरहन्त ही की अपूर्व महिमा को पाते हैं। तत्त्वानुशासन में कहा है—

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं। जानन् पश्यश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ।। २३८ ।।
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं। सुखं चानुभवत्येष तत्रातींद्रियमच्युतः ।। २३९ ।।

भावार्थ—तीन काल सम्बन्धी जानने योग्य पदार्थों को और आत्मा को जैसा उन सबका स्वरूप है वैसा ही जानते देखते हुए प्रभु सदा वीतराग रहते हैं। अनंतज्ञान,अनंतदर्शन अनन्तवीर्य तथा वीतरागता इनसे झलकने वाला अविनाशी अतींद्रिय सुख को उस अरहंत पद में सदा ही अनुभव करते हैं।

छन्द त्रोटक

निज घाती कर्म विनाश किये, रत्नत्रय तेज स्ववीर्य लिये।
सब आगम के वक्ता राजें, निर्मल नभ जिम सूरज छाजें ।। ८४ ।।

उत्थानिका—ऊपर कहे हुए अर्थ का सार बताते हैं—

यस्मान्मुनीन्द्र ! तव लोकपितामहाद्या, विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः, स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः।८५

अन्वयार्थ—[मुनीन्द्र] हे यतिश्रेष्ठ ! [यस्मात्] क्योंकि [लोकपितामहाद्याः] जगत के माने हुए ब्रह्मा, ईश्वर, कपिल, बुद्ध आदि [तव विद्याविभूतिकणिकाम् अपि] आपकी केवलज्ञान विभूति के अंश मात्र को भी [न आप्नुवन्ति] नहीं प्राप्त करते हैं [तस्मात्] इसीलिये [स्वहितैकतानाः] अपने आत्महित में लगे हुए (सुधियः) बुद्धिमान् (आर्याः) गणधरादि साधु (भवन्तम्) आपके (अजम्) जन्म मरण रहित अविनाशी, (अप्रतिमेयम्) और अनन्त केवलज्ञान का धारी (स्तुत्यं) तथा स्तुति करने के योग्य मानकर (स्तुवन्ति) आपकी ही स्तुति करते हैं।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि बुद्धिमान आत्महितैषी गणधरादि साधु आपकी ही स्तुति करते हैं क्योंकि आपमें वह योग्यता है जो लौकिक मानवों से विलक्षण पद को पहुंच गया हो वही नमन करने योग्य होता है। आपमें सर्वज्ञपना है, वीतरागपना है, सच्चे आगम का वक्तापना है। आप ऐसे पद को पहुंच गए हैं कि फिर कभी आपका नाश नहीं होगा। जगत के लोग किसी कर्ता धर्ता ईश्वर को ब्रह्मा व कपिल को व बुद्ध आदि को पूजते हैं। परन्तु हम जब उनके कहे हुए ज्ञान का आपसे मिलान करते हैं तो ऐसा झलकता है कि—हे मुनीन्द्र ! आपके निर्मल और स्पष्ट ज्ञान का अंश मात्र भी उनके पास नहीं है। जो निर्दोष होगा व सर्वज्ञ होगा वही पूजने योग्य हो सकता है। आपमें राग-द्वेषादि कोई दोष नहीं है और आप त्रिकालज्ञ हैं। आपके सामने और कौन स्तुति करने योग्य हो सकता है ? आप्तस्वरूप में कहा है—

संसारो मोहनीयस्तु प्रोच्यतेऽत्र मनीषिभिः। संसारिभ्यः परो ह्यात्मा परमात्मेति भाषितः ।।८८।।

भावार्थ—बुद्धिमानों ने मोहनीय को ही संसार कहा है इसलिये मोह ग्रसित संसारी प्राणियों से जो परे हैं वही आत्मा परमात्मा कहा गया है।

छन्द त्रोटक।

यतिपति तुम केवलज्ञान धरे, ब्रह्मादि अंश नहिं प्राप्त करे।
निज हित रत आर्य सुधी तुमको, अज ज्ञानी अहं नमैं तुमको ॥८५॥

(१८) अरनाथ स्तुतिः।

गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥८६॥

अन्वयार्थ—[गुणस्तोकं] थोड़े गुणों को [सदुल्लंघ्य] उल्लंघन करके [तद्बहुत्वकथा स्तुतिः] उनको बहुत करके कहना स्तुति है। [ते गुणा आनन्त्यात् वक्तुं अशक्याः] आपके गुण ही अनन्त हैं, इसलिये कहने की सामर्थ नहीं है [त्वयि सा कथं] तब आपकी स्तुति कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—जिस किसी में थोड़े गुण हों तब उनको बढ़ा के कहना यही स्तुति का लक्षण है। हे अरनाथ ! आपके गुण तो अनन्त हैं, उन्हीं को समझने की व कहने की शक्ति मुझमें नहीं है। फिर उनको बढ़ा के मैं कैसे कह सकता हूं ? इसलिये मैं आपकी स्तुति करने के लिये असमर्थ हूं।

पद्धरी छन्द।

गुण थोड़े बहुत कहैं बढ़ाय, जगमें थुति सो हीं नाम पाय।
तेरे अनन्तगुण किम कहाय, स्तुति तेरी कोई विधि न थाय ॥८६॥

उत्थानिका—तब क्या मौन रखना चाहिये—

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम्।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥८७॥

अन्वयार्थ—[तथापि] यद्यपि आपके गुणों का कथन नहीं हो सकता है तो भी

[यतः] क्योंकि [ते मुनींद्रस्य पुण्यकीर्तेः] आप मुनियों के स्वामी और पवित्र कीर्तिधारी व पवित्र दिव्यध्वनि प्रकाशक का (नाम अपि) नाम मात्र ही (कीर्तितं) यदि भक्ति से उच्चारण किया जाय तो (नः) हमको (पुनाति) पवित्र कर देता है (ततः) इसलिये (किञ्चन ब्रूयाम) कुछ कहता हूँ।

भावार्थ—यहां आचार्य ने दिखलाया है कि श्री अरनाथ तीर्थङ्कर की स्तुति किसी भी तरह मुझसे नहीं हो सकती है। तो भी यह समझकर मैं भक्तिवश अवश्य कुछ कहूंगा कि श्री जिनेन्द्र का पवित्र नाम ही हमारे मन को पवित्र कर देता है। क्योंकि जिसका नाम होता है उसका नाम लेने से दिलके ऊपर उसी के गुणों का असर पड़ता है। क्योंकि श्री अरनाथ तीर्थङ्कर परम योगीश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं तथा पवित्रवाणी के प्रकाशक व निर्मल कीर्ति के धारक हैं इसलिये नाम मात्र ही लेने से मेरा कल्याण तो हो ही जायगा। मेरा भाव निर्मल हो जायगा। इसलिये जो कुछ बने वैसी स्तुति करना ही चाहिये।

पद्धरी छन्द।

तौभी मुनीन्द्र शुचि कीर्ति धार, तेरा पवित्र शुभ नाम सार।
कीर्तन से मन हम शुद्ध होय, तातैं कहना कुछ शक्ति जोय ॥८७॥

उत्थानिका—कुछ वर्णन करते हैं—

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम्।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत्॥८८॥

अन्वयार्थ—(ते मुमुक्षोः) आप मोक्ष के इच्छा करनेवाले के (चक्रलांछनम्) सुदर्शन चक्र के चिह्न सहित (लक्ष्मीविभवसर्वस्वं) सम्पूर्ण लक्ष्मी का विभव (सार्वभौमं साम्राज्यं) जो सर्व भरतक्षेत्र का षट् खण्डमई राज्य है वह (जरत् तृणम् इव) जीर्ण तृण के समान (अभवत्) होगया।

भावार्थ—हे अरनाथ! आप क्षायिक सम्यग्दृष्टी थे, आपने यद्यपि कुछ कालतक चक्रवर्ती की सम्पदा भोगी—छः खण्ड पृथ्वी का एक छत्र राज्य किया; परन्तु आपके भीतर गाढ़ रुचि स्वाधीनता की ही बनी रही, इस असार संसार से मुक्त होने की दृढ़ आकांक्षा आपके भीतर थी। इससे ज्योंही प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होगया

आपने सर्व चक्रवर्ती की सम्पदा को जीर्ण तृण के समान असार जानकर त्याग दिया और आप सर्व परिग्रह त्यागकर दि० निर्ग्रन्थ मुनि होगये। मुक्ति साधन के लिये परिग्रह त्याग जरूरी है। ऐसा सारसमुच्चय में श्री कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

सगात् संजायते गृद्धिर्गृद्धौ वांछति संचयम्। सचयाद्वर्धते लोभो लाभाद्दुःखपरम्परा ॥२३२॥

भावार्थ—परिग्रह से लोलुपता पैदा होती है, गृद्धता होने पर संचय करने की वाञ्छा होती है, संचय करने से लोभ बढ़ता है, लोभ से परम्परा दुःख की प्राप्ति होती है।

पद्धरी छन्द।

तुम मोक्ष चाह को धार नाथ, जो भी लक्ष्मी सम्पूर्ण साथ।
सब चक्र चिह्न सह भरत राज्य, जीरण तृणवत् छोडा सुराज्य ॥८८॥

उत्थानिका—इस तरह अन्तरंग के परम वीतरागभाव को दिखलाकर आपके शरीर की शोभा को दिखलाते हैं—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्वयक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥८६॥

अन्वयार्थ—(तव रूपस्य सौन्दर्यं) आपके वीतरागमई शरीर की सुन्दरता को (दृष्ट्वा) देखकर (द्वयक्षः) दो आंखधारी (शक्रः) इन्द्र (सहस्राक्षः) एक हजार लोचन बनाकर देखता हुआ भी (तृप्ति) तृप्ति को (अनापिवान्) न प्राप्त करता हुआ किन्तु (बहुविस्मयः बभूव) बहुत आश्चर्य को प्राप्त हुआ।

भावार्थ—इन्द्र के यद्यपि मूल में दो ही आंख होती हैं परन्तु उसने जब आपके शरीर के मनोहर रूप को देखा तो उसको दो आंखों से तृप्ति न हुई। तब उसने अपने एक हजार नेत्र बनाए। इन्द्रादि देवों में विक्रिया करने की शक्ति होती है, इससे वे एक शरीर के अनेक शरीर बना सकते हैं और उन सबमें अपने आत्मा के प्रकाश को फैला देते हैं। इस तरह अनेक शरीर बनाकर भी इन्द्र ने एक हजार नेत्रों से आपके रूप को खूब देखा तो भी उसके मन को तृप्ति न हुई। तब उसको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ कि जगत में ऐसा रूप सिवाय साधुपदधारी तीर्थंकर के और किसी के होना सम्भव नहीं है। ये तीर्थङ्कर के अपूर्व पुण्य की महिमा है।

पद्धरी छन्द

तुम रूप परम सुन्दर विराज, देखन को उमगा इन्द्र राज।
दो लोचन धरकर सहस नयन, नहिं तृप्त हुआ आश्चर्य भरन ॥ ८९ ॥

उत्थानिका—अब कहते हैं कि भगवान अरनाथ ने अंतरंग मोह शत्रु को कैसे जीता—

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ—(मोहरूपो रिपुः) जीव का मोहनीय कर्म रूपी महान शत्रु है [पापः] जो महापापी है जीव को स्वरूप से गिराने वाला है [कषायभटसाधनः] क्रोध मान माया लोभ चार कषायरूपी योद्धा जिसकी सेना है ऐसे महान शत्रु को [धीर] हे परीषहों के पड़ने पर भी अक्षोभ-चित्त स्वामी! अरनाथ [त्वया] आपने (दृष्टिसम्पत् उपेक्षाऽस्त्रैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमई रत्नत्रय के दिव्य शस्त्रों के द्वारा (पराजितः) जीत लिया।

भावार्थ—अनादिकाल से जीव का महान शत्रु मोहनीय कर्म है। यही इस संसारी प्राणी को रागी द्वेषी मोही बनाकर आत्मविरोधी मार्गों में पटक देता है। इसी का भुलाया हुआ यह जीव अपने आत्मा के स्वरूप में स्थिरता को नहीं पाता है। इसके साथी क्रोधादि चार कषाय हैं। इन्हीं के कारण यह प्राणी ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का बंध करता है और उस कर्म के उदयवश संसार वन में भटका करता है। इस मोह को जीतना ही मानों सर्व कर्मों को जीत लेना है। हे अरनाथ! आपने साधु अवस्था में खूब ध्यान लगाया—निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्धात्मा की यथार्थ प्रतीति है, निश्चय सम्यग्ज्ञान शुद्धात्मा का यथार्थ ज्ञान है, निश्चय सम्यक्चारित्र रागद्वेष छोड़ अपने ही शुद्ध आत्मा के स्वरूप में थिरता पाना है। जहां इन तीनों की एकता होती है वहां स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। इसी ध्यान के बल से प्रभु ने मोह का बल घटाया। जब क्षपक श्रेणी आरूढ़ हुए तब इस मोह को क्षय करते २ सूक्ष्मलोभ नाम के दसवें गुणस्थान के अन्त में इस मोह कर्म का सर्वथा क्षय कर डाला। तब प्रभु क्षीणमोह वीतराग यथाख्यात संयमी होगए। तब आप मोह के विजेता सच्चे जिन कहलाये। धन्य है आपका पुरुषार्थ जिसने अनादिकाल के शत्रु

का सदा के लिये नाश कर डाला । वास्तव में रागी द्वेषी जीव ही संसार में भ्रमण करता है । सारसमुच्चय में कहा है—

रागद्वेषमयो जीवः कामक्रोधवशे गतः । लोभमोहमदाविष्टः संसारे संसरत्यसौ ॥

भावार्थ - जो जीव रागी द्वेषी है, काम व क्रोध के वश है, लोभ व मद से घिरा है वही संसार में भ्रमण किया करता है ।

पद्धरी छन्द

जो पापी सुभट कषाय धार, ऐसा रिपु मोह अनर्थकार ।
सम्यक्त्व ज्ञान संयम सम्हार, इन शस्त्रन से कीना सहार ॥ ९० ॥

उत्थानिका—मोहकर्म के जीत लेने पर क्या हुआ सो कहते हैं—

कन्दर्पस्योद्धुरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ (कंदर्पस्य) कामदेव का (उद्धुरः) महा कठिन (दर्पः) अहङ्कार (त्रैलोक्य-विजयार्जितः) जो तीन लोक के प्राणियों को जीत लेने से पैदा हुआ था सो (त्वयि धीरे) आप परम निश्चल चित्त के पास (प्रतिहतोदयः) उसका सब उदय नाश को प्राप्त होगया आपने (तं) उस कामदेव को (ह्रेपयामास) लज्जित कर दिया ।

भावार्थ कामदेव को इस बात का बड़ा घमण्ड था कि उसने इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती सर्व जगत के प्राणियों को अपने आधीन कर लिया । जब यह आपको जीतने के लिये आया तो आप परम वीतरागी के सामने उसका कुछ भी बल न चला । तब वह महान लज्जित होगया । जिस काम ने सर्व पामर ससारी प्राणियों को वश कर लिया उस काम को आपने परास्त कर दिया । इसलिये हे अरनाथ ! आप परम योद्धा व परम ब्रह्मचारी हो । आपकी महिमा आश्चर्यकारी है । वास्तव में कामदेव महा अनर्थकारी है । सारसमुच्चय में कहा है—

चित्तसंदूषकः कामस्तथा सद्गतिनाशकः । सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ॥ १०३ ॥
दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत् । पापस्य निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ॥ १०४ ॥
पिशाचेनैव कामेन छिद्रितं सकलं जगत् । बभ्रमेति परायत्तं भवाब्धौ स निरन्तरम् ॥ १०५ ॥

केवलज्ञान अवस्था में आप परमौदारिक शरीर में कोटि सूर्य की दीप्ति से भी अधिक प्रकाशमान रहे। आपने आयु कर्म को जीत लिया। परभव के लिये आपने आयु न बांधी। आपका अब किसी शरीर में जन्म न होगा। वास्तव में मरण वही है जो फिर जन्म करावे। आप तो शरीर त्यागने पर परम निर्वाण के भाजन परम सिद्ध होंगे। इस तरह आपने जगत विजयी यमराज के मद को भी चूर्ण कर डाला। आप्तस्वरूप में आपका स्वरूप कहा है—

जन्ममृत्युजरारोगाः प्रदग्धा ध्यानवह्निना। यस्यात्मज्योतिषां एको सोऽस्तु वैश्वानरः स्फुटम् ।।४३।।

भावार्थ—जिसकी आत्मज्योति की राशिमई ध्यानरूपी अग्नि से जन्म मरण जरा रोग बिलकुल जला दिये गये सोही प्रभु प्रगटपने अग्निस्वरूप हैं। वास्तव में आपने यमराज व उसके मित्रों को सर्वथा नाश कर डाला इसलिए आप यमराज के विजयी परम योद्धा हैं।

पद्धरी छन्द

यमराज जगत को शोककार, नित जरा जन्म है सखा धार।
तुम यम विजयी लख हो उदास, निज कार्य करन समरथ न तास।६३।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भगवान में मोहादिक का क्षय हुआ यह बात कैसे जानी जाती है—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम्।
रूपमेव तवाचष्टे धीर! दोषविनिग्रहम् ।। ६४ ।।

अन्वयार्थ—(धीर) हे परम क्षमावान् अरनाथ भगवन्! (तव) आपका (भूषावेषायुधत्यागि) आभूषण, वस्त्र व शस्त्रादि से रहित तथा (विद्यादमदयापरम) निर्मल ज्ञान, शांत भाव व अपूर्व दया को झलकाने वाला (रूपं एव) शरीर का रूप ही (दोषविनिग्रहम्) आपने मोहादि दोषों का क्षय कर डाला है इस बात को (आचष्टे) प्रगट कर रहा है।

भावार्थ—श्री जिनेंद्र के शरीर का रूप मोहादि घातिया कर्मों के नाश कर लेने पर पूर्ण ध्यानमय पद्मासन या कायोत्सर्ग आसन में रहता है। इस रूप में किसी विकारी भेष का संसर्ग नहीं होता है न वहां कोई वस्त्र का सम्बंध होता है न किसी प्रकार का आभूषण होता है, न कोई खड्ग, बरछी, लकड़ी आदि शस्त्र का सम्बन्ध होता है। वह

होकर आपने सुख से तृष्णा नदी को पार कर लिया। अर्थात् अब आप परम कृतकृत्य हो गए। आपके कोई इच्छा शेष न रही। वास्तव में तृष्णा ही संसार की भूल है। सार-समुच्चय में कहा है—

तृष्णानलप्रदीप्तानां सुसौख्यं तु कुतो नृणाम्। दुःखमेव सदा तेषां ये रता धनसंचये ॥२४१॥

भावार्थ--जो मानव तृष्णा की अग्नि से जलते रहते हैं उनको सुख कहां से हो सकता है। उनको सदा ही दुःख है जो धन के संचय में ही अवलीन हैं।

पद्धरी छन्द

तृष्णा सरिता अति ही उदार, दुस्तर इह परभव दुःखकार।
विद्या नौका चढ रागरिक्त, उतरे तुम पार प्रभू विरक्त ॥ ९२ ॥

उत्थानिका—मोह काम व तृष्णा का नाश कर देने पर फिर क्या हुआ सो कहते हैं—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखा सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—[अन्तकः] मरणरूपीयमराज (नृणां) प्राणियों को (क्रन्दकः) रुलाने वाला है (सदा) व सदा (जन्मज्वरसखा) जन्म व जरा उसके दो मित्र हैं वह (त्वां) आप (अन्तकान्तकं) मरणरूपी यमराज के नाश करने वाले प्रभु को (प्राप्य) प्राप्त होकर अर्थात् आपके पास आकर (कामकारतः) अपनी इच्छा रूपी क्रिया करने से (व्यावृत्तः) रहित होगया।

भावार्थ--सर्व संसारी प्राणियों को यमराज नाश कर देता है। जब मरण आता है तब सर्व ही मिथ्यादृष्टी प्राणी घबड़ाते हैं व रोते हैं। मरण के दो मित्र हैं- जन्म और जरा अर्थात् जब जरा सताती है तब शीघ्र ही वह मरण को बुला लेती है। तथा मरण के पीछे जन्म भी अवश्य होता है। मरण के पीछे २ जन्म उसका मित्र आ जाता है। इस तरह संसारी प्राणी जन्म जरा मृत्यु से सदा पीड़ित रहते हैं। आपके पास यह यमराज अपना कुछ भी काम न कर सका। न यह स्वयं आक्रमण कर सका। न इनके मित्रों का ही वश आपसे चला। आपको जरा कुछ भी पीड़ा न देसकी। आप सदा नवयौवन रहे।

केवलज्ञान अवस्था में आप परमौदारिक शरीर में कोटि सूर्य की दीप्ति से भी अधिक प्रकाशमान रहे। आपने आयु कर्म को जीत लिया। परभव के लिये आपने आयु न बांधी। आपका अब किसी शरीर में जन्म न होगा। वास्तव में मरण वही है जो फिर जन्म करावे। आप तो शरीर त्यागने पर परम निर्वाण के भाजन परम सिद्ध होंगे। इस तरह आपने जगत विजयी यमराज के मद को भी चूर्ण कर डाला। आप्तस्वरूप में आपका स्वरूप कहा है—

जन्ममृत्युजरारोगाः प्रदग्धा ध्यानवह्निना। यस्यात्मज्योतिषां एको सोऽस्तु वैश्वानरः स्फुटम् ॥४३॥

भावार्थ—जिसकी आत्मज्योति की राशिमई ध्यानरूपी अग्नि से जन्म मरण जरा रोग बिलकुल जला दिये गये सोही प्रभु प्रगटपने अग्निस्वरूप हैं। वास्तव में आपने यमराज व उसके मित्रों को सर्वथा नाश कर डाला इसलिए आप यमराज के विजयी परम योद्धा हैं।

पद्धरी छन्द

यमराज जगत को शोककार, नित जरा जन्म हैं सखा धार।
तुम यम विजयी लख हो उदास, निज कार्य करन समरथ न तास। ६३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भगवान में मोहादिक का क्षय हुआ यह बात कैसे जानी जाती है—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम्।
रूपमेव तवाचष्टे धीर! दोषविनिग्रहम् ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(धीर) हे परम क्षमावान् अरनाथ भगवन्! (तव) आपका (भूषावेषायुधत्यागि) आभूषण, वस्त्र व शस्त्रादि से रहित तथा (विद्यादमदयापरम) निर्मल ज्ञान, शांत भाव व अपूर्व दया को झलकाने वाला (रूपं एव) शरीर का रूप ही (दोषविनिग्रहम्) आपने मोहादि दोषों का क्षय कर डाला है इस बात को (आचष्टे) प्रगट कर रहा है।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र के शरीर का रूप मोहादि घातिया कर्मों के नाश कर लेने पर पूर्ण ध्यानमय पद्मासन या कायोत्सर्ग आसन में रहता है। इस रूप में किसी विकारी भेष का संसर्ग नहीं होता है न वहाँ कोई वस्त्र का सम्बंध होता है न किसी प्रकार का आभूषण होता है, न कोई खड्ग, बरछी, लकड़ी आदि शस्त्र का सम्बन्ध होता है। वह

ध्यानमई रूप ऐसा प्रगट होताहै मानो आत्मज्ञान में, वीतरागता में व पूर्ण दया या अहिंसा भावमें लीन है। ऐसा शांत ध्यानमय स्वरूप ही दर्शक के मन में यह असरकारक भाव पैदा कर देता है कि प्रभु में कोई राग-द्वेष मोह,काम विकार व तृष्णा आदि का दोष नहीं है। पात्रकेसरीस्तोत्र में कहा है—

क्षयाच्च रतिरागमोहभयकारिणां कर्मणां। कषायरिपुनिर्जयः सकलतत्त्वविद्योदयः ॥
अनन्यसदृश सुख त्रिभुवनाधिपत्यं च ते। सुनिश्चितमिद विभो! समुनिसम्प्रदायादिभिः ॥१०॥

भावार्थ—हे विभु! मुनियों के सम्प्रदायों ने यह भले प्रकार निश्चय कर लिया है कि आपने रति, राग, मोह, भय को उत्पन्न करने वाले कर्मों का नाश कर दिया है। इससे आप क्रोधादि कषायरूपी शत्रुओं के पूर्ण विजयी हैं, आपमें सम्पूर्ण तत्वों का ज्ञान उदय होरहा है व आपमें अनुपम आत्मीक सुख है व आप तीन भुवन के स्वामी ही हैं।

पद्धरी छन्द

हे धीर आपका रूप सार, भूषण आयुध वसनादि टार।
विद्या दम करुणामय प्रसार, कहता प्रभु दोष रहित अपार ॥ ९४ ॥

उत्थानिका—मोहादि के नाश होने पर और क्या हुआ सो कहते हैं—

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ—(ते) आपके (समंततः) सब तरफ फैले हुए (अङ्गभासां) शरीर की आभा के (परिवेषेण) परिमण्डल से (भूयसा) अतिशय करके [बाह्यं तमः] बाहरी अन्धकार (अपाकीर्णं) नाश होगया तथा (ध्यानतेजसा) आपके आत्मध्यान के तेज से (अध्यात्मं) अन्तरङ्ग का अज्ञानादि अन्धकार नाश हो गया।

भावार्थ—हे प्रभु! आपके शरीर का तेज ऐसा विशाल है जो चारों तरफ फैल गया और उसने आपके पास एक प्रभामण्डल का रूप धारण कर लिया। इस प्रभामण्डल के प्रकाश से आपके निकट बाहरी अंधकार बिलकुल न रहा। आप जहां समवसरण में विराजते हैं वहां रात दिन का भेद ही नहीं रहता है—सदा ही प्रकाश बना रहता है। आपके

अंतरङ्ग में आत्मध्यान का तेज ऐसा प्रगट हुआ कि जिसने अज्ञान अंधकार को सर्वथा नाश कर दिया, आपमें पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होगया। आप्तस्वरूप में कहा है—

तदा स्फाटिकसंकाशं तेजो मूर्तिमयं वपुः। जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—जब अरहन्त के रागादि दोष क्षय हो जाते हैं तब उनका शरीर सात धातु से रहित स्फटिक पाषाण के समान निर्मल तथा परम तेजरूप हो जाता है—

पद्धरी छन्द

तेरा वपु भामण्डल प्रसार, हरता सब बाहर तम अपार।
तब ध्यान तेज का है प्रभाव, अन्तर अज्ञान हरै कुभाव ॥९५॥

उत्थानिका—इस तरह मोह नाश होने से जो अतिशय प्राप्त हुआ उसकी स्तुति करके अब भगवान की पूजा की महिमा को कहते हैं—

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ! सचेतनम् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ—[सर्वज्योतिषा उद्भूतं] सर्वज्ञपने की ज्योति से उत्पन्न हुआ (तावकः) आपकी (महिमोदयः) महिमा का प्रकाश (नाथ) हे नाथ! (कं सचेतनं सत्त्वं) किस विवेकवान प्राणी को (ते प्रणम्रं न कुर्यात्) आपके आगे नम्रीभूत नहीं कर सकता है?

भावार्थ—हे अरनाथ! आप सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा होगए तब आपका ऐसा महात्म्य प्रगटा कि जो कोई विवेकी प्राणी आपके सामने आया उसी ने ही आपको हृदय से नमस्कार किया। अर्थात् आपका अरहन्त अवस्था का ऐसा प्रभाव है कि हरएक प्राणी आपको नमस्कार करता है, कोई भी आपके सामने उद्धत नहीं रह सकता—बड़े-बड़े गणधर इन्द्र, चक्रवर्ती, पशु-पक्षी सबही आपको बड़ी भक्ति से नमन करते हैं। आप्तस्वरूप में कहा है—

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः। त्रैधातुकविनिर्मुक्तस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ २७ ॥

भावार्थ–जो परम पूज्यनीय है, परमैश्वर्यवान है इससे वही महान ईश्वरपने को प्राप्त है जो तीन धातु जन्म जरा मरण व द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित है। इसीसे वह परमेश्वर है। उसे मैं वन्दता करता हूं।

पद्धरी छन्द

सर्वज्ञ ज्योति से जो प्रकाश, तेरी महिमा का जो विकास।
है कौन सचेतन प्राणि नाथ, जो नमन करै नहिं नाय माथ ॥ ९६ ॥

उत्थानिका–अब भगवान की दिव्यध्वनि का महात्म्य कहते है–

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ—(तव) आपका (श्रीमत्) यथार्थ वस्तु को कथन करने रूप लक्ष्मी को रखने वाला (सर्वभाषास्वभावकम) व सर्व प्राणियों की भाषा रूप होने के स्वभाव को धरने वाला (वागमृतं) वचन रूपी अमृत (संसदि व्यापि) समवसरण की सभा में फैला करके (अमृतं यद्वत्) अमृत के समान (प्राणिनः) प्राणियों को (प्रीणयति) तृप्त करता है।

भावार्थ—आपकी केवलज्ञानमई भूमिका से रची हुई दिव्यध्वनि यथार्थ वस्तु के स्वरूप को कहने वाली है। यद्यपि वह मेघ की ध्वनि के समान निरक्षरी होती है परन्तु उसका यह स्वभाव है कि अनेक भाषा रूप परिणमन कर जाती है–सभा निवासी देव, मानव व पशु सब अपनी २ भाषा में सुनते हैं, सबको ऐसा झलकता है मानो हमारी भाषा में ही प्रभु उपदेश दे रहे हैं। वह वाणी इतनी गम्भीर होती है कि बारह सभावासियों को सबको स्पष्ट सुनाई देती है। वह वाणी ऐसी सुखदाई होती है कि मानो अमृत की धारा बरसती है जैसे–अमृत के पीने से प्राणियों को सन्तोष होता है वैसा संतोष श्रोताओं को होता है। उनका हृदय कमल प्रफुल्लित हो जाता है। वे परमोपकारी उपदेश का लाभ कर अपने हित का सच्चा मार्ग पा लेते हैं। इसी से हे जिनेन्द्र ! आपको परम हितोपदेशी कहते हैं। आप्तस्वरूप में कहा है—

सर्वार्थभाषया सम्यक् सर्वक्लेशप्रघातिनाम्। सत्त्वानां बोधको यस्तु बोधिसत्वस्ततो हि सः ॥४०॥

भावार्थ—जो अर्हन्त भगवान सर्व भाषामय भले प्रकार अर्थ को प्रतिपादन करने वाले वचनों से सर्व प्राणियों को उनके सर्व क्लेश नाश करने के लिये उपदेश देता है वही यथार्थ बोधि सत्त्व व हितोपदेष्टा है।

पद्धरी छन्द।

तुम वचनामृत तत्त्व प्रकाश, सब भाषामय होता विकास।
सब सभा व्यापकर तृप्तकार, प्राणिन को अमृतवत् विचार॥६७॥

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि एकान्त मत में भी एकान्त स्वरूप दिखानेवाले वचनों से भी वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है व उससे प्राणियों को आनन्द भी होता है तब आपके वचनों में ही क्या ऐसा अतिशय है, इस शंका का समाधान करते हैं—

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥६८॥

अन्वयार्थ—(ते) आपका (अनेकान्तात्मदृष्टिः) अनेकान्त मत (सती) सत्य है (विपर्ययः) उससे उलटा एकान्तमत (शून्यः) असत्य है (ततः) उस एकांत मत से (सर्वं मृषोक्तं स्यात्) सर्व ही कथन मिथ्या कहा जायगा (तत् स्वघाततः अयुक्तं) वह एकान्त मत अपना ही घात करने से बिलकुल अयोग्य है।

भावार्थ—आचार्य, शंकाकार को कहते हैं कि एकान्त मत से वस्तु का यथार्थ स्वरूप कहा ही नहीं जा सकता। कोई वैसे ही मन में एकान्त मत से सन्तोष मानले तो यह उसका अज्ञान है। अनेकान्त मत ही वस्तु को यथार्थ प्रतिपादन कर सकता है। इस बात को श्री सुमतिनाथ के स्तोत्र में भले प्रकार बताया जा चुका है। वस्तु का स्वरूप ही अनेक स्वभावरूप है। वस्तु स्वद्रव्यादि की अपेक्षा सत्रूप है, पर द्रव्यादि की अपेक्षा असत्रूप है। वस्तु गुणों की सहचारिता की अपेक्षा नित्यरूप है। पर्याय के पलटने की अपेक्षा अनित्यरूप है। सर्वथा एकरूप मानने से वस्तु अकार्यकारी होती है—वस्तु की सिद्धि ही नहीं हो सकती। यह बात पहले बता चुके हैं। इसलिये अनेकान्त मत ही सच्चा है। एकान्त मत बिलकुल मिथ्या है। एकान्त मत से जो कुछ कहा जायगा

सब मिथ्या होगा। जैसे हम जीव को यदि एकान्त से नित्य माने तो वह सदा कूटस्थ एकसा रहेगा, उसमें न अशुद्धता हो सकती है न कभी वह शुद्ध हो सकता है, तब उपदेश आदि सब निरर्थक हो जायगा, परलोक आदि का सब अभाव हो जायगा। जो कोई एकान्त मत को पकड़नेवाले हैं उनका खंडन स्वयं उनही से हो जायगा। जैसे यदि हम वस्तु को अद्वैत एक ही माने तो आत्मा व परमात्मा का व जीव व ब्रह्म का कोई भेद जो कहा जाता है वह नहीं रहेगा। जैसा कि आप्तमीमांसा में कहा है—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते। कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥२४॥

भावार्थ—यदि अद्वैत का एकान्त पक्ष माना जाय तो जो लोक में भेद दिखलाई पड़ता है वह न रहना चाहिये। कर्ता, कर्म, कारण के भेद न रहेंगे, न क्रिया का भेद रहेगा कि यह दहनक्रिया है यह वचनक्रिया है इत्यादि। तथा एक अकेले से भिन्न २ प्रकार का जगत कैसे उत्पन्न हो सकता है।

पद्धरी छन्द।

तुम अनेकान्त मत ही यथार्थ, यातें विपरीत नहीं यथार्थ।
एकान्त दृष्टि है मृषा वाक्य, निज घातक सर्व अयोग्य वाक्य ॥९८॥

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि अनेकान्त मत में विरोध आदि दोषों का संभव है वह यथार्थ कैसे? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ॥९९॥

अन्वयार्थ—[ये] जो [तपस्विनः] एकान्त मत के माननेवाले तपस्वी [परस्खलितोन्निद्राः] पर जो अनेकान्त मत उसके खंडन करने में जागृत हैं वे [स्वदोषेभनिमीलिनः] अपने एकान्त मत में क्या क्या दोष आते हैं उनके देखने में हाथी के समान हो रहे हैं अर्थात् एकान्त मत में जो दोष आते हैं उनको जानबूझकर छिपा रहे हैं [ते] वे [त्वन्मतश्रियः] आपके अनेकान्त मतरूपी लक्ष्मी के पाने के लिये [अपात्रं] पात्र नहीं है [किं कुर्युः] वे विचारे क्या कर सकते हैं? न तो अपने पक्ष को सिद्ध कर सकते हैं न अनेकान्त का ही खण्डन कर सकते हैं।

भावार्थ—जो अद्वैत एकान्त, नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त आदि एक ही पक्ष के सर्वथा माननेवाले तपस्वी हैं वे ऐसे अपने एकान्त मत के अहंकार में चूर हैं कि अपने मत में जो अनेक दोष आते हैं उनको जानबूझकर छिपाते हैं। जैसे हाथी अपनी आंखों को ऐसी मिली हुई रखता है कि देखता हुआ भी न देखनेवाले के समान अपने को झलकाता है। इसी तरह ये अपने दोषों पर तो ध्यान नहीं देते हैं तथा अनेकान्त जो यथार्थ मत है उसके खण्डन करने के लिये अपनी तैयारी बताते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनकी बुद्धि दुर्मोह से ऐसी मैली हो रही है कि वे श्री जिनेन्द्रदेव के अनेकान्त मत के समझने की योग्यता ही नहीं रखते हैं। वे विचारे इस योग्य नहीं हैं कि अपना पक्ष समर्थन कर सकें व अनेकान्त का खण्डन कर सकें। भावाथ यह है कि अनेकान्त मत भिन्न २ अपेक्षा से भिन्न २ स्वभावों को झलकाता है। इसलिये उसमें विरोध आदि कोई दोष नहीं आ सकते हैं। जो पक्षपात छोड़कर अनेकान्त को समझेगा उसे वस्तु स्वरूप की यथार्थता स्वयं झलक जायगी।

पद्धरी छन्द।

एकान्ती तपसी मान धार, निज दोष निरख गज नयन धार।
ते अनेकान्त खण्डन अयोग्य, तुझ मत लक्ष्मी के हैं अयोग्य ॥९९॥

उत्थानिका—कोई शंका करता है कि यह सब कहना ठीक नहीं है, वस्तु तो वचन अगोचर है, इसका समाधान करते हैं—

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्त्तुमनीश्वराः।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥१००॥

अन्वयार्थ—(ते) वे एकान्तवादी (तं स्वघातिनं दोषं) अपने एकान्त मत के खण्डन करनेवाले दोष को (शमीकर्तुं) दूर करने के लिये [अनीश्वराः) असमर्थ होकर [त्वद्द्विषः] आपके अनेकान्त मत से द्वेष करते हैं (स्वहनाः) व आप अपना बिगाड़ करते हैं ऐसे ही (बालाः) अज्ञानी लोगों ने (तत्वावक्तव्यतां श्रिताः) यही आश्रय पकड़ लिया कि वस्तु का स्वरूप सर्वथा कहा ही नहीं जा सकता।

भावार्थ—जो निर्बुद्धि हैं व तत्त्व के सच्चे स्वरूप के विचार करने में चतुर नहीं हैं वे एकान्त मत का हठ पकड़े हुए उन दोषों का निवारण नहीं कर सकते हैं जो एकान्त

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१०२॥

[तावके न्याये[आपके अनेकांत मत में [स्यात् शब्दः] स्यात् शब्द जो कथंचित् अर्थ में है अर्थात् जो किसी अपेक्षा से कहने वाला है वह [सर्वथा नियमत्यागी] वस्तु सर्व प्रकार से सत् रूप ही है या असत् रूप ही है इत्यादि नियम को हटाने वाला है [यथा दृष्टम अपेक्षकः] जिस तरह प्रमाणज्ञान से जाना गया है इस तरह अपेक्षा को या दृष्टिबिंदु को या नय को दिखाने वाला है [अन्येषां] अन्य जो एकान्तमती [आत्मविद्विषां] अपना ही अपघात या बुरा करने वाले हैं उनके मत में [न] यह स्याद शब्द प्रयोग में नहीं लाया जाता है ।

भावार्थ–हे अरनाथ ! आपके अनेकांत मत में स्यात् शब्द का प्रयोग बहुत ही उचित है। यह शब्द बताता है कि वस्तु किसी अपेक्षा से ऐसी है सर्वथा ऐसी नहीं है। वस्तु सर्वथा सत् है या असत् है, नित्य है या अनित्य है इत्यादि मिथ्या कथन को यह स्यात् शब्द हटाने वाला है। तथा वस्तु किसी अपेक्षा से सत् है या असत् है, नित्य है वा अनित्य है इस बात को वैसा ही झलकाने वाला है जैसा प्रमाण ज्ञान श्रुतज्ञान में विया गया है। स्यात् शब्द वस्तु के यथार्थ स्वरूप को झलकाने वाला है। यह महात्म्य आपके ही अनेकांत मत में है। जो मत एकान्तवादी हैं व जो अपना अत्यन्त बुरा करने वाले हैं उनके यहां स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं है, इसी-से वस्तु का यथार्थ स्वरूप वे सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

पद्धरी छन्द

सर्वथा नियमका त्यागकार, जिस नय श्रुत देखा पुष्टकार।
है स्यात् शब्द तुम मत मंझार, निज घाती अन्य न लखें सार ॥ १०२ ॥

उत्थानिका–शङ्काकार कहता है कि श्री जिनेन्द्र के मत में जिस तरह जीवादि वस्तु नित्य आदि स्वभाव को धारण करने वाली मानी गई है वह किसी अपेक्षा से मानी गई है कि सर्वथा मानी गई है। यदि सर्वथा मानी गई है तो एकांतवाद का प्रसंग आता है, यदि किसी अपेक्षा से मानी गई है तो अनवस्था दोष आता है, इस शंका का समाधान आचार्य करते हैं–

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ—(प्रमाणनयसाधनः) प्रमाण और नय से सिद्ध होने वाला (अनेकांतः अपि) अनेकांत भी (न केवल सम्यक् एकांत) (अनेकांतः) अनेकांत स्वरूप है। अर्थात् किसी अपेक्षा से अनेकांत है व किसी अपेक्षा से एकांत है [ते] आपके मत से [प्रमाणात्] प्रमाण की अपेक्षा से जो सर्व धर्मों को एक साथ जानने वाला है [अनेकांतः] वह अनेकांत अनेक धर्म स्वरूप है व [अर्पितात् नयात्] किसी विशेष नय की मुख्यता से [तद् एकांतः] वह अनेकांत एकांत स्वरूप है अर्थात् एक स्वभाव को बताने वाला है।

भावार्थ—हे अरनाथ स्वामी ! आपके मत में अनेकांत भी किसी अपेक्षा अनेकांत है किसी अपेक्षा से एकांत है। यह मिथ्या एकांत विना अपेक्षा के नहीं है किन्तु अपेक्षा सहित सम्यक् एकान्त है। प्रमाण और नय से अनेकांत स्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है। प्रमाण उसे कहते हैं जो सर्व धर्मों को विषय करने वाला है। नय उसे कहते हैं जो उनमें से एक किसी धर्मको विषय करनेवाला है। प्रमाण की अपेक्षासे अनेकांत अनेकांत स्वरूप हैं अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप वस्तु अनेक धर्म स्वरूप ही दिखती है। वही अनेकांत रूप वस्तु जब किसी विशेष नय की अपेक्षा से देखी जाती है तब एक किसी धर्म स्वरूप दिखती है, उस समय अन्य धर्म गौण होते हैं। तब वह एकान्त स्वरूप कही जाती है। इस तरह अपेक्षा सहित मानने से कोई भी दोष नहीं आता है। अपेक्षा रहित अनेकांत व एकांत सब सदोष होते हैं। वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है, नित्य अनित्य, एक अनेक आदि स्वरूप है। इसी को समझने के लिए प्रमाण और नय दो साधन हैं। प्रमाण की अपेक्षा वह अनेक धर्म स्वरूप झलकती है, नय की अपेक्षा वह एक-एक धर्म स्वरूप झलकती है। नय किसी एक को मुख्य करके व दूसरे धर्मों को गौण करके बताता है। वह एक धर्म को मुख्य करके कहते हुए अन्य धर्मों का अभाव नहीं करता है। इस तरह स्याद्वाद से निर्बाध वस्तु सिद्ध होती है।

पद्धरी छन्द

है अनेकांत भी अनेकांत, साधत प्रमाण नय विना ध्वांत।
स प्रमाण दृष्टि है अनेकान्त, कोई नय मुख से है एकान्त ॥ १०३ ॥

उत्थानिका—अब इस विषय को संकोच करते हैं—

इति निरुपमयुक्तिशासनः प्रियहितयोगगुणाऽनुशासनः ।
अरजिन ! दमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनायकः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—[अरजिन] हे अर जिनेन्द्र ! [इति निरुपमयुक्तिशासनः] इस तरह आपका मत उपमा रहित निर्बाध प्रमाण की युक्तियों से सिद्ध है तथा [प्रियहितयोग-गुणानुशासनः] वह मत सुखदाई व हितकारी मन, वचन, काय की क्रिया का व सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश करने वाला है। ऐसे शासन के स्वामी [त्वम्] आप [दमतीर्थ-नायकः] इन्द्रिय व कषाय को विजय करने वाले धर्मतीर्थ के स्वामी हैं [इव] आपके समान [कः] और कौन है जो [सतां प्रतिबोधनाय] सज्जन पण्डितों को यथार्थ ज्ञान दे सकता है ?

भावार्थ—हे अरनाथ ! आपका शासन ही यथार्थ प्रमाण से सिद्ध है तथा वही आत्महित का सच्चा मार्ग बताने वाला है। आपही सच्चे जिन धर्म के उपदेष्टा हैं। सज्जन जन यही समझते हैं कि आपके समान कोई भी सच्चा बोध देने को समर्थ नहीं है।

पद्धरी छन्द

निरुपम प्रमाण से सिद्ध धर्म, सुखकर हितकर गुण कहत मर्म ।
अरजिन तुम सम जिन तीर्थनाथ, नहिं कोई भवि बोधक सनाथ ॥ १०४ ॥

उत्थानिका—आचार्य इस स्तुति का फल चाहते हैं—

मतिगुणविभवानुरूपतस्त्वयि वरदाऽऽगमदृष्टिरूपतः ।
गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—[वरद] हे उत्कृष्ट मोक्षपद के दाता ! [मतिगुणविभवानुरूपतः] अपनी बुद्धि की शक्ति के अनुकूल [आगमदृष्टिरूपतः] जिनागम में जैसे आपके गुण कहे गये हैं उसी के समान [त्वयि] आपके लिये [किंचन गुणकृशम् अपि उदितं] जो कुछ भी गुणों का अंश मात्र मेरे से वर्णन किया गया है वह [मम दुरितासनोदितम् भवतात्] मेरे पापों को नाश करने में ही समर्थ होवे।

भावार्थ—यहां स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि मैं श्री अर जिनेन्द्र के गुणों के कहने में असमर्थ हूं तथापि जो कुछ मेरे मति श्रुत ज्ञान का अंश है उसके बल से मैंने कुछ गुणों का अंश कहा है, वह भी अपनी मनोकल्पना से नहीं कहा है, किन्तु जिन आगम में जैसा आपके गुणों का निरूपण है उसी के अनुसार कुछ कहा है। यह स्तुति इसीलिये मेरे से की गई है कि जो कुछ कर्म मल मेरे आत्मा में है वह इस स्तुति के द्वारा नाश को प्राप्त हो और मेरा आत्मा पवित्र हो जावे।

पद्धरी छन्द

मति अपनी के अनुकूल नाथ, आगम जिन कहता मुक्तिनाथ ॥
तद्वत् गुण अंश कहा मुनीश, जामे क्षय हों मम पाप ईश ॥ १०५ ॥

---

(१९) श्री मल्लिनाथ स्तुतिः

यस्य महर्षेः सकलपदार्थ-प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
साऽमरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलिभूत्वा प्रणिपतति स्म ॥१०६॥

अन्वयार्थ—[यस्य महर्षेः] जिस मल्लिनाथ महाऋषि के [सकलपदार्थप्रत्यवबोधः] सम्पूर्ण पदार्थों का पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान [साक्षात्] अत्यन्त प्रत्यक्षरूप से [समजनि] उत्पन्न हुआ तब [सामरमर्त्यं] देव व मानव सहित [सर्वं जगत् अपि] सर्व ही जगत के प्राणियों ने [प्राञ्जलिभूत्वा] हाथों को जोड़कर [प्रणिपतति स्म]नमस्कार किया।

भावार्थ—यहां पर श्री मल्लिनाथ तीर्थङ्कर की केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय का दृश्य दिखलाया है। प्रभु ने महान शुक्लध्यान को जगाया उसके प्रभाव से जब घातीय कर्मों का नाश किया तब प्रभु के पूर्ण सर्वोत्कृष्ट असहाय प्रत्यक्ष आत्मीक स्वभाव रूप केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, उस समय चार प्रकार के देव व मानवों ने वारवार हाथ जोड़कर प्रभु को अरहन्त परमात्मा मानकर नमस्कार किया।

प्रभु केवलज्ञानी होकर अपने ज्ञान द्वारा सर्वव्यापी हो जाते हैं तब उनको विष्णु कह सकते हैं. जैसा आत्मस्वरूप में कहा है—

विश्वं हि द्रव्यपर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम् । व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत् ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जिसने तीन लोक के व अलोक के सर्व पदार्थों के द्रव्य गुण पर्यायों को

एक काल जान लिया व जिसका ज्ञान सबमें फैल गया ऐसा जगत्व्यापी अरहन्त ही विष्णु कहलाता है ।

छन्द त्रोटक

जिन मल्लिमहर्षि प्रकाश किया, सब वस्तु सुबोध प्रत्यक्ष लिया ।
तब देव मनुज जग प्राणि सभी, कर जोड़ नमन करते सुखधी ॥ १०६ ॥

उत्थानिका—भगवान के शरीर व वचन की महिमा कहते हैं—

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(यस्य च कनकमयी इव मूर्तिः) जिन मल्लिनाथ का शरीर मानो सुवर्ण से रचा गया है ऐसा सुन्दर सुवर्णमई है [स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा] जिसकी फैलती हुई दीप्ति से शरीर के चारों तरफ भामण्डल बन गया है (वाक् अपि) जिनकी वाणी भी [तत्त्व कथयितुकामा] यथार्थ वस्तु के स्वरूप को कहने को समर्थ है तथा वह वाणी (स्यात्पदपूर्वा) स्यात् या कथंचित् शब्द के साथ में चिह्नित होती हुई (साधून्) साधुओं को (रमयति) रंजायमान करती है ।

भावार्थ—श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर के शरीर का वर्ण सुवर्णमई था—केवलज्ञान अवस्था में वह परमौदारिक होगया था । उसकी दीप्ति कोटिसूर्य से अधिक चमकदार थी तथा उसका प्रभामण्डल रच गया था । भगवान की वाणी भी यथार्थ वस्तु के स्वरूप को प्रकाश करने वाली थी । जिस वाणी को सुनकर साधुजन परम प्रफुल्लित होगए थे । भिन्न भिन्न अपेक्षा से वस्तु के स्वरूप को विचारते हुए जब साधुगण स्यात् शब्द को कथन के पहले लगाकर विचार करते थे तब उनको नित्य अनित्य एक अनेक आदि अनेकांत मई पदार्थ का आनन्द आता था तथा वे आत्मा को अनात्मा से भिन्न समझकर आत्मा में मगन हो परम आनन्द को पाते थे ।

अरहन्त परमात्मा का स्वरूप श्री पदमचन्द्र मुनि कृत धम्मरसायण में कहा है—

संपुण्णचन्दवयणो जडमउडविवज्जिओ णिराहरणो ।
पहरणजुवइमिमुक्को संतियरो होइ परमप्पा ॥ १२२ ॥

लोयालोयविदण्हू, तह्मा णामं जिणस्य विण्हूत्ति।

जह्मा सीयलवयणो तह्मा सो वुच्चए चंदो ॥ १२६ ॥

भावार्थ---अरहन्त परमात्मा का मुख पूर्ण चन्द्र के समान हैं। जटा मुकुट से रहित है, आभरण बिना है, व वस्त्र व स्त्री आदि संग से रहित है तथा परम शांतिकारक है। क्योंकि वे लोकालोक के ज्ञाता हैं। इसलिये जिनेन्द्रनाथ को विष्णु कहते हैं और उनकी वाणी परम शीतल है इसलिये उनको चन्द्रमा कहते हैं।

छन्द त्रोटक

जिनकी मूरति है कनक मयी, प्रसरी भामण्डल रूप मयी।

वाणी जिनकी सत्तत्त्व कथक, स्यात्पदपूर्व यतिगणरंजक ॥ १०७ ॥

उत्थानिका---शङ्काकार कहता है कि आपकी वाणी यदि प्रमाण से बाधित हो तब उनको कैसे रंजायमान कर सकेगी ? इसका समाधान करते हैं।

यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।

भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥ १०८ ॥

अन्वय---(यस्य) जिस भगवान के (पुरस्तात्) सामने (प्रतितीर्थ्याः) एकांत मतवादी (विगलितमाना) अपने मान को खण्डन किये हुए (भुवि) पृथ्वी में (न विवदन्ते) वाद नहीं कह रहे हैं (भूः अपि) पृथ्वी भी (प्रतिपदम्) जहां भगवान के चरण पड़ते हैं (जातविकोशाम्बुजमृदुहासा) फूले हुए सुवर्णमई कमलों के कोमल हास्य को झलकाती हुई (रम्या) शोभनीक (आसीत्) हो जाती है।

भावार्थ–भगवान की वाणी ऐसी सत्यार्थ व अबाधित है कि जिसको सुनकर एकांतमतवालों का मान गलित हो जाता है, वे ऐसे लज्जित हो जाते हैं कि आपके सामने अपने एकांतवाद का प्रकाश नहीं कर सकते। यही कारण है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान गणधरदेव आदि आपकी वाणी सुनकर संतुष्ट हो जाते हैं, उनका मन प्रफुल्लित हो जाता है। भगवान की ऐसी महिमा है कि पृथ्वी भी आनन्द से मग्न हो जाती है। उसका झलकाव तब होता है जब तीर्थङ्कर भगवान का विहार होता है। उस समय आकाश में

देवतागण पन्द्रह पन्द्रह सुवर्णमई कमलों की पन्द्रह पंक्तियां रचते जाते हैं, वे कमल बड़े कोमल विकसित होते हैं। उनही पर प्रभु का विहार होता है। इस रचना को कवि ने इस अर्थ में लिया है मानों पृथ्वी आनन्द में मृदुता से हंस रही है। प्रयोजन कहने का यह है कि जहां२ प्रभु का विहार व विराजना होता है सब प्राणी बड़े आनन्दित रहते हैं। धम्म रसायण में अरहन्त की महिमा बताई है—

अव्वावाहमणंत जह्मा सोक्खं करेइ जीवाणं।
तह्मा सकरणामो होइ जिणो णत्थि संदेहो ॥ १२५ ॥

भावार्थ—क्योंकि जिनेन्द्र भगवान के प्रताप से जीवों को बाधा रहित अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, इसलिए जिनेन्द्र वास्तव में शंकर हैं,इसमें कोई संदेह नहीं है।

छन्द त्रोटक

जिन आगे होई गलित माना, एकांती तजैं वाद थाना।
विकसित सुवरण अम्बुज दल से, भू भी हंसती प्रभुपद तल से ॥ १०८ ॥

उत्थानिका—अब भगवान के वचनों को ग्रहण करने वाले शिष्यों का वर्णन करते हैं—

यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत् ।
तीर्थमपि स्वं जननसमुद्र-त्रासितसत्वोत्तरणपथोऽग्रम् ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थ—(यस्य जिनशिशिरांशोः) जिस मल्लिनाथ स्वामी रूपी चन्द्रमा की परम शीतल वचनरूपी किरणों के (समंतात्) सर्व तरफ (शिष्यकसाधुग्रहविभवः) उनके शिष्य साधुगण रूपी ग्रह तारकों की सम्पत्ति (अभूत्) होती हुई (स्वं तीर्थं अपि) जिनका आत्मानुभव रूपी तीर्थ भी (जनसमुद्रत्रासितसत्वोत्तरणपथोऽग्रम्) संसाररूपी समुद्र से भयभीत प्राणियों को तारने के लिए मुख्य उपाय होता हुआ।

भावार्थ—यहां कवि ने श्री मल्लिनाथ स्वामी को चन्द्रमा की उपमा दी है। जैसे चन्द्रमा की किरणें परम शीतल फैलती हैं वैसे भगवान की वाणी रूपी किरणें परम शांति देने वाली होती चारों तरफ फैलती हुई हैं। जैसे चन्द्रमा के चारों तरफ ग्रह व तारागण शोभते हैं वैसे श्री मल्लिनाथ स्वामी तीर्थंकर के चारों तरफ से ही समवसरण में उनके

शिष्य साधुगणों का समूह शोभता हुआ। भगवान की वाणी से जो आत्मधर्म प्रगटा, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यकचारित्र की एकता रूप परम आत्मानुभवरूप है वह सच्चा धर्मरूपी जहाज है। इस भयानक संसार सागर में डूबते हुए भयभीत प्राणियों को तारने के लिये वही समर्थ है। जो भव्यजीव निश्चय रत्नत्रयमई आत्मानुभव का शरण लेते हैं वे अवश्य कर्म काटकर मुक्त हो जाते हैं। ऐसा ही यथार्थ मोक्षमार्ग है। नागसेन मुनि ने तत्त्वानुशासन में कहा है—

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्य निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः॥ ३२॥

भावार्थ—जो आत्मा वीतरागी होकर अपने आत्मा का आत्मा ही के द्वारा अपने आत्मा में श्रद्धान करता हुआ अनुभव करता है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप होता हुआ निश्चय से मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र का कथन है।

छन्द त्रोटक

जिन चन्द्र वचन किरणें चमकें चहु ओर शिष्य यति ग्रह दमकें।
निज आतम तीर्थ अति पावन है, भवसागर जन इक तारन है॥ १०९॥

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि पहले कहे विशेषण सहित भगवान ने किस तरह कर्मों का क्षय किया जिससे उनको सर्व पदार्थों का ज्ञान हुआ व उनको मोक्ष प्राप्त हुआ, इसका समाधान करते हैं—

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत्।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि॥११०॥

अन्वयार्थ—(यस्य च) जिस मल्लिनाथ की (शुक्लं ध्यानं) शुक्लध्यानरूपी (परमतपोग्निः) उत्कृष्ट तप रूपी अग्नि ने (अनन्तं दुरितं) अनन्त कर्म को (अधाक्षीत्) भस्म कर डाला (तं) उस (कृतकरणीयं) कृतकृत्य (जिनसिंहं) जिनेन्द्रों में प्रधान (अशल्यं) व मायादि शल्यरहित (मल्लि) मल्लिनाथ भगवान की (शरणं इतोऽस्मि) शरण में प्राप्त होता हूं।

भावार्थ—श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर ने प्रथम पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान के

प्रभाव से तो मोहनीय कर्म का नाश किया फिर एकत्व वितर्क अविचार नाम दूसरे शुक्लध्यान की अग्नि से ज्ञानावरण,दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश किया। इस तरह प्रभु अरहन्त परमात्मा हुए। फिर अयोग गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवृत्ति लक्षण चौथे शुक्लध्यान के द्वारा शेष चार अघाति कर्मों को भी भस्म कर डाला। जिन आठ कर्मों का अनादि से प्रवाहरूप सम्बन्ध था व जिनका अन्त करना अति कठिन था उन सब कर्मों को प्रभु ने आत्मध्यान की अग्नि से जला डाला। इस तरह मल्लिनाथ भगवान सर्व कर्मों से रहित होकर मुक्त होगए। प्रभु ने जो कुछ करने योग्य कार्य था उसको कर डाला। अब कोई कार्य करना शेष न रहा। प्रभु का आत्मा बिलकुल निर्मल होगया। कोई माया, मिथ्या, निदान शल्य उनकी आत्मा में नहीं रही। ऐसे शुद्ध परमात्मा श्री मल्लिनाथ की शरण में मैं प्राप्त होता हूं जिससे मेरा आत्मा भी पवित्र हो जावे। श्री नागसेन मुनि ने तत्त्वानुशासन में कहा है—

वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विध ।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥ २८६ ॥

अर्थात्–वज्रवृषभनाराच संहननधारी महात्मा चार प्रकार शुक्लध्यान को ध्याय-कर व आठों ही कर्मों का क्षय कर अविनाशी मोक्ष अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

छन्द त्रोटक

जिन शुक्ल ध्यान तप अग्नि बली, जिससे कर्मौघ अनन्त जली।
जिनसिंह परम कृतकृत्य भये, निःशल्य मल्लि हम शरण गये ॥ ११० ॥

---

(२०) श्री मुनिसुव्रत जिन स्तुतिः

अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ॥ १११ ॥

अन्वयार्थ—(अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिः) जो मुनि योग्य शोभनीक व्रतों में निश्चित

स्थिति रखने वाले हैं, (मुनिवृषभः जो मुनियों में प्रधान मुनिनाथ हैं, (अनघः) व जिन्होंने चार घातिया कर्मरूपी पाप को दूर कर डाला है ऐसे (मुनिसुव्रतः) श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर (भवान्) आप (मुनिपरिषदि) मुनियों की सभा में अर्थात् समवसरण में (निर्बभौ) इस तरह शोभते भये(उडुपरिषत् परिवीतसोमवत्) जिस तरह चन्द्रमा नक्षत्र व तारागणों की सभा से वेष्ठित शोभता है ।

भावार्थ—यहां भी कवि ने श्री मुनिसुव्रतनाथ के नाम की सार्थकता दिखाई है कि मुनि अवस्था में जिस व्यवहार व निश्चयचारित्र की आवश्यकता है उन सबके भले प्रकार धारण करने वाले हैं–अपने मुनि योग्य व्रतों में भले प्रकार स्थित हैं । इसी के प्रभाव से प्रभु ने घातिया कर्मों का नाश किया और वे मुनियों में प्रधान स्नातक पदधारी अरहन्त होगए । तब इन्द्रादि देवों ने समवसरण की रचना की उसके भीतर अष्ट प्रातिहार्य सहित भगवान विराजते हुए मुनिगण सहित ऐसे शोभते हुए जिस तरह चन्द्रमा तारागण सहित शोभता है । धम्मरसायण में कहा है कि–

सिंहासणछत्तत्तयदिव्वोघुणिपुप्फविट्ठिचमराईं :
भामण्डलदुंदुहिम्रो वरतरू परमेट्ठि चिह्नत्थ ॥१२१॥

भावार्थ—जब अरहन्त परमेष्टि मुनिनाथ होते हैं तब ये आठ चिह्न प्रगट होते हैं, १. सिंहासन, २. छत्रत्रय, ३. दिव्यध्वनि, ४. पुष्पवृष्टि, ५. चमरों का ढुरना, ६. भामण्डल, ७. दुंदुभी बाजों का बजना, ८. अशोक वृक्ष का होना ।

स्रग्विणी छन्द

साधु उचित व्रतों में सुनिश्चित भये, कर्म हर तीर्थंकर साधु सुव्रत भये ।
साधुगण की सभा में सुशोभित भये, चन्द्र जिम उडुगणों से सुवेष्ठित भये ॥

उत्थानिका—भगवान के शरीर के महात्म्य को कहते हैं–

परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाऽऽभया ।
तवजिन ! तपसः प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥११२॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (तव) आपका शरीर (परिणतिशिखिकण्ठरागया)

युवान मोर के कण्ठ के नील रंग के समान नील रंग से व (कृतमदनिग्रहविग्रहाभया) कामदेव के मद को जीतने वाले ऐसे परम शांत शरीर की दीप्ति से (तपसः प्रसूतया) व तप के द्वारा उत्पन्न हुई परम शोभा से (ग्रहपरिवेषरुचा इव) पूर्ण चन्द्रमण्डल की चमक के समान (शोभितं) शोभायमान होता हुआ ।

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपके परमौदारिक शरीर की अपूर्व महिमा है। आपके शरीर का वर्ण नील रंग का है, जैसे युवान मोर के कण्ठ का नीला रंग होता है। आपने कामभाव को जीत लिया है इसलिये आपके शरीर में ब्रह्मचर्यपने की परम शान्त निर्विकार आभा चमक रही है। आपने जो परम शुक्लध्यान तप किया उसके प्रभाव से आपके शरीर में सात धातु न रहीं। आपका शरीर स्फटिक के समान निर्मल होगया। आपका शरीर ऐसा चमक रहा है जैसा पूर्णमासी का चन्द्रमा का मण्डल शोभता है। आप्तस्वरूप में कहा है—

सर्वलक्षणसम्पूर्णं निर्मले मणिदर्पणे । संक्रांतिबिम्बसादृश्यं शांतं संचेतयेऽद्भुत ॥६०॥

भावार्थ—श्री अरहन्त का शरीर सर्व लक्षणों से पूर्ण परम शांत अद्भुत ऐसा शोभता है जैसे निर्मल मणि के दर्पण में उकेरी हुई शांति मूर्ति हो। वास्तव में अरहंत के शरीर की महिमा वचन अगोचर है।

मृग्विणी छन्द

मोर के कण्ठ सम नील रङ्ग रङ्ग है, काममद जीतकर शांतिमय अङ्ग है ।
नाथ तेरी तपस्या जनित अङ्ग जो, शोभता चन्द्रमण्डल मई रङ्ग जो ॥ ११२ ॥

उत्थानिका—फिर भी शरीर की शोभा को कहते हैं—

शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमतिविस्मयं यते! यदपि च वांगमनसोऽयमीहितम् ॥११३॥

अन्वयार्थ—(यते) हे साधु ! (तव निजं वपुः) आपका अपना शरीर (शशि-रुचिशुचि) चन्द्रमा की दीप्ति के समान निर्मल है (शुक्ललोहितं) उसमें सफेद रंग का लोहू था (सुरभितरं) बहुत ही सुगन्धित है (विरजः) कोई धूल व मैल से संयुक्त नहीं

है (शिवं) अति सुन्दर व शांत है तथा (अतिविस्मयं) अति आश्चर्य को उपजाने वाला है (यदपि च वाङ्मनसोऽयम् ईहितम्) ऐसी ही शुभ व शांत आपकी वचन व मन की चेष्टा है ।

भावार्थ—तीर्थंकर भगवान के शरीर में जन्म से ही खूब सफेद रंग का लोहू होता है। शरीर चन्द्रमा के समान निर्मल होता है। शरीर में बड़ी भारी सुगन्ध होती है। कोई मल नहीं होता है। केवलज्ञान अवस्था में तो वह शरीर परमौदारिक, परम सुन्दर, परम कांतिमय, परम शांत, परम आश्चर्यकारी हो जाता है। इसी तरह भगवान का द्रव्यमन भी बड़ा ही शुभ रहता है। तथा भगवान की वाणी भी परम पवित्र व हितकारी प्रगट होती है ।

सृग्विणी छन्द

आपके अङ्ग में शुक्ल ही रक्त था, चन्द्रसम निर्मलं रजरहित गंध था।
आपका शांतिमय अद्भुत तन जिनं, मन वचन का प्रवर्तन परम शुभ गणं ॥

उत्थानिका—श्री जिनेश्वर की दिव्यध्वनि से यह सिद्ध होता है कि भगवान सर्वज्ञ हैं ऐसा आचार्य कहते हैं—

स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिनसकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (ते वदतां वरस्य इदं वचनं) आप उपदेश दाताओं में श्रेष्ठ हैं आपका यह वचन कि (चरं अचरं च जगत्) चेतन व अचेतन रूप यह जगत् (प्रतिक्षणं) हरएक समय (स्थितिजननिरोधलक्षणं) उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण वाला है (इति) यही (सकलज्ञलांछनं) इस बात का चिह्न है कि आप सर्वज्ञ हैं।

भावार्थ—सर्व पदार्थों की जैसी अवस्था है उस सबके आप ज्ञाता है। इसीलिये आपने जगत का जैसा वास्तव में स्वरूप है वैसा ही कहा है। यही इस बात का चिह्न है कि आप सर्वज्ञ हैं व इसीलिए आप परम आप्त हैं। इस लोक में कोई लोग जगत को सर्वथा

नित्य मानते, कोई सर्वथा क्षणिक मानते। परन्तु यह चर अचररूप या चेतन अचेतन रूप जगत हरसमय नित्य अनित्य स्वरूप है या उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जगत जीव अजीव द्रव्यों का समुदाय है। ये सब द्रव्य सत्‌रूप हैं। न कभी उपजे हैं न कभी नष्ट होंगे। परन्तु इनमें परिणमन या पर्याय का पलटना सदा हुआ करता है। पर्याय क्रमवर्ती होती हैं। इसलिये पहली पर्याय का नाश होकर उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है, इसलिये यह जगत् पर्याय के पलटने की अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है या अनित्य है। परन्तु गुणों के बने रहने की अपेक्षा ध्रौव्य या नित्य है। सुवर्ण बना रहता है उससे कुण्डल, कड़ा, बाली पर्यायें उत्पन्न होती हैं व नाश होती हैं। जीव वही बना रहता है, यही कभी देव, फिर मनुष्य, फिर पशु, फिर नारकी इस तरह पर्यायों को बदला करता है। शुद्ध द्रव्यों में मात्र स्वभाव सदृश पर्यायें होती हैं। कोई द्रव्य बिना परिणमन के नहीं रहता है, इसलिए द्रव्य हरएक क्षण उत्पत्ति विनाश व ध्रौव्य स्वरूप है। ऐसा ही सच्चा स्वरूप आपने कहा है। इसलिये आप वास्तव में सर्वज्ञ हैं। मोक्षपंचाशिका में कहा है—

गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टं द्रव्यमुच्यते। उत्पत्तिव्ययनैयत्यं पर्यायाः तस्य शाश्वताः ॥ ८॥

भावार्थ—द्रव्य वही कहा जाता है जो गुण पर्यायों को सदा रखने वाला हो। द्रव्य में उत्पत्ति व्यय व ध्रौव्यपना सदा रहता है। गुण द्रव्य के साथ सदा रहते हैं, यही ध्रौव्यपना है। पर्यायों में सदा उत्पत्ति विनाश हुआ करता है।

स्रग्विणी छन्द

जनन व्यय ध्रौव्य लक्षण जगत् प्रतिक्षणं। चित् अचित् आदि से पूर्ण यह हरक्षणं॥
यह कथन आपका चिह्न सर्वज्ञ का। है वचन आपका आप्त उत्कृष्ट का॥ ११४॥

उत्थानिका—भगवान ने आठ कर्मों का नाश किया व मोक्ष पाई, स्तुतिकार भी उसी फल की भावना करता है—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये॥११५॥

अन्वयार्थ—(भवान्) आपने (निरुपमयोगबलेन) उपमा रहित परम शुक्लध्यान के बल से (अष्टकं दुरितमलकलंकं) आठ कर्म महापाप रूप मल कलंक को (निर्दहन्) भस्म कर दिया और आप (अभवसौख्यवान्) संसारातीत अतीन्द्रिय अनन्त सुख के धनी

(अभवत्) होगए। (मम अपि) मेरे लिये भी (भवोपशांतये भवतु) आप संसार के नाश के लिए कारण होवें।

भावार्थ—आत्मा में अनादिकाल से ज्ञानावरण आदि आठ कर्म का मैल लगा हुआ था। उस मैल को हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने आत्मध्यानमई परम शुक्लध्यान के वल से जला डाला। आपने अपने आत्मा को परम शुद्ध कर लिया तब स्वाभाविक आत्मिक इन्द्रिय रहित आनन्द के आप भोक्ता होगए। आप मोक्ष में निरन्तर स्वात्मीक सुख का आनन्द ले रहे हो। हे प्रभु ! मैं भी स्तुति करके यही चाहता हूं कि मेरा भी यह संसार नाश हो और मैं भी आत्मीक सुख को निरन्तर भोगने वाला हो जाऊं। वास्तव में आत्मीक सुख ही सच्चा सुख है।

नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते हैं—

आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरं। घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥ २४२ ॥

भावार्थ—जो आत्मा ही के आधीन है, बाधा रहित है, इन्द्रिय सुख से विपरीत अतीन्द्रिय है, अविनाशी है व जो चार घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न होता है वही मोक्ष सुख है।

सृग्विणी छन्द

आपने अष्ट कर्म कलकं महा, निरुपमं ध्यान बल से सभी है दहा।
भवरहित मोक्ष सुखके धनी होगए, नाश संसार हो भाव मेरे भए ॥ ११५ ॥

---

(२१) श्री नमिनाथ जिन स्तुतिः

स्तुतिस्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीनाज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्न त्वां विद्वान्सततमभि पूज्यं नमिजिनम् ॥ ११६ ॥

आपके सामने अन्य एकांतमती (शुचिरवौ खद्योता इव अभूवन्) आषाढ काल में जब सूर्य निर्मल होता है उस समय जैसे जुगनू चमकते हैं ऐसे हो जाते भए।

भावार्थ--यहां पर यह बताया है कि नमिप्रभु इसलिये पूज्यनीक हुए कि उनमें अरहन्त आप्त के योग्य जिन तीन विशेषणों की आवश्यकता है वे सब प्राप्त होते भए। प्रभु ने पहले तो शुक्लध्यान के बल से घातिया कर्मों का नाश कर डाला। इससे वे अठारह दोष रहित परम वीतराग होगए तथा प्रभु ने केवलज्ञान को झलकाया जिससे सर्व द्रव्यों के सर्व गुण पर्यायों को एक ही काल जान लिया, तीसरे प्रभु ने भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का सच्चा उपदेश दिया। प्रभु का अनेकान्तमई उपदेश आषाढ़ मासके निर्मल सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान होता हुआ। आपके उपदेश के सामने एकांतमतियों का उपदेश ऐसा तुच्छ भासता भया जैसे सूर्य के सामने जुगनू कीटों का प्रकाश लुप्त हो जाता है।

वास्तव में अरहन्त अवस्था परम पूज्यनीय है—

पूजारिहो दु जहना धरणिंदणरिंदसुरवरिंदाणं। अरिरयरहस्समहणो अरहन्तो वुच्चए तम्हा ॥१३४॥

भावार्थ—श्री अरहन्त भगवान धरणेन्द्र, चक्रवर्ती व इन्द्र आदि से पूज्यनीय हैं। प्रभु ने मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण व दर्शनावरण व अन्तराय कर्मको नाश कर डाला है इसी से वे अरहन्त कहलाते हैं।

आपने सर्ववित् आत्मध्यान किया. कर्मबन्ध जला मोक्षमग कह दिया।
आपमें केवलज्ञान पूरण भया, अनमती आप रवि जुगनू सम होगया ॥ ११७ ॥

उत्थानिका—उस समय श्री नमिजिन ने सप्तभंगमय तत्त्व का उपदेश किया, ऐसा आचार्य कहते हैं—

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद् ।
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ॥
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा ।
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ—[सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया] तीन लोक में महान गुरु ऐसे हैं

प्रभु ! आपने [बहुनयविवक्षेतरवशात्] बहुत से नयों की अपेक्षा से व अन्य नयों की अपेक्षा बिना [तत्त्वं गीतं] जीवादि तत्त्व का स्वरूप कहा है। (तत्) वह तत्त्व (विधेयं) अपने स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप है (वार्यं) व पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है, (उभयं) क्रम से कहने पर अस्ति नास्ति स्वरूप है, (अनुभयं च) और एक समय में वचन द्वारा दोनों अस्ति नास्ति धर्मों को न कहने की अपेक्षा तत्त्व अवक्तव्य है [मिश्रं अपि] वही तत्त्व अस्ति अवक्तव्य है,नास्ति अवक्तव्य है,अस्ति नास्ति अवक्तव्य है। [प्रत्येकं] हरएक तत्त्व [सदान्योन्यापेक्षैः] सदा एक दूसरे की अपेक्षा से [अपरिमितैः] अनेक [नियम विषयैः विशेषैः] अपने नियमरूप धर्मों से विशिष्ट है।

भावार्थ—हे नमिजिनेश ! आपने तत्त्व को अनेक अपेक्षाओं से इसीलिए बताया है कि उसके भीतर जो अनेक स्वभाव पाये जाते हैं उनका ज्ञान शिष्य को हो जावे। वस्तु में अनेक स्वभाव एक दूसरे की अपेक्षा से पाये जाते हैं। तत्त्व में सत् असत्पना सिद्ध करने को सात भङ्ग आपने बताये हैं वे इस तरह हैं कि जैसे जीव है अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से, अर्थात् जीव में जीवपने की मौजूदगी है तब ही उसमें अजीवपने की गैर मौजूदगी है अर्थात् जीव अजीव की अपेक्षा से असत् है अर्थात् जीव में अजीवपना नहीं है। जीव अपेक्षा सत् है यह एक भंग है। अजीव अपेक्षा से असत् है यह दूसरा भंग है, दोनों ही सत् असत्पना है इससे जीव सत् असत् उभयरूप है, यह तीसरा भंग है। सत् असत् एक काल में जीव में हैं तथापि वचनोंसे एक साथ कहे नहीं जासकते इससे जीव तत्त्व अनुभय या अवक्तव्य है यह चौथा भंग है। यद्यपि अवक्तव्य है तथापि सत् रूप है, यह पांचवां भंग है, यद्यपि अवक्तव्य है तथापि असत्‌रूप है,यह छठा भंग है। यद्यपि अवक्तव्य है तथापि सत् असत्‌रूप है यह सातवां भंग है। इस तरह नित्य अनित्य, एक अनेक ऐसे दो विरोधी धर्मों को सिद्ध करने के लिये सात भंग किये जा सकते हैं।

इस तरह कथन करके आपने शिष्यों का बहुत बड़ा उपकार किया है।

सृग्विणी छन्द

अस्ति नास्ती उभय वानुभय मिश्र तत्। सप्तभंगीमयं तत् अपेक्षा स्वकृत्।
नियमितं धर्ममय तत्त्व गाया प्रभू। नैक नयकी अपेक्षा जगत गुरु प्रभू॥ ११७॥

उत्थानिका—और भी भगवान के गुणों को कहते हैं—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राऽऽश्रमविधौ ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११६॥

अन्वयार्थ—[भूताना अहिंसा] सर्व प्राणियों की रक्षा अर्थात् पूर्ण अहिंसा [जगति] इस लोक में [परमम् ब्रह्म] परम ब्रह्म या परमात्मस्वरूप [.विदितं] कही गई है, [यत्र आश्रमविधौ] जिस आश्रम के नियमों में [अणुः अपि आरम्भः] जरा भी आरम्भ या व्यापार है (तत्र सा न) वहां वह पूर्ण अहिंसा नहीं हो सकती है। (ततः) इसीलिये (तत्सिद्ध्यर्थं) उस पूर्ण अहिंसा की सिद्धि के वास्ते (परमकरुणः) परम दयावान (भवान्) आपने (उभयं ग्रंथं) दोनों ही अन्तरंग बहिरंग परिग्रह को (अत्याक्षीत्) त्याग कर दिया। (विकृतवेषोपधिरतः न च) तथा आप विकारमय वस्त्राभूषण सहित, यथाजात दिगम्बर लिंग से विरोधी वेषों में आसक्त न हुए।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि नमिनाथ भगवान ने पूर्ण अहिंसा व्रत को पाला। वास्तव में अहिंसा परमात्मस्वरूप है। जहां रागादि भाव होगा वहां आत्मा के वीतराग भाव की हिंसा होगी। अहिंसा वीतरागमय आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा अपने स्वभाव में तल्लीन होता है तब ही पूर्ण वीतरागता है व तब ही पूर्ण अहिंसा है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में कहा है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥

भावार्थ—रागद्वेषादि का नहीं पैदा होना अहिंसा है। उन्हीं का पैदा होना हिंसा है यह जिनागम का सार हैं। दूसरे प्राणी को कष्ट बिना हिंसक परिणाम के नहीं दिया जा सकता है। जिसने हिंसक भावों का अभाव कर दिया है वहां अन्तरंग व बहिरंग दोनों ही प्रकार से अहिंसा मौजूद है। जिस किसी साधुपद में खेतीबारी रोटी बनाना आदि का जरा भी आरम्भ होगा वहां पूर्ण अहिंसा नहीं मिल सकती है। क्योंकि रागभाव के बिना आरम्भ होता नहीं व जहां प्राणी का घात करना पड़े वहां द्वेषभाव होता ही है, इसलिये जिस साधुपद में जरा भी व्यापार व आरम्भ नहीं होगा वहीं पूर्ण अहिंसा पलती है। इस-

लिये आप परम दयावान ने पूर्ण अहिंसा की सिद्धि के लिए अन्तरंग वहिरग परिग्रह का त्याग कर दिया। क्योंकि जहां परिग्रह होगा वहां ही कुछ न कुछ आरम्भ करना पड़ेगा। क्षेत्र, मकान, गाय, भैंसादि, धान्य, सुवर्ण, चांदी, दासी, दास, कपड़े, वर्तन इस तरह १० प्रकार बाहरी परिग्रहों को मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इस तरह १४ प्रकार अन्तरंग परिग्रह को त्याग दिया, इन सब भावों से ममता हटाली। तथा पूर्ण अहिंसा की ही सिद्धि के लिये आप जन्म के बालक के समान वस्त्राभूषण रहित नग्न दिगम्बर साधु के रूप में रहे। आपने जटा सहित, भस्म सहित व अन्य वल्कल, मृगछाला आदि सहित किसी भी विकारमय वेष को धारण न किया। पात्रकेसरिस्तोत्र मेंकहा है—

जिनेश्वर ! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो। विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः ॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता। न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥ ४१ ॥

भावार्थ–हे जिनेन्द्र ! आपके मत में साधु के लिये ऊन आदिके वस्त्र व कपास का वस्त्र व भिक्षा लेने का पात्र आदि का ग्रहण नहीं बताया है, क्योंकि ये सब हिंसा का हेतु है। जो स्वयं शीतादि परीषह सहने को असमर्थ हैं उन्होंने ही सुख का कारण समझकर साधु के लिये वस्त्रादि का रखना बताया है। यदि वस्त्र सहित साधु का भी मार्ग महाव्रत हो जावे व यथार्थ पूर्ण चारित्रमय मोक्षमार्ग हो जावे। तब फिर साधु को नग्न रहना वृथा ही हो जावे, क्योंकि यदि हाथ से ही फल आ जावे तो वृक्ष पर चढ़ने का परिश्रम कौन करे?

स्रग्विणी छन्द

अहिंसा जगत् ब्रह्म परमं कही है. जहां अल्प आरम्भ वहां नहीं रही है।
अहिंसा के अर्थ तजा द्वय परिग्रह, दयामय प्रभू वेष छोड़ा उपधिमय ॥

उत्थानिका—आपके शरीर का रूप ही बताता है कि आप परम वीतराग हैं। ऐसा कहते हैं—

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्तिकरणं।
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातंकविजयम् ॥
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं।
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शांतिनिलयः ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (ते वपुः) आपका शरीर (भूषावेषव्यवधिरहितं) जो आभूषण व वस्त्र आदि के आच्छादन से रहित हैं तथा (शांतिकरणं) जिसमें सर्व इन्द्रिय अपने २ विषयों के ग्रहण से रहित हो शांत होगई हैं। (संचष्टे) यह कहता है कि आपने (स्मरशरविषार्तंकविजय) कामदेव के बाणों के विष से होने वाले रोग को जीत लिया है तथा (भीमै शस्त्रैः विना) भयानक शस्त्रों के बिना ही (अदयहृदयामर्षविलयं) निर्दयी हृदय धारी भीतर होने वाले क्रोध का नाश आपने कर दिया है (ततः) इस कारण से (त्वं) आप (निर्मोहः) मोह रहित वीतराग हैं तथा (शांतिनिलयः) मोक्ष के स्थान हैं या मोक्षरूप हैं (नः शरणं असि) इस कारण हमारे लिये आप शरण रूप हैं।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि श्री नमिनाथ का शांति-ध्यानमय शरीर का रूप जिसमें न कोई वस्त्र है न आभूषण है व जिसमें सर्व इन्द्रियां परम शांत हो रही हैं यह बात देखने वाले को झलकाता है कि प्रभु ने कामदेव को जीत लिया है तथा क्रोधरूपी शत्रु का सर्वथा विलय कर दिया है। इसीसे सिद्ध होता है कि प्रभु मोह रहित हैं व सुखशांति के स्थान मोक्षरूप हैं। क्योंकि हम राग-द्वेष मोह में फंसे हैं जिनसे हमने संसार में बहुत कष्ट पाये हैं व जिनको हम नाश करना चाहते हैं। इसलिये हमें ऐसे ही प्रभु की शरण में जाना चाहिये व उसी का ही आराधन करना चाहिये जो परम वीतराग सर्वज्ञ हैं। हे नमिनाथ भगवान ! आपको ऐसा ही जानकर हमने आपकी शरण ग्रहण की है।

अरहन्त का ऐसा ही स्वरूप धम्मरसायण में कहा है—

जियकोहो जियमाणो जियमायालोहमोह जियमयओ।
जियमच्छरो य जह्मा तह्मा णामं जिणो उत्तो ॥ १३५ ॥

भावार्थ—क्योंकि प्रभु ने क्रोध को, मान को, माया को, लोभ को, मोह को, मदको व ईर्ष्या आदि कुभावों को जीत लिया है इसलिये ही प्रभु जिन कहे गए हैं।

स्रग्विणी छन्द

आपका अङ्ग भूषण वसन से रहित, इन्द्रियां शांत जहं कहत तुम काम जित।
उग्र शस्त्रं विना निर्दयी क्रोध जित्, आप निर्मोह शममय शरण राख नित ॥

(२२) श्री नेमिनाथजिन स्तुतिः

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः ।
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धकमलायतेक्षणः।।१२१।।
हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः ।
शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुंजरोऽजरः।।१२२।।

अन्वयार्थ–(भगवान्) परम ऐश्वर्यवान्, इन्द्रादि से पूज्य (ऋषिः) परम मुनि (परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः) उत्तम शुक्लध्यानरूपी अग्नि से जिसने घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला डाला है, (बुद्धकमलायतेक्षणः) जो फूले हुए कमलपत्र के समान विशाल नेत्रों के धारी हैं, (हरिवंशकेतुः) हरिवंश की ध्वजा हैं, (अनवद्यविनयदमतीर्थनायकः) निर्दोष विनय और इन्द्रिय विजयरूपी धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हैं, (शीलजलधिः) शील के समुद्र हैं, (अजरः) जरा रहित हैं, ऐसे (त्वम्) आप (अरिष्टनेमिजिनकुंजरः) कर्मों की चक्रधारा के जीतने में मुख्य श्रीअरिष्टनेमि जिन तीर्थङ्कर हैं।आपने(ज्ञानविपुलकिरणैः) अपने केवलज्ञान की विशाल किरणों से (सकल प्रतिबुध्य) सर्व जीवों को धर्म मार्ग समझाकर (विभवः) भय से रहित मुक्तपना (अभवः) प्राप्त कर लिया ।

भावार्थ—यहां हरिवंश में उत्पन्न श्री अरिष्टनेमि जिन २२ वें तीर्थङ्कर की सार्थक स्तुति की है। अरिष्ट कर्मों को कहते हैं उनकी नेमि कहिये चक्रधारा उसको जीतने वाले प्रभु हैं। भगवान परम मुनि समचतुरस्रसंस्थान के धारी हैं. इसीलिये उनके लोचन कमल-पत्र के समान विशाल हैं। आपने साधुपद में शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट किया। फिर केवलज्ञानी होकर १८००० शील के धनी हुए। आपका शरीर सदा युवा पुरुष के समान रहा। आपने भव्य जीवों को जैन धर्म समझाया, फिर सर्व कर्मों से छूटकर आप मुक्त होगये।

आप्तस्वरूप में अरहन्त का स्वरूप कहा है—

येनाप्तं परमैश्वर्यं परानंदसुखास्पदं । बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ।। २३ ।।

भावार्थ— जिसने ज्ञानस्वरूप परम ऐश्वर्य को जो परमानन्द का स्थान है प्राप्त कर लिया है तथा जो कृतकृत्यहै उसे बुद्धिमानों ने ईश्वर कहा है।

छन्द त्रोटक

भगवन् ऋषि ध्यान सु शुक्ल किया, ईंधन बहु कर्म जलाय दिया।
विकसित अम्बुजवत् नेत्र धरें, हरिवंश केतु नहिं जरा वरें ॥
निर्दोष विनय दम वृष कर्ता, शुचि ज्ञान किरण जन हित कर्ता।
शीलोदधि नेमि अरिष्ट जिनं, भव नाश भए प्रभु मुक्त जिनं ॥१२१-१२२॥

उत्थानिका—ऐसे भगवान के चरणयुगल की प्रशंसा करते हैं—

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम् ।
पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलाऽरुणोदरम् ॥ १२३ ॥
नखचन्द्ररश्मिकवचाऽतिरुचिरशिखरांगुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मंत्रमुखरा महर्षयः ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—[भवतः] आपके [अमलं] मलरहित [पादयुगलं] चरणकमल [त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम्] इन्द्रों के मुकुटों की मणिरत्न की किरणों के फैलाव से स्पर्शित होते हैं अर्थात् जब इन्द्र नमस्कार करते हैं तब उनके मुकुटों के रत्नों की प्रभा आपके चरणों को स्पर्श करती है [विकसत्कुशेशयदलाऽरुणोदरम्] तथा आपके पाद तल फूले हुए लाल कमल के पत्ते के समान लाल वर्ण हैं [नखचन्द्ररश्मिकवचाऽतिरुचिरशिखरांगुलिस्थलम्] आपके चरणों के नख रूपी चन्द्रमा की किरणों के मण्डल ने अंगुलियों के अग्रभाग को अति शोभनीक कर दिया है ऐसे आपके चरणकमलों को (स्वार्थनियतमनसः) आत्महित करने की मनशा रखने वाले (मंत्रमुखराः) मन्त्रों के कहने में चतुर ऐसे (सुधियः) बुद्धिमान (महर्षयः) महान मुनिगण (प्रणमंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—यहां श्री नेमिनाथ के चरणों की प्रशंसा की है कि वे अत्यन्त निर्मल हैं जो इन्द्रादि देव सदा नमन करते हैं तथा उनके पादतल लाल वर्ण के हैं व नाखूनों की ..त अंगुलियों के शिखरों को अति रमणीक कर रही है। ऐसे चरणों के भावों की ...द्धि में निमित्त कारण जानकर बड़े-बड़े ऋषिगण नित्य नमस्कार करते हैं।

छन्द त्रोटक

तुम पाद कमल युग निर्मल हैं,पदतल द्वय रक्त कमल दल हैं ।
नख चन्द्र किरण मण्डल छाया, अति सुन्दर शिखरांगुलि भाया ।।
इन्द्रादि मुकुट मणि किरण फिरै, तव चरण चूमकर पुण्य भरै ।
निज हितकारी पण्डित मनिगण, मन्त्रोच्चारी प्रणमैं भविगण ।।

उत्थानिका—आपके चरणों को अन्य भी नमन करते हैं ऐसा कहते हैं—

द्युतिमद्रथांगरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः ।
नीलजलदजलराशिवपुः सहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ।। १२५ ।।
हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारऽविन्दयुगलं प्रणेमतुः ।। १२६ ।।

अन्वयार्थ—(गरुड़केतुः) गरुड़ की ध्वजा रखने वाले (ईश्वरः) नारायण श्री कृष्ण महाराज तीन खण्ड के धनी (द्युतिमद्रथांगरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः) जिनका शरीर-मण्डल कांतिमई सूर्य के बिम्ब के समान उनके रथ के पहिये की किरणों से छाया हुआ है (नीलजलदजलराशिवपुः) व जिनका शरीर नील मेघ के समान समुद्रवत् नील रंग का है (हलभृत् च) वे और बलदेव (ते जनेश्वरौ) ये दोनों महाराज प्रजा के स्वामी (स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ) अपने ही कुटुम्बी श्री नेमिनाथ की भक्ति से जिनका मन हर्षित हो रहा है (धर्मविनयरसिकौ) व जो धर्म की विनय के प्रेमी हैं इन दोनों महा पुरुषों ने सहबन्धुभिः) अन्य बन्धुओं के साथ श्री नेमिनाथ के समवसरण में जाकर (चरणारविंद-युगलं) उनके दोनों चरणकमलों को [सुतरां प्रणेमतुः] खूब ही भावों से नमन किया ।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि श्री नेमिनाथ भगवान के भतीजे श्रीकृष्ण नारायण व उनके बड़े भाई बलदेव उस समय प्रजा के स्वामी प्रसिद्ध नरनाथ थे । ये भी जिन भक्त थे । ये दोनों भाई अन्य बन्धुओं के साथ जाते हैं और समवसरण में श्री नेमिनाथ भगवान के चरण कमलों को बड़े भाव से नमन करते हैं ।

छन्द त्रोटक

द्युतिमय रविसम रथचक्र किरण, करती व्यापक जिस अंग धरन ।
है नील जलद सम तन नील, है केतु गरुड़ जिस कृष्ण हलं ।।

दोनों भ्राता प्रभु भक्ति मुदित, वृषविनय रसिक जननाथ उदित।
सहबंधु नेमि जिन सभा गए, युग चरणकमल वह नमत भए ॥ १२५-१२६ ॥

उत्थानिका—जिस पर्वत पर भी जाकर कृष्ण बलदेव ने नेमिनाथ के चरणों को नमस्कार किया उस पर्वत का वर्णन करते हैं—

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलंकृतः ।
मेघपटलपरिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥ १२७ ॥
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्ज्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥१२८॥

अन्वयार्थ—[ऊर्जयंत इति अचलः] ऊर्जयंत या गिरनार नाम का पर्वत आपके मोक्ष होने के कारण [भृशं विश्रुतः] अतिशय करके लोक में प्रसिद्ध होगया। वह पर्वत कैसा है [भुवः ककुदं] जैसे बैल के कंधे का अग्र भाग शोभता है वैसे यह पर्वत पृथ्वी का उच्च अग्रभाग रूप शोभता है [खचरयोषित् उषितशिखरैः अलंकृतः] विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों से यह पर्वत शोभायमान है [मेघपटलपरिवीततटः] जिस पर्वत के किनारों को मेघों ने छा लिया है [वज्रिणा तव लक्षणानि लिखितानि वहति इति तीर्थं] इन्द्र ने आपके मोक्ष स्थल पर जो चिह्न उकेरे उनको रखने वाला है इससे यह तीर्थ है [प्रीतिविततहृदयैः] आपकी तरफ प्रीति दिल में रखने वाले ऐसे [ऋषिभिः] साधुओं के द्वारा [अद्य च] आज भी (परितः) सर्व तरफ से (सतत अभिगम्यते) निरन्तर सेवन किया जाता है, ऐसा यह गिरनार पर्वत जगत में तीर्थ माना गया है।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि श्री ऊर्जयन्त या गिरनार पर्वत श्री नेमिनाथ का मोक्ष स्थल होने से जगत में तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। वहां इन्द्र ने चरण के चिह्न उकेरे हैं उन चिन्हों को धारण करता है, वह पर्वत बड़ा ऊंचा है जिसके तटों पर मेघ घिरे रहते हैं। बड़े २ साधु बड़ी भक्ति से आज भी पर्वत की यात्रा करते हैं। विद्याधरों की स्त्रियां भी पूजने को आती हैं और पर्वत के शिखरों की सेवा करती हुई बड़ी शोभा विस्तारती हैं। इन श्लोकों से यह बात स्वामी ने झलका दी है कि जहां से तीर्थङ्करादि सिद्ध होते हैं उस जगह पर इन्द्र आता है और निर्वाण कल्याणक की पूजा करके वहां चिह्न

उकेर देता है जिससे वह सिद्धक्षेत्र सदा माना जावे व भव्य जीव यात्रा करके परम पुण्य का लाभ करें।

छन्द त्रोटक

भुवि काहि ककुद गिरनार अचल, विद्याधरणी सेवित स्वशिखर।
हैं मेघ पटल छाए जिस तट, तब चिह्न उकेरे वज्र मुकुट॥
इम सिद्ध क्षेत्र घर तीर्थ भया, अब भी ऋषि गण से पूज्य थया।
जो प्रीति हृदय घर आवत हैं, गिरनार प्रणम सुख पावत हैं॥१२७-१२८॥

उत्थानिका—कोई शङ्का करता है कि भगवान को हमारे समान इन्द्रिय जनित ज्ञान है, उनको सर्वज्ञ क्यों कहते हैं? इसका समाधान करते हैं—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नाऽर्थकृत्।
नाथ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ॥ १२९॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नेमिनाथ! (त्वम्) आपने (इदं अखिलं) इस सम्पूर्ण जगत को (युगपत्) एक ही साथ [तलामलकवत्] हाथ में स्फटिक मणि के समान [सदा] सदा के लिये (विवेदिथ) जान लिया। इस आपके ज्ञान को (बहिः अंतः अपि उभयथा च करणं अविघाति) बाहरी इन्द्रियें व अन्तरंग मन ये दोनों ही किसी प्रकार रुकावट नहीं डालते हैं (न अर्थकृत्) ये इन्द्रियें उस प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये कुछ कार्यकारी नहीं हैं।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान को ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा नाश होने से पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रकाश होने से पूर्ण प्रकाशित होता है। उसमें किसी इन्द्रिय या मन की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती है। वह ज्ञान एक ही समय में सर्व जगत के द्रव्यों की सर्व पर्यायों को सदा काल जानता रहता है, वह आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान है। जैसे हथेली पर स्फटिक मणि रक्खा हो तो हथेली की सब रेखाओं को एकदम झलकाता है। अर्थात् वह स्फटिकमणि स्वयं पूर्ण झलकता है। इसी तरह केवलज्ञान सर्व को एकदम जानता है। यद्यपि केवली भगवान के इन्द्रियां व मन होते हैं परन्तु वे कुछ काम नहीं करते। मतिश्रुत ज्ञान ही इनके द्वारा काम करते हैं। वे ज्ञान अब प्रभु के नहीं रहे। न वे

इन्द्रियां केवलज्ञान के प्रकाश में किसी तरह बाधक ही हैं । इस तरह भगवान सर्वज्ञ हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । आप्तस्वरूप में आप्त का स्वरूप ही ऐसा बताया है—

निष्कलबोधविशुद्धसुदृष्टिः, पश्यति लोकविभावस्वभावम् ॥
सूक्ष्मनिरंजनजीव पुनोऽसौ, तं प्रणमामि सदा परमात्मम् ॥

अर्थात्—अरहन्त के निर्मल ज्ञान की शुद्ध दृष्टि प्रकाश हो जाती है जिससे वे लोक के विभाव व स्वभाव सबको जानते हैं । उनका आत्मा सूक्ष्म व कर्म मैल रहित हो जाता है ऐसे उत्कृष्ट आप्त को मैं बारबार नमन करता हूं ।

छन्द त्रोटक

जिननाथ जगत् सब तुम जाना, युगपत् जिम करतल अमलाना ।
इन्द्रिय वा मन नहिं घात करें, न सहाय करें इम ज्ञान धरें ॥ १२९ ॥

अतएव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्॥ १३० ॥

अन्वयार्थ—[अतएव] इन ऊपर लिखित कारणों से (बुधनुतस्य) गणधरदेवादि से नमस्कार योग्य (ते) आपका (न्यायविहितम्) न्यायपूर्ण व आगम में कथित अनुष्ठान किया हुआ (अद्भुतोदयम्) व आश्चर्यकारी प्रताप को धरने वाला (चरितगुणं) आपके चरित्र का महात्म्य (अवधार्य) हृदय में धारण करके (जिने) हे जिनेन्द्र ! (त्वयि) आपके अन्दर (सुप्रसन्नमनसः) अत्यन्त भक्ति से मन लगाने वाले (वयम्) हम लोग (स्थिताः) हाथ जोड़े खड़े हैं ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका महात्म्य जो केवली अवस्था में प्रकट हुआ उसको जानकर अर्थात् यह देखकर कि आप सर्वज्ञ हैं आपका उपदेश परम हितकारी है, आपके भीतर क्षुधा आदि १८ दोष नहीं हैं, आपकी वाणी सब मानव देव व पशु को अपनी भाषा में समझ में आती है, आपको गणधरादि व नारायण बलदेव व इन्द्रादि सब ही नमन करते हैं, हम लोग आपकी भक्ति में तल्लीन हुए आपको हाथ जोड़े नमन कर रहे हैं क्योंकि आप ही नमन के योग्य हैं ।

छन्द त्रोटक

यातें हे जिन बुध नुत तव गुण, अद्भुत प्रभावधर न्याय सगुण ।
चिंतनकर मन हम लीन भए, तुमरे प्रणमन तल्लीन भए ॥ १३० ॥

---

(२३) श्री पार्श्वनाथजिन स्तुतिः

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः ।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ—(यो महामना) जो महान धीर श्री पार्श्वनाथ भगवान (वैरिवशैः) कमठ के जीवरूपी वैरी से (तमालनीलैः बलाहकैः) तमाल वृक्ष के समान नील मेघों के द्वारा (सधनुस्तड़िद्गुणैः) बिजलीरूपी डोरी को रखने वाले इन्द्र-धनुष द्वारा (प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः) भयङ्कर वज्रपात व मोटी हवा व भयंकर जलवृष्टि द्वारा (उपद्रुतः) उपसर्ग किये जाने पर भी (योगतः) परम ध्यान से (न चचाल) चलायमान न होते हुए ।

भावार्थ—श्री पार्श्वनाथ का जीव जब मरुभूत ब्राह्मण था तब कमठ उसका बड़ा भाई था.तब से कमठके जीव में पार्श्वनाथ के जीव से वैर बंध गया । यद्यपि मरुभूतके जीव में वैर न था इसलिये इसने पार्श्वनाथजी के जीव को हर भव में कष्ट दिया । जब पार्श्वनाथ तीर्थंकर तप अवस्था में ध्यान कर रहे थे तब कमठ का जीव ज्योतिषी देव हुआ था। भगवान को ध्यान करता देखकर इसने घोर उपसर्ग किया । काले २ बादल दिखाए,बिजली चमकाई, पवन चलाई, जल वृष्टि कराई, बिजली गिराई आदि बहुत ही कष्ट दिये परन्तु धीर वीर प्रभु पार्श्वनाथ ने अपने ध्यान को छोड़कर जरा भी संक्लेश भाव नहीं किये ।

पद्धरी छन्द

जय पार्श्वनाथ अति धीर वीर, नीले बादल बिजली गम्भीर ।
अति उग्र वज्र जल पवन पात, वैरी उपद्रुत नहिं ध्यान जात ॥ १३१ ॥

उत्थानिका—जब भगवान को उपसर्ग हुआ तब धरणेन्द्र ने क्या किया—

बृहत्फरणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिगरुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ।।

अन्वयार्थ–(धरणः नागः) धरणेन्द्र नाम के नागकुमार इन्द्र ने (यं उपसर्गिणं) जिस उपसर्ग से पीड़ित पार्श्वनाथ को (स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा) चमकती हुई बिजली के रंग समान पीत रंगधारी(बृहत्फरणामण्डलमण्डपेन)बड़े फणों के मण्डलरूपी मण्डप से (जुगूह) वेष्ठित कर दिया (यथा) जिस तरह (विरागसंध्यातडिदंबुदः) लाली रहित काली संध्या के समय बिजली सहित मेघ (धराधरं) पर्वत को बेढ़ लेते हैं।

भावार्थ--यहां पर यह दृश्य दिखाया है कि जब पार्श्वनाथ भगवान पर उपसर्ग पड़ रहा था उस समय धरणेन्द्र सूर्य के रूप में आता है और बिजली के समान चमकते हुए अपने फणों का मण्डप प्रभु के ऊपर कर लेता है जिससे प्रभु की रक्षा पवन जलादि से हो जाती है। उस समय का दृश्य ऐसा मालूम होता था मानों पर्वत को काली संध्या के समय बिजली से चमकते हुए मेघों ने घेर लिया हो। उपसर्ग के समय खूब अंधेरा था,बादल नीले छा रहे थे,तब एक तरफ बिजली चमकती थी, दूसरी तरफ धरणेन्द्र के फण पीले चमकते थे जिससे ऐसा ही दृश्य दिखता था कि पर्वत को बिजली सहित मेघों ने घेर लिया हो।

पद्धरी छन्द

धरणेन्द्र नाग निज फण प्रसार बिजलीवत् पीत सुरङ्ग धार।
श्री पार्श्व उपद्रुत छाय लीन, जिम नग तडिदम्बुद सांझ कीन ।। १३२ ।।

उत्थानिका—उपसर्ग निवारण होने पर प्रभु ने क्या किया सो कहते हैं—

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ।। १३३ ।।

अन्वयार्थ—(यः) जिस पार्श्वनाथ भगवान ने (स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया) अपने शुक्लध्यान रूपी खड्ग की तेज धार से (दुर्जयमोहविद्विषं) अत्यन्त दुर्जय मोहरूपी शत्रु को (निशात्य) क्षय करके (त्रिलोकपूजातिशयास्पदं) तीन लोक के प्राणियों से पूजा

के महात्म्य के स्थान व (अद्भुतं) आश्चर्यरूप (अचिन्त्यम्) चिंतवन में न आने योग्य (अर्हन्त्यपदम्) अरहन्त पद को (अवापत्) प्राप्त कर लिया।

भावार्थ—उपसर्ग के हटते ही प्रभु ने १०वें सूक्ष्मलोभ गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म को प्रथम शुक्लध्यान की खड्गधार से क्षय कर डाला, फिर बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान में एक अंतमुहूर्त ठहरकर दूसरे शुक्लध्यान की तलवार से एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातीय कर्मों का नाश किया व अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व,क्षायिक चारित्र व अनन्त सुख को प्रकाश कर तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में अरहन्त पद को प्राप्त किया जिसकी महिमा परम अद्भुत है, जो चिन्तवन में ही नहीं आ सकती है व जिस पद को तीन लोक के प्राणी पूजते हैं। आप्त स्वरूप में अरहन्त का स्वरूप कहा है—

अर्हन् प्रजापतिर्बुद्धः परमेष्ठी जिनोऽजितः। लक्ष्मीभर्ता चतुर्वक्त्रो केवलज्ञानलोचनः ॥४५॥

भावार्थ—अरहन्त भगवान सब प्रजा के स्वामी, परम बुद्ध, परम पद में स्थित, कर्म विजयी, महावीर अजित, समवसरण लक्ष्मी के धर्ता, केवलज्ञान नेत्र के धारी व सभा में चारों तरफ सबको दिखने वाले ऐसे होते भए।

पद्धरी छन्द

प्रभु ध्यानमई असि तेजधार, कीना दुर्जय मोह प्रहार।
त्रैलोक्य पूज्य अद्भुत अचिन्त्य, पाया अरहन्त पद आत्मचिन्त्य ॥१३३॥

उत्थानिका—ऐसे प्रभावशाली श्री पार्श्वनाथ को देखकर वनवासी तपसी अपने असत् मार्ग को फल रहित जानकर भगवान के मार्ग की इच्छा करते भए, ऐसा कहते हैं—

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थ–(यं विधूतकल्मषं ईश्वरं) जिन घाति कर्म रहित परमात्मा पार्श्वनाथ के महात्म्य को (वीक्ष्य) देखकर (वनौकसः) वन में रहने वाले (तेऽपि तपोधनाः) एकांतमती तपस्वी भी (स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः) अपने मिथ्या तप से फल न होता जानकर

(तथा बुभूषवः) आपके समान होने की इच्छा करते हुए। [शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे] आपके शांतिमय उपदेश की शरण आते हुए।

भावार्थ—आप केवलज्ञानी के उपदेश से सरल परिणामी भव्य जीवों ने तो मोक्ष पाया ही परन्तु बड़े २ कट्टर एकांतमती तपस्वी भी आपके अद्भुत महात्म्य को देखकर अपने मिथ्या आत्मज्ञान रहित तप को असार जानकर आपकी शरण में आते हुए तथा आपसे धर्मोपदेश लाभ कर जैन साधु को अपना सच्चा हित करते भए।

पद्धरी छन्द

प्रभु देख कर्म से रहित नाथ, बनवासी तपसी आये साथ।
निज श्रम असार लख आप चाह, धरकर शरण ली मोक्षराह ॥ १३४ ॥

उत्थानिका—ऐसे भगवान की तरफ मेरा क्या कर्तव्य उसे आचार्य कहते हैं—

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ॥
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ॥

अन्वयार्थ—(सः पार्श्वजिनः) वह श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर (उग्रकुलांबुरांशुमान) उग्रवंशरूपी आकाश में चन्द्रमा के समान प्रकाशमान [समग्रधीः] केवलज्ञानी [सत्यविद्यातपसां प्रणायकः]सत्यज्ञान व तप का साधन बताने वाले[विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः] व जिन्होंने मिथ्या एकान्त मार्गरूपी मतों के भ्रम को अपने अनेकांत मत से दूर कर दिया है ऐसे प्रभु [मया] मुझ समन्तभद्र द्वारा [सदा प्रणम्यते] सदा प्रणाम किये जाते हैं।

भावार्थ—श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि मैं श्री पार्श्वनाथ भगवान को सदा प्रणाम करता हूं क्योंकि प्रभु ने अपने उग्रवंश को उज्ज्वल किया, केवलज्ञान का लाभ किया, सत्य मार्ग जीवों को बताया व एकांत मत के अन्धकार को अनेकांत मत के प्रकाश से दूर हटाया।

पद्धरी छन्द

श्रीपार्श्व उग्र कुल नभ सुचन्द्र, मिथ्यातम हर सत् ज्ञानचन्द्र।
केवलज्ञानी सत मग प्रकाश, हूं नमत सदा रख मोक्ष आश ॥ १३५ ॥

(२४) श्री महावीरजिन स्तुतिः

कीर्त्या भुवि भासितया वीर त्वं गुणसमुत्थया भासितया ।
भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुंदशोभासितया ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ–[वीर] हे वीर ! [त्वं] आप [भासितया] उज्ज्वल [गुणसमुत्थया] अपने आत्मीक गुणों से उत्पन्न [तया कीर्त्या] उस धवल यश से [भुवि] पृथ्वी में [भासि] शोभ रहे हो (व्योम्नि कुन्दशोभासितया उडुभासितया भासा सोम इव) जिस तरह आकाश में चन्द्रमा कुन्द पुष्प की सी सफेद शोभा रखने वाले नक्षत्रों की सभा से विराजित शोभता है ।

भावार्थ—जिस तरह आकाश में चन्द्रमा सफेद नक्षत्रों से वेष्ठित शोभता है उस तरह हे महावीर स्वामी ! आप अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों की निर्मल कीर्ति से जगत में शोभते हुए ।

त्रोटक छन्द

तुम वीर धवल गुण कीर्ति धरे, जग में शोभे गुण आत्म भरे ।
जिम नभ शोभे शुचि चन्द्र ग्रहं, सित कुंद समं नक्षत्र ग्रहं ॥ १३६ ॥

उत्थानिका—महावीर प्रभु के ऐसे कौन से गुण हैं जिनसे उनकी कीर्ति जग में फैली, सो कहते हैं—

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशासनविभवः स्तुवंति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! [तव शासनविभवः] आपके मत का महात्म्य (गुणानुशासनविभवः) जो भव्य जीवों के संसार का नाश करने वाला है सो (कलौ अपि) इस पंचमकाल में भी (जयति) जयवन्त हो रहा है । अपनी सर्व उत्कृष्टता बता रहा है । (च) तथा (एनं) इस आपके शासन की (दोषकशासनविभवः) दोषरूपी कोड़ों को जो दूर करने में समर्थ हैं तथा (प्रभा कृशासनविभवः) जिन्होंने अपनी ज्ञान की महिमा

से लोक प्रसिद्ध हरिहरादिक के महात्म्य को क्षीण कर डाला है ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी के निकटवर्ती गणधरादि देव (स्तुवन्ति) स्तुति करते रहते हैं।

भावार्थ–आपकी कीर्ति इसीलिये जगत में उज्वलरूप फली है कि आपका बताया हुआ मोक्ष का मार्ग परम उत्कृष्ट है। इस पंचमकाल में भी अपनी महिमा से मिथ्यामार्ग को हटाने वाला है। जो भव्यजीव गुणप्रेमी आपके शासन का आश्रय लेते हैं उनके राग द्वेष मोहरूपी संसार का नाश हो जाता है तथा आपके धर्म की महिमा निरन्तर गणधरादि देव गाते हैं। जो रागादि दोषों को दूर करने में समर्थ हैं व जो चार ज्ञान के धारी हैं व जिनके ज्ञान के सामने लोकों से माने हुए हरिहरादि की महिमा क्षीण हो गई है।

त्रोटक छन्द

हे जिन तुम शासन की महिमा, भविभवनाशक कलिमांहि रमा।
निज ज्ञान प्रभा अनक्षीण विभव, मलहर गणधर प्रणमैं मत तव ॥ १३७ ॥

उत्थानिका—वे गणधर देव किस तरह आपके शासन की महिमा गाते हैं–

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥१३८॥

अन्वयार्थ–(तव) आपका (स्याद्वादः) अनेकान्त शासन (अनवद्यः) दोषरहित है, कारण यह है कि वह (दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः) प्रत्यक्षादि प्रमाण व आगम से विरोध न आवे इस तरह स्यात् या कथंचित् या किसी अपेक्षा से वस्तु के स्वभावों को यथार्थ कहने वाला है। (इतरः) इसके सिवाय जो एकान्त मत है (स्याद्वादः न) वह प्रमाण भूत आगम नहीं है, क्योंकि (मुनीश्वर) हे मुनीश्वर ! (सः द्वितयविरोधात्) वह एकान्त प्रत्यक्षादि प्रमाण व आपके सत्य आगम से विरोधरूप है। इसलिये यह (अस्याद्वादः) स्याद्वाद रूप नहीं है अर्थात् भिन्न २ अपेक्षा से भिन्न २ स्वभावों को सिद्ध करने वाला नहीं है।

भावार्थ—हे मुनीश्वर ! आपका मत अनेकान्त है। वस्तु में नित्य अनित्य एक अनेक सत् असत् जो अनेक स्वभाव हैं उनको भिन्न २ अपेक्षा से बताने वाला है तथा स्याद

शब्द उसका चिह्न है । तथा वह इस तरह वस्तु के यथार्थ स्वभाव को दिखाता है कि उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाण व जिन आगम से कोई बाधा नहीं आती है । आपके सिवाय जो एकांत मत हैं, जो सर्वथा वस्तु को नित्य या अनित्य या सत् या असत् मानने वाले हैं वे दोष सहित हैं; क्योंकि उनका खण्डन प्रत्यक्षादि प्रमाण व जिन आगमसे हो जाता है तथा उनमें स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं बनता है, इसलिये वे अस्याद्वाद हैं, दोषरूप हैं ।

त्रोटक छन्द

हे मुनि तुम मत स्याद्वाद अनघ, दृष्टेष्ट विरोध विना स्यात् वद ।
तुमसे प्रतिपक्षी बाध सहित, नहिं स्याद्वाद हैं दोष सहित ।। १३८ ।।

उत्थानिका—और भी भगवान के गुणों को कहते हैं—

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामाऽमहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ।। १३९ ।।

अन्वयार्थ—(त्वं) हे वीर ! आप (सुरासुरमहितः) सुर असुर अर्थात् कल्पवासी भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी चार प्रकार देवोंसे पूजनीय हो (ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः) किन्तु मिथ्यादृष्टि जीवों के चित्त के प्रणाम द्वारा आप पूज्यनीय नहीं हो अर्थात् मिथ्यात्वी जीव आपको पहिचानते ही नहीं हैं इसलिये उनकी मिथ्या आशय से भरी स्तुति द्वारा आपकी पूज्यता नहीं है । अथवा जिस तरह रागी द्वेषी देवों की स्तुति होती है उस तरह आपकी स्तुति यदि की जाय तो उससे आपकी पूज्यता नहीं है । (लोकत्रयपरमहितः) आप तीन लोक के प्राणियों के परम हितकारी हैं (अनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः) तथा केवलज्ञानमई ज्योति से प्रकाशमान मोक्षधाम में आप विराजित हैं ।

भावार्थ—श्री वीरनाथ भगवान की महिमा यहां यह बताई है कि प्रभु की सम्यग्दृष्टी जीव ही स्तुति कर सकते हैं क्योंकि वे आपको पहिचानते हैं। मिथ्यात्वी रागी द्वेषी जीव के स्तुति योग्य आप नहीं हैं । आपको चार प्रकार के देव पूजते हैं । आपका उपदेश सब जगत के प्राणियों का हितकर्ता है व आपने भाव मोक्ष प्राप्त करली है ।

त्रोटक छन्द

हे जिन सुर असुर तुम्हें पूजें, मिथ्यात्वी चित नहिं तुम पूजें ।
तुम लोकत्रय हित के कर्ता, शुचि ज्ञानमई शिव घर धर्ता ।। १३९ ।।

उत्थानिका—और भी भगवान की महिमा कहते हैं—

सभ्यानामभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम् ।
मग्नं स्वस्यां रुचितं जयसि च मृगलांछनं स्वकान्त्या रुचितम् ।१४०।

अन्वयार्थ—हे जिन ! आप (सभ्यानामभिरुचितम्) समवसरण स्थित भव्यों को प्रिय ऐसे (श्रिया चारुचितं) केवलज्ञानादि लक्ष्मी से अत्यन्त पुष्ट (गुणभूषणं) ऐसे अनेक गुणरूपी शोभा को (दधासि) धारण कर रहे हो तथा आप (स्वकान्त्या) अपने शरीर की कांति से (स्वस्यां रुचिमग्नं) आपका शरीर की शोभा में डूबे हुए (रुचितं) जगत को प्रिय (तं मृगलांछनं च) उस मृग लक्षण वाले चन्द्रमा को भी (जयसि) जीत लेते हो ।

भावार्थ—आपके पास अन्तरंग केवलज्ञानादि गुण व बाहर क्षुधादि दोष रहित परम शान्त शरीर आदि गुण विद्यमान हैं जो सब भव्यों को अत्यन्त प्रिय हैं । तथा आपकी शरीर की चमक ऐसी विशाल है कि उसमें चन्द्रमा ऐसा डूब जाता है कि कहीं पता नहीं चलता अर्थात् आपने अपने शरीर की शोभा से चन्द्रमा को भी जीत लिया है ।

त्रोटक छन्द

हे प्रभु गुणभूषण सारधरें. श्री सहित सभा जन हर्ष करें ।
तुम वपु कांती अति अनुपम है. जगप्रिय शशि जीते रुचितम है ॥ १४० ॥

उत्थानिका—और भी भगवान में क्या २ गुण हैं सो कहते हैं—

त्वं जिन ! गतमदमायस्तव भावानां मुमुक्षुकामद मायः ।
श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयाम दमाऽयः ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (त्वं) आपमें (गतमदमायः) मान व माया नहीं है अथवा जो भव्यजीव आपका आराधन करते हैं वे मान व माया से छूट जाते हैं (तव) आपका (भावानां मायः) जीवादि पदार्थों का जो प्रमाण ज्ञान है वह (मुमुक्षु-कामद) मोक्ष की इच्छा रखने वालों की इच्छा को पूर्ण करने वाला है तथा वह (श्रेयान्) बाधा रहित परम हितकर है । (त्वया) आपने (श्री मदमायः) लक्ष्मी के मद के नाश

का अथवा जिससे हेयोपादेय तत्त्व का ज्ञान हो व स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति हो ऐसे कपट रहित तत्त्व का (सप्रयामदमायः) व व्रत सहित इन्द्रिय जय की प्राप्ति का (समादेसि) उपदेश किया ।

भावार्थ--यहां बताया है कि प्रभु में पूर्ण मार्दव व आर्जव धर्म है। जो प्रभु को पहचानते हैं वे भी मान माया को त्याग देते हैं। प्रभु का केवलज्ञान जीवादि पदार्थों को यथार्थ जानने वाला है व उस ज्ञान का प्रकाश जो दिव्यध्वनि के द्वारा होता है उससे मुमुक्षु जीवों को सच्चा मोक्षमार्ग मिल जाता है व वह बहुत परम कल्याणकारी है। आपने उपदेश ही ऐसा दिया है जिससे मायाशल्यरहित भव्य जीव ऐसा चारित्र पालें जिससे लक्ष्मी का मद न रहे व वे स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति कर सकें व वे मुनि व श्रावक के व्रतों को पालते हुए साक्षात् जिन व जितेन्द्रिय हो सकें ।

त्रोटक छन्द

हे जिन मायामद नाहिं धरो, तुम तत्त्व ज्ञान से श्रेय करो ।
मोक्षेच्छु कामकर वच तेरा, व्रत दमकर सुखकर मत तेरा ।। १४१ ।।

उत्थानिका--और भी भगवान की स्तुति करते हैं--

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः ।
तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगत प्रमादानवतः ।। १४२ ।।

अन्वयार्थ--(तव गतम्) आपका पृथ्वी में विहार (ऊर्जितम्) परम उदार व हितकारी हुआ (समवादान् अवतः) आपने शांतिप्रद आगम की रक्षा की व (अपगत-प्रमादानवतः) व सर्व प्राणियों को अभयदान आपने दिया। आपके विहार से किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचा। आपका विहार (श्रीमतः दन्तिनः इव) उत्तम भद्र जाति के हाथी के गमनके समान हुआ जो (स्रवद्दानवतः) अपने मदको बहाने वाला है व (गिरिभित्त्यवदानवतः) जो पर्वत के किनारों को खण्डन करता हुआ जा रहा है।

भावार्थ--जैसे उत्तम हाथी विहार करता हुआ मन्द-मन्द चाल से चलता हुआ मद को बहाता है व पर्वत के किनारों को अपने दांतों से खण्डन करता है इस तरह हे प्रभु ! आपका विहार पृथ्वी में हुआ। आपने धर्मोपदेश रूपी अमृत का प्रवाह बहाया व

आपने मत से एकांत मत का खण्डन किया तथा आपने जिनागम का प्रचार किया व आपके विहार से किसी को कष्ट नहीं पहुंचा।

छन्द त्रोटक

हे प्रभु तव गमन महान हुआ, शममत रक्षक भय हान हुआ।
जिन वरहस्तो मद-स्रवन करै, गिरि तट को खंडन गमन करै ॥ १४२ ॥

उत्थानिका—अब बताते हैं कि आपके मत में व पर के मत में क्या अन्तर है—

बहुगुणसंपदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नय भक्त्यवतंसकलं तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थ–(मधुरवचनविन्यासकलं अपि) मीठे २ वचनों की रचना से भरपूर होने पर भी (परमतं) आपसे भिन्न अन्य एकांतमत (बहुगुणसंपत् असकलं) बहुत जो सर्वज्ञ वीतरागादि गुणों की प्राप्ति से पूर्ण नहीं हैं अर्थात् उनके सेवन से आत्मा का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। आत्मा सर्वज्ञ वीतराग नहीं हो सकता। (देव) हे श्री वीर भगवान् ! (तव मतं) आपका शासन (सकलं) समस्तपने (समन्तभद्रं) सब तरह कल्याणकारी है तथा (नयभक्त्यवतंसकलं) आपका मत नैगमादिनय तथा उनके भंग स्यात् अस्ति आदि इन कर्ण भूषणों से परिपूर्ण है अर्थात् शोभायमान है।

भावार्थ—हे वीर भगवान् ! आपका मत व शासन अनेक नयों से व भंगों से भले प्रकार सिद्ध हो सकता है व वह पूर्णपने जीव का हितकारी है। इस आत्मा को सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा कर देने वाला है इसलिए ग्रहण योग्य यथार्थ है। इसीसे समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि मैंने उसे परम कल्याणकारी जानकर स्वीकार किया है। श्लोक में समन्तभद्र शब्द रखने से कवि ने अपना नाम भी सूचित किया है तथा आपके अनेकांत मत से विरुद्ध एकांत मत शब्द रचना में कैसे भी सुन्दर हों परन्तु वे आत्मा को पूर्ण मोक्षमार्ग बताने के लिये असमर्थ हैं, उनके सेवन से यह जीव सर्वज्ञ वीतराग व परमात्मा नहीं हो सकता है। धन्य हैं श्री महावीर स्वामी ! आपका शासन इस समय भी हम जीवों को यथार्थ हितकारी मार्ग बता रहा है।

त्रोटक छन्द

परमत मृदुवचन रचित भी है, निज गुण संप्राप्ति रहित वह है।
तव मत नय भग विभूषित है, सुसमन्तभद्र निर्दूषित है ॥ १४३ ॥
पूर्ण किया-आश्विन वदी ८ वीर सं० २४५६ ता० १६-६-१६३०

स्वयंभू स्तोत्र का सार

श्री समन्तभद्राचार्य ने यह २४ तीर्थंकरों की स्तुति रची है इसमें मुख्यता से दो ही बात बताई हैं जो मुमुक्षु जीव के लिये परम उपयोगी हैं। एक तो यह बताया है कि वस्तु अनेकान्त स्वरूप है। अनेक स्वभावमई वस्तु को माने बिना वस्तु का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। जो एक धर्मरूप मानते हैं उनके मत में वस्तु का पूरा स्वभाव नहीं कहा जाता है। वस्तु अपनी अपेक्षा सत् है पर की अपेक्षा असत् है। द्रव्य व गुणों के बने रहने की अपेक्षा नित्य है, पर्याय पलटने की अपेक्षा अनित्य है। गुण पर्यायों का समुदाय होने से वस्तु एकरूप है। हरएक गुण व पर्याय रूप वस्तु भिन्न भिन्न स्वरूप है इससे अनेक रूप है। इस तरह आत्मा व पुद्गल द्रव्यों को माना जायगा तब भिन्न भिन्न द्रव्य सत्रूप आदि सिद्ध होंगे व तब ही बंध व मोक्ष होना बन सकेगा। एकरूप ही मानने से कुछ भी न बनेगा। दूसरी बात यह बताई है कि तृष्णा व विषय की चाह कभी इन्द्रियों के भोगों से शमन नहीं हो सकती है। तृष्णा ही क्लेश है। यह क्लेश संसार की मग्नता से बढ़ता जाता है। इसलिए तृष्णा का नाश करना चाहिये। उसका उपाय अपने आत्मा का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र है। अपने आत्मा को निश्चय से शुद्धज्ञानानन्दमई अनुभव करना चाहिये। इस स्वात्मानुभव के अभ्यास से आत्मिक सुख की प्राप्ति होगी तब तृष्णा मिटती चली जायगी, वीतरागता बढ़ती चली जायगी। इसी आत्मानुभव के अभ्यास से चार घातिया कर्मों का नाश होकर अरहन्त पद होता है। फिर शुक्लध्यान से अघातीय कर्म भी हटते हैं और यह जीव सिद्ध हो जाता है जहां अनन्त-ज्ञानादि सुख में मग्न हो जाता है। स्वामी ने जहां तहां संसार के नाश की व मोक्ष प्राप्ति की महिमा दिखाकर तीर्थंकरों के जीवन को दर्शाकर यह उपदेश दिया है कि इस तृष्णामई सांसारिक क्लेश का नाश हरएक भव्य जीव को करना चाहिये। उसके लिये रत्नत्रयमई जिन धर्म का सेवन करना चाहिये। संसार से वैराग्य भजना चाहिये। हर जगह स्तुति का

फल भावों की पवित्रता व संसार का नाश ही स्वामी ने चाहा है। जिससे यह दिखलाया है कि हमें तीर्थंकरों की भक्ति उनके गुणों को पहचानकर मात्र अपने भावों की शुद्धि के लिये तथा कर्म नाश के लिये करनी चाहिये, कोई इच्छा सांसारिक सम्पत्ति की नहीं रखनी चाहिये। वास्तव में ऐसी ही स्तुतियें नमूनेदार स्तुतियें हैं जिनसे सत्य पदार्थ का बोध हो व आत्मा का सच्चा हित हो। यह स्तोत्र बारबार मनन करने योग्य है—परम ज्ञान प्रकाशक है।

* टीकाकार की प्रशस्ति *

वृष शाला भी एक है, आश्रय जन दातार ।
रघुनन्दन परसाद हैं, धर्म ज्ञान शुभ धार ।। ९ ।।
दास बनारस बुद्धिमय, मक्खनलाल अदीन ।
लाल सिपाही प्रेममय, दुर्गादास प्रवीन ।। १० ।।
गव्वी बांकेलालजी, ज्वाला सुन्दरलाल ।
चांद बिहारी भूषणं, शरण धर्म के लाल ।। ११ ।।
मंत्री जैन सभा करें, बहुत धर्म की सेव ।
मूलचन्द जिनधर्म प्रिय, लखैं तत्त्व बहु भेव ।।१२।।
इत्यादी सार्धमि संग, काल धर्म मय जाय ।
देवकीनन्दन लालका, उपवन बहु सुखदाय ।।१३।।
तहां ठहर वृष भावना, हेतु कार्य यह कीन ।
समन्तभद्र सूरी कृत, स्तोत्र स्वयंभू लीन ।।१४।।
ताकी हिन्दी वृत्ति रच, हुआ परम हित आतम ।
स्याद्वाद चिन्तवन भया,पाया अनुभव आतम ।।१५।।
आश्विन कृष्णा अष्टमी, चौविस छप्पन वीर ।
ग्रन्थ पूर्ण शुभ यह भया,है प्रताप अति वीर ।।१६।।



दान दातारों की सूची

इस ग्रंथ के प्रकाशन में निम्नलिखित सज्जनों ने द्रव्य प्रदान किया है

एतदर्थ धन्यवाद

४०००) श्री से. फूलचन्दजी मिश्रीलालजी काला
४०००) „ भंवरलालजी प्रकाशचन्दजी काला
१००१) „ आसूलालजी उम्मेदमलजी काला
१००१) „ भंवरलालजी मदनलालजी सेठी
१००१) „ सुरजमलजी गम्भीरमलजी वडजात्या
६०१) „ तनसुखरायजी मदनलालजी काला
५०१) „ पुसालालजी चिरंजीलालजी सेठी
२०१) „ विरधीचन्दजी रतनलालजी सेठी
३०१) „ सर्वसुखजी भागचन्दजी सेठी
२०१) „ सुरजमलजी हरकचन्दजी सेठी
२०१) „ केसरीमलजी माणकचन्दजी काला
२०१) „ रामचन्द्रजी ताराचन्दजी वडजात्या
२०१) „ जीवनलालजी महावीरप्रसादजी काला
१०१) आसूलालजी प्रभुदयालजी काला
१०१) „ भंवरलालजी सीकरचन्दजी काला
१०१) „ भंवरलालजी भागचन्दजी काला
१०१) „ घीसालालजी धरमचन्दजी सेठी
१०१) „ वालचन्दजी हरकचन्दजी पहाड़िया
१०१) „ गिरधारीलालजी सोहनलालजी अजमेरा
१०१) „ हीरालालजी पदमचन्दजी वडजात्या
१०१) „ दीपचन्दजी उमेशकुमारजी सेठी
१०१) „ मानमलजी सुगनचन्दजी वडजात्या
१०१) „ वोदूलालजी सोनपालजी
१०१) „ मोहनलालजी महावीरप्रसादजी अजमेरा
१०१) „ प्रेमसुखजी काला
१०१) „ डूंगालालजी लूनकरणजी सेठी
१०१) „ छीतरमलजी नाथूलालजी सेठी
२०३) „ महावीरप्रसादजी काला की माताजी
१०१) „ आसूलालजी काला की धर्मपत्नी

१०१) श्री से. भंवरलालजी काला की धर्मपत्नी
१०१) „ केसरीमलजी काला की धर्मपत्नी
५१) „ छिगनलालजी वडजात्या की धर्मपत्नी
५१) „ हीरालालजी कुन्दनमलजी अजमेरा
५१) „ हीरालालजी शान्तिलालजी अजमेरा
५१) „ आसूलालजी रतनलालजी काला
५१) „ गुलाबचन्दजी छावड़ा
१०१) „ हीरालालजी वडजात्या की धर्मपत्नी
१०१) „ धरमचन्दजी सेठी „
१०१) „ पुसालालजी सेठी „
१००) „ फूलचन्दजी काला „
५१) „ छिगनलालजी वडजात्या „
५१) „ लूनकरणजी सेठी „
५१) „ माणकचन्दजी काला „
१५२) „ मिश्रीलालजी काला „
५१) „ राजकुमारजी वडजात्या की माताजी
४१) „ विरधीचन्दजी सेठी की धर्मपत्नी
३१) „ कन्हैयालालजी मंगलचन्दजी सेठी
३१) „ मूलचन्दजी राजकुमारजी पाटनी
२१) „ हीरालालजी चन्दनमलजी अजमेरा
२१) „ लादूलालजी विमलकुमारजी सेठी
२१) „ घीसालालजी कमलकुमारजी सेठी
३१) „ फूलचन्दजी पहाड़िया की धर्मपत्नी
२१) „ सरवसुखजी सेठी की धर्मपत्नी
२१) „ जवरीलालजी झांझरी की धर्मपत्नी
२१) „ मानमलजी वडजात्या „
२१) „ भागचन्दजी सेठी „
२१) „ शान्तिलालजी अजमेरा „
२१) „ प्रकाशचन्दजी वडजात्या
२१) „ कुन्दनमलजी अजमेरा
४१) „ सुरजमलजी सेठी

२१) श्री. से. रामचन्द्रजी बडजात्या की धमपत्नी
२१) „ भागचन्दजी काला „
२१) „ पुसालालजी सेठी „
६३) „ गुप्त नाम से
५२१) „ नाथूलालजी सेठी मन्दसोर
२०१) „ केसरीमलजी शान्तिलालजी झावरमल वडनगर
१०१) „ कुशलकुमारजी छावडा वडनगर
१०१) „ मूलचन्दजी कासलीवाल वडनगर
१०१) „ शंकरलालजी बाकलीवाल वडनगर
१०१) „ कैलाशचन्दजी दोसी वडनगर
३१) श्रीमती विमलादेवी कुचापन
५१) श्रीमती रूपवतीदेवी कुचामन
११) श्री चम्पालालजी अडकसर
५१) „ सुमेरमलजी पाटनी गुढावालों की माताजी
१००) „ तारामणी देवी चीतावा
२१) श्रीमती रतनीदेवी मन्डीदीप
१०१) श्री शान्तिलालजी काला की माताजी
५१) सुरजमलजी टोडास
१०१) श्रीमती रन्जू पहाडिया भागलपुर
२१) श्री गुलाबचन्दजी फूलचन्दजी सोगानी दूदू
४०१) श्रीमती रतनीबाई ध.प. सुगनचन्दमी गोधा कलकत्ता
५१) पदमकुमारजी लुहाड़िया डिबरुगढ़
५१) श्रीमती रतनमाला सेठी तनसुकिया
१०१) श्री सुगनचन्दजी महावीरप्रसादजी वासम
५१) „ कन्हैयालालजी झांझरी हैदराबाद
५१) „ भवरीलालजी लछमीनारायणजी पाली तामसर
५१) „ स्वरूपचन्दजी पाटनी मुरतिजापुर
११) श्रीमती सुवाबाई जोबनेर
१५१) श्री गुप्त
५१) „ मूलचन्दजी राजकुमारजी छावड़ा रेवासा
५१) श्रीमती चनणीबाई सुरेरा
२०१) श्रीमती इन्द्राबाई गुढा
१२००) श्री गुप्त नाम

२०६४४) कुल योग

पुस्तक प्रकाशन का व्यय

११,१४२) कागज
५६४५) छपाई
३२००) बाइंडिग
२३०) ब्लाक बनवाई
७२७) मुसाफिरी खर्च एवं ठेला भाडा आदि

२०६४४)

२०६४४) कुल योग